हिन्दी साहित्य का इतिहास

प्रथम खण्ड

आदिकाल और भक्तिकाल

डा० कृपानन्द श्रीवास्तव

एम० ए० हिन्दी (प्रयाग)
एम० ए० तुलनात्मक भाषा विज्ञान (कलकत्ता)
डी० फिल० (कलकत्ता)

प्राध्यापक हिन्दी विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कलकत्ता



अमिताभ प्रकाशन
[illegible] — कलकत्ता
[illegible]
[illegible]



प्रकाशक

अभिधान प्रकाशन

२० बाल मुकुन्द मक्कर रोड

कलकत्ता-७

फोन ३४ १८३८

दीपावली

सम्वत् २०२१

प्रकाशन वर्ष १९६४

आवरण :

सनत् कर

मुद्रक :

रैफल आर्ट प्रेस

३१ बड़तल्ला स्ट्रीट

कलकत्ता-७

मूल्य :

पन्द्रह रुपये

पूज्य गुरु प्रोफेसर सुकुमार सेन

एम० ए० पी एच० डी०

और

पूज्य पिता श्रीवेणीमाधव शास्त्रीजी

को



प्रकाशक :

अमिताभ प्रकाशन

२० बाल मुकुन्द मक्कर रोड

कलकत्ता-७

फोन : ३४ १५३६

दीपावली

सम्वत् २०२१

प्रकाशन वर्ष १९६४

आवरण :

सनत् कर

मुद्रक :

रैफल आर्ट प्रेस

३१ बड़तल्ला स्ट्रीट

कलकत्ता-७

मूल्य :

पन्द्रह रुपये

पूज्य गुरु प्रोफेसर सुकुमार सेन

एम० ए० पी एच० डी०

और

पूज्य पिता श्रीबेणीमाधव लालजी

को

विषय-सूची

१—आदि काल

२—भक्ति (काव्य) काल

(क) सन्त साहित्य

(ख) सूफी प्रेमाख्यानक काव्य धारा

निवेदन

इस ग्रन्थ में मैंने हिन्दी साहित्य की विविध धाराओं का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। अपने अध्ययन में मैंने नवीनतम खोजों और विश्लेषणों से पर्याप्त लाभ उठाया है। इस खंड में केवल आदि कालीन और भक्ति कालीन साहित्य के स्वरूप विश्लेषण का प्रयत्न किया गया है। ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में रीति अथवा शृंगार काव्य तथा आधुनिक साहित्य का अध्ययन किया गया है। द्वितीय खण्ड की परिस्थितियों में हिन्दी भाषा के उद्भव और विकास के संक्षिप्त इतिहास के अतिरिक्त आदिकालीन और भक्ति कालीन साहित्य की राजनैतिक सामाजिक धार्मिक और सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमियाँ दी गयी हैं तथा हिन्दी साहित्य की विविध धाराओं का अध्ययन भारतीय साहित्य धाराओं के सन्दर्भ में किया गया है।

अपने अध्ययन के लिए मैंने काव्य-रूप दर्शन भाव-पक्ष अभिव्यंजना प्रणाली तथा भाषा—इन आधारों का अवलम्ब ग्रहण किया है। प्रत्येक धारा के सामूहिक अध्ययन के अतिरिक्त उस धारा की विशेष काव्य-कृति अथवा उस धारा के विशेष कवि का विशेष अध्ययन भी किया गया है। अपने अध्ययन की पूर्णता हेतु जिन विद्वानों की कृतियों और विचारों का उपयोग मैंने किया है, उन्हें मैं श्रद्धा से प्रणाम करता हूँ।

साहित्य के इतिहास-लेखन की वैज्ञानिक विधा मुझे अपने पूज्य गुरु डॉक्टर सुकुमार सेन से मिली है। यह ग्रन्थ उनके आशीर्वाद की ही उपलब्धि है। इस ग्रन्थ के प्रणयन में मेरे मित्र और सहयोगी श्री प्रबोधनारायण सिंह, श्री रघुनन्दन मिश्र और श्री विष्णुकान्त शास्त्री के सहयोग मेरे लिए मार्ग-दर्शक रहे हैं। परम आदरणीय श्री तीबराज जी मिश्र की उदार वाणी से मेरा मार्ग प्रशस्त हुआ है। इन सभी महानुभावों के प्रति मैं श्रद्धा-नत हूँ।

मेरे विभाग के अध्यक्ष श्री कल्याणमल जी लोढ़ा ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिख कर मुझ पर जो कृपा की है उसके लिए केवल शिष्टाचार की शब्दावली

से अपनी भावनाओं को व्यक्त करने में मैं असमर्थ हूँ। जोशी जी की विद्वता, स्नेह और आशीर्वाद का मैं ऋणी हूँ।

अभिराम प्रकाशन के अध्यक्ष श्री माणिक बच्छावत एम० ए० मेरे शिष्य और मित्र हैं। वे एक अच्छे कवि और कुशल शिल्पी हैं। इस ग्रन्थ का प्रकाशन उन्होंने जिस निष्ठा और विश्वास के साथ किया है उसके लिए उन्हें धन्यवाद देकर उसके महत्त्व को कम नहीं करना चाहता। सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष श्री बद्रीप्रसाद पाण्डेय तथा वहाँ के अन्य कर्मचारियों ने मुझे सब प्रकार की सुविधायें दी हैं। मैं इन सब का आभारी हूँ। मेरी जीवन-संगिनी श्रीमती सुशीला श्रीवास्तव ने इस रचना के स्वरूप-निर्धारण में निरन्तर सहयोग प्रदान किया है। इस हेतु उन्हें धन्यवाद देकर आत्मस्तुति नहीं करना चाहता।

हिन्दी विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय
दीपावली
१ ११-१९६४

—दयानन्द श्रीवास्तव

भूमिका

साहित्य के इतिहास एवं उसके इतिहास-दर्शन पर विचार करने से पूर्व सबसे पहले यह देखना चाहिए कि वस्तुतः इतिहास है क्या ? क्या साहित्य से हमारा तात्पर्य साहित्य के 'पुरावृत्त' या उसके अतीत का इतिवृत्तात्मक विवेचन क्रमबद्ध कथावृत्त और सारा निरूपण ही है या इसके अतिरिक्त कुछ और भी ? यहीं हमें इस प्रश्न पर विचार करना होगा कि क्या साहित्य का इतिहास-लेखन अपने सही सन्दर्भ में सम्भव है और यदि हाँ तो किस अर्थ और स्वरूप में । उसकी सीमा और सामर्थ्य क्या है ?

आज इतिहास अंग्रेजी के हिस्ट्री का पर्याय बन गया है। 'हिस्ट्री' का तात्पर्य अपने मूल ग्रीक अर्थ में 'खोज' और 'अनुसन्धान' था एवं इसका सर्वप्रथम प्रयोग हिरोदोतस ने किया । हिरोदोतस ही पश्चिम के सर्वप्रथम इतिहास-लेखक थे जिन्होंने इतिहास को वैज्ञानिक मानवीय तर्क-सम्मत और शिक्षाप्रद विद्या के रूप में स्वीकार किया। हिरोदोतस ने इतिहास को गति और प्रवाह-संयुक्त ज्ञान पिपासा और अतृप्त अनुसंधित्सा का हेतु माना। हिस्ट्री शब्द के आधुनिक रूप और अर्थ को विकसित करने में इसका दूसरा महत्त्वपूर्ण योग-दान जर्मन शब्द Geschichte ने दिया जिसका अर्थ 'होना' 'घटित होना' है। १९वीं शताब्दी तक आते-आते हिस्ट्री शब्द का अर्थ मानवीय घटनाओं का 'संघटन' और 'विकास' हो गया। प्राचीन ग्रीक-जर्मन शब्दों के मूल में हिस्ट्री शब्द के दो अर्थों की भी दो भिन्न विचारधारायें परिलक्षित होती है —(१) अनुसन्धान की वैयक्तिक प्रवृत्ति (२) घटनाओं का इतिवृत्तात्मक और क्रमबद्ध विश्लेषण और निरूपण। इन्हीं दो मूल विचारधाराओं के आधार पर हिस्ट्री शब्द के बहुमुखी प्रयोग में भी उसके दो ही मूल अर्थ प्रमुख है —(१) संकुचित अर्थ में वह मानवीय घटनाओं का संकलन है जिसका ध्येय मानवीय विकास को स्पष्ट कर एक अन्तरङ्ग सम्बद्धता स्थापित करना है। (२) व्यापक अर्थ में मानवीय जीवन के साथ-साथ प्राकृतिक घटनाओं और परिवर्तनों का भी क्रमबद्ध निरूपण है। आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि संसार

में कुछ भी स्थिर नहीं है सभी पदार्थ गत्यात्मक हैं उनकी भावात्मक, वैज्ञानिक आदि गति का लेखा-जोखा भी इतिहास का ही क्षेत्र है। इसलिए भौतिकी विज्ञान भी इतिहास का ही एक अङ्ग है।

भारतीय दृष्टि से इतिहास का अर्थ इतिह आस्तेऽस्मिन्। इति+ह+आस अर्थात् पूर्व वृत्तान्त आख्यान कथा होता है। इतिहास को अष्टादश शास्त्रों के अन्तर्गत गिना जाता है। आचार्य कौटिल्य ने इसे 'पञ्चम वेद' कहा है। अर्थ शास्त्र के अनुसार —

पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं
धर्मशास्त्रं अर्थशास्त्रं चेतिहास ।

इतिहास पुराण' भारतीय वाङ्मय का अत्यन्त प्रसिद्ध और विशिष्ट प्रयोग है। रामायण महाभारत, अष्टादश पुराण—इतिहास पुराण के अन्तर्गत ही रखे गए हैं। शङ्कराचार्य ने इतिहास को एक प्रमाण माना है। यह इतिहास धर्म अर्थ, काम मोक्ष के साधनों से समन्वित पूर्व वृत्त कथा ही है। आचार्य श्रीधर शास्त्री ने —

धर्मार्थ काममोक्षाणाम् उपदेश समन्वितम्
इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्यादद्भुत धर्मयुक् ।

कह कर इसका महत्व प्रतिपादित किया है। अतएव भारतीय विचार-दृष्टि में इतिहास *मानवीय चिन्तन की ही नहीं लोक कल्याण से भी संपृक्त और* समन्वित दृष्टि है—पुरुषार्थ-साधिका।

अब प्रश्न उठता है कि इतिहास शब्द के इस अर्थ और सन्दर्भ में साहित्य के इतिहास की उपयोगिता और सार्थकता क्या है?

साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में सबसे पहला और विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या साहित्य का इतिहास लेखन सम्भव है? अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Theory of Literature में अंग्रेजी साहित्य के इतिहास मर्मज्ञ श्री सी॰ वैलेक ने इस सम्बन्ध में अनेक विद्वानों के मत उद्धृत किये हैं जिन्होंने साहित्य के इतिहास की असम्भाव्यता (निरर्थकता) बताई है। श्री डब्लू॰ पी॰ कर का मत है "हमें साहित्य के इतिहास की कोई आवश्यकता नहीं। कारण, उसके उद्देश्य सदैव विद्यमान रहते हैं वे सनातन हैं और इस नाते अतीत

के अभाव में उसका कोई इतिहास हो ही नहीं सकता। शापेनहावर ने भी कला-सम्बन्धी अपनी विवेचनाओं में कुछ ऐसा ही मत प्रकट किया है। रॉकि ने शापेनहावर के मत की विवेचना करते हुए साहित्य के इतिहास को इतिहास के अन्तर्गत ही नहीं रखा। कुछ ऐसा ही मत टी० एस० इलियट का भी है जिसने साहित्य के प्रवहमान अस्तित्व और उसकी गत्यात्मक व्यवस्था में साहित्य के इतिहास-क्रम को स्वीकार नहीं किया।

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों में भी कुछ ऐसी धारणा प्रच्छन्न रूप से दिखाई पड़ती है। मिश्र बन्धुओं ने विनोद' को इतिहास न कहकर भाषा के उत्तमोत्तम शत नवीन और प्राचीन कवियों की कविता पर समालोचना' ग्रन्थ के रूप में प्रच्छन्न रूप से ही स्वीकारा है और उन्हीं के सहारे इतिहास ग्रन्थ लिखने की इच्छा प्रकट की है।

आलोचकों का एक दूसरा वर्ग भी है जो इस बात को स्वीकारता है कि साहित्य का इतिहास-लेखन सम्भव ही नहीं। साहित्य का इतिहास या तो सामाजिक इतिहास हो जाता है या साहित्य में अभिव्यक्त विचारों का क्रमबद्ध निरूपण। यही कारण है कि टॉमस वारटन हेनरी मॉर्ले आदि इतिहास लेखकों ने अपने अंग्रेजी साहित्य के इतिहासों को 'ब्रिटिश मस्तिष्क की कहानी या 'राष्ट्र की जीवनी' ही कहा है। लेस्ली स्टीफेन ने साहित्य को बृहत् सामाजिक सङ्गठन का ही एक विशेष व्यापार (Function) लिया है और इसीके अनुसरण पर अंग्रेजी काव्य के प्रसिद्ध इतिहासकार कोर्ट होप ने काव्य सम्बन्धी अध्ययन को राष्ट्रीय संस्थाओं का अनवरत विकास माना है। जिस प्रकार इस आलोचकों की दृष्टि में साहित्य और साहित्य का इतिहास एक साधनमात्र है ठीक इसके विपरीत कुछ इतिहासकारों के अनुसार साहित्य का अध्ययन वस्तुतः कला के विकास का अध्ययन है और इस नाते इस वर्ग के इतिहासकारों की दृष्टि प्रमुख और अविकल्प दृष्टि से प्रसिद्ध कवियों और साहित्यकारों के आलोचनात्मक अध्ययन की ओर रही है राष्ट्रीय चेतना या मस्तिष्क के गत्यात्मक विकास की ओर नहीं। एडमन्ड गास ने इसी सन्दर्भ में अपने इतिहास को 'अंग्रेजी साहित्य की गति' कहा है जिसमें अंग्रेजी साहित्य के विकास की भावना पर्यालोचित की गई है। इन इतिहासकारों ने भी अपने ग्रन्थों को भी

प्रत्यक्ष इतिहास न कहकर समीक्षा या आलोचना ही कहा है। अंग्रेजी आलोचना के इतिहासकार जार्ज सेन्ट्सबरी जिसका सिद्धान्त वाल्टर पेटर के सिद्धान्तों के निकट था वस्तुतः एक परिशंसा ही है। साहित्य के इतिहास की सबसे बड़ी कठिनाई अतएव उसकी कार्य-कारण गति है जो साहित्य के सम्पूर्ण विकास के साथ उसके अध्ययन की मूलभूत कठिनाइयाँ भी उपस्थित करती है। लेखक ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में इन कठिनाइयों की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि साहित्य का इतिहास अपनी सूक्ष्म प्रवहमानता और अपने जटिल विकास में एक ऐसी असुविधा खड़ी कर देता है जो संगीत या चित्रकला के इतिहास में दृष्टिगत नहीं होती। चित्रकला का इतिहास चित्रकारों का इतिहास नहीं होता ठीक उसी प्रकार संगीत का इतिहास संगीतकारों का इतिहास नहीं होता। वह वस्तुतः चित्र या संगीत के रूपों का इतिहास होता है जिसकी क्रमबद्धता स्वतन्त्र रूप से पठनीय और द्रष्टव्य है। इसके विपरीत साहित्यिक सिद्धान्तों में अभी तक ऐसी कोई प्रणाली विकसित नहीं हुई है जो विकास की विशुद्ध पद्धति को समेटे साहित्य-कला के इतिहास को स्पष्ट कर सके। अतएव साहित्य के इतिहास-लेखन की तीन असुविधायें हैं —(१) सामाजिक इतिहास से पृथक विशुद्ध कला के इतिहास रूप में प्रस्तुत करना (२) केवल लेखकों या कवियों का जीवन-परिचय होने से बचाना, (३) प्रमुख ग्रन्थों की परिशंसा समीक्षा या प्रत्यक्ष आलोचना ही न रखना। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों के समक्ष भी प्रायः प्रारम्भ से ही ये असुविधायें थीं। हिन्दी साहित्य का तासी-कृत प्रथम इतिहास कविवृत्त होते हुए भी कालक्रमानुसार नहीं है और न इसमें साहित्यिक प्रवृत्तियों का निरूपण है। तासी ने स्वयं भूमिका में लिखा है कि वे व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण क्रम निर्धारण में असमर्थ हैं। तासी ने विभाजन की सम्भावना साहित्य रूप के आधार पर बताई है। तासी के आधार पर लिखे गये फैलन और करीमुद्दीन की पुस्तक A History of Hindi Poets में भी हिन्दी कवियों के विवरण मात्र उपस्थित हैं। व्यक्ति विवरण की यह परम्परा मध्यकाल में चली आ रही थी। 'भक्तमाल' और 'वैष्णवों की वार्तायें' इसका प्रमाण हैं। शिवसिंह कृत 'सरोज' भी एक ऐसा ही कवि-वृत्त संग्रह है जिसमें कवियों की रचनाओं के परिचय और उदाहरण दिये गये हैं। महेशदत्त

शुक्ल और मातादीन मिश्र के 'कवित्त रत्नाकर' भी इसी कोटि में आते हैं। बाबू श्यामसुन्दर दास द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी कोविद् रत्नमाला' के दोनों भाग, जिनमें अस्सी लेखकों के जीवन-चरित्र कृतियों के निर्देश के साथ दिये गये हैं में इतिहास का कोई सूत्र विद्यमान नहीं है। रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता-कौमुदी' भी एक प्रकार से कवि-वृत्त संग्रह ही है। प्रारम्भ के प्रथम दोनों भागों में एक सौ अट्ठाईस कवियों का विवरण दिया गया था। इस जीवन चरित्र परम्परा या कवि-वृत्त संग्रह के विपरीत सर्व प्रथम जार्ज ग्रियर्सन ने अपना 'माडर्न वर्ना क्यूलर लिट्रेचर आफ हिन्दुस्तान' को प्रस्तुत किया है। यद्यपि यह ग्रन्थ पूर्ववर्ती इतिहास ग्रन्थों पर अवलम्बित है तथापि हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन का प्रथम वैज्ञानिक क्रम इसीमें दृष्टिगत हुआ है। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दों में 'यह हिन्दी साहित्य की नींव का वह पत्थर है, जिसने परवर्ती इतिहास ग्रन्थों को खूब प्रभावित किया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के विभिन्न काल-विभाग भी इसमें दिये गये हैं। स्व० नलिन विलोचन शर्मा ने ग्रियर्सन को हिन्दी के विधेयवादी साहित्येतिहास के सूत्रपात का श्रेय दिया है। मिश्र बन्धुओं और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काल-विभाजन भी मुख्यतः ग्रियर्सन पर आधृत है। ग्रियर्सन के पश्चात् 'मिश्र बन्धु विनोद' ने हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन की एक पुष्ट परम्परा स्थिर की। डॉ० रामकुमार वर्मा ने मिश्र बन्धुओं का ही इतिहास के इतिवृत्तात्मक लेखन का प्रथम श्रेय देते हुए लिखा है कि "हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहास को विस्तार पूर्वक लिखने का श्रेय मिश्र बन्धुओं को है।' इन ग्रन्थों में यद्यपि हिन्दी साहित्य के क्रमबद्ध विकास की सामग्री उपलब्ध होती है परन्तु इनमें इतिहास-संकलन की वैज्ञानिकता का नितान्त अभाव है। 'सरोज' और ग्रियर्सन के उपर्युक्त इतिहास की टीका करते हुए श्री रमाशंकर शुक्ल रसाल ने लिखा है कि "सरोज वास्तव में इतिहास ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें वह सामग्री नहीं जिसका साहित्य के इतिहास में होना अनिवार्य है।" उसी प्रकार ग्रियर्सन का ग्रन्थ भी डॉ० रसाल के शब्दों में 'एक कविनामावली ग्रन्थ है जो हिन्दी साहित्य के इतिहास की ओर संकेत करता हुआ सहायक मात्र ठहरता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास की रचना-विधि और प्रवृत्ति में विदेशी विद्वानों

का योगदान भी कम नहीं है। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में लिखे गये लायल के लेख तथा ग्रीब्स आदि विदेशी विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास की रचना विधि को पुष्ट किया है। इन सब में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रियर्सन का इतिहास है जो यद्यपि 'सरोज' पर आधृत है फिर भी अपनी वस्तात्मकता में विशिष्टता ही नहीं नवीनता भी रखता है।

हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम सुव्यवस्थित इतिहास 'हिन्दी शब्द सागर' की भूमिका के रूप में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रस्तुत किया। इस भूमिका में उन्होंने साहित्य के इतिहास-दर्शन की दृष्टि स्थापित करते हुए लिखा 'जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा के साथ उनका सामञ्जस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। अपने इतिहास में आचार्य शुक्ल ने इसी सामञ्जस्य को प्रधानता दी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यह दृष्टि एक प्रकार से ऊपर विवित उन अंग्रेज इतिहासकारों की दृष्टि थी जिनका उल्लेख हमने मार्ले, स्टीफेन और कोर्ट होप के अन्तगत किया है। शुक्ल जी की इस दृष्टि को स्वर्गीय नलिन विलोचन शर्मा ने साहित्य के इतिहास की विधेयात्मक दृष्टि कहा है। डॉ॰ रमाशङ्कर शुक्ल 'रसाल' ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (जिसे उन्होंने हिन्दी साहित्य का एकमात्र सांगोपांग विवेचनात्मक और ऐतिहासिक विकासालोचनात्मक ग्रन्थ कहा है।) में लिखा है 'साहित्य के इतिहास से हमारा यही तात्पर्य है कि इतिहास के समान जिसमें साहित्य की भिन्न भिन्न समय से सम्बन्ध रखने वाली दशाओं या अव स्थाओंका सुव्यवस्थित वर्णन हो उसे साहित्य का इतिहास समझना चाहिये। साहित्य के इतिहास का यथार्थ उद्देश्य यही है कि यह साहित्य के मूलकाल से प्रारम्भ करके मौलिक क्रम के साथ वर्तमान काल तक जो कुछ भी उसमें विकास हुआ है उसका एक सच्चा चित्र चित्रित करके पाठकों के सम्मुख उप स्थित कर दे। डॉ॰ रसाल जी की दृष्टि अतएव जहाँ एक ओर साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले भिन्न भिन्न विषयों की दशाओं, उनके कारणों और परिणामों पर रही है वहीं दूसरी ओर महाकवियों के साहित्यिक कार्यों पर प्रकाश डालने की भी। पटना विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दिये

गये व्याख्यानों में—जो पीछे 'हिन्दी भाषा और उसका इतिहास' के नाम से प्रकाशित हुआ - हरिऔध जी ने प्रारम्भ में जहाँ साहित्य का विवेचन किया है, वहीं साहित्य के देश और समाज पर पड़ने वाले प्रभाव की विशेषता का निरूपण भी किया है। यद्यपि हरिऔध जी ने साहित्य के इतिहास-दर्शन पर कुछ भी नहीं लिखा फिर भी उनके प्रारम्भिक विवेचन में साहित्य के इतिहास सम्बन्धी उनकी मान्यतायें स्पष्ट हैं। सं० १९८७ में प्रकाशित सूर्यकान्त शास्त्री के 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' और श्री चतुरसेन शास्त्री द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' आदि भी इसी दृष्टि से प्रभावित हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के ग्रन्थ हिन्दी साहित्य की भूमिका' में प्रकाशक की ओर से यद्यपि यह निवेदन कर दिया गया है कि यह हिन्दी साहित्य का इतिहास नहीं है परन्तु यह उसकी भूमिका को स्पष्ट करने वाली भूमिका है। आधुनिक इतिहासों को यह अधिक स्पष्ट करती है और भविष्य में लिखे जाने वाले इतिहास ग्रन्थों की दिशा निर्देशिका है परन्तु इसके साथ उनका यह भी दावा है कि "जिन विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास पर कलम उठाई है उन्होंने नवीन दृष्टिकोण का सर्वथा विचार नहीं किया। नहीं बहुत कुछ किया है। पर, इस पुस्तक में उस दृष्टिकोण को जिस स्पष्टता और योग्यता से व्यक्त किया गया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। जो भी हो यह भी एक प्रकार से अहिन्दी भाषी साहित्यिकों को हिन्दी साहित्य का परिचय कराने के बहाने से ही लिखी गई थी और इस नाते इसमें हिन्दी साहित्य को सम्पूर्ण भारतीय साहित्य से अविच्छिन्न देखने की चेष्टा साहित्य क इतिहास-क्रम और उसके आधार पर ही की गई है। इन समस्त इतिहासकारों की दृष्टि इतिहास के सम्बन्ध में उसे सांस्कृतिक परम्पराओं से ओत प्रोत देखने की रही है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की यह परम्परा इस प्रकार सम्पुष्ट होती रही। विभिन्न विश्वविद्यालयों शोध एवं साहित्य-संस्थाओं और अनेक विद्वानों द्वारा किए जाने वाले शोध-कार्यों और अनुसन्धानों ने जहाँ हमारे सम्मुख अपरिमेय सामग्री रखी वहीं दूसरी ओर साहित्य के इतिहास-लेखन को और भी व्यापक और दुरूह बना दिया है। हिन्दी साहित्य की महान् परम्परा वस्तुतः सांस्कृतिक और अनेक सन्दर्भों में समसामयिक इतिहास से प्रभावित रही है।

यों तो यह प्रत्येक साहित्य के लिए सत्य है पर हिन्दी साहित्य के लिए और भी सत्य है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रस्तावित कुछ खण्डों में प्रकाशित वृहत् हिन्दी साहित्य के इतिहास की योजना सांस्कृतिक धार्मिक और राजनीतिक पृष्ठ भूमि को भी उतना ही महत्त्व देती है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित कुछ ऐसे मूलभूत तत्त्व हैं, जो हर इतिहासकार के कार्य को दुष्कर बना कर उसके सम्मुख एक प्रश्नवाचक चिह्न बन कर खड़े रहते हैं। इनमें सर्वप्रथम है कालनिर्धारण और उसके नामकरण की समस्या। यद्यपि इतिहासकारों ने प्रत्येक काल के सम्बन्ध में जहाँ विभिन्न नाम दिये हैं वहाँ इनके निर्धारण के सम्बन्ध में भी विभिन्नता दिखाई है। आचार्य शुक्ल के परवर्ती इतिहासकारों ने प्रायः उन्हीं की पद्धति का अनुकरण या अनुसरण किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने इतिहास 'हिन्दी साहित्य' में जहाँ एक बार उसके प्रारम्भिक काल को आदि काल कहा है वहाँ भक्ति काव्य प्रेममार्गीय काव्य एवं रीति काव्य के सम्बन्ध में 'काल' शब्दको नहीं रखा। यहाँतक कि तृतीय अध्याय 'भक्ति साहित्यका आविर्भाव' के अन्तर्गत उन्होने 'वास्तविक हिन्दी साहित्य का आरम्भ' और 'आधुनिक काल' शीर्षक देते हुए उसके अन्तर्गत परिमार्जित भाषा और 'साहित्य का आरम्भ' आदि शीर्षक दिये हैं। एक और दृष्टान्त द्रष्टव्य है। डॉ॰ गणपति चन्द्र गुप्त ने सद्य प्रकाशित अपने 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में लोकाश्रित धर्माश्रित और समाजाश्रित आदि पद्धति से हिन्दी साहित्य के विभिन्न काल-खण्डों का वर्गीकरण किया है। वस्तुतः इस कठिनाई का मूल कारण उसकी प्रवहमानता की बहुमुखी गत्यात्मकता है। लोक साहित्य के अध्ययन ने साहित्य के इतिहास-लेखन को और अधिक कठिन बना दिया है। उदाहरणार्थ हमारे सामने फिर वही कठिनाई आकर उपस्थित होती है कि यदि हम प्रमुख प्रवृत्ति के अनुसार निरूपण करते हैं तो प्रमुख प्रवृत्तियों से इतर श्रेष्ठ कवि और उनकी रचनायें भी साहित्य के इतिहास में गौण रह जाती हैं। हम आधुनिक साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में अपने इस मत की पुष्टि कर सकते हैं। आधुनिक काल का छायावादी युग—जिसे हिन्दी का रोमैन्टिक युग कहा जाता है—कई सन्दर्भों में 'क्लासिकल' भी था। राम और कृष्ण काव्य सम्बन्धी रचनायें इस युग में प्रचुर परिमाण में ही नहीं,

श्रेष्ठ काव्य के रूपों से संयुक्त भी लिखी गईं परन्तु उन रचनाओं का न तो मूल्यांकन हो सका है और न अध्ययन ही। इस सम्बन्ध में एक और बात भी विचारणीय है और वह है लोकाभिरुचि के परिवर्तन की। साहित्य और साहित्यकार के मूल्यांकन में तो लोक-रुचि का महत्व भी कम नहीं है। साहित्य का इतिहासकार इस लोक रुचि का तिरस्कार बहिष्कार नहीं कर सकता है। आज यदि कोई चाह कर भी चन्दबरदाई या केशवदास को सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित करने का भरसक प्रयास भी करे तो वह एक शुद्ध सैद्धान्तिक विवेचन Pure Academic discourse भले ही रहे लोक-प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकता। यहाँ पर सोचना गलत होगा कि साहित्य के इतिहास के अध्ययन की सीमा केवल विद्यार्थियों या Academicians तक ही सीमित हो जाती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के सम्मुख एक और कठिनाई है और वह है प्रामाणिकता की। आज भी हम अपने प्राचीन साहित्य कार के बारे में अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुँचे हैं। अनुसन्धान और गवेषणा जारी है। साहित्य का प्रमुख अध्येता और विचारक तत्सम्बन्धी समग्र सामग्री का निरूपण (संक्षिप्त मात्र ही सही) इतिहास में खोजता है। किसी भी इतिहासकार के लिए यह असम्भव है कि वह अपनी भरसक चेष्टा से भी इसे पूर्ण बना सके। हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की चौथी कठिनाई है कवि-वृत्त और उनके काव्य निरूपण की। किस कवि को कितना और किस अनुपात में स्थान मिलना चाहिए यह समस्या सरलता से नहीं सुलझाई जा सकती है। आचार्य शुक्ल के इतिहास पर इस दृष्टि से आक्षेप किया गया है। अंग्रेजी इतिहासकार भी इस कठिनाई का सफलता से समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाये। हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की पाँचवीं जटिल समस्या है भाषा और साहित्य के सम्बन्ध की। हिन्दी विभिन्न बोलियों का समूह है। प्रश्न उठता है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में इन विभिन्न बोलियों के साहित्य और साहित्यकारों का कितना स्थान होना चाहिए। वर्तमान समय में यह प्रश्न और भी जटिल हो जाता है। इसका कारण है कि इन बोलियों के साहित्य की प्रचुर सामग्री प्रकाश में आ रही है। अंग्रेजी में जिसे 'सिप्टिम' या 'स्टीमिंग' कहते हैं, वह हिन्दी में सरलता से नहीं किया जा सकता।

विश्वविद्यालयों में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक साहित्य का इतिहास पाठ्यक्रम में रहता ही है पाठ्यक्रम की दृष्टि से अनेक इतिहास लिखे गये हैं। इन इतिहासों में जहाँ एक ओर पाठ्यक्रम के अनुसार परीक्षोपयोगी होने का ध्यान रखा जाता है वहाँ दूसरी ओर यह भी चेष्टा की जाती है कि यह इतिहास हिन्दी साहित्य की महान् परम्पराओं का उसकी प्रवृत्तियों का और उसकी सांस्कृतिक चेतना का सम्यक प्रतिबिम्बित भी कर सके।

डॉ॰ दयानन्द श्रीवास्तव मेरे सहयोगी और परम मित्र हैं। ये एक सफल शिक्षक ही नहीं साहित्य-अध्येता विचारक और आलोचक भी हैं। प्राचीन साहित्य उनका क्षेत्र है तो मध्ययुगीन और आधुनिक साहित्य उनकी सम्पत्ति। भाषा विज्ञान के गहन अध्ययन ने उनकी विचारधारा को नवीन सूत्र दिये हैं। डॉ॰ श्रीवास्तव कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' विभिन्न इतिहासों की एक कड़ी मात्र नहीं है। यह इतिहास दो खण्डों में प्रकाशित हो रहा है। इस इतिहास की विशेषता है कि यह जहाँ एक ओर विभिन्न धाराओं और प्रवृत्तियों का सम्यक विश्लेषण करता है, वहाँ दूसरी ओर प्रत्येक युग की मूलभूत प्रवृत्तियों का भी विवेचन करता हुआ हमारे साहित्यकारों और कवियों की कृतियों का संक्षिप्त और प्रौढ़ आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। स्पष्ट कहूँ कि डॉ॰ श्रीवास्तव का इतिहास आचार्य शुक्ल के इतिहास का अनुकरण नहीं है। जहाँ उन्होंने नवीन खोजों और अनुसन्धानों का आधार व अवलम्ब ग्रहण किया है वहीं साहित्य के अध्ययन के नवीन माप-दण्डों का आश्रय भी ग्रहण किया है। इतिहासकार की दृष्टि अन्वीक्षकी दृष्टि होती है और इस दृष्टि से वह केवल विश्लेषणात्मक ही नहीं होती संश्लेषणात्मक भी होती है। साहित्य का इतिहास एक विज्ञान है तो कला और दर्शन भी। वाल्तेयर ने सर्वप्रथम इस इतिहास-दर्शन की ओर संकेत किया था और आज विशिष्ट पाश्चात्य आलोचक भी इतिहास (History) और इतिहास विज्ञान (Historiography) का मूलभूत अन्तर स्वीकार करते हैं वहाँ साहित्यिक इतिहास और साहित्य के इतिहास (History of Literature) का भी। डॉ॰ श्रीवास्तव ने जो दृष्टि अपनाई है वह समन्वयात्मक दृष्टि है। अर्थात् साहित्यिक इतिहास-लेखन की दृष्टि और साहित्य के इतिहास-लेखन की दृष्टि भी। साहित्यिक इतिहास समाज-शास्त्रीय लोकदर्शीय राजनीतिक धार्मिक आर्थिक

आदि आयामों में साहित्य की गतिविधि का निरूपण करता है। डॉ॰ श्रीवास्तव के इतिहास की एक और विशेषता यह है कि वह केवल पाठ्य क्रमाश्रित और परीक्षोपयोगी ही नहीं है परन्तु हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त और सम्यक् अध्ययन भी प्रस्तुत करता है। इस नाते यह अध्येता और अध्यापक तथा विचारकों के लिए समान रूप से उपादेय है। मैं स्वीकार करता हूँ कि डॉ॰ श्रीवास्तव के इतिहास में कुछ ऐसी बातें हैं जो सन्दिग्ध और मेरी दृष्टि से कुछ अंशों में पुनर्विचार चाहती हैं। मैं उनका उल्लेख और विवेचन करना इसलिए निरर्थक और अनावश्यक समझता हूँ कि वे अपेक्षाकृत अत्यन्त गौण हैं। डॉ॰ श्रीवास्तव ने उनके ही शब्दों में हिन्दी साहित्य की विभिन्न धाराओं का समीक्षात्मक अध्ययन किया है। निस्सन्देह उन्होंने प्रायः समस्त उपलब्ध सामग्री का समावेश करने का सफल प्रयास भी किया है। यह उनकी आलोचना-दृष्टि उनकी विद्वत्ता और उनकी सूझ-बूझ का प्रमाण है। इस दृष्टि में न तो पूर्वाग्रह है और न प्रचलित बातों का विरोधाभास। हिन्दी साहित्य के उद्भव और विकास पर लेखक ने साधिकार नूतन दृष्टिकोण भी उपस्थित किया है। मैं डॉ॰ श्रीवास्तव को बधाई ही नहीं देता, उनसे यह निवेदन भी करता हूँ कि वे भविष्य में भी इसी प्रकार अपने अध्ययन अपनी विद्वत्ता और अपनी रचनाओं से साहित्य के अध्ययन की नवीन दिशा उपस्थित करते रहें।

कल्याणमल लोढ़ा
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कलकत्ता

हिन्दी विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कलकत्ता

: १ :

आदिकाल

आदिकाल का स्वरूप विश्लेषण

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की सर्जना अनेक आन्तरिक भाव-संकल्पों एवं बाह्य प्रक्रियाओं के माध्यम से हुई है। भाव-पक्ष तथा शिल्प विधि की दृष्टि से प्रत्येक साहित्य अपनी पूर्व परम्पराओं का विकसित रूप होता है। भाषा के विकास के समान साहित्यिक वृत्तियों और विधाओं का विकास युगीन चिन्तन विधियों का प्रतिफलन होता है। जीवन को विकसित करनेवाली अनुप्रेरणायें या विघटनशील शक्तियाँ भाव-बोध के स्तरों का संचालन एवं नियमन करती हैं। जीवन की अन्य विधाओं के समान साहित्यिक विधायें युग-जीवन की प्रेरक शक्तियों के अनुरूप ही निर्मित होती हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखक इस सत्य की अवहेलना कर गए हैं। साहित्य-सर्जना जाग्रत अनुचेतना का प्रतिफलन है। इसके आधार पर ही साहित्यिक विधाओं की रचना होती है।

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के उद्भव और विकास की कोई निश्चित तिथि प्रस्तावित नहीं की जा सकती। परन्तु अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के समान हिन्दी के आरम्भिक का स्वरूप-संस्थापन अवहट्ट के पश्चात् की साहित्यिक विधाओं द्वारा होता है। जिन कृतियों का अवलम्ब ग्रहण कर हम आदिकाल की कल्पना करते हैं उनमें अनेक भाव वृत्तियाँ चिन्तन धारायें प्रतिबिम्बित हैं। जिस काल की हम चर्चा कर रहे हैं उसमें संस्कृत की अलंकृत रचनायें हुई साथ ही साथ अपभ्रंश की रचनायें अपनी व्यापक परम्परा लेकर सम्मुख आई। अपभ्रंश की रचना विधा के साथ हिन्दी की आरम्भिकालीन रचनाओं का ऐतिहासिक

सम्बन्ध है। स्थूलता और अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से अपभ्रंश काव्य विधा को प्रस्तुत वर्गों में विभक्त करते हैं—१ जैन अपभ्रंश साहित्य २—जैनतर अपभ्रंश साहित्य। साहित्यिक विधाओं की दृष्टि से इस वर्गीकरण का पुनः प्रस्तुत रूप में विभाजन किया गया है—(क) जैन प्रबन्धकाव्य —(१) पुराण (२) चरित (३) कथा साहित्य (ख) जैन आध्यात्मिक काव्य (ग) बौद्ध दोहा एवं चर्यापद (घ) अपभ्रंश के शौर्य एवं प्रणय सम्बन्धी मुक्तककाव्य। [देखिए : हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास प्रथम भाग पृ० ३३२]। जैन प्रबन्धसाहित्य की व्यापक अनुवर्तना पुराण-साहित्य में पल्लवित हुई है इसके अन्तर्गत स्वयंभू का 'पउमचरिउ' (पद्मचरित) 'हरिवंशपुराण' पुष्पदंत (पुष्पदन्त) कृत 'महापुराण' हैं।

स्वयंभू का समय वि० सं० ८३७ ८९१ के मध्य माना जाता है। 'पउम चरिउ' ९० संधियों की रचना है जिसकी भाव भूमि-राम कथा पर आधारित है। 'हरिवंश पुराण' में कृष्णकथा का आधार ग्रहण किया गया है। पुष्पदन्त की कृति 'महापुराण' है। इनकी अन्य कृतियाँ हैं 'जसहरचरिउ' 'णायकुमार' चरिउ। 'महापुराण' १२० सन्धियों की रचना है—सन्धियाँ पुनः कड़वकों में विभक्त हैं। इसमें ६३ महापुरुषों की जीवन-धारा संकलित है।

इस सन्दर्भ की दूसरी विधा है चरित और कथा साहित्य। पुष्पदन्त की कृतियाँ—'णायकुमारचरिउ' (नागकुमारचरित) और 'जसहरचरिउ' (यशोधरचरित) विशेष उल्लेखनीय हैं। इस विधा की एक अन्य महत्वपूर्ण कृति है 'करकंडचरिउ'। इसके प्रणेता हैं मुनिकनकामर। इसका समय है वि०सं० ११२२। प्रस्तुत कृति में कथानकरूढ़ियों का स्वरूपनियोजन विशेष महत्वपूर्ण है। कथानकरूढ़ियों की इस परम्परा का विकास 'पृथ्वीराज रासो' में देखने को मिलता है। यह १० परिच्छेद (परिच्छेद) की रचना है जो पुनः कड़वकों में विभक्त है। हरिभद्र सूरि (१२१६ वि० सं०) का 'णेमिणाह चरिउ' इस विधा की एक अन्य कृति है। विनयचन्द्र सूरि की रचना 'नेमिनाथ चउपई' भी सन्दर्भ की कृति है। नेमिनाथ के वैराग्य ग्रहण करने पर राजमती का जीवन विप्रलम्भ की भूमिका में कवि द्वारा प्रस्तावित है। उद्दीपन विधा के अन्तर्गत प्रकृति चित्रण इस काव्य का मुख्य वैभव है। इसीके अन्तर्गत 'बारह मासा' की उद्भावना मिलती है जिसका विकास जायसी के 'पद्मावत' में हुआ है।

उदा०—बस्साहह तिहुसिय वणराइ। ममघमितु मलयानिल वाइ॥

फुट्टिरि हिमडा मालि वसंत। विलवइ रावस पिकमूलउ कन्तु।

सखी दुक्खु वीसरिवा भमइ। संभलि भमरउ किम रुमझुमइ॥

दीस पंच पिउ जोवण होइ। जाउ पियउ मिलसउ सहु कोइ॥

धनपाल (धनपाल) की कृति 'भविसयत्तकहा' (भविष्यदत्तकथा) इस परम्परा की एक और महत्वपूर्ण काव्य-रचना है। प्रस्तुत कृति लोक-गाथाओं की काव्यात्मक अनुचेतना के आधार पर पल्लवित है।

अपभ्रंश काव्य विधा का दूसरा रूप 'परमात्मप्रकाश', 'योगसार' और 'सावयधम्म दोहा' में मिलता है। इनके रचनाकार हैं जोइंदु (११वीं शताब्दी)। रामसिंह की कृति 'पाहुड़ दोहा' इस सन्दर्भ की एक अन्य कृति है।

अपभ्रंश काव्य-धारा का तीसरा रूप बौद्धदोहा एवं 'चर्यापदों' में मिलता है, (हिन्दी साहित्य पृ० इ० पृ० १४८)। इस प्रकार 'सरह' 'कण्ह', 'भुसुका' इत्यादि की कृतियाँ इस काव्य-धारा के अन्तर्गत आती हैं परन्तु उनकी रचनायें परवर्ती अपभ्रंश की हैं जिनका विश्लेषण आगे के पृष्ठों में किया गया है।

अपभ्रंश में मुक्तक काव्यस्वरूपों की भी व्यापकता मिलती है। विषय की दृष्टि से उन्हें 'वीर' और 'प्रणय' मुक्तक रूपों में विभाजित करते हैं। हेमचन्द्र के व्याकरण में संकलित दोहों में इन दोनों रूपों की उपलब्धि हो जाती है। उनमें लोक-जीवन की उदात्त वीर अनुचेतना और शृंगार-संवेदना प्रतिबिम्बित मिलती है। इन दोहों का संकलन हेमचन्द्र ने लोकजीवन से किया है।

उदा०—

हरि नच्चाविउ पंगणइ विम्हइ पाडिउ लोउ।

एवहिं राहपओहरहं जं भावइ तं होउ॥

'हरि को आंगन में नृत्य कराती है लोग विस्मय में पड़े इस प्रकार राधा के पयोधरों की जो अभिलाषा हो वह हो' प्रणय की कुहेलिकाओं की सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यंजना प्रस्तुत संदर्भ की विशेषता है।

जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्ड करीसु।

पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वंगें पइसीसु॥

'यदि सौभाग्य से मैं अपने प्रिय को पा जाऊँ तो अपूर्व कार्य करूँगी जल

जिस प्रकार नवीन घर में प्रवेश कर जाता है उसी प्रकार मैं उसके हृदय में सशरीर प्रवेश कर जाऊँगी। प्रणय की आकुलता उत्सुकता और मिलन की उत्कण्ठा शृंगार की अनुभावना की बलवती प्रेरणा बन कर इन उक्तियों में उपस्थित हुई है। प्रणय-मुक्तकों का कलात्मक सौन्दर्य इन दोहों की विभूति है। प्रणय भावनाओं के अतिरिक्त इन दोहों में वीर या धर्म भावना का अति उल्लासपूर्ण रूप भी मिलता है। उल्लास का यह स्वरूप लोक-संस्पर्शों की व्यापक भाव-अनुप्रेरणा को मुखरित करता है —

एह ति घोडा एह थलि एह ति निसिआ खग्ग।
एत्थु मुणीसिम जाणिअइ जो न वि वालइ वग्ग।

'अश्व यहाँ है युद्ध-भूमि यहाँ है और तीक्ष्ण खड्ग यहाँ है यहाँ वीरों का पौरुष तभी परीक्षित होता है जब (वह युद्ध भूमि से) अश्व-वल्गा नहीं फेरता है।

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण।
अह भग्गा अम्हहं तणा तो तें मारि अडेण।

'ऐ सखी यदि शत्रु पराजित हुए तो निश्चय ही मेरे प्रिय द्वारा यदि हमारी सेना पराजित हुई है तो निश्चय ही मेरा प्रिय मारा गया है।

अपभ्रंश काव्य-परम्परा की अनुपतना आदिकालीन हिन्दी काव्य-धारा की रूप-सज्जा में विशेष सहयोगिनी रही है। अपभ्रंश के जैन पौराणिक विषयों की भावधारा का वहन हिन्दी में नहीं हो सका।[1] अपभ्रंश की मुक्तक वीर तथा शृंगार पूर्ण परम्परा का विकास हिन्दीमें हुआ है। 'ढोला मारू रा दोहा'

१—इसके दो कारण हैं प्रथम तो बाद के जैन कवियों ने परिनिष्ठित अपभ्रंश में ही काव्य-रचना करते रहना अपना आदर्श समझा क्योंकि अपभ्रंश उनके लिए धार्मिक और पुण्य भाषा थी और हिन्दी में पौराणिक प्रबन्ध काव्यों की रचना करना उन्होंने ठीक नहीं समझा। दूसरा इसका कारण यह भी हो सकता है कि हिन्दी का विकास भक्तिकालीन आंदोलन से अधिक प्रभावित रहा है जो ब्राह्मण धर्म का आन्दोलन था और जिसका जैन कवियों पर प्रभाव नहीं पड़ा तीसरे हिन्दी के प्रबन्ध कवियों ने भी जिनमें राजकवि सूफी या सगुणभक्त थे इस परम्परा को नहीं अपनाया—हि०बृ० इ० पृ० १२८

में शृंगार-परम्परा का स्वरूप मिलता है। कतिपय आलोचकों ने बिहारी के दोहों को इसी परम्परा में देखने का प्रयास किया है। भाव की दृष्टि से बिहारी 'गाथा सप्त शती' और 'आर्या सप्त शती' के वंश में आते हैं। अभिव्यञ्जना प्रणाली की दृष्टि से बिहारी अपभ्रंश-शैली का संरक्षण करते मिलते हैं।

हिन्दी के आदिकालीन साहित्य में कतिपय कथानकरूढ़ियों का नियमित प्रयोग मिलता है। 'करकण्डचरिउ' में विशदरूप गुफावध से प्रणय उद्‌भावना की विधि का प्रयोग मिलता है। सुए का इस सन्दर्भ में प्रयोग किया गया है। 'पृथ्वीराज रासो' और 'पद्मावत' में इस विधा का प्रयोग किया गया है।

काव्य-रूपों के साथ-साथ अपभ्रंश छन्दों का विकास हिन्दी में पूर्ण रूप से हुआ है। संस्कृत महाकाव्यों के स्वरूप-गठन का अपभ्रंश ने स्वीकार नहीं किया। अपभ्रंश के महाकाव्य सर्गों की अपेक्षा सन्धियों में विभक्त होते हैं। प्रत्येक सन्धि पुनः कडवकों में विभक्त होती है। कडवक के अन्त में 'घत्ता' का नियोजन मिलता है। जायसी तथा अन्य सूफी प्रबन्धों तथा तुलसी के 'मानस' में यह परम्परा ही ग्रहण की गई है। रासक-काव्य धारा में इस अभिव्यञ्जना शिल्प के प्रति आग्रह मिलता है। इस प्रकार हिन्दी के आदिकालीन साहित्य के काव्य रूपों तथा अन्य विधाओं के अध्ययनके ऐतिहासिक संदर्भो की दृष्टि से अपभ्रंश साहित्य का स्वरूप विश्लेषण महत्त्वपूर्ण है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास-दर्शन और आदिकाल

हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन की परम्परा का शिलान्यास फ्रांसीसी विद्वान गार्सा-द-तासी के इतिहास ग्रन्थ Histoire de la Literature Hindoui Hindustanee (इस्त्वार-द-ला लितेरात्यूर एँ दुई-एँ-ऐनुस्तानी) नामक ग्रन्थ से हुआ। इस कृति के प्रथम भाग के प्रथम संस्करण का प्रकाशन सन् १८३९ में, तथा दूसरे भागका प्रकाशन १८७०-७१में हुआ। साहित्य के इतिहास लेखन में दो प्रमुख तत्त्व विशेष अपेक्षित हैं। प्रथम—काल-क्रम का निरूपण, द्वितीय-साहित्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण। इन दो दृष्टियों का आधार प्रस्तुत कृति में ग्रहण नहीं किया गया है। तासी ने अपनी पुस्तक में कवियों का संग्रह वर्ण-क्रम के अनुसार किया है। परन्तु उनकी रचना के विश्लेषण से यह

स्पष्ट होता है कि साहित्य की विविध प्रवृत्तियों से वे परिचित थ। हिन्दी-रचनाओं के प्रस्तुत स्थूल वर्गीकरण स इस कथन की पुष्टि होती है। हिन्दी की रचनाओं को वे चार भागों में विभाजित करते हैं—

(क) आख्यान (ख) आदिकाव्य (ग) इतिहास (घ) काव्य। पद्य रूपों के आधार पर उन्होने प्रस्तुत वर्गीकरण किया है—अभंग आल्हा कवित्त या कविता कहुवी मलार, कीर्तन गान गारी गीत गुजरी, पचरंग बरवा बरवा कुल छन्द चौपाई, धमकरी ध्रुव इत्यादि[१]।

इस परम्परा की दूसरी कृति है शिवसिंह सेंगर का 'शिव सिंह सरोज'। यह कृति सन् १८८३ में प्रकाशित हुई। इस कृति में एक सहस्र कवियों का संक्षिप्त परिचय तथा उनकी रचनाओं के उदाहरण है[२]। इस सन्दर्भ की तृतीय उल्लेखनीय कृति है ग्रियर्सन का इतिहास 'दी माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ नार्दन हिन्दुस्तान (Modern Vernacular Literature of Northern Hindustan) प्रस्तुत-ग्रन्थ में सामग्री को काल के अनुसार विभाजित करने का प्रयास किया गया है। ग्रियर्सन न प्रस्तुत रूप में विभाजन किया है। (क) चारण काल (ख) पन्द्रहवीं सदी का धार्मिक पुनर्जागरण।

---

१ डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने इसके हिन्दुई' वाल भाग का अनुवाद किया है। अनुवादक का यह कथन है 'प्रस्तुत पुस्तक उनके (तासी के) ग्रन्थ में से हिन्दुई से सम्बन्धित अंश का सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद है। इनसे इस ग्रन्थ का पूर्ण या आंशिक अनुवाद न तो अंग्रेजी में है न तो किसी अन्य भारतीय भाषा में है। परन्तु डॉ० महादेव साहा और श्री नारायण पाण्डय न एक नवीन तथ्य का उद्घाटन किया है। इनके अनुसार फैलन और करीमुद्दीन ने १८४८ में ही तासी के प्रथम संस्करण का उर्दू में अनुवाद किया था। तासी इस अनुवाद से परिचित थे। दूसरे संस्करण में उन्होन इस अनुवाद का उल्लेख भी किया है। २ 'शिव सिंह सरोज' के पूर्व की दो अन्य कृतियों का उल्लेख मिलता है—

(१) काव्य-संग्रह महेश दत्त।

(२) कवित्त-रत्नाकर-मातादीनमिश्र (डॉ०—रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० १६. म० संस्करण)।

(ग) मलिक मुहम्मद जायसी और उनकी कविता।

(घ) व्रज का कृष्ण सम्प्रदाय।

(ङ) मुगल दरबार।

(च) तुलसीदास।

(छ) रीति काव्य।

(ज) तुलसीदास के अन्य परवर्ती।

(झ) अठारहवीं शताब्दी।

(ञ) कम्पनी के शासन में हिन्दुस्तान।

(ट) महारानी विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान।

ग्रियर्सन के पश्चात् इतिहास-लेखन की दृष्टि से दूसरा महत्वपूर्ण प्रयास है मिश्रबन्धुओं का 'मिश्रबन्धुविनोद'। इसके प्रथम तीन भाग संवत् १९७० में प्रकाशित हुए। चौथा भाग (आधुनिक काल) संवत् १९९१ में प्रकाशित हुआ। इनके ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता है साहित्यिक विधाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण। इनके वर्गीकरण की रूप-योजना इस प्रकार है—

(क) पूर्वारम्भिक काल — सं० ७०० — १३४३

(ख) उत्तरारम्भिक काल— सं० १३४४ — १४४४

(ग) पूर्वमाध्यमिक काल— सं० १४४५ — १५६०

(घ) प्रौढ़ माध्यमिक काल — सं० १५६१ — १६८०

(ङ) पूर्वालंकृत काल— सं० १६८१ — १७८९

(च) अज्ञात काल— (प्राय उत्तरालंकृत एवं परिवर्तन काल के।)

(छ) परिवर्तन काल— सं० १८९० — १९२५

(ज) वर्तमान काल— सं० १९२६

मिश्रबन्धुओं ने साहित्यिक प्रवृत्तियोंके प्रति आग्रह प्रकट किया है परन्तु समय के स्थूल विभाजन से वे मन का ऊपर नहीं उठा सके हैं। 'वास्तव में 'मिश्रबन्धु विनोद' में काल विभाजन के आधारों का संकर है। आदि प्रकरण में वीरगाथा काल के साथ और सभी प्रकार की रचनायें रख दी हैं जिनमें कुछ पीछे की भी हैं' इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है

'जो मीर की पुरानी परिपाटी के अनुसार कहीं वर्णों का छिन्न देखकर ही प्राकृत भाषा और कहीं चौपाई देखकर ही अवधी या बैसवाड़ी समझते हैं जो माव को 'थाट' और विचार को 'फीलिंग' कहते हैं वे यदि उद्धृत पदों के संवत् १००० के बदा संवत् ९०० के भी बतायें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं'[1]। इस प्रकार आचार्य शुक्ल प्रवृत्तियों के प्रति अधिक आग्रहशील लगते हैं।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की सर्वप्रथम प्रबल और सुस्पष्ट योजना आचार्य शुक्ल द्वारा 'हिन्दी शब्दसागर' की भूमिका में प्रस्तावित हुई थी। आचार्यने इतिहास लेखन की सर्जनात्मक अनुचेतना की प्रस्तावना प्रस्तुत शब्दों में की है—'जबकि प्रत्येक देशका साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्तियोंका स्थायी प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ-साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक सामाजिक साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित दिग्दर्शन भी साथ आवश्यक होता है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होती कि किसी विशेष समय में लोगों में रुचि विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ। उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार हम हिन्दी साहित्य के ९०० वर्षों के इतिहास को चार कालों में विभक्त कर सकते हैं—

(क) आदि काल (वीरगाथा काल सं० १०५० १३७५)

(ख) पूर्व मध्यकाल (भक्ति काल सं० १३७५ १७००)

(ग) उत्तर मध्यकाल (रीति काल सं० १७०० १९००)

(घ) आधुनिक काल (गद्य काल सं० १९०० १९७५)

इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने अपने वर्गीकरण में दोहरे नामों का प्रयोग किया है। हिन्दी शब्द सागर की भूमिका में प्रस्तावित इस स्वरूप का विस्तार 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में किया गया है। आचार्य ने यह विभाजन प्रवृत्तियों

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास ११ वां सं० ५६।

के अनुसार किया है परन्तु वे स्थूल विभाजन के समर्थक नहीं थे। उन्होंने इस ओर संकेत करते हुए कहा है, 'यद्यपि इन कालों की रचनाओं की विशेष प्रवृत्ति के अनुसार ही उनका नामकरण किया गया है पर यह न समझना चाहिए कि किसी विशेष काल में और प्रकार की रचनाएँ होती ही नहीं थी। जैसा भक्ति काल या रीतिकाल को लें तो उसमें वीर रस के अनेक काव्य मिलते जिनमें वीर राजाओं की प्रशंसा उसी ढंग से होगी जिस ढंग की वीर गाथा काल में हुआ करती थी। शुक्ल जी ने आदिकाल के लिए 'वीर गाथा काल' की संज्ञा दी है। आलोच्य काल की प्रमुख कृतियों को दो वर्गों में आचार्य ने विभक्त किया है। प्रथम—अपभ्रंश की रचनाएँ—(क) विजयपाल रासो (ख) हम्मीररासो। (ग) कीर्तिलता (घ) कीर्तिपताका।

द्वितीय—देशभाषा की कृतियाँ—(च) खुमानरासो।

(छ) बीसलदेवरासो।

(ज) पृथ्वीराजरासो।

(झ) जयचंदप्रकाश।

(ञ) जयमयंक-जसचन्द्रिका।

(ट) परमालरासो (आल्हा का मूलरूप)।

(ठ) खुसरो की पहेलियाँ।

(ड) विद्यापति-पदावली

इन्हीं बारह ग्रन्थों का समावेश आचार्य आदि काल के अन्तर्गत करते हैं। आचार्य का यह स्पष्ट संकेत है कि बीसलदेव रासो' 'खुसरो की पहेलियाँ' और 'विद्यापति की पदावली' के अतिरिक्त अन्य प्रस्तावित कृतियाँ वीरगाथात्मक हैं। इस दृष्टि के आधार पर ही शुक्ल जी 'आदिकाल' के लिए 'वीरगाथाकाल' की संज्ञा उचित मानते हैं।

इस सन्दर्भ में मिश्रबन्धुओं ने आदिकाल के निर्धारण हेतु निम्नलिखित कृतियों का उल्लेख किया है —

१ भगवद् गीता।

२ वृद्ध नवकार।

३ वर्तमाल

४ संमतसार।

५ पत्तलि।

६ अनन्य योग।

७ जम्बूस्वामीरासा।

८ रैवतगिरिरासा।

९ नेमिनाथ चउपई।

१० उवएसमाला (उपदेशमाला)।

शुक्ल जी के अनुसार प्रथम पीछे की रचना है। पुस्तक से एक उद्धरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य ने यह निष्कर्ष प्रदान किया है—

तेहि दिन कथा कीन मनलाई। हरि के नाम गीत चित लाई।
सुमिरौं गुरु गोविन्द के पाऊं। अगम अपार है जाकर नाऊं।

'मुद्ध नवकार' 'जम्बूस्वामी रासा' 'नेमिनाथ चउपई' 'उवएस माला' जैन धर्म के तत्त्व निरूपण पर हैं। 'वर्तमाल' 'संमत सार' नोटिसमात्र हैं।

'इस प्रकार केवल दो साहित्यिक पुस्तकें बचीं जो वर्णनात्मक (डेस्क्रिप्टिव) हैं—एक में नन्द के त्योहार का वर्णन है दूसरी में गुजरात के रैवतक पर्वत का। अतः इन पुस्तकों की नामावली से मेरे निश्चय में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ सकता। यदि ये भिन्न भिन्न प्रकार की ९ पुस्तकें साहित्यिक भी होतीं तो भी मेरे नामकरण में कोई बाधा नहीं डाल सकती थीं क्योंकि मैंने ९ प्रसिद्ध वीरगाथात्मक पुस्तकों का उल्लेख किया है।[1] इस प्रकार शुक्लजी का स्पष्ट निर्णय है कि इस काल की अधिकांश कृतियाँ वीरगाथात्मक हैं अतः इसे वीरगाथाकाल के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। इस काल को मिश्र बन्धुओं के समान केवल 'आदिकाल' कहना उपयुक्त नहीं है।

परन्तु शुक्लजी ने जिन कृतियों को 'वीरकाव्य' माना है उनमें से अधिकांश वीरगाथात्मक नहीं हैं। उनमें 'रास' 'फाग' आदि शृंगार मूलक रचनायें भी हैं। धार्मिक अनुप्रेरणाओं के साथ-साथ उनमें काव्य-सौन्दर्य भी पर्याप्त मात्रा में है। इनकी रचना हिन्दी साहित्य के 'आदिकाल' के प्रथम

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ५

व्याख्यान में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने शुक्लजी की संस्थापना का खण्डन करते हुए मिश्रबन्धुओं के नामकरण का समर्थन किया है। अपने प्रथम व्याख्यान में द्विवेदीजी ने प्रस्तुत तर्कों का अवलम्ब ग्रहण करते हुए शुक्लजी का खण्डन किया है। शुक्लजी द्वारा प्रस्तावित रचनाओं में कुछ पीछे की रचनायें हैं कई नोटिस मात्र हैं कई के सम्बन्ध में यह निश्चित नहीं कहा जा सकता है कि उनका मूल रूप क्या था ? अतः—

(क) खुमानरासो विजयपालरासो बीसलदेव रासो—बहुत पीछे की रचनायें हैं।

(ख) हम्मीररासो जयचन्द्रप्रकाश-जसचन्द्रिका परमालरासो—नोटिस मात्र हैं।

(ग) पृथ्वीराज रासो का मूल रूप क्या था इसका ज्ञान भी पता नहीं।

इस सन्दर्भ में यह विशेष उल्लेखनीय है कि द्विवेदीजी ने 'प्राकृत पैंगलम्' के पद्य 'नाथ सिद्धों की रचनाओं' ढोला मारू-रा दोहा' जैन कवियों के 'रास काव्य' आदि काव्य, 'उक्ति व्यक्तिप्रकरण' एवं 'वर्णरत्नाकर' तथा 'सन्देशरासक' को भी आदि काल के अन्तर्गत माना है। परन्तु आचार्य द्विवेदी का यह मोह हिन्दी के आदिकालीन साहित्य की काल-अवधि और काव्य-अवधि को अधिक विस्तार देने के कारण ही है। आदिकाल की रूप-योजना को द्विवेदीजी ने अधिक व्यापक बनाया है।

आचार्य शुक्ल इस प्रस्तावना के भावी रूप से परिचित से लगते हैं। उनकी व्यापक दृष्टि इस सत्य को स्पष्ट देख सकी थी कि भावीयुग के आलोचक इस प्रकार का प्रश्न उत्पन्न कर सकते हैं। फलतः समस्या के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने प्रस्तुत समाधान की भी प्रस्तावना की है—(१) इन रचनाओं को हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत नहीं स्वीकार कर सकते ये अपभ्रंश की रचनायें हैं। यही कारण है कि 'वीरगाथा' के पूर्व द्वितीय प्रकरण में आचार्य ने 'आदिकाल' शीर्षक के अन्तर्गत उन रचनाओं की विवेचना की है जिन्हें वे अपभ्रंश के अन्तर्गत मानते हैं। अतः 'श्रावकाचार' (संवत् ९९० देवसेन) 'आदिपुराण' (पुष्पदन्त सं० १०२९) 'जसहर चरिउ' सिद्ध-नाथों की रचनायें हेमचन्द्र के संकलित दोहे 'कुमारपाल प्रतिबोध (सोमप्रभसूरि सं० १२४१) 'प्रबन्ध चिन्तामणि (जैनाचार्य

मेरुतुंग सं० ११६१) 'शार्ङ्गधरपद्धति' (शार्ङ्गधर) आदि कृतियों का विवरण उन्होंने 'अपभ्रंश काव्य' के अन्तर्गत किया है। शुक्लजी का दूसरा आग्रह यह है कि ये रचनायें धार्मिक संवेदना पर आधारित हैं अतः इनको विवेचना साहित्यिक विधाओं के अन्तर्गत नहीं होनी चाहिए। शुक्लजी का प्रथम निर्णय यथार्थ और वैज्ञानिक है। अपभ्रंश-कृतियों का अध्ययन हिन्दी के सन्दर्भ में एक विशेष दृष्टि से ही अपेक्षित है। आदिकालीन हिन्दी साहित्य की पूर्व पीठिका और उसके स्वरूप विकास के ऐतिहासिक सन्दर्भों के स्पष्टीकरण की दृष्टि से यह अध्ययन अनिवार्य-सा लगता है।

आचार्य का द्वितीय आरोप उचित नहीं लगता है क्योंकि इसमें धार्मिक अनुभूतता के साथ-साथ साहित्यिक सौन्दर्य भी है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है *'धर्म वहाँ कवि को केवल प्रेरणा दे रहा है। जिस साहित्य में केवल धार्मिक* उपदेश हों उससे वह साहित्य निश्चितरूप से भिन्न है जिसमें धर्म भावना प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रही हो जो हमारी सामान्य मनुष्यता को मथित और प्रभावित कर रही हो'।[१] जैन-धर्म एवं बौद्ध सिद्धों की रचनाओं में अपने युगों को उद्वेलित करनेवाली शक्तियों का प्रस्फुटन रसात्मक धरातल पर हुआ है। अतः इन्हें हम केवल धार्मिक रचनाओं की संज्ञा देकर इनकी अवहेलना नहीं कर सकते। इस दृष्टि के अनुसार भक्ति-भाव धारा के अन्तर्गत रचित कृतियाँ कबीर 'मानस' 'सूरसागर' 'पद्मावत' भी साहित्य के क्षेत्र से बाहर ही रहेंगे।

राहुल सांकृत्यायन ने आदिकालीन काव्य-धारा के लिए 'सिद्ध-सामन्त युग' की प्रस्तावना की है और ७६० ई०—१३०० ई० तक की अवधि को उन्होंने 'सिद्धसामन्त' युग की सीमा मानी है।[२] इस प्रकार राहुल सांकृत्यायन और हजारी प्रसाद द्विवेदी की प्रस्तावना में विशेष अन्तर नहीं है। अर्थात्, राहुलजी के वर्गीकरण के अन्तर्गत वे सभी कृतियाँ आयी हैं जिनकी प्रस्तावना द्विवेदीजी ने की है। इनके अनुसार पुष्पदन्त स्वयंभु, जोइंदु, कनकामर हेमचन्द्र सरहपा कण्हपा इत्यादि हिन्दी के आदिकालीन कवियों के रूप में आते हैं। इस अवधि में दो प्रकार की रचनायें मिलती हैं—[१] बौद्धसिद्धों-जैन साधुओं की रचनायें [२] सामन्ती वीर रसात्मक या शृंगारी रचनायें।

---

१ आलोचना इतिहास अंक०, पृ० २१।

२ हिन्दी काव्य धारा—राहुल सांकृत्यायन : अवतरणिका।

डॉ॰ रामकुमारवर्मा ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में आदिकालीन साहित्य को दो धाराओं के अन्तर्गत विभाजित किया है। प्रथम—सन्धिकालीन साहित्य (सं० ७०० १२००) इस प्रस्तावना को वे पुनः दो भागों में विभक्त करते हैं (क) पूर्वार्ध—इसके अन्तर्गत सिद्धसाहित्य जनसाहित्य की विधायें आती हैं। इस प्रकार सरहपा-सबरपा लुइपा-कन्हपा आदि सिद्धों की तथा स्वयंभू, पुष्पदन्त धनपाल रामसिंह कनकामर जिनदत्तसूरि, हेमचन्द्र शालिभद्र मेरुतुंग राजशेखरसूरि आदि की रचनायें प्रथम वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। (ख) सन्धिकाल के उत्तरार्ध के अन्तर्गत नाथसम्प्रदाय की रचनायें 'सन्देश रासक' अमीर खुसरो की रचनायें मुल्लादाऊद की रचनाओं को डॉ॰ वर्मा ने स्वीकार किया है। द्वितीय धारा के लिए डॉ॰ वर्मा ने चारणकाल की संज्ञा दी है। डॉ॰ वर्मा की यह धारणा आचार्य शुक्ल की धारणा के समान ही है। उनकी धारणा है कि रासक या वीर गीतों के लेखक चारण थे। परन्तु यह धारणा प्रामाणिक नहीं है। समग्रता की दृष्टि से हिन्दी के आरम्भिक काव्य को हम आदिकाव्य या आदिकाल ही कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत प्रस्तुत धारायें प्रमुख हैं। (१) रासककाव्य (२) नाथ साहित्य-काव्य-धारा (३) वीर काव्य-धारा।

आदि काल की काव्य विधाओं के स्वरूप विकास का इतिहास

हिन्दी की आदिकालीन काव्य विधाओं की सर्जना अपनी पूर्व परम्परा (अपभ्रंश अवहट्ट) की पीठिका पर हुई है। काव्य-स्वरूप छन्द-योजना और भाव-संविदना की दृष्टियों से अपभ्रंश और अवहट्ट की काव्य विधाओं ने हिन्दी की सर्जनात्मक अनुचेतना का संचालन और नियमन किया है। जिस काल-अवधि में हिन्दी की आदि कालीन रचनायें पल्लवित हो कर स्वरूप धारणकर रही थीं उसमें अपभ्रंश अवहट्ट की रचनायें भी विकसनशील थीं। ये रचनायें काव्यगत अनुचेतना पर अवलम्बित थीं। भाव और शिल्प, इन दोनों ही दृष्टियों से इनमें रचनात्मक प्रक्रिया का स्वरूप और शृंगार संस्थापित हो चुका था। ये रचनायें अपभ्रंश तथा अवहट्ट के अधिक निकट थीं परन्तु उनसे मुक्त होने का प्रयास भी कर रही थीं। ये नवीन सृजनात्मक शक्तियों का संचयन कर रही थीं। फलतः साहि

त्मिक विकास की नवीन अनुभवनाओं का संस्पर्श नवीन साहित्यिक सर्जनाओं को अपनी गरिमा प्रदान कर रहा था। भाषा स्वतंत्र रूप धारण कर रही थी साथ साथ साहित्य भी स्वतंत्र संस्थानों पर आरूढ़ हो रहा था। इस दृष्टि से हिन्दी की रचनाओं के समानान्तर अपभ्रंश रचनायें भी विकासशील थीं। यही कारण है कि काव्य-स्वरूप और शिल्प विधियों की दृष्टि से अपभ्रंश तथा आदिकालीन रचनाओं में समता है। यह नैसर्गिक भी है।

ऊपर इस ओर संकेत किया गया है कि हिन्दी की आदिकालीन रचनायें नवीन भूमिकाओं का संस्पर्श नहीं कर सकी थीं। जिस राष्ट्रीय सामाजिक और सांस्कृतिक सापेक्षता में अपभ्रंश की रचनायें निर्मित हुईं वह सापेक्षता हिन्दी के उद्भवकाल में भी बनी रही फलतः नवीन काव्यात्मक सम्भावनाओं के उन्नयन का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता है। अपभ्रंश काव्य निर्माण में जैन चिन्तन विचार मूल अनुप्रेरणा बनी रही। इस अनुप्रेरणा को कवियों ने अति उदात्त उदार एवम् संवेदनशील दृष्टियों से ग्रहण किया। उनकी रचनात्मक प्रक्रिया में लोक संवेदनाओं को विशेष स्थान दिया गया है। जैन अनुकथाओं पर आधारित होने के कारण यहाँ चरित्रकाव्यों के प्रति कवियों का विशेष आग्रह रहा है। इसी के समानान्तर कथाकाव्यों की रचना प्रस्तावित की गई। काल क्रम से चरित-काव्य तथा कथा-काव्य भावतत्त्व तथा शिल्पविधि इन दोनों ही दृष्टियों से एक दूसरे में समीकृत होते गये थे। अपनी कृतियों के नामकरण कवि अनेक दृष्टियों से करते मिलते हैं। काव्य का नामकरण वे कथा दृष्टि से आकार रूप की दृष्टि से साथ ही साथ छन्दों के अनुसार भी करते मिलते हैं। इन सभी दृष्टियों से अपभ्रंश काव्यों के वर्गीकरण की चेष्टा की गयी है। समग्रता की दृष्टि से अपभ्रंश साहित्य की प्रस्तुत विभाजन-सम्भावना हो सकती है—

(क) जैन प्रबन्धात्मक रचनायें—रहस्यवादी-नीति सम्बन्धी।

(ख) बौद्ध अपभ्रंश रचनायें।

(ग) धार्मिक अनुचिन्तना से मुक्त प्रबन्धात्मक तथा मुक्तक रचनायें।

जैन प्रबन्धकाव्यों को प्रमुख रूप में विभाजित करने का प्रयत्न किया गया है—(क) पौराणिक प्रबन्धकाव्य (ख) चरितकाव्य (ग) कथाकाव्य। परन्तु

यह वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक नहीं लगता है। इन समस्त रचनाओं में कथा तत्व के प्रति विशेष आग्रह होने के कारण प्रबन्धात्मकता है। साथ ही साथ किसी विशेष व्यक्ति के चरित-उद्भावन का प्रयास भी मिलता है। इस सन्दर्भ में वस्तु स्थिति का स्पष्टीकरण प्रस्तुत वक्तव्य से हो जाता है 'स्वरूप की दृष्टि से अपभ्रंश के पौराणिक काव्यों और चरितकाव्यों में बहुत अन्तर नहीं है। पौराणिक काव्यों में विषय का विस्तार अधिक होने से सन्धियों की संख्या पचास से सवा सौ तक होती है। जब कि चरित काव्यों में विषय विस्तार मर्यादित रहता है। इसमें सन्धि संख्या अधिक नहीं होती। शेष बातें जैसे सन्धि कडवक तुक पंक्ति युगल आदि में दोनों में कोई भेद नहीं होता'—'पउमसिरिचरिउ'-भूमिका हरिवल्लभ भिमाणी विद्या भवन, बम्बई, हिन्दी महाकाव्य स्वरूप विकास, पृ० १७१ से प्रस्तुत)। इन कृतियों की सामूहिक विशेषतायें प्रस्तुत हैं' (क) इनके चरित नायक पौराणिक हैं या जैन धर्म के निष्ठावान अनुयायी। (ख) आकार की दृष्टि से इन में विभिन्नता है। (ग) कुछ में अनेक महापुरुषों की कथा कही गयी है, किसी किसी में केवल एक व्यक्ति की कथा प्रस्तुत की गई है।

१—डॉ० टगारे ने अपभ्रंश भाषा और साहित्य का प्रस्तुत वर्गीकरण किया है—(क) पूर्वी अपभ्रंश—सरह तथा कण्ह के 'दोहाकोष' और 'चर्यापद' की भाषा (ख) दक्षिणी अपभ्रंश—पुष्पदन्त 'महापुराण' 'णमिकुमारचरिउ' 'जसहरचरिउ' 'करकंडचरिउ' की भाषा—(ग) पश्चिमी अपभ्रंश—कालिदास जोइंदु, रामसिंह, धनपाल हेमचन्द्र ('विक्रमोर्वशीय' पावयबन्ध दोहा) 'पाहुड दोहा' 'भविसयत्त कहा' हेमचन्द्र के व्याकरण में प्रस्तावित उदाहरणों की भाषा)। Historical Grammar of Apbhramsa परन्तु अपभ्रंश के भेदों के आधार पर अपभ्रंश साहित्य की विवेचना सम्भव नहीं है। भावधारा तथा काव्यों-रूपों की दृष्टि से इसके साहित्य का अध्ययन अधिक वैज्ञानिक होगा।

(ग) ये कृतियाँ सन्धियों में विभक्त मिलती हैं सन्धियाँ कडवकों में विभक्त मिलती हैं।

(घ) सन्धि के आरम्भ में कथा के निर्देशन की दृष्टि से एक पद्य रहता है जिसे ध्रुवक कहते है।

अतः कथा नियोजन की दृष्टि से 'चरित' 'कथा' 'पुराण' में अन्तर नहीं मिलता है। 'पुराण' को अन्य विधाओं से अलग रखने का एक अन्य कारण लगता है। जिन सेन ने महापुराण की परिभाषा देते हुए कहा है 'यह ग्रन्थ महापुराण इसलिए है कि इसमें तीर्थंकरों चक्रवर्तियों बलदेवों वासुदेवों प्रतिवासुदेवों प्रभृत प्राचीन महापुरुषों का चरित वर्णित है (आदि पुराण)। पुष्पदन्त के अनुसार पुराने कवियों की मूल रचना को पुराण कहते हैं। परवर्ती काल में विषय की अपेक्षा काव्य या छन्दरूपों के नाम से चरित या कथा काव्य लिखने की प्रथा मिलती है। 'रासक' 'चर्चरी' 'फला' 'वेलि' 'रसायन', 'कौमुदी' 'संकीर्तन' 'प्रकाश' 'विलास' 'विजय' 'अभ्युदय' शीर्षक से भी रचनायें प्रस्तुत हुई हैं।

अतः अपभ्रंश काव्य विधाओं की बाह्य विभिन्नता में आन्तरिक एकता मिलती है। हिन्दी की आदिकालीन रचनाओं में इन तत्वों के प्रति विशेष आग्रह मिलता है। अपभ्रंश का अधिकांश कृतियों का आरम्भ एक निश्चित रूप से होता है। आरम्भ में तीर्थंकरों की स्तुति पूर्वकवियों की प्रशंसा दुर्जन निन्दा की विधा मिलती है। धार्मिक भाव-संवेदना पर आधारित होते हुए भी इनमें शृंगार और मद की उद्भावना काव्यात्मक तत्वों को सम्पादित करती है और कतिपय कृतियों में प्रमाणान्तर काव्यों का भावसम्बोध मिलता है। कथानक-संघटन में अलौकिक कार्यों का संग्रह भी इनमें किया गया है। इनमें कथानकरूढ़ियों का व्यापक प्रयोग मिलता है। कुमारीदर्शन गुणश्रवण, चित्रदर्शन से प्रेम की उद्भावना की रूढ़ि का प्रयोग इन रचनाओं में मिलता है। इन रूढ़ियों का प्रयोग हिन्दी की आदिकालीन कृतियों में ही नहीं अपितु 'मानस' 'पद्मावत' तथा इन वर्गों की अन्य कृतियों में भी किया गया है।

इस विश्लेषण का प्रस्तुत सन्दर्भ में एक विशेष महत्व है। आदिकालीन हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ इन्हीं सन्दर्भों में विकसित हुई हैं। 'वस्तुतः इस काव्य-रूप काव्यगत रूढ़ियों और वस्तु की दृष्टि से दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का लोकसाहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्राप्त साहित्य का ही बढ़ाव है, यद्यपि उसकी भाषा उस अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न है। (हिन्दी साहित्य प्रथम संस्करण १९५२)।

ऊपर यह उल्लेख किया गया है कि अपभ्रंश काव्य में प्रबन्ध-काव्य कथा आख्यायिका-काव्य धर्म-काव्य में विशेष अन्तर नहीं मिलता। 'पउम चरिउ' के कवि स्वयंभू ने इस कृति को कथा की संज्ञा दी है। वे इसे 'राम कहा' कहते हैं—

वद्धमाण मुह कुहर विणिग्गय
राम कहा णइ एह कमागय—[पउमचरिउ]।

धनपाल ने भी इसी प्रकार अपनी कृति की कथात्मकता की ओर संकेत करते हुए कहा है।— णिम्मल पुण्ण पवित्त-कहा'। इसी परम्परा में 'कीर्तिलता' 'पृथ्वीराज रासो' 'मानस' आदि कृतियाँ आती हैं।

अपभ्रंश की कतिपय कृतियों में कथा की प्रस्तावना वक्ता-श्रोता के माध्यम से होती चलती है। इसकी दो शैलियाँ मिलती हैं।

(क) दो व्यक्तियों के मध्य।

(ख) पशु पक्षियों के मध्य।

'लीलावई कहा' में कवि-कविपत्नी की वार्ता के माध्यम से कथा प्रस्तावित है। हिन्दी की आदिकालीन कृतियों में 'कीर्तिलता' 'पृथ्वीराजरासो' इत्यादि में इस रूढ़ि का प्रयोग मिलता है। 'कीर्तिलता' में भृंग-भृंगी की सम्वाद योजना की गई है। प्रत्येक पल्लव में भृंगी भृंग से प्रश्न करती है और उत्तर रूप में भृंग कथा कहता है। इसी प्रकार 'पृथ्वीराजरासो' में शुक-शुकी के संवाद की योजना मिलती है। उदाहरण :—

'सुकी कहै सुक संभरी कहौ कथा प्रिय प्राण
पृथु भोरा भीमंग पहु, किम हुम बैर बिनान।

बारहवें समय में शुकी इंछिनी के विषय में प्रश्न करती है—

कंपि सुकी सुक प्रेम करि, आदि अन्त जो वत्त
इंछिनी पिथ्थह व्याहु विधि मुथ्थ मुनंति मत्त।

चौदहवें समय में

कहै सुकी सुक संभलौ नींद न आवै मोहि,
रस निरवानिम चंद करि कथ इक पूछौं तोहि।

सुकी सरिस सुक उच्चरयौ धरयो नारि सिर चित्त
सयन संयोगिनि संभरे, मन में मंडप हित्त।
पग लग्गी चालुक्य संध्यौ बंध्यौ सेत पुरसानं
ईछिनि ब्याहि इच्छ करि, कहौ सुनहि दै कानं।

'पृथ्वीराज रासो' में यत्र-तत्र कवि-कविपत्नी के सम्वादों की भी योजना मिलती है—

सम्यं इक निसि चंद। बाम बत्त बह्लि रस पाई।
दिल्ली ईस गुनेयं। किति कहो आदि संठाई॥

इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय यह है कि 'पृथ्वीराज रासो' के आदि रूप पर विचार करते हुए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने यह संकेत किया है कि 'रासो' का आदि रूप इन सम्वादों में ही प्रस्तावित रहा होगा 'यह बात आप से छिपाना नहीं चाहता कि यह बात मेरे मन में समाई हुई है कि चंद का मूल ग्रन्थ शुक-शुकी संवाद के रूप में लिखा गया था और जितना अंश इस संवाद रूप में है उतना ही वास्तविक है। विद्यापति की कीर्तिलता के समान रासो में भी प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में और कदाचित् अन्त में—शुक-शुकी की बात चीत अवश्य रही होगी।

संवाद शैली को गोस्वामी तुलसीदास ने 'मानस' में भी अपनाया है। 'पद्मावत' में भी शुक-सम्वाद की परिभूमिका ग्रहण की गई है। श्रोता-वक्ता की दिशा की ओर बालकाण्ड में संकेत करते हुए कहा गया है—

जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनि बरहि सुनाई॥
कहिहउँ सोइ संवाद बखानी। सुनहु सकल सज्जन सुखु मानी॥
संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। राम भगत अधिकारी चीन्हा॥
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुन भरद्वाज प्रतिगावा॥

—बालकाण्ड

कवि सम्वादात्मक शैली का पूर्ण निर्वाह उत्तरकाण्ड में करता है—

(क) जब ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा॥

पुरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका । बहुतेन्ह सुख बहुतन मन सोका ॥
जिन्हहिं सोक ते कहउँ बखानी । प्रथम अविद्या निसा सिरानी ॥
—उत्तरकाण्ड

(ख) गिरिजा कहेउँ सो सब इतिहासा । मैं जेहि समय गयउँ खग पासा ॥
अब सो कथा सुनहु जेहि हेतू । गयउ काग पहिं खग-कुल केतू ॥
जब रघुनाथ कीन्ह रन क्रीड़ा । समुझत चरित होति मोहि व्रीड़ा ॥
इन्द्रजीत करि आप बंधायो । तब नारद मुनि गरुड़ पठायो ॥
बंधन काटि गयो उरगादा । उपजा हृदय प्रचंड विषादा ॥
प्रभु बंधन समुझत बहु भांती । करत विचार उरग आराती ॥
व्यापक ब्रह्म विरज वागीसा । माया मोह पार परमीसा ॥
सो अवतार सुनेउँ जग माहीं । देखेउँ सो प्रभाउ कछु नाहीं ॥
—उत्तरकाण्ड

जायसी ने 'पद्मावत' में इस परम्परा का अनुकरण किया है—

सुआ बानि कसि कहु कस सोना । सिंघल दीप तोर कस लोना ॥
कौन रूप तोरी रूपमनी । दहुँ हौं लोन कि वै पदमिनी ॥

× × × ×

सुमिरि रूप पदमावति केरा । हंसा सुआ रानी मुख हेरा ॥
जेहि सरवर मँह हंस न आवा । बगुला तेहि सर हंस कहावा ॥
दई कीन्ह अस जगत अनूपा । एक-एक तें आगरि रूपा ॥
—पद्मावत नागमती सुआ—
संवाद खण्ड ४ १२

अपभ्रंश-काव्यों में पूर्व कवि प्रशंसा कवि की आत्म लघुता का प्रकाशन सज्जन प्रशंसा दुर्जन निन्दा, काव्य-आरम्भ करने की एक निश्चित विधा बन गई है। हिन्दी की आदि कालीन कृतियों में यह विधा संरक्षित मिलती है।

यथा :—भउ हउ हेमि वियक्खणु ण मुणिमि लक्खणु छदु देसिय वियाणमि ।
जा विरइय जय वंदहिं मुनि वहि सा कह कोम समाणमि ॥
पुष्पदन्त —महापुराण

पुव्वच्छयाण णमो सुकइण य सद्दसत्थ कुसलाण।
तिय लोए सुच्छंद जेहि कयं जेहि णि णिद्दिट्ठं।
अवहट्टय—सक्कय-पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए।
लक्खण छंद हरणे सुकइत्त भूसियं जेहिं।

[सन्देश रासक]

गुरं सब्ब कब्बी लहू चन्द कब्बी। जिने दर्सियं देवि सा अंग सब्बी॥
कवी किती किती उकती सुदिक्खी। तिनेकी उचिट्ठी कवी चन्दभक्खी॥

— चन्द बरदाई

ब्यास आदि कबि पुंगव नाना। जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना।
चरन कमल बंदउँ तिन्ह केरे। पुरवहुँ सकल मनोरथ मेरे॥
कलि के कबिन्ह करउँ परनामा। जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा॥
जे प्राकृत कबि परम सयाने। भाषाँ जिन्ह हरि चरित बखाने॥

तुलसी —मानस-बालकाण्ड

सज्जन प्रशंसा—दुर्जन निन्दा

इहु सज्जन लोयहु विणउ किउ। जा बुद्धि पगासहु विसिसहु पयडु॥
जो पुणु खलु पुणहु कढ़हु छंप। सो कि अब्भात्थिउ देउ कंपु॥
परछिद्दइ सयहि वावारू जासु। गुण णत्थु कहिं वि अब्भत्थिउ देइ जंपु॥
परछिद्दह सयहि वावार जासु। गुण सन्तु कहिं मि ण कोवि तासु।
कउ दुज्जण वेणिवि पर होरिवि। जउ छाडउ छउ सिखइ गुण धरइ॥

तुलसी —

बहुरि बन्दि खलगन सति भाए। जो बिनु काज दाहिनेहु बावें॥
परहित हानि लाभ जिन्ह करे। उजरें हरष बिषाद बसेरे॥
जो परदोष लखहिं सहसाखी। परहित घृत जिन्ह के मन माखी॥
बन्दौं खल जस सेष सरोषा। सहस बदन बरनइ पर दोषा॥

काव्य में कथानक रूढ़ियों का प्रयोग अपभ्रंश काव्यों में मुक्त मानस रूप से हुआ है। इन रूढ़ियों के माध्यम से कवि लोक मान्यताओं को काव्य में स्थान देता है, साथ-साथ कथा को गतिशीलता भी प्रदान करता है। अपभ्रंश काव्य-शैलियों में

इसे विशेष स्थान दिया गया है। उदाहरण स्वरूप हम 'भविसयत्त कहा' को ले सकते हैं। भविसयत्त, बंधुदत्त के साथ तिलक द्वीप व्यापार के लिए जाता है। बंधुदत्त तिलक द्वीप में उसके साथ छल करता है। उसे वहीं छोड़कर जहाज लेकर चला जाता है और भविसयत्त के संघर्षों की उद्‌भावना करता है। इसी प्रकार 'करकण्ड चरिउ' में करकण्ड सिंघल की यात्रा करते हैं। वहाँ की राजकन्या रतिवेगा से विवाह करते हैं। प्रत्यावर्तन में समुद्र में उनपर मत्स्यका आक्रमण होता है। विद्याधरी करकण्ड का अपहरण करती है। विद्याधरी उससे विवाह करती है। उसके पश्चात् कथा करकण्ड रतिवेगा की संयोग भूमि में तिरोहित हो जाती है। इस रूढ़ि का प्रयोग जायसी के 'पद्मावत' में किया गया है। इस कृति के 'सिंहल-यात्रा खण्ड' 'लक्ष्मी-समुद्र खण्ड' में इस रूढ़ि का ही नियोजन मिलता है। पद्मावती से विवाह कर रत्नसेन चित्तौड़ लौटता है। 'करकण्ड चरिउ' के समान रत्नसेन के सम्मुख भी समुद्र में घटना घटती है—

लहरैं उठी समुद्र उलथाना। भूला पंथ सरग नियराना।
बोहित चलहिं जैसे सब पानी। नाचहिं राकस आस तुलानी॥
बूड़हिं हस्ती घोर मानवा। चहुँ दिसि आइ जुरै मँस खावा।
ततखन राज-पंखि एक आवा। सिखर टूट जस डसन डोलावा॥
बोहित टूक-टूक सब भए। एहु न जाना कहँ चलि गए।
भए राजा रानी दुई पाटा। दूनौ बहे चले दुइ बाटा॥

लक्ष्मी-समुद्र खण्ड में बोहित दुर्घटना के पश्चात् पद्मावती और रत्नसेन—मिलन की योजना दैवी संयोग पर उपस्थित है। यह प्रस्तावना भी 'करकण्ड चरिउ' के अनुरूप ही है। सुआ से सम्बन्धित रूढ़ि का प्रयोग भी 'करकण्ड चरिउ' में उपलब्ध है। इस कृति के आठवें परिच्छेद में एक सुए की भी कहानी है। वह विद्याधर था। सुआ के रूप में उज्जैन के निकट एक पर्वत पर रहता था। वह विद्वान था। उसने सेठ को कुट्टिनी से मुक्त कराया और राज दरबार में राजा को उसने आशीर्वाद दिया। जायसी के 'पद्मावत' का सुआ भी इस प्रकार का है—

एहि बन रहत गई हम्ह आऊ। तरिवर चलत न देखा काऊ।
आज उठो तरवर चल मत नाहीं। आवहु यह बन छाँड़ि पराहीं॥
वै तो उड़े और बन ताका। पंडित सुआ भूलि मन थाका॥

चित्तौड़ का व्यापारी सुआ से उसके गुणों के प्रति जिज्ञासा करता है। उत्तर में वह कहता है–

हौं बाम्हन औ पण्डित कहु आपन गुन सोई।
पढ़े के आगे जो पढ़ै दून लाभ तेहि होइ।
तब गुन मोहि अहा हो देवा जब पिंजर हुत छूट परेवा।
अब गुन कौन जो बद जजमाना। घालि मंजूसा बेचे आना।
पंडित होई से हाट मह चढ़ा। चहौं बिकाय भूलिगा पढ़ा।

बनिजारा खण्ड-पृ० ३१

हिन्दी में इन वृत्तियों का विकास व्यापक भाव-संसर्गों पर हुआ है। लोक चेतना पर विकसित होने वाली रूढ़ियों में समय के अनुसार परिवर्तन होता है। उदाहरण स्वरूप सिंहल द्वीप से सम्बन्धित कथानकरूढ़ि परिवर्तिकाल में अनेक परिवर्तनों के साथ ग्रहण की गई। 'पृथ्वीराज रासो' में इस रूढ़ि का प्रयोग पद्मावती विवाह के सन्दर्भ में हुआ है। परन्तु यहाँ वह 'उत्तर द्वीप' की कन्या है और वह समुद्र शिखर' की राजकुमारी है।

उत्तर दिसि गढ़ गढ़नपति समुद सिषर इक दुग्ग।
तहँ सुविजय सुरराजपति जादू कुलह अभग्ग॥

यहाँ समुद्र शिखर में सम्भवतः 'सिंघल-द्वीप' का भाव निहित लगता है। [हिन्दी साहित्य का आदिकाल -पृ० ८४]। डॉ० द्विवेदी की यह धारणा है कि यह कहानी १६ वीं शताब्दी की है। सिंहल देश की कथा का प्रयोग नाथ सम्प्रदाय में मत्स्येन्द्र की जीवनी में मिलता है। मत्स्येन्द्र नाथ किसी 'नारी देश' में पहुँच कर साधना भ्रष्ट होते हैं। योगि सम्प्रदाय विष्कृति' में सिंहल देश को 'त्रियादेश' कहा गया है। इस ओर संकेत करते हुए द्विवेदी जी ने कहा है 'यहाँ प्रासंगिक केवल इतना है कि परवर्ती काल में नाथ अनुभूतियों में सिंहल देश त्रियादेश कजरीवन एक दूसरे से उलझा दिया गया है। पद्मावत के समय में भी त्रियादेश दक्षिण में समझा जाता था परन्तु बाद में उत्तर में समझा जाने लगा।" आदिकाल-(८१)।

अपभ्रंश काव्य-रूपों में एक विधा उन कृतियों की है जिनका नामकरण लोक प्रचलित ऋतुओं पर हुआ है उदाहरण 'बारहमासाकाव्य' 'फाग (फागु)

काव्य' 'चौमासा-काव्य' इत्यादि। भाव-योजना की दृष्टि से इस वर्ग की रचनायें भी चरितकाव्य ही हैं। अपभ्रंश-काव्य विधाओं के अन्तर्गत 'फागकाव्य' एक विशिष्ट काव्य विधा है। हिन्दी के आदिकाल में 'फागु काव्य' की स्पष्ट रूप योजना मिलती हैं या नहीं यह विवादपूर्ण है क्योंकि भाषा की दृष्टि से आदि कालीन हिन्दी की अपेक्षा ये अवहट्ठ के निकट हैं। परन्तु 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' (प्रथम भाग) में प्रारम्भिक हिन्दी पर विचार करते हुए लेखक ने फागु-काव्य को हिन्दी की आदिकालीन कृतियों के अन्तर्गत स्वीकार करते हुए कहा है 'इस काल की काव्य-कृतियों में दो कृतियाँ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं— जिन पद्मकृत 'थूलिभद्द फागु' (१२७५ वि०) राजशेखर सूरि कृत 'नेमि नाथ फागु' परन्तु इस निर्णय के लिए सबल प्रमाणों की आवश्यकता है।

'फागु-काव्य का विकास लोक मानस की भाव भूमि पर हुआ है। 'रासक' काव्य के समान सम्भवतः यह अपने आदि रूप में नृत्य-गीत परक रहा होगा काल-अवधि में यह साहित्यिक रूप धारण करता गया और इसकी संस्थापना अलंकृत काव्य के रूप में हुई। इसमें गीति तत्व की प्रधानता मिलती है, परन्तु कतिपय कृतियों में काव्य-तत्व का भी समावेश मिलता है। अतः इनमें प्रबन्धात्मकता भी अनिवार्य रूप में विद्यमान है। वैसे यह बसन्त ऋतु का काव्य है। यह 'मासों' में विभक्त मिलता है। इसकी समाप्ति शान्त रसमें होती है। विप्रलम्भ के अन्तर्गत वियोग की दशाओं की उद्भावना इनकी प्रमुखता है। 'बसन्त' के अतिरिक्त इनमें वर्षा तथा अन्य ऋतुओं का भी रूप-विधान मिलता है। इनके गायक जैन धर्म-पुरुष हैं। अतः फागु काव्य की दो स्पष्ट धारायें मिलती हैं। प्रथम धारा के अन्तर्गत वे कृतियाँ आती हैं जिनमें प्रबन्धात्मकता है उदा० 'थूलिभद्द फागु' और 'नेमि नाथ' फागु दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे कृतियाँ आती हैं जिनमें प्रबन्धात्मकता का आग्रह नहीं मिलता है। इनमें बसन्त, मुख्यतः उसके उद्दीपन-स्वरूप का उद्भावन ही प्रमुख है उदा०—'मोहिनी फागु' 'चुपई फागु' 'बसन्त विलास फागु' आदि रचनायें।

'थूलिभद्द फागु' में थूलिभद्द के तप भंग की चेष्टा के वर्णन के अन्तर्गत कोशा (वेश्या) के सौन्दर्य निरूपण का संक्षिप्त रूप विधान मिलता है।—

मयण खग्ग जिमि ल्हलहंत जसु वेणी दंडो
सरलउ तरलउ स्यामलउ रोमावलि दंडो

चित्तौड़ का व्यापारी सुआ से उसके गुणों के प्रति जिज्ञासा करता है। उत्तर में वह कहता है–

हौं बाम्हन औ पण्डित कहु आपन गुन सोई।
पढ़े के आग जो पढ़ें दून लाभ तेहि होइ।
तब गुन मोहि अहा हौ देवा जब पिंजर हुत छूट परेवा।
अब गुन कौन जो बंद जजमाना। घालि मंजूसा बेचै आना।
पंडित होई से हाट नहु चढ़ा। चहौं बिकाय भूलिया पढ़ा।

बनिजारा खण्ड-पृ० ११

हिन्दी में इन वृत्तियों का विकास जागृत भाव-सम्पर्कों पर हुआ है। लोक चेतना पर विकसित होने वाली रूढ़ियों में समय के अनुसार परिवर्तन होता है। उदाहरण स्वरूप सिंहल द्वीप से सम्बन्धित कथानकरूढ़ि परिवर्तिकाल में अनेक परिवर्तनों के साथ ग्रहण की गई। 'पृथ्वीराज रासो' में इस रूढ़ि का प्रयोग पद्मावती विवाह के सन्दर्भ में हुआ है। परन्तु यहाँ वह 'उत्तर द्वीप' की कन्या है और वह 'समुद्र शिखर' की राजकुमारी है।

उत्तर दिसि गड़ गड़नपति समुद सिषर इक दुग्ग।
तहँ सुविजय सुरराजपति जादू कुलह अभग्ग॥

यहाँ समुद्र शिखर में सम्भवतः 'सिंहल-द्वीप' का भाव निहित लगता है। [हिन्दी साहित्य का आदिकाल -पृ० ८४]। डॉ० द्विवेदी की यह धारणा है कि यह कहानी १६ वीं शताब्दी की है। सिंहल देश की कन्या का प्रयोग नाथ सम्प्रदाय में मत्स्येन्द्र की जीवनी में मिलता है। मत्स्येन्द्र नाथ किसी 'नारी देश' में पहुँच कर साधना भ्रष्ट होते हैं। योगि सम्प्रदाय विष्कृति' में सिंहल देश को 'त्रियादेश' कहा गया है। इस ओर संकेत करते हुए द्विवेदी जी ने कहा है 'यहाँ प्रासंगिक केवल इतना है कि परवर्ती काल में नाथ अनुभूतियों में सिंहल देश त्रियादेश कदलीवन एक दूसरे से उलझा दिया गया है। पद्मावत के समय में भी सिंहलदेश दक्षिण में समझा जाता था परन्तु बाद में उत्तर में समझा जाने लगा।" आदिकाल-(८६)।

अपभ्रंश काव्य-रूपों में एक विधा उन कृतियों की है जिनका नामकरण लोक प्रचलित ऋतुओं पर हुआ है उदाहरण 'बारहमासाकाव्य' 'फाग (फागु)

काव्य' 'चौमासा-काव्य' इत्यादि। भाव-योजना की दृष्टि से इस वर्ग की रचनायें भी चरितकाव्य ही हैं। अपभ्रंश-काव्य विधाओं के अन्तर्गत फागकाव्य एक विशिष्ट काव्य विधा है। हिन्दी के आदिकाल में 'फाग काव्य' की स्पष्ट रूप योजना मिलती है या नहीं यह विचारपूर्ण है क्योंकि भाषा की दृष्टि से आदि कालीन हिन्दी की अपदशा से अपभ्रंश के निकट है। परन्तु 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' (प्रथम भाग) में प्रारम्भिक हिन्दी पर विचार करते हुए लेखक ने फागु-काव्य को हिन्दी की आदिकालीन कृतियों के अन्तगत स्वीकार करते हुए कहा है 'इस काल की काव्य-कृतियों में दो कृतियाँ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं— जिन पद्मकृत 'थूलिभद्द फागु' (१२७५ वि०) राजशेखर सूरि कृत 'नेमि नाथ फागु' परन्तु इस निर्णय के लिए सबल प्रमाणों की आवश्यकता है।

'फागु-काव्य' का विकास लोक मानस की भाव भूमि पर हुआ है। 'रासक' काव्य के समान सम्भवतः यह अपने आदि रूप में नृत्य-गीत परक रहा होगा काल-अवधि में यह साहित्यिक रूप धारण करता गया और इसकी संस्थापना अलंकृत काव्य के रूप में हुई। इसमें गीति तत्व की प्रधानता मिलती है, परन्तु कतिपय कृतियों में काव्य-तत्व का भी समावेश मिलता है। अतः इनमें प्रबन्धात्मकता भी अनिवार्य रूप में विद्यमान है। वैसे यह वसन्त ऋतु का काव्य है। यह 'भासों' में विभक्त मिलता है। इनकी समाप्ति शान्त रसमें होती है। विप्रलम्भ के अन्तर्गत वियोग की दशाओं की उद्भावना इनकी प्रमुखता है। 'वसन्त' के अतिरिक्त इनमें वर्षा तथा अन्य ऋतुओं का भी कम विधान मिलता है। इनके नायक जन धर्म-पुरुष हैं। अतः फागु काव्य की दो स्पष्ट धारायें मिलती हैं। प्रथम धारा के अन्तर्गत वे कृतियाँ आती हैं जिनमें प्रबन्धात्मकता है उदा० 'थूलिभद्द फागु' और 'नेमि नाथ' फागु दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे कृतियाँ आती हैं जिनमें प्रबन्धात्मकता का आग्रह नहीं मिलता है। इनमें वसन्त, मुख्यतः उसके उद्दीपन-स्वरूप का उद्भावन ही प्रमुख है, उदा०—'मोहिनी फागु' 'चुनई फागु', 'वसन्त विलास फागु' आदि रचनायें।

'थूलिभद्द फागु' में थूलिभद्द के तप-भंग की चेष्टा के वर्णन के अन्तर्गत कोशा (वेश्या) के सौन्दर्य निरूपण का संक्षिप्त रूप विधान मिलता है।—

मयण खग्ग जिमि लह लहत जसु वेणी दंडो
सरलउ तरलउ स्यामलउ रोमावलि दंडो

तुंग पयोहर उल्लसइ सिंगार थवक्का
कुसुम बाणि निय अमिय कुम्भ किरथापणि मुक्का।
काजल बजिमि नयन जुय सिर सेवउ-फारई,
बोरियावाटि कंचुलिय पुण उरमंडिल तारेई।

मदन के खड्ग के समान वेणी लहराती है तरल-तरल रोमावलि शृंगार युक्त है उत्तुंग उल्लसित पयोधर शृंगार की संस्थापना करते हैं कुसुम बाण की स्थापना से कामदेव ने अमृत के दो घट रख दिये हैं नेत्र कज्जलयुक्त हैं केश में माँग कर कंचुकि-वस्त्र से उसने वक्षस्थलों को सुसज्जित किया है।' इस कृति में वसन्त के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं के उद्दीपन चित्र भी निम्नोक्ति हैं उदा० प्रस्तुत भ ग में वर्षा का रूप विधान विशेष दर्शनीय है—

झिर मिर झिर मिर झिर-मिर ए मेहा वरिसन्ति।
खलहल-खलहल खलहल-ए बाहला बहंति॥
झब झब झब झब ए बीजुलीह झबक्कइ।
थर-थर-थरहर-थरहर ए, विरहिणि मन कम्पई॥

'ये मेघ रिम झिम रिम झिम बरस रहे हैं ये नाले कल-कल ध्वनि में प्रति ध्वनित हो रहे हैं विद्युत (झब झब झब) चमक रही है विरहिणी का मन थर-थर काँप रहा है।

महुर गम्भीर सरेण मेह जिमिजिमि गाजन्ते
पंचबाण निय कुसुम बाण तिमतिम साजन्ते
जिम जिम केतकि महमहन्त परिमल वियसावइ,
तिम तिम कामिय चरण लागि निज रमणि मनावइ।

'जैसे जैसे मधुर स्वर-मेघ गर्जन करते हैं वैसे वैसे कामदेव अपने बाणों से सुसज्जित हो रहा है। जैसे-जैसे केतकी अपनी सुरभि और अपना परिमल प्रसारित कर रही है त्यों-त्यों कामी अपनी रमणियों के चरणों पर गिर कर मना रहे हैं। इस वर्ग की दूसरी महत्वपूर्ण कृति है 'नेमिनाथ फाग'। यह राजमती तथा नेमिनाथ की कथा-संवेदना पर आश्रित है। इस कृति में ऋतु-वर्णन नहीं मिलता है। जयवन्त सूरि की 'स्थूल भद्रकोशा प्रेम विलास फाग' इस परम्परा की एक

हेमचन्द्र ने 'देशी नाम माला' में 'फागु' के स्वरूप की ओर प्रस्तुत पंक्तियों में संकेत किया है—

फग्गू महुच्छणे फळही नवणी फमुह पंमुत्ता मुकुके ।

देशीनाम माला । ६।८२ ।

वस्तुतः वसन्तोत्सव के अर्थ में हेमचन्द्र ने 'फागु' की मूल अनुचेतना को स्वीकार किया है। 'जिनपद्मसूरि' ने 'स्थूलभद्र फाग' में 'फागु' के स्वरूप की ओर संकेत करते हुए कहा है :—

खर तर गच्छि जिन पद्म सूरि किम फागु रमेवगु ।

खेला नाचइ चैत्र मासि रंगिहि गावेवउ ॥

—स्थूलभद्रफागु ।

'रणपुर मंडन आदिनाथ फाग' में 'फागु काव्य' की चर्चा प्रस्तुत पंक्तियों में की गई है —

वेचा मंस बजावइ ए, गावइ पंचम रागु,

रंग भरि इक खेलइ, गोखिइ जिणवर फागु ।

इस प्रकार लोक-नृत्य की परिभूमि से पल्लवित होकर फागु-काव्य ने एक विशिष्ट प्रकार के अलंकृत काव्य विधा का रूप धारण कर लिया।

'फागु काव्य' की सामान्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(क) अलंकृत शैली में प्रकृति के उद्दीपन रूप का अंकन ।

(ख) विरह की उद्भावना में लोकगीतों की भाव-संवेदना का अंकन ।

(ग) काव्य का उपसंहार संयोग एवं शान्त रस में। कथा प्रधान कृतियों में नायक-नायिका जैन धर्म में दीक्षित हो जाते हैं ।

(घ) 'फागुकाव्य' 'भासों' में विभक्त हैं। इनमें 'फागु' 'रोला' तथा 'दूहा' छन्दों का प्रयोग मिलता है ।

'द्वितीय नेमिनाथफागु' 'जम्बुस्वामीफागु' 'पार्श्वनाथफागु' में 'दूहों' का प्रयोग मिलता है। सोलहवीं शताब्दी के फागु काव्यों में संस्कृत श्लोकों का प्रयोग किया गया है। जरा॰ 'नारी निरास फागु' में 'श्लोक' तथा 'दूहों' के क्रम की योजना मिलती है। इस काल के 'फागुकाव्यों' में 'रासक' छन्द का भी

प्रयोग मिलता है। 'फागु शैली' के अन्तर्गत एक अन्य शैली का विकास मिलता है जिसे 'गीता शैली' की संज्ञा मिली है। इसी शैली की ओर संकेत करते हुए डॉ० दशरथ शर्मा तथा दशरथ ओझा ने कहा है 'जब काव्य की फागु शैली अभिनेयता के कारण जनप्रिय बनने लगी तो इसके अवांतर भेद भी दिखलाई पड़ने लगे फागु का एक विकसित रूप 'गीता' नाम से प्रचलित हुआ रास० रा० काव्य पृ० ७७ उदा० 'भ्रमर गीता' (चतुर्भुज) 'नेमिनाथ भ्रमर गीता' 'जम्बू स्वामी व्रत गीता' इत्यादि।

प्रबन्धकाव्यों के अतिरिक्त अपभ्रंश काव्य की दूसरी काव्य विधा मुक्तकों में मिलती है। इस वर्ग की रचनायें भी जैन-साधना से ही सम्बन्धित हैं। इस वर्ग में भाव चेतना की दृष्टि से दो धारायें मिलती हैं।

प्रथम वर्ग की रचनाओं में समाधि ज्ञान की चर्चा है। दूसरे वर्ग की रचनाओं में श्रावकों को उपदेश दिया गया है। (उपवास, तीर्थ व्रत-पालन आदि का उपदेश)। ये रचनायें काव्य के अन्तर्गत इसलिए स्वीकार की जा सकती हैं कि ये पद्य-बद्ध हैं।

प्रथम वर्ग की रचनाओं को साधारणतः रहस्यवादी रचनाओं की संज्ञा दी गई है। इनमें जोइन्दु (योगीन्द्र १० वीं सदी) का 'परमात्म प्रकाश' और 'योगासार' रामसिंह का 'पाहुड़ दोहा' हैं।

मुंडिय मुंडिय मुंडिया। सिर मुंडिउ चित्तुमुंडिया।
चित्तहं मुंडणु जि कियउ। संसारहं खंडणु तिं कियउ।

ओ मुंडी! सिर मुण्डित किया किन्तु चित्त मुण्डित नहीं किया जिसने सिर मुण्डित किया उसने संसार को खण्डित कर दिया।

जिमि लोण विलिज्जइ पाणियहं तिमं जइचित्त विलिज्ज
समरसि हुवइ जीवड़ा काइ समाहिं करिज्ज ॥ १७६ ॥

जिस प्रकार लवण पानी में विलीन हो जाता है उसी प्रकार चित्त परमात्मा में विलीन होकर समरस हो जाता है।

इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय यह है कि जैनधर्म के सिद्धान्त निरुपण में

रामसिंह ने योग-मूलक शब्दों का प्रयोग किया है। 'अनाहतनाद' 'ब्रह्म रंध्र' 'इड़ा पिंगला' स्त्री-परक रूपकों का प्रयोग मोक्ष-वर्णन के सन्दर्भ में किया गया है।[1]

सुप्रभाचार्य की कृति 'वैराग्यसार' इस सन्दर्भ की अन्य महत्वपूर्ण रचना है। इसमें 'त्रिपदी', 'पज्झटिका' आदि का प्रयोग किया गया है। किन्तु दोहों की संख्या अति व्यापक है। विषय की दृष्टि से यह 'पाहुड़ दोहा' की भावधारा की कृति है। उदा०-गुरु-जिणवरु गुरु सिद्ध सिउ गुरु रयणत्तय सारु

सो दरिसावई अप्प मापवरा, भवजल पावइ पारु।

'गुरु जिनवर है गुरु सिद्ध है शिव और रत्नत्रय (दर्शन ज्ञान चरित्र) के तत्व है। वह आत्म और पर-दर्शन कराता है उसकी कृपा से भवसागर पार जा सकते है। गुरु की महिमा का यह पद कबीर या उनके वर्ग के अन्य साधकों की भावनाओं के अनुरूप है।

सिद्ध साहित्य

बौद्धधर्म से विकसित महायान सम्प्रदाय की विभिन्न अनुचतनाओं पर रचित साहित्य को 'सिद्ध साहित्य' की संज्ञा मिली है। इस वर्ग का साहित्य बंगाल के पालवंशीय राजाओं के राजत्व काल में आठवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी के मध्य किया गया है। अतः इस वर्ग के साहित्य में मगध प्रदेश में विकसित चार सौ वर्षों के मध्य की भाषा के विकासशील स्वरूप के भी दर्शन हो जाते हैं।[2] इस विशिष्ट साहित्यिक धारा का सर्वप्रथम प्रकाशन

---

१ पाहुड़ दोहा संग्रह ग्रन्थ जैसा लगता है। विषय का क्रमबद्ध विवेचन नहीं मिलता कृति के कुछ पद हेमचन्द्र ने उद्धृत किए है (पा० दो-भू० पृ० २२ ११)। अतः दोहे निश्चित रूप से हेमचन्द्र के पूर्व के हैं। योगीन्द्र और रामसिंह की कृतियों के पदों में बहुत भाव-साम्य है।—हिन्दी साहित्य प्रथम खण्ड-पृ० ४११।

२ तिब्बती परम्परा के अनुसार सिद्धों की संख्या ८४ है। 'वर्ण रत्नाकर' (सम्पादक सुनीति कुमार चटर्जी तथा बबुआ मिश्र—एशियाटिक सोसाईटी बङ्गाल १९४०) में ८४ सिद्धों का उल्लेख किया गया है परन्तु नामावली के अन्तर्गत केवल ७७ सिद्धों के ही नाम दिए गए हैं। किन्तु केवल निम्नलिखित साधकों की रचनायें ही उपलब्ध हो सकी है—लुईपा (लूईपाद लुईपाद लुमी

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा हुआ। सन् १९१६ में उनकी प्रसिद्ध कृति 'हजार बछरेर पुरान बांगला भाषाय बौद्ध गान ओ दोहा (हजार वर्ष प्राचीन बंगला भाषा का बौद्ध गान और दोहा) प्रकाशित हुई। नेपाल दरबार लाइब्रेरी में चार स्वतंत्र ग्रन्थ—'चर्याचर्यविनिश्चय' सरोजवज्र का 'दोहाकोश' कृष्णाचार्य का दोहा कोश' तथा डाकार्णव -संकलित है। इन समस्त को एक ग्रन्थ में शास्त्री महोदय ने सम्पादित किया। 'चर्या गीति संग्रह' का मूलनाम था 'चर्या गीत कोष'। इसके लिपिकाल के अनेक काल पश्चात् मुनिदत्त ने इस पर एक वृत्ति लिखी। वृत्तिकार ने इसका नामकरण 'चर्याचर्यविनिश्चय' किया था।[1] मुनिदत्त

पाद), कुक्कुरीपा (कुक्कुरीपाद), विरूपा (विरूपाद), गुण्डरी (गुण्डरी पाद) चाटिल (चाटिल्ल पाद) भुसुकु (भुसुकु पाद) कान्ह (कृष्णपाद) कामलि (कम्बलाम्बर पाद) डोम्बी (डोम्बी पाद) शान्ति (शान्तिपाद) महित्ता (महीधर) वीणा (वीणापाद) सरह (सरहपाद) शबर (शबरपाद) आर्यदेव (आर्यदेव पाद) ढेण्ढण्पा (ढेण्ढणपाद) दारिक (दारिक पाद) भादे (भद्रपाद) ताड़क (कङ्कण पाद) जयनन्दि (जयनन्दिपाद), धाम (धाम पाद) (तन्त्री-तिब्बती परम्परा से प्राप्त) (लाड़ी डोम्बी)।—देखिए चर्यागीति पदावली डॉ॰ सुकुमार सेन (साहित्य सभा वर्धमान)। श्री राहुल सांकृत्यायन के अनुसार जिन साधकों की रचनायें उपलब्ध हैं उनकी नामावली इस प्रकार है—सरहपा (नालन्दा राज्ञी पूर्वी) शबरपा (विक्रम शिला) भुसुकपा (नालन्दा) लूईपा (मगध) विरूपा (मगध) डोम्बिपा (मगध) दारिकपा (उड़ीसा), गुण्डरीपा (डिसुनगर) कुक्कुरीपा (कपिलवस्तु) कमरिपा (उड़ीसा) कण्हपा (बिहार-बङ्गाल गोरक्षपा (गोरखपुर बस्ती छटी) तंतिपा (अवन्ति नगर) महीपा (मगध) भादेपा (श्रावस्ती) धामपा (विक्रमशिला) तिलोपा (मगध भागलपुरी छटी) शान्तिपा (मगध) —देखिए— हिन्दी काव्य धारा (राहुल सांकृत्यायन)। (किताब महल इलाहाबाद १९४५)।

[1] नेपाल दरबार के लिपिकारों ने 'मूलग्रन्थ' और 'वृत्ति' इन दोनों की अलग अलग प्रतिलिपियाँ की थीं। डॉ॰ सुकुमार सेन ने 'मूल ग्रन्थ-पाठ' और 'वृत्ति' में प्रस्तावित पाठों में प्राप्त अन्तर का निरीक्षण करते हुए इस धारणा की संस्थापना की है।

ने 'चर्याचर्य विनिश्चय' की रचना किस समय की इस सम्बन्ध में हम निश्चित रूप से कुछ कहने में असमर्थ हैं। परन्तु भाषा-स्वरूप तथा अन्य इतिहास सम्मत संकेतों का आधार ग्रहण कर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि 'चर्याचर्यविनिश्चय' की रचना चौदहवीं शताब्दी में हुई। अतः 'चर्या गीत' और 'दोहों' की रचना इसके पूर्व ही हुई होगी। भाषा-स्वरूप का आधार ग्रहण कर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि इनकी रचना ९ १२ शताब्दी में के मध्य अवश्य हुई होगी। इस प्रकार यह भी संकेत मिलता है कि समस्त गीत और दोहा एक काल की रचना नहीं हैं। भिन्न भिन्न कालों में ये रचनायें हुई हैं। गुरु-शिष्य परम्परा में इनका मौखिक विकास भी होता रहा है।

महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री ने लुईपा को आदि सिद्धाचार्य माना है। लुईने बौद्धदर्शन से सम्बन्धित 'अभिसमयविभंग' नामक ग्रन्थ की रचना की है। यह अनुमान किया जाता है कि लुईपा दीपंकरश्रीज्ञान के समकालीन थे और 'अभिसमयविभंग' के रचनाकार के रूप में उन्होंने दीपंकर का सहयोग प्राप्त किया था। दीपंकर श्रीज्ञानने १०३८ ई० (कतिपय विद्वानों के अनुसार १०४२ ई०) में विक्रमशील से तिब्बत की यात्रा की थी। पन्द्रह वर्षों तक उन्होंने वहाँ धर्म प्रचार किया। इस निष्कर्ष के अनुसार लुई का समय ग्यारहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध था। परन्तु डा० सुकुमार सेन के अनुसार लुई का समय दसवीं शताब्दी है। इनका यह निष्कर्ष है कि लुई और श्रीज्ञान सामयिक नहीं थे। परवर्ती काल में लुई के अपूर्ण ग्रन्थ 'अभिसमय विभंग' को उन्होंने पूरा किया। डॉ० सेन ने एक

चर्या-संख्या	लिपिकार का मूल	वृत्ति-उद्धृत मूल
२१	अईसन चर्या कुक्कुरीपाएँ गाईड	अईसनि
११	तिन म च्छूपई हरिणा पिवई न पानी	खन्तइ
८१	सोने भरिली करुना नावी	भरिली
११५	मलद विआएल गविआ बाँझे	मलदा गावी

डा० सुकुमार सेन ने एक अन्य दृष्टि से मूल लिपि तथा मुनिदत्त की वृत्ति में प्राप्त पाठ के लिपि-काल में अन्तर होने का संकेत किया है। मूलपाठ के लिपिकार ने गीत के प्रत्येक चरण को ध्रुवपद के रूप में स्वीकार किया है। मुनिदत्त ने प्राय समस्त चर्या के द्वितीय पद को ध्रुवपद कहा है। वही पृ० ३४।

अन्य सम्भावना की प्रस्तावना की है। इनके अनुसार 'अभिसमय' लुई की मूल कृति थी। और इस कृति की परिशिष्टि की रचना दीपंकर ने 'विमंग' नाम से की थी[1]। तिब्बती परम्परा से प्राप्त ग्रन्थों में लुई के तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। 'श्री भगवद् भिसमय' 'अभिसमय विभंग' तथा 'तत्त्वस्वभाव दोहा कोष गीतिका दृष्टि नाम'। डॉ॰ सुकुमार सेन की यह धारणा है कि इस अन्तिम कृति में लुई के 'दोहा' और 'चर्यागीत' का संग्रह है। तारानाथ के अनुसार लुई धावरया के शिष्य थे[2]।

लुई—लुईपा की रचना में अन्य चर्याकारों से अधिक स्पष्टता है। तांत्रिक शब्दावली और 'संध्या भाषा' का आभास इनकी रचनाओं में नहीं मिलता है। आरम्भिक पंक्ति में रूपक-नियोजन की चेष्टा मिलती है परन्तु रूपक की पूर्णता पर वे ध्यान नहीं देते हैं। उदा॰

काआ तरुवर पंच बिडाल।
चंचल चिए पईठो काल ॥ ध्रु ॥
दिढ़ करिअ महासुह परिमाण।
लुई भणइ गुरु पुच्छिअ जाणि ॥
सअल समाहिअ काहि करीअइ।
सुख दुखेतें निचित मरिअइ ॥

'तन तरुवर है पाँच शाखायें (इन्द्रियाँ) है चञ्चल चित में काल प्रवेश कर गया है महासुख को प्रमाण कर (चित्त) को दृढ़ करो। लुई का कथन है कि गुरु से ज्ञान प्राप्त करो। समस्त उपलब्धियों से लाभ क्या ? सुख-दुख दोनों ही स्थितियों में मृत्यु निश्चित है। इस प्रकार अन्य चर्याकारों के समान रूपक की सम्पूर्णता यहाँ नहीं मिलती है। इस कथन में स्पष्टता है सांकेतिकता अथवा संध्या भाषा' का नियोजन भी नहीं है। अपने दूसरे गीत में लुई ने साधारण स्तर पर यह कहा है कि योगधारण द्वारा ही आध्यात्मिक दृष्टि की उपलब्धि होती है जप-तप से इसकी उपलब्धि नहीं शास्त्र वेद-पुराण द्वारा इस पथ का निर्देशन नहीं हो सकता।

---

१ चर्यागीत पदावली भूमिका

२ Mystic Tales of Taranath—By Edelsteinmine इस कृतिका बंगला अनुवाद श्री भूपेन्द्र नाथ दत्त ने किया है—पृष्ठ ११।

भाव न होइ अभाव ण जाइ
अइस सवोहे को पतिआइ।
बाहिर बण्ण-चिन्ह-रूब ण जाणी।
सो कइसे आगम-वे एँ वखाणी।

'जहाँ भाव की स्थिति नहीं है अभाव का प्रवेश नहीं है इस प्रकार की प्रस्तावना पर कौन विश्वास करेगा ? जिसके वर्ण-लक्षण और रूप का परिचय नहीं उसका वर्णन वेद कैसे करते हैं ?

सरहपा—राहुल सांकृत्यायन ने सरहपा को आदि सिद्धाचार्य माना है। इनके अनुसार इनका काल ७६० ई०—८०६ई० है। राहुल जी के अनुसार सरहपा की गुरुपरम्परा इस रूप में है।

शान्ति रक्षित (धर्मपाल के सामयिक ई० ७७० ८१५) हरिभद्र।
|
सरहपाद।
|
सबरपाद।
|
लुईपाद।

(गंगा-पुरातत्त्वांक) १९३३-पृ० २२०

राहुल जी का निर्णय तारानाथ के आधार पर अवलम्बित है[१]। इनका बौद्ध नाम 'राहुलभद्र' था। ये वज्रयानी साधक भी थे। इनका वज्रयानी नाम 'सरोजवज्र' भी था। राहुलसांकृत्यायन द्वारा निर्धारित सरह का समय विवाद पूर्ण है। सरह का समय दसवीं शताब्दी से पूर्व नहीं पड़ता है। (देखिए मिश्रौर मिस्तीके पृ० ११)। बारहवीं शताब्दी तक सरह के अनेक दोहे लोक जीवन में प्रचलित हो चुके थे।

---

१ ये नालन्दा विश्वविद्यालय से सम्बन्धित थे। ऐसी किंवदन्ती है कि उन्होंने शर (बाण) बनाने वाली निम्न जाति की स्त्री को साधना-मुद्रा के रूप में ग्रहण किया था। अतः इन्हें सरहस्त पाद (सरहपा) कहा गया है।

पण्डित दिवाकरचन्द्र ने सरह के दोहों का संकलन किया था। इस संकलन के अन्त में कुछ दोहे दिवाकरचन्द्र लिखित हैं।

सरा०—सम-संचिता तत्त फनु-सरह पाव भनन्ति।
जो मनगोचर पाठिअई सो परमत्थ न होन्ति[1]॥

संग्रह के अन्त में संग्रहकर्ता ने लिखा है—

जोहि विनट्ठ पनट्ठ-पऊ सोहिअ अत्थ जुत्त।
सरहपाअ किअ दोह लिऊ सो संगहिअ एत्थ॥

'विनष्ट अथवा प्रनष्ट पद को शुद्ध कर मैंने अर्थ स्पष्ट किया है। इस प्रकार सरह का दोहा संगृहीत हुआ।

दिवाकरचन्द्र ई० सन् ११०१ के पूर्व हुए थे। सरह के दोहों को प्रनष्ट होने में पचास वर्षों की अवधि लगी होगी तो सरह का समय ग्यारहवीं शताब्दी का प्रथमार्द्ध निश्चित होता है।[2] तिब्बती परम्परा में सरह के लिए 'महायोगी' 'योगीश्वर' 'महाब्राह्मण' महाचार्य' आदि उपाधियों का प्रयोग मिलता है। तिब्बती परम्परा से इनकी जो कृतियां उपलब्ध हैं उनमें 'महा समुद्रोपदेश' 'उपदेशगीति' 'द्वारकोपदेश' 'धर्मोपदेश' 'तत्त्वोपदेशशिखर' 'चर्यागीति' 'भावना दृष्टि गीतिका' चित्तकोष-अजवज्र गीति 'डाकिनी-गुह्य वज्र गीति' इत्यादि प्रमुख हैं।

तारानाथ ने दो सरह का उल्लेख किया है। एक शबरीपा के समकालीन थे द्वितीय व्यक्ति आचार्य सरोरुह थे। वे पण्डित थे राज पुरोहित थे। डाकिनी का संग करने के कारण राजा ने उन्हें निर्वासित किया था। राहुल सांकृत्यायन ने इन दो स्वतन्त्र व्यक्तियों में अन्तर नहीं माना है। राहुल जी का ही अनुसरण अन्य इतिहास लेखकों ने किया है। फलस्वरूप वे स्थिति का स्पष्टीकरण नहीं कर सके हैं।

सरह के नाम के चार 'चर्यापद' मिलते हैं। उनमें प्रथम है बाईसवाँ पद जिसका आरम्भ इस प्रकार है—

१-देखिए चर्यागीति पदावली पृ० १७।
२-वही।

अपने रचि रचि भव निर्वाना
मिठे लोअ बन्धावए अपना । भ्र ।

इसमें साधक की यह धारणा है कि मनुष्य अपनी वृत्तियों के कारण ही भव बन्धन में बद्ध है । जन्म-मरण के भाव से मुक्त होने के लिए अपनी वृत्तियों से ऊपर उठना होगा । दूसरे 'चर्यागीत' (३२) में सरह सहजसमाधि की स्थिति का निरूपण करते हुए सहजपथ के स्वरूप की व्याख्या करते हैं ।

नाद न बिन्दु न रवि न शशि मण्डल ।
चीअराअ सहावे मूकल । घ्रु ।
उजू रे उजू छाड़ि मा लेन्ह रे बंक ।
निअड़ि बोहि मा जाहू रे लांक ॥

'जहां नाद है न बिन्दु है न रवि है न शशिमण्डल है राज स्वभाव से चित्त जहाँ मुक्त है । सहज मार्ग का परित्याग कर तिर्यक मार्ग को मत ग्रहण करो । बोधितत्त्व निकट है लंका जाने की आवश्यकता नहीं ।" तीसरे 'चर्यापद' (३८) में साधक ने तन को नौका मन को नाविक और गुरु-उपदेश को पतवार के रूप में स्वीकार कर भव निर्वाण की विधि की चर्चा की है । चौथे 'चर्यापद' (३९) में साधक ने मन के अविद्यापूर्ण स्वरूप की चर्चा की है । अविद्या से मुक्तिहेतु गुरु-उपदेश अपेक्षित है । इस प्रकार इन पदों में ध्यान-धारणा और योग-स्वरूप निरूपण ही मिलता है । इनमें तांत्रिक साधनाओं की विधियों की ओर संकेत नहीं मिलता है ।

सरह के दोहों में सिद्ध-धारा की चिन्तन विधि और जीवन-धारा-स्वरूप का व्यापक विश्लेषण मिलता है । इस दृष्टियों से इनका विशेष महत्त्व है ।

भावधारा के अनुसार इनके दोहों के वर्गीकरण का प्रयत्न किया गया है ।[1] दोहाकोष से कुछ उदाहरण दिए जाते हैं :—

१—राहुल सांकृत्यायन ने हिन्दी काव्य धारा में इस प्रकार का विभाजन किया है —

(१) रहस्यवाद (२) पाखण्ड-खण्डन (३) मंत्र-देवता बेकार (४) भोग में निर्वाण (५) काया-तीर्थ (६) गुरु-महिमा (७) सहज-संयम (८)कमल-कुलिश ।

पवण बहन्ते मण णो हल्लइ। जलण जलन्ते मण णो डज्झइ॥
घण वरिसन्ते मण णो तिम्मइ। ण उप्पज्जहि मण खयहि पइस्सइ॥

'पवन की संचरणशीलता से जो चलायमान नहीं होता है, ज्वाला की ज्वलन से जो दग्ध नहीं होता है, घन-वर्षा से जो भीगता नहीं है, न तो (उसकी) उत्पत्ति होती है, न उसका लय होता है।'

विसअ रमन्त ण विसअ विलिप्पइ। उअर हरइ ण पाणी छिप्पइ॥
एमइ जोइ मूल सरन्तो। विसहि ण बाहइ विसअ रमन्तो॥

'विषय में रमण करते हुए विषय में विलीन न हो; जैसे गृह में पानी नहीं छिपता इस प्रकार इस मूल तत्त्व को जिसने ग्रहण कर लिया वह विषय में रमण करते हुए भी विषय में प्रवाहित नहीं होता।'

घरे अच्छई बाहिरे पुच्छइ। पइ देक्खइ पडिवेसी पुच्छइ॥
सरह भणइ बढ़! जाणउ अप्पा। णउ सो धेय ण धारण जप्पा॥

—दोहा कोष

'गृह में रहते हुए बाहर खोजता है, पति को देखती है, परन्तु पड़ोसी से पूछती है। सरह कहते हैं मूर्ख! अपने को जानो, ध्यान-धारणा-जप से उसकी उपलब्धि नहीं होती है।

विरूपा विरूपा-लिखित केवल एक चर्या उपलब्ध है। तिब्बती अनुवाद से 'महायोगी' 'योगीश्वर' आचार्य विरूपा' की प्रस्तुत कृतियाँ प्राप्त हुई हैं। 'कर्मचण्डालिका' 'मार्ग गीति', 'दोहाकोष', तथा 'विरूपा पद चतुरशीति'। तारानाथ ने यह उल्लेख किया है कि कान्ह का ही दूसरा नाम विरूपा था। कान्ह के नाम से प्रचलित एक चर्या में तारानाथ के उल्लेख का आभास मिलता है।

केहो केहो तोहोरे विरूपा बोलई,
विदुजन लोअ तोरें कण्ठ न मेलई। धर।
कान्ह गाइत काम चण्डाली,
डोंबि त आगलि नाहि छिनाली। धर।

'कोई-कोई तुम्हे 'बिरूपा' भी कहते हैं। विद्वान लोग तुम्हें कण्ठ से मुक्त नहीं करते। कान्ह ने मान माया तुम काव्याली हो। डोम्बी से अधिक पथ भ्रष्टा अन्य कोई नहीं है। परन्तु इस सन्दर्भ में' बिरूपा' का अर्थ कुरूप से है। कान्ह ने विरूपा के नाम से कुछ लिखा है इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है।

गुण्डरीपा का उल्लेख तिब्बती परम्परा में नहीं मिलता है। इनके नाम से केवल एक चर्यापद मिलता है (चर्या संख्या ४) — उदा०

तिअड्डा चापि जोइनि दे अंकवाली ।
कुमिम्न चाटे कडुं बिमाली । ध्रुव ।
जोइनि तँइ बिनु खनहिं न जीवमि
तो मुह चुम्बि कमल-रस पीवमि,
खेपहुं जोइनि लेप न जाअ
मणि कुले बहिमा उड़िमान समाअ ॥

सासु घरें घालि कोंचा ताला ।
चाँद-सुज बेण्णि पखा फाल ॥
भणइ कुण्डरी अम्हे कुन्दुर बीरा ।
नर अ नारी माझें उभिल चीरा॥

'अंक में से योगिनी (मुझे) आलिंगन प्रदान कर। कमल-वज्र की क्रीड़ा में दिवस समाप्त हुआ। ओ योगिनी। मैं तुम्हार बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। तुम्हारे अधरों को बिचुम्बित कर मैं कमल-मधु का पान करता हूँ। मणिपूल से (यह) ओड़ियान तक पहुँचती है। श्वास घर ताला-कुंजी से बन्द है। चाँद-सूर्य के दो पंख खुले हैं। कुण्डरी कहते हैं हम प्रेम-क्रीड़ा में दृढ़ हैं। नर-नारियों में (प्रेम) पताका उत्तोलित है। प्रस्तुत चर्या में वाम-मार्गीय प्रतीकों द्वारा काया-साधना की विधि की चर्चा की गई है। 'कमल' 'कुलिश' 'जोइनि' उड़ियान' 'चाँद' 'सूरज' आदि प्रतीकात्मक शब्द हैं जिनका प्रयोग सिद्धसाहित्य में नियमित रूप से किया गया है। ये सिद्ध साहित्य के पारिभाषिक शब्द हैं। डा० सेन की धारणा है कि गुण्डरीपा इनका छद्म (कवि नाम) था। सम्भवतः इनका नाम गुण्ड कवि या 'गुन्द' था।

भुसुकपा के नाम से सम्बन्धित आठ चर्यापद मिले हैं। पर प्रचलित धारणा यह है कि 'बोधिचर्यावतार' तथा 'शिक्षासमुच्चय' नामक ग्रन्थ भुसुकपा-रचित हैं। इनका नाम शान्तिदेव था। परन्तु वास्तविकता यह है कि शान्तिदेव भुसुक के अनेक वर्षों पहले हो चुके थे। वे मञ्जुश्री के उपासक थे। भुसुक सहजमार्गी साधक थे। भुसुक का समय था सन् १२९९। इस वर्ष में इन्होंने 'चतुराभरण' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में बौद्धसाधक की साधना विधा और उसकी दिनचर्या से सम्बन्धित निबन्ध हैं। इस कृति में नव्याद्य (Proto New Indo Aryan) के उदाहरण प्रस्तुत करने वाले कतिपय दोहे भी संकलित हैं।

उदाहरण—

अम्बू पसरहु चन्दन बाएहु अक्क।
हेट्ठ कमल करि घमण चक्क॥
सुन्न चम्पि छाधि समरस णाद।
राउतु बोले बइ-भरन णाद॥

[चर्यागीति पदावली पृ० ११]

भुसुक ने अपने को राउत भी कहा है। डॉ० सुकुमार सेन ने इसकी चर्चा करते हुए कहा है कि सम्भवत भुसुक राजपुत्र या राजसेवी अश्वारोही थे। इस कारण ही इन्हें 'राउत' की उपाधि मिली थी। भुसुक ने रूपक-शैली का विशेष प्रयोग किया है 'हरिण', 'अहेरी' के रूपकों और पारिभाषिक शब्दों के द्वारा चित्त निरोध पवन निरोध की साधनात्मक भूमियों का निरूपण इनकी रचनाओं की प्रमुखता है।

अपणा मासे हरिणा वइरी। खणह न छाड़इ भुसुक अहेरी।
तिण न छुपइ पिवइ न पाणी। हरिणा हरिणीर निलअ न जाणी॥
हरिणी बोलअ सुण हरिणा तो। ए वन छाड़ि होहु भान्तो। (चर्या ६।)

अपने मांस के कारण ही हरिणा अपना शत्रु है। क्षण भर के लिए भुसुक आखेट का परित्याग नहीं करता है। हरिण तृण नहीं छूता जल नहीं पीता है। हरिण को हरिणी का निलय ज्ञात नहीं है। हरिणी हरिण से कहती है यह

बन छोड़ कर हम भाग चलें। इस सन्दर्भ 'हरिण' चञ्चल मन 'अहेरी' साधक और 'हरिणी' 'नैरात्म' के रूप में चित्रित है[१]।

एक अन्य चर्या में मूस' (चूहे) की प्रतीक-योजना के द्वारा अविद्या तथा समय की क्षणभंगुरता एवं उसके विनाशकारी स्वरूप की ओर संकेत किया गया है।

निसि अंधारी मूसा करअ अचारा।
अमिअ भखअ मूसा करअ अहारा।
मार रे जोइया ! मूसा पवना।
जेण तूटइ अवणा-गवणा।
भवबिन्दारअ मुसा खनअ गाती।
चञ्चल मुसा कलिआँ नाशक थाती। चर्या० २१

'निशा अन्धकार पूर्ण है और मूसा (चूहे) की क्रीड़ा आरम्भ हुई वह अमृत का आहार करता है। योगी पवन के चूहे को मारो, जिससे आवागमन (पवन के आवागमन) की क्रिया समाप्त हो (या आवागमन से तुम मुक्त हो)। चूहे के कारण जन्म होता है और वह छिद्र कर देता है। इसका संचार जब टूटता है तब (आवागमन के) बन्धन से मुक्ति मिलती है।' संकेतपूर्ण और पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग इनकी रचनाओं में मिलता है, उदा० 'सहज', 'अवधूति' 'कमल' 'विरमानन्द' 'महासुख' 'करुणा' इत्यादि। इन शब्दों में निहित प्रतीकात्मकता का स्पष्टीकरण आगे किया गया है।

१—इस प्रकार की भावयोजना आज भी लोक-जीवन में प्रचलित मिलती है—उदा०

मैं ठाढ़ी ठाढ़ी अरज करूँ मेरे तन की प्राण बचाओ
हरिना हरिनी चुगे जंगल में ब्याधे लाई फांस,
तूट फौंद के हिरनी निकली हिरन के लगि गए फांस
तब हिरनी हिरना से बोली सुन हिरने मेरी बात
तुम तो फंस गए जाल में अब मेरा कौन हवाल —देखिए Obscure Religious cult

कण्हपा (कण्ह)—चर्यापदों में से अधिकांश पदों के रचयिता कान्ह हैं। इन्होंने तेरह चर्यापदों की रचना की है। 'कान्ह' 'कन्ह' 'कान्हि' 'कान्हिल' 'कान्हिला' इत्यादि इनके नाम के अनेक रूपान्तर मिलते हैं। कान्ह ने अनेक गीतों में अपने को 'कापालिक योगी' 'योगी' अथवा 'लांगा' कहा है।

कान्ह ने जालन्धरीपा को अपना गुरु या पूज्य माना है। ३६ वें चर्या के अन्त में वे कहते हैं—

साखि करिब जालन्धरि-पाए।
पाखि न राहअ मोरि पाण्डिआचाए ॥[1]

'मैं अपने जालन्धरीपाद (गुरु) को साक्षी करूँगा। पण्डिताचार्य मेरे पक्ष में नहीं हैं'।[1] विद्वानों की यह धारणा है कि कान्ह 'हे वज्रपंजिका या 'योगरत्नमाला' (हे वज्रतंत्र की टीका) के लेखक थे। इनका समय ११९९ ई० था। नाथ सम्प्रदाय में कानुपा (कण्हपा ?) जालन्धरीपा (हाड़ीपा) के शिष्य माने गये हैं। 'नाथ सम्प्रदाय' की विवेचना के अन्तर्गत इस सम्बन्ध म विचार किया गया है। शहीदुल्ला ने इनका समय ७००ई माना है।[2] परन्तु यह निर्णय उचित नहीं जमता। वस्तुस्थिति यह है कि कान्ह के नाम से जो रचनायें मिलती हैं वे दो व्यक्तियों (कान्ह) की रचनायें हैं। प्रथम कान्ह (कान्ह) जालन्धरीपा के शिष्य थे। उनका नामान्तर विरूपा था। उन्होंने अपने को कापालिक' कहा है। दूसरे कान्ह कापालिक नहीं थे।[3]

डा० सुकुमार सेन ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि चर्यासंख्या १० ११ १८ १९ ३६ ४२ के रचयिता प्रथम कान्ह थे। उदा० —

---

१ राहुल सांकृत्यायन ने इसका पाठान्तर दिया है—

साखी करपु गुरु जालन्धरी पाअ
माहि न बूझइ पण्डिअ आअ ।

डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने इसका अर्थ किया है—मैं अपने गुरु जालन्धरी पाद को साक्षी करूँगा मेरा पण्डिताचार्य (मैं स्वयं एक पण्डित हूँ) इसे स्वीकार नहीं करता। २ Chants Mistiques page 24

३ देखिए चर्या गीति पदावली पृ० १२

(१) नगर बाहिरे डोम्बी तोहर कुड़िआ
छइ छोइ जाइसि बाम्ह नाड़िआ। [चर्या सं १०]

(२) मव निर्वाने पड़ह-मादला
मन पवन वेणि करण्ड कसाला। [पुर०]
जअ-जअ दुन्दुहि-साद उछलिआ
कान्ह डोम्बी बिवाहे चलिआ। मव। [चर्या १८]

चर्या संख्या ७ ६, १२ ११ २४ १० ४५ के रचयिता द्वितीय कान्ह थे।

उदा०—(१) आलिए-कालिए बाट रुन्धेला
ता देखि कान्ह बिमन भइला। [ध्रु०]
कान्हु कहि गई करिब निवास
जो मन गोअर सो उआस। [ध्रु०]

(२) एवंकार दृढ़ बाखोड़ मोडिअ,
बिविह बिआपक बान्धन तोड़िअ। [ध्रु०]
कान्हु बिलसइ आसव माता
सहज नलिनी बन पइसि निविता। ध्रु०। [चर्या ६]

पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से भी ये रचनायें दो स्वतन्त्र व्यक्तियों की लगती हैं। प्रथम की रचनाओं में 'डोम्बी' पद्म' 'रवि-शशि' 'निर्वान' 'सहज 'कान्ह' आदि शब्दों का व्यापक प्रयोग मिलता है। द्वितीय की रचनाओं में 'आलि-कालि' 'एवंकार' त्रिशरण' 'करुणा' बिन-रमन' गमन' आदि पारिभाषिक शब्दों का व्यापक प्रयोग मिलता है। परन्तु इन समस्त विवेचनाओं से वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में इस प्रकार के निर्णय में संकोच होता है।

अन्य रचनाकारों में 'कामलिपा' 'कुकरिपा' 'वीणापा' शबरपा', तारिकपा' विशेष उल्लेखनीय हैं। 'कामलिपा' के नाम से केवल एक चर्यापद उपलब्ध है।

उदा०—सोने भरिली करुणा नावी
रूपा थोइ नाहि के ठावी।
वाहतु कामलि गअन उवेसें
गेली जाम बहुड़इ कइसें। चर्या सं० ८

इनके गुरु जालन्धरपा थे। इन्होंने संस्कृत में भी रचनायें की हैं। इन रच नाओं में इनका नाम कम्बलाचार्य मिलता है। सरह के दोहाकोष के टीकाकार अद्वयवज्र ने कम्बलाचार्य रचित चार श्लोकों को उद्धृत किया है।

चर्यागीत के वृत्तिकार का यह अनुमान है कि चर्या संख्या १७ के रचयिता 'वीणापा' हैं। उदा०—

सुज लाउ ससि लागेलि तान्ती
अनहा दाण्डी वाकि किअत अवधूती॥
बाजइ आलो सहि हेरुअ वीणा
सुन तान्ति-धनि विलसइ रुणा॥

प्रस्तुत पद में रचयिता के रूप में 'हेरुक वीणा' के नाम का प्रयोग किया गया है। इसी परम्परा में 'डोम्बी हेरुक' का भी उल्लेख मिलता है। अतः यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि यह रचना 'डोम्बी हेरुक' की है अथवा 'वीणापा' की। तिब्बती परम्परा के अनुसार वीणापाद वीरुपा के वंशधर थे। इन्होंने 'वज्र डाकिनी निष्पन्न क्रम' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। तारानाथ के विवरण से यह संकेत मिलता है कि वीणापाद और डोम्बी हेरुक एक ही व्यक्ति थे।

चर्यागीत सं० २८ और ५० के लेखक शबरपा हैं। चर्यागीत में 'शबर' शबरी' का प्रयोग अनेक बार आया है। डा० सुकुमार सेन की यह धारणा है कि 'शबरपा' नाम के एक से अधिक आचार्य हुए हैं। 'चर्यागीत पदावली' में संक-लित चर्या किस शबरपा की है इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। इन पदों में शबर-शबरी के विरह मिलन-स्वरूप निरूपण के माध्यम से 'नैरात्मयोगिनी' के मिलन की प्रस्तावना की गई है। उदा०—

ऊँचा ऊँचा पावत तँहि वसइ सबरी बाली
मोरंगी पिच्छ परहिण सबरी गीवत गुंजरी माली।
उमत सबरो पागल सबरो मा कर गुली गुहार तो होरि,
णिअ घरिणी णामे सहज सुन्दरी। ध्रु.। चर्या २७।

तिब्बती भाषा में 'शबरीश्वर' नाम से अनेक रचनाओं के अनुवाद मिलते हैं। 'तापनमाला' में इनके नाम हैं, सितकुरु कुसमावायम्', तथा 'वज्रयोगिनी

-आराधन विधि' नामक रचनायें संकलित है। तारानाथ के अनुसार महासिद्ध शबरीपा और सरह एक ही व्यक्ति थे। ये लुइपा के गुरु थे।

'धर्मोच्चर्यविनिश्चय' में दारिकपा का एक पद संकलित है (पद संख्या ३४)।

सुन करुनि अभिन काअ वाक चिअ
बिम्सइ दारिक गअनत पारिम कूलें।
अलक्ख लक्ख चित्ता महा सुहे
बिम्सइ दारिक गअनम परिम कूलें।—चर्या (३४)

तिब्बति भाषा में इनकी रचनाओं के अनुवाद सुरक्षित है।

दर्शन और भाव पक्ष

यह सर्वविदित सत्य है कि सिद्ध साहित्य बौद्ध-धर्म से विकसित सहजयानी सम्प्रदाय की मूल चेतनावृत्तियों पर निर्मित है। सिद्धाचार्यों के नाम से जिनकी रचनायें हमें प्राप्त हैं वे पण्डित और अनेक विहारों के आचार्य थे। इन्होंने संस्कृत तथा लोक-भाषा इन दोनों में रचनायें की हैं। सिद्ध-साधना पर तंत्रों का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। भारतीय धर्म-साधना में तंत्रों की दो धारायें मिलती हैं। प्रथम; वेद-सम्मत द्वितीय वेद विपरीत। वज्रयान के विकास में इस द्वितीय धारा ने विशेष योग दिया है। द्वितीय धारा दो स्वतन्त्र उपधाराओं से निर्मित होती है—(क) शैवतंत्र (ख) शाक्ततंत्र। सहजयान शाक्ततंत्रों से अधिक प्रभावित हुआ है।[1] शाक्ततंत्रों में 'पंच मकार' की भावना का विशेष प्रचलन था। इसका उल्लेख 'कौलज्ञान निर्णय' में मिलता है। 'कौलज्ञान' में 'पंच मकार' का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया गया है। यहाँ प्रतीकात्मता के प्रति ही आग्रह है। उदा० मद्य=मधु=सहस्र दल से क्षरित होने वाली सुधा।

मांस=ज्ञान से पाप-पुण्य के हनन की प्रक्रिया।
मत्स्य=ईड़ा पिंगला (गंगा-यमुना) में प्रवाहित

१—ऐसी धारणा है कि इस सम्प्रदाय का अभ्युदय आन्ध्र प्रदेश के श्री पर्वत पर हुआ था। परन्तु यह धारणा भ्रान्ति-मूलक है। इसका स्वरूपनिर्माण मगध विक्रमशील और नालन्दा के महाविहारों में हुआ था। श्री पर्वत कापालिकों का केन्द्र रहा है। सिद्ध साहित्य पर कापालिकों का भी प्रभाव मिलता है।

नाश।

मुद्रा=असत्य का परित्याग। मैथुन=सहस्रार में स्थित शिव तथा कुण्डलिनी शक्ति का योग। वज्रयानी साधना के माध्यम से सिद्ध-साहित्य में इन प्रतीकों का व्यापक प्रयोग हुआ है।

जिस साधना से सम्बन्धित साहित्य की चर्चा हम कर रहे हैं उसमें 'हेवज्र' की साधना पर विशेष आस्था थी। 'हे' का अर्थ होता है 'महाकरुणा' और 'वज्र' का प्रयोग 'प्रज्ञा' के अर्थ में किया गया है। इसी सन्दर्भ में बत्तीस नाड़ियों[1] की चर्चा की गई है। ये बोधिचित्त को वहन करती हैं। महासुख-स्थान की ओर प्राणवायु को प्रवाहित करती हैं। इसी अनुचेतना और अनुभूति का वर्णन कृष्णपा के इस चर्या पद में मिलता है—

अध राति भर कमल विकसउ
बतिस जोइनी तसु अंग उह्लसिउ।
चलिअ ससहर मागे अवधूई
रअण सहजे कहेइ [सोई]।
चलिअ षसहर गई णिवाणे
कमलिनी कमल वहई पणाले।

'अर्धरात्रि को कमल विकसित हुआ बत्तीस योगिनियाँ उसके साथ उल्लसित हुईं। चन्द्रमा ने अवधूती मार्ग में गमन किया (वह) रात्रि में सहज-दर्शन करता है। शशिधर निर्वाण में पहुँचता है प्रनाल में कमलिनी-कमल का प्रस्फुटन हुआ।' इसमें 'ललना', 'रसना' और 'अवधूती' प्रमुख हैं। 'ललना' का स्वभाव प्रज्ञापूर्ण है 'रसना' 'उपायपूर्ण' है। अवधूती इनके मध्य में स्थित है। यह ग्राह्य-ग्राहक भाव से मुक्त है। 'ललना' को चन्द्र प्रज्ञा, और वाम शक्ति के प्रतीक के रूप में

1 द्वात्रिंशद् योगिनित महासुख स्थाने स्रवन्ते—अभेद्या सूक्ष्मरूपा दिव्या वामा, वामिनी, कूर्मजा भावकी सेका दोषा विष्टा मातरी शवरी सीतदा चौरमा ललना रसना अवधूती, प्रवणा हृष्टवर्णा, सुरूपिणी सामान्या हेतुदायिका, वियोगा प्रेमणी सिद्धा, पावकी, सुमना त्रैवृत्ता, कामिनी गेहा, चण्डिका, मारदायिका।

चित्रित किया गया है। अवधूती शक्ति-प्रतीक है। इसके तीन स्वरूप हैं—(क) अवधूती (ख) चाण्डाली (ग) बंगाली। प्रथम में द्वैत स्थिति द्वितीय में द्वैता-द्वैत स्थिति और तृतीय में अद्वैत स्थिति रहती है। भुसुकपा ने इसी स्थिति की ओर संकेत करते हुए कहा है, 'आज भुसुक बंगाली भइली।

सहजिया सिद्धों ने शून्य का उल्लेख अनेक रूपों में किया है। सहजसाधना में 'शून्य' की विचारधारा का आगमन माध्यमिक या शून्यवादी सम्प्रदाय से हुआ। इसके आचार्य नागार्जुन थे।[1] अभिनव गुप्त ने 'तन्त्रालोक' में कालचक्रयान के सिद्धान्तों का व्यापक विश्लेषण किया है। 'शून्यता' को वे 'वज्र' का पर्यायवाची मानते हैं। उनके विश्लेषण के आधार पर 'शून्यता' दृढ़ है अभेद्य और अविभाज्य है। वह अनश्वर और व्यसन-मुक्त है। उसे 'वज्र' भी कहते हैं। वज्रयान के सर्वोपरि देव हैं वज्र सत्व। 'वज्र' को शून्यता और 'सत्व' को शान्ति का प्रतीक माना गया है। यह विज्ञानवादियों की विज्ञप्ति मात्रता के समान है। बोधि सत्व की प्राप्ति के लिए 'करुणा' और 'शून्यता' के संयोग की कल्पना की गई है। महायान में 'शून्यता' को 'प्रज्ञा' 'करुणा' को उपाय का पर्यायवाची माना गया है। तथाकथित अश्वघोष एवं नागार्जुन ने भी शून्यता[2] को इन्हीं अर्थों में ग्रहण किया है। सिद्ध-साहित्य में शून्य का वर्णन इसी रूप में किया गया है। यहाँ शून्य का वर्णन निम्नलिखित चार रूपों में हुआ है—(क) शून्य (ख) अति

१—अनुश्रुतियों के अनुसार तारानाथ योगाचार-मार्ग के प्रवर्तक थे। इन्होंने बौद्ध धर्म में तंत्र-तत्त्व का समावेश किया था। इस मत के विपरीत कतिपय आचार्यों की यह धारणा है कि माध्यमिक शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन ने योगाचार-तंत्र तथा वाममार्गीय साधना का समावेश किया था।

२ इस सन्दर्भ में वस्तु निरूपण के लिए चार विधाओं का प्रयोग किया गया है अस्ति (है) नास्ति (नहीं है) नो भव (न अस्ति न च नास्ति) असन् नासन् सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्; चतुष्कोटि-विनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः। अतः इन दृष्टियों से परम तत्त्व (स्वरूप) का निर्धारण सम्भव नहीं है। वह मन-वाणी की परिधि के परे है। अतः वह अनिर्वचनीय है। माध्यमिकों ने परम तत्त्व को सत्-असत् के मध्य माना है।

शून्य (ग) सर्वशून्य (घ) महाशून्य। प्रथम मानसिक अवस्था का द्योतक है। यह स्त्री का पर्यायवाची है। इसमें प्रवञ्चनायें जाग्रत होती हैं। अतिशून्य मसकाभास होता है। यह चन्द्रमा के समान प्रकाशवन्त है। सर्वशून्य आलोक-उपलब्धि का साधन है। महाशून्य साधना का परम ध्येय है।

तिलोपा इसी महाशून्य का वर्णन करते हुए कहते हैं—

सहज महातरु फरिअए तिलोए,
ख-सम सभावे रे बानत का कोए।
जिम जल पाणिड टालिका भेड़ न जाऊ,
तिम गण रअना रे समरसे गगण समाऊ।

'सहज-वृक्ष तीनों लोक में प्रकाशवन्त है, मन की अवस्था आकाशवत् (ख-सम) है। जल और जल के संयोग से उनका (जल का) अन्तर समाप्त हो जाता है। मन आकाश में तिरोहित हो जाता है। मन और आकाश (शून्य) में अन्तर समाप्त हो जाता है। सहज अवस्था या शून्य-समाधि की व्यञ्जना उलटवासियों द्वारा हुई है। उदाहरण स्वरूप शून्य में अवस्थिति की पूर्व स्थिति का वर्णन प्रस्तुत अंश में विशेष रूप से दर्शनीय है।

टालत मोर घर नाहि पड़िवेसी
हाड़ित भात नाँहि नित आवेसी। ध्रु।
बेंगे संसार बहिल जाअ,
दुहिल दूध कि बेण्टे समाअ। ध्रु।
बलद बिआएल गविआ बाँझे
पिटा दुहिए ए तिनो साँझे। ध्रु।
जो सो बुधी सोइ निबूधी
जो सो चोर सोइ दुसाधी। ध्रु।
निते निते षिआला सिहें सम जूझअ
ढेण्टन-पाएर गीत बिरले बूझइ। ध्रु।

इस अंश में चंचल वृत्तियों का स्वरूपनिरूपण है। इनसे अज्ञान का प्रसार होता है। वृत्तियों के निरोध से सम स्थिति उत्पन्न होती है। इस साहित्य की इस विषय विधा प्रयोग सन्तसाहित्य में नियमित रूप से हुआ है। उदा

फंसि नगर करी कुटवारी।
चंचल पुरिस बिचक्षण नारी॥
बैल बियाइ गाय भइ बाँझ।
मकड़ी घर माँखी छछिहारी॥
मास पसारि चिल्ह रखवारी।
मूसा खेवट नाव बिलइया॥
मींडक सोवै साँप पहरइया।
नित उठी सिंह स्याल सों जूझै।
कहै कबीर कोइ बिरला बूझै॥—कबीर

शून्य साधना के अन्तर्गत यहाँ कुण्डलिनी-जागरण की साधनात्मक भूमि की निरन्तर चर्चा मिलती है। इस दृष्टि से यहाँ हिन्दू-योग-दर्शन का भी प्रभाव मिलता है।

'हेवज्रतन्त्र' के अनुसार 'चण्डाली' नाभि में प्रज्वलित है। 'डोम्बी' भी ज्वलन शील है। इसकी क्रिया प्रक्रिया के पश्चात् चन्द्रमा से 'हूँ'[१] शब्द प्रतिध्वनित होता है। 'चाण्डाली' के लिए 'निरात्मा' 'अवधूतिका' तथा 'प्रज्ञा' आदि नामों का भी प्रयोग मिलता है। कायासाधना के सन्दर्भ में चण्डाली ने जाग्रत स्वरूप की चर्चा करते हुए साधक ने कहा है —

२—'अस्तीति नास्तीति उभे पि-अन्ता
शुद्धी-अशुद्धी इमे पि-अन्ता,
तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा
मध्ये हि स्थानं प्रकरोति पण्डितः।' समाधिराज। देखिए हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास पृ० ४२४। नागार्जुन ने शून्य को परमतत्त्व-रूप में ग्रहण किया है।
यह भाव रूप है—अपर प्रत्ययं शांतं प्रपंचैरप्रपंचितम्
निर्विकल्पम् नानार्थमेतद् तत्वस्य लक्षणम्।

१—चण्डाली ज्वलति नाभौ, दहति पञ्चतथागतान्,
दहति च लोचना दिनि दग्धे 'हुम' स्रवते शशि। हेवज्रतंत्र'।

कमल कुलिश माझे भइल मिआली
समता जोए जलिल चण्डाली । ध्रु ।
डाहु डोम्बि घरे लागेलि आगि
ससहर लइ सिञ्चहु पानी । ध्रु ।
णउ खर ज्वाला धूम न दीसइ
मेरु सिहर लइ गअण पइसइ । ध्रु ।

कमल-कुलिश के मध्य वह निर्बीज (अक्रिय) थी । समता से चण्डाली प्रज्वलित हुई । डोम्बी के घर भीषण अग्नि लगी है । चन्द्रमा से उस (गृह) पर (मैं) पानी छोड़ रहा हूँ । जलती झोपड़ी से ज्वाला और धूम नहीं निकल रहा है । मेरु-शिखर से वह गगन में प्रविष्ट कर गई ।

ऊपर 'समता' शब्द का प्रयोग एक विशेष दृष्टि से किया गया है । 'चन्द्रमा' और सूर्य को 'प्राण-अपान' माना गया है । 'चन्द्रमा' से रस का स्रवण होता है । सहजसमाधि में 'समता' या 'समभाव' की आवश्यकता रहती है । 'चन्द्रमा' में सोलह कलायें रहती हैं । 'सूर्य' में बारह कलायें । चन्द्रमा अपनी कला के माध्यम से उत्पत्ति और संरक्षण करता है । सूर्य अपनी कला से शोषण और विनाश करता है । चन्द्रमा की कला को यदि 'सूर्य' की चार कला मिल जायें तो समस्थिति आ जाती है । यह स्थिति ही शून्य की स्थिति है । चन्द्रमा सहस्र चक्र में और सूर्य मूलाधार चक्र में है । इस प्रक्रिया को अनेक 'रूपकों' के माध्यम से प्रकट किया गया है । 'चाँद सुरज बेनि पाखा भाङ्गा' अथवा 'चाद न बिन्दु न रवि शशि मण्डल' ऐसी उक्तियों में इसी सम स्थिति की चर्चा की गई है ।

जहँ मण पवण न संचरइ रवि ससि णाहि पवेस
तहि वढ़ चित्त विसाम करु सरहे कहिअ उवेस ॥

२—चन्द्रमा की कलायें—उल्लोला कल्लोलिनी उच्चलान्ति तरंगिनी शोषिनी लम्पटा प्रवृत्ति लहरी लोला लौलिहान, प्रसरन्ति प्रवाह, प्रसन्ना सौम्य चलन्ति ।

सूर्य की कलायें—तापिनी ग्रासिका आकुञ्चनी शोषणी प्रबोधिनी, स्मरा आकर्षिणी तुष्टि, वर्षिणी ऊर्मिरेखा किरणवती, प्रभाती ।

'जहाँ मन और पवन का संचरण नहीं हो सकता जहाँ रविशशि का प्रवेश नहीं हो सकता, वहीं पर चित्त को विश्राम देना चाहिए। सरह का यही उपदेश है।'

असंग के 'महायानसूत्रालंकार' में तांत्रिक बुद्धधर्म से सम्बन्धित यौगिक प्रक्रियाओं का उल्लेख मिलता है।[१] सिद्धसाहित्य में नारी के मुद्रा प्रतीकों का उल्लेख मिलता है। नारी के मुद्रा प्रतीकों की दृष्टि से इस वर्ग की साधना और साहित्य का मूल्यांकन दो दृष्टियों से किया जाता है। प्रथम के अनुसार इस वर्ग का साहित्य वाममार्गीय भावों को प्रस्तावित करता है। दूसरी दृष्टि के अनुसार वाममार्गीय शब्दावली केवल प्रतीक रूप में ही ग्रहण की गई है। अतः इस साधना-पद्धति और साहित्य की मूल अनुचेतना आध्यात्मिक है। वस्तु स्थिति क्या थी इस सम्बन्ध में हम स्पष्ट निर्णय देने में असमर्थ हैं। इस सत्य को स्वीकार करते हुए हमें संकोच नहीं होता है। इन साधकों के समय में और इनके पश्चात् भी इनके प्रतीक अभिधा के रूप में ही ग्रहण किए गए। इन्हें जीवन-सापेक्ष्य रूप में ही स्वीकृति मिली।

यहाँ शून्य को 'नैरात्म देवी' के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके प्रगाढ़ आलिंगन में बोधिचित्त के बद्ध रहने की कल्पना की गई है। इस क्रम को युग नद्ध प्रतीक द्वारा स्पष्टीकरण मिला। 'अद्वय वज्र संग्रह' में 'युगनद्धप्रकाश' के अन्तर्गत 'शून्यता' को पत्नी और 'करुणा' को पति-रूप में चित्रित किया गया है। दाम्पत्ययुग्म के प्रतीकात्मक स्वरूप के माध्यम से 'सहज प्रेम' का स्वरूप-निर्धारण किया गया है। 'साधन माला' में 'शून्यता' और 'करुणा' से समन्वित परम तत्त्व को 'नपुंसक' या 'युगनद्ध' कहा गया है और इस स्थिति को 'समरस' की स्थिति कहा गया है। इसे 'सहज-सुख' भी कहते हैं। इस विचार-योजना का नियोजन सिद्धसाहित्य में नियमित रूप से किया गया है —

जिमिलोण विलिज्जइ पाणिएहि
तिमि घरणी लइ चित्त।
समरस जाइ तक्खणे॥
जइ पुणु ते सम चित्त।

१—मैथुनस्य परावृत्तौविभुत्वम् लभ्यते परम् बुद्ध सौख्य विहारे—संदर्भसूत्रालंकार।

'युग्मप्रतीकों' के माध्यम से काया-साधना की विभिन्न भूमियों का निरूपण इस साहित्य में विशेष रूप में मिलता है। उदाहरण—

नगर बाहिरे डोम्बि तोहरि कुडिया
छोइ-छोइ जासि बाम्ह नाडिया।
आलो डोम्बि ! तोए सम करब मे संग
निघिन कण्ह कपालि जोइ लाग।
एक सो पदमा चउषठि पाखुड़ी
तहिं चडि नाचअ डोम्बी बापुड़ी।

'नगर के बाहर डोम्बी ! तुम्हारी कुटिया है ब्राह्मण का पुत्र उसका स्पर्श करके चला जाता है। निर्घृण कापालिक कान्ह नग्न है। हे डोम्बी। मैं तुम्हारा संग करूँगा। एक पद्म और चौसठ पंखड़ी है। उस पर चढ़कर डोम्बिनी नृत्य करती है'। व्याख्याकारों का यह निर्देश है यहाँ 'डोम्बी' के द्वारा साधक कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया का निरूपण करता है 'कौलज्ञान निर्णय' में 'सहजा' 'कुलजा' और 'अन्त्यजा' का उल्लेख साधक की गृहिणी के रूप में हुआ है। 'सहजा' स्वकीया है वह साधक की गृहिणी है। इसके सहयोग से वह सहजसमाधि में रत होता है। इसी सन्दर्भ में 'मुद्रा-साधना' के अर्थ में 'गृहिणी' तथा 'तरुणी' की भी चर्चा मिलती है। 'गृहिणी' और तरुणी के साथ केलि किये बिना बुधत्व नहीं प्राप्त होता है।

सिद्धों की दृष्टि उपभोगपूर्ण थी इसका संकेत उनकी रचनाओं में पर्याप्त रूप से मिल जाता है। उनकी यह धारणा थी कि जैसे विष सेवन से विष मरता है वैसे ही संसार का उपभोग करने से आवागमन से मुक्ति मिलती है।

विसअ रमन्त न विसअें विलिप्पइ, उअर हरइ ण पाणी छिप्पइ ॥
समए जोइ मूल सरन्तो विसहि ण बाहइ विसअ रमन्तो ॥

'विषय में रमण-करते हुए विष में लिप्त न हो उदर-ग्रह में जल नहीं लगता है। जो इस तथ्य को समझते हैं वे विषय में लिप्त रहते हुए भी विष से प्रभावित नहीं होते।

काया-साधना की क्रिया सिद्धों की उपासना-पद्धति का प्रमुख अंग है। इस ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। काया-साधना के अन्तर्गत

साधना-पीठों का विशेष महत्व है। इन्हें सिद्ध पीठ कहते हैं। साधक अपनी गृहिणी के साथ साधना-पीठ में साधना-उपलब्धि का प्रयास करता है। इस सन्दर्भ में जालन्धर कामरूप ओड़ियान और श्रीहट्ट का उल्लेख मिलता है। निम्नलिखित अंश में इसी साधना-भूमि का उल्लेख है —

कुलि कुहि पिटो धरन न जाइ
बखेर तेन्तिल कुम्भीरे खाअ।
आँगन घर पन सुन भो बिआती
कानेर चोर निल अधराती।
ससुरा निद गेल बहुड़ी जागअ
कानेर चोर निल कागइ मागअ।
दिवसइ बहुड़ी काअइ डरे भाअ
राति भइले कामरु जाअ ।

अर्ध रात्रि के समय प्रज्ञा ज्ञानाभिषेक के समय अवधूती रूपी वधू से अभिसार के लिए कामरूप जाती है। इसी प्रकार एक अन्य अंश में मणिकूल से आयत होकर वज्रचित्त के 'उड़ियान' या 'ऊर्ध्व महासुख' स्थान में समाहित होने की प्रक्रिया का वर्णन है। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में कामरूप पीठ उड्डियान की स्थिति स्वाधिष्ठान चक्र में है। सिद्ध साहित्य में सिद्ध-पीठों का प्रयोग इस सिद्धान्त के अनुरूप ही किया गया है।

ऊपर यह संकेत किया गया है कि सिद्धों ने संसार में रहकर उससे निर्लिप्त रहने का उपदेश दिया है। भ्रमपूर्ण माव-दशा और मिथ्या से ऊपर उठकर चेतना भूमि पर अवस्थित होने का भाव-सन्तोष इनकी रचनाओं से मिलता है। चञ्चल चित्तवृत्तियों की क्रियात्मकता को वे लौकिक व्यापार विधानों द्वारा स्पष्ट करते हैं —

काहेरे घिनि मेलि अच्छहु कीस
वेढ़िल हाक पड़अ चौदीस (चउदीस)।
अपणा माँसे हरिणा बैरी
खनह न छाड़अ भुसुक अहेरी।
तिण न छुप्पई हरिणा पिवई न पाणी

हरिणा हरिणीर निलय न जाणी।
हरिणी बोलअ सुण हरिणा तो
ए वन चाड़ि होहु भान्तो।

किस के निकट किस के साथ किस विधि से मैं जीवन यापन कर रहा हूँ। समस्त दिशाओं में तुमुल नाद हो रहा है। अपने मांस के कारण हरिण जग का वैरी हो गया है। अहेरि एक क्षण के लिए भी संग नहीं छोड़ता है। हरिण न तो तृण छूता है न पानी पीता है। हरिणा हरिणी का स्थान नहीं जानता है। हरिणी हरिण से कहती है मेरे कथन पर ध्यान दो। इस वन का परित्याग कर अन्यत्र चलो। इस अंश में 'वन' संसार का भ्रमपूर्ण स्वरूप है। हिरण चंचल मन का पर्याय माना है। चंचलता के कारण मन-हरिण ने अपने को दुःखों से आवृत कर लिया है। 'हरिणी' 'नैरात्मा' का प्रतीक है। वह मन को चंचलता से मुक्त कर उसे स्थिरता प्रदान करती है।

रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा काया-साधना की विधि रसेश्वर सम्प्रदाय की प्रमुखता थी। नाथ-साधना-धारा में इस विधि का विकास हुआ है। परन्तु सिद्धों ने रसात्मक प्रक्रियाओं की उपेक्षा की है। उनका यह विश्वास है कि सिद्ध अचिन्त्य योगी है वे यह नहीं जानते कि जन्म-मरण कैसे होता है। उनके लिये जीवन-मरण समान होता है। रसायन का प्रयोग वे करते हैं जो जन्म मरण से भयभीत रहते हैं।

अपने रचि रचि भव निर्वाणा
मिछे लोअ बन्धावए अपाणा।
अम्हे न जाणहु अचिन्त जोइ
जाम मरण भव कइसन होइ।
जइसो जाम मरण वि तइसो
जीवन्ते मअले णाहि विशेषो।
जाएहु मरणे बिसंका
सो करउ रस रसाने न कङ्खा।
जामें काम कि कामे जाम।
सरह भणन्ति अचिन्त सो धाम।

'अपने को अस्तित्व और निर्वाण में आवृत कर मनुष्य बन्धन में बाँधता है। हम अचिन्त्य योगी यह नहीं जानते कि जन्म-मरण कैसा होता है। हमारे लिए जीवन-मरण समान है। जो जन्म-मरण से भयभीत हैं वे रस और रसायन का प्रयोग करते हैं। जो मन्दिरों (ईश्वर) को खोजते हैं वे अमर नहीं हो जाते। यह कहा नहीं जा सकता कि कर्म से जन्म होता है या जन्म से कर्म। सरह कहते हैं कि यह धाम अचिन्त्य है।

इस सम्प्रदाय में परावृत्ति और उल्टी साधना का विशेष आधार ग्रहण किया गया है। साधारण स्थिति में कुण्डलिनी-जागरण और प्राण-वायु के ऊर्ध्व-गमन की प्रक्रिया को उल्टी साधना कहते हैं। सिद्ध सम्प्रदाय से लेकर कबीर तथा वैष्णव सहजिया तक उल्टी साधना का उल्लेख मिलता है। इस सन्दर्भ में सिद्धों ने दसवें द्वार का उल्लेख किया है जहाँ साधक वारुणी को बाँधता है। यथा०—

एक से सुण्डिणी दुइ घरे सान्धअ।
चीअण बाकलअ वारुणी बान्धअ॥
सहजे थिर करी वारुणी सान्ध।
जे अजरामर होइ दिढ़ कान्ध॥
दशमि दुआरत चिह्न देखइआ।
आइल गराहक अपने बहिआ।
चउशठि घड़िए देट पसारा॥
पइठल गराहक नाहि निसारा।
एक घड़ुली सरुइ नाल॥
भणन्ति विरुआ थिर करि चाल॥

'एक नाल या पट्टों को बद्ध किए है सहज में स्थिर होकर वारुणी बाँधने में संलग्न है। (उसे पान करने वाला) अजर-अमर तथा दृढ़ स्कन्धों वाला बन जाता है। वह दसवें द्वार पर चिह्न (प्रवेश-पत्र) दिखलाकर आया है। वह यह चौंसठ घड़ी भुला रहता है।' योग सम्बन्धी भावों को व्यक्त करने के लिए अश्लील प्रतीकों का प्रयोग यहाँ नियमित रूप से मिलता है। कुण्डलिनी को सुषुम्ना के मार्ग से ब्रह्मरंध्र तक ले जाने की विधि को भी उल्टी साधना कहा गया है। इस सन्दर्भ में इड़ा पिंगला को ललना-रसना या गंगा-यमुना भी कहा गया है।

सिद्ध साहित्य में उनकी साधना प्रणाली दो रूपों में व्यञ्जित हुई है। एक विधा वह है जिसमें सामान्य जीवन को प्रभावित करने की चेष्टा निहित है। दूसरी विधा में गोपन शब्दावली द्वारा सैद्धान्तिक तत्वों के निरूपण का आग्रह है। प्रथम के अन्तर्गत साधक का यह आग्रह है कि साधना प्रणाली से परिचित होने के लिए धर्म में दीक्षित होना पड़ेगा। धर्म के साथ तादात्म्य स्थापित करना होगा जैसे ही जैसे लवण जल में विलीन हो जाता है। दव-फल दर्शन से क्षुधा की तृप्ति नहीं होती। वैद्य को देखने मात्र से रोग दूर नहीं हो जाता है। इसी प्रकार बिना धर्म-तादात्म्य के बुधत्व प्राप्ति सम्भव नहीं है।

सिद्धों ने गुरु-परम्परा और गुरु-महत्त्व को सदैव स्वीकार किया है। गुरु को सम्पूर्ण ज्ञान-पूर्ण होना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सरह ने कहा है—

जाव ण आप जणिज्जइ ताव ण सिस्स करेइ।
अन्धा अन्ध कढाव तिम वेणि कूव पडेइ॥

सरह दोहा ८

इनका स्पष्ट निर्देश है कि गुरु-वचनों से शंका के बन्ध को तोड़िए, जो नेत्रों से न देखें उस पर विश्वास न करें—'संक-पास तोड़हु गुरुवअणे। ज सुणइ सो णउ दीसइ णअणे। शास्त्र ज्ञान को उन्होंने मरुस्थल कहा है। इससे अज्ञान नहीं मिटता ज्ञान की क्षुधा तृप्त नहीं होती। इसके विपरीत गुरु-उपदेश अमृत रस है

गुरु-उवएसे अमिअ रसु धाव ण पीअउ जेहि,
बहु-सत्थत्थ-मरुत्थलहि, तिसिए मरि अउवेहि।

इस प्रकार गुरु-उपदेश से ज्ञान की उपलब्धि होती है। प्राप्त-सुख की उपलब्धि होती है। यह अनिर्वचनीय है। इसका वर्णन करते हुए साधक ने कहा है—

'सो परमेसर कासु कहिज्जइ। सुरअ कुमारी जीस पडिज्जइ'

(सुरति) कुमारी के सुख की अनुभूति होती है उसका वर्णन सम्भव नहीं है। इसी प्रकार 'परमेश्वर' की अनुभूति होती है। उस अनुभूति का वर्णन संभव नहीं है। परम तत्व की उपलब्धि शरीर में ही होती है। बाह्य उपकरणों से उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। बुद्ध शरीरस्थ है—

पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणइ
देहहिं बुद्ध बसन्त ण जाणइ।

गुरु-उपदेश से ही मन आकाश-वत होता है इस ओर संकेत करते हुए सरह ने कहा है—

सम्म-रूप तहि ख-सम करिजइ। खसम सहावें मणवि धरिजइ॥
सोवी मणु तहि अमनु करिजइ। सहज सहावें सो पर रज्जइ।

सिद्ध सम्प्रदाय प्रवृत्तिमूलक सम्प्रदाय था। अतः इसकी दृष्टि उपभोग-वादी थी। साधना के क्षेत्र में इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने विधि विधानों का खण्डन किया है। काया में ही तीर्थ-स्थानों की स्थिति मानी गयी है—

एत्थु से सुरसरि जमुणा एत्थ से गंगा साअरु।
एत्थु पआग बणारसि, एत्थु से चन्द दिवाअरु।
खेत्तु पीठ उपपीठ एत्थु मइ भमइ परिट्ठओ।
देहा सरिसउ तित्थ गइ सुह अण्ण ण दिट्ठओ।

सिद्ध साहित्य के अन्तर्गत उपलब्ध रचनाओं में बाह्य एकता के साथ-साथ आन्तरिक विभिन्नता है। समस्त रचनायें बौद्ध रचनायें नहीं हैं। इनमें तांत्रिक साधना से सम्बन्धित रचनायें हैं सहज मार्ग की भावयोजना पर आधारित रचनायें हैं मंत्रयान की भावना भी इनमें निहित है साथ ही साथ इनमें वज्रयानी साधना का भी निदर्शन मिलता है। इन विभिन्न साधना-धाराओं से सम्बन्धित विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग इस सम्प्रदाय की रचनाओं में व्यापक रूप में हुआ है। उदाहरण स्वरूप यहाँ इन विभिन्न साधनाओं से सम्बन्धित 'बुद्ध' 'स्कन्ध' 'निर्वाण' 'गगन' 'करुणा' इत्यादि विशिष्ट शब्द प्रयुक्त मिलते हैं। अनेक स्थलों पर साधकों ने अपने को योगी भी कहा है। इन साधकों में से अनेक योगमार्गी भी थे। परन्तु एक सत्य की ओर विश्वास पूर्वक संकेत किया जा सकता है। इनमें तपश्चर्या की भावना नहीं मिलती है। इन्होंने इन्द्रियों के निरोध के प्रति आग्रह नहीं प्रकट किया है। इस सम्बन्ध में एक और संकेत मिलता है जिस पर विद्वानों ने अभी तक ध्यान नहीं दिया था। सिद्धों की जो सूची हमें प्राप्त है उसमें धर्मकीर्ति और वज्रगर्भ का उल्लेख नहीं मिलता है। वज्रगर्भ ने 'हेवज्र तंत्र' की टीका की है। 'हेवज्रतंत्र' की अनेक टीकायें मिलती हैं। इनमें वज्रगर्भ[1] की टीका अधिक विस्तृत तथा महत्वपूर्ण है। वज्रगर्भ हेवज्र तंत्र

१—देखिए हेवज्र तंत्र पृ० १५

में प्रयुक्त शब्दों के प्रतीकों को स्पष्ट करते हैं। वे इन शब्दों के अभिधार्थ को ही सत्य मानते हैं। इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि सिद्धों की क्रियायें असामाजिक हैं। इनके आचरण अमर्यादित हैं। वज्रधर्म ने इन साधकों की निन्दा की है। तंत्र-मंत्र के आवरण में वे जीवन में कलुष का प्रचार करते थे। दूषित व्यापारों के आवरण में वे धन-अर्जन करते थे। अपने विलास की पूर्ति के लिए अपने विश्वासी शिष्यों की भावनाओं का अनुचित लाभ उठाते थे। वज्रमार्ग के इस संकेतों से वस्तु स्थिति का स्पष्टीकरण हो जाता है। वे सिद्धों की साधना विधि और उनके आचरण से सन्तुष्ट नहीं थे। बहुत सम्भव है इस कारण ही सिद्धों ने अपनी परम्परा में इनका उल्लेख नहीं किया है।

सिद्ध साहित्य का काव्य रूप और अभिव्यंजना प्रणाली

सिद्ध साहित्य 'दोहों' चर्यागीतों' वज्रगीतों' और प्रहेलिकाओं में उपलब्ध है। 'चर्या गीति' के भावस्वरूप की ओर संकेत करते हुए कुक्कुरीपा ने कहा है—

अइसनि चर्या कुक्कुरीपा एँ गाइउ
कोडि मझें एकु हिअहिं समाइउ।

'कुक्कुरीपा ऐसी चर्या गाते हैं कि कोटि में से किसी एक के हृदय में उसका समावेश होता है। इस प्रकार 'चर्यागीति' में एक विशेष प्रकार का मर्म निहित रहता है। 'चर्या' शब्द का मूल अर्थ है आचरण या व्यवहार, अर्थात् साधक या तपस्वी का आचरण। बौद्ध साहित्य में भिक्षुक के आचरण के अर्थ में चर्या' शब्द का व्यवहार मिलता है[1]। 'चर्या गीति' गेय हैं। नाम से स्पष्ट है कि इनमें गीति-तत्व की प्रधानता है। चर्या गीतों की गठन विधि जयदेव के पदों या बंगला की 'वैष्णव गीति पदावली' के समान ही है।[2]

'चर्या गीति' के समान ही 'वज्र गीति' है। सामूहिक अनुष्ठानों पर चर्या गीति' का गान होता था परन्तु गोपन यौगिक अनुष्ठानों पर 'वज्रगीति' का गान होता था। 'वज्रगीति' का एक उदाहरण दिया जा रहा है।

१—देखिए-चर्या गीति पदावली भूमि पृ० २१।

२—वही

किञ्चे णियम विसाम - गउ
कोस णिमन्तिम काई
तह बत्ता म बड़ सन्तरसि
उट्ठहि समल मिसाई।
कअ अण्णाल वि करिम विम
मा कर सुन्न णिचिन्त
मम मम पड़िमा समक बनू
उट्ठहि बो इमि मिन्त ।
पुन्न—पइअइ सन्तरसि
मा कर काअ—विआज
तह-अण मिद्ध समस पनू
पतिमउ बप मवसाउ ।
मिच्चें माल वि मा करेहि पिम
उट्ठइ सून्न सहाव
कामहि जोइणि विन्ह तुहें
फिट्टउ अहवा भाव ।[1]—साधन माला

प्रस्तुत अंश में चार योगिनियाँ उदासीन प्रणयी (प्रभु) से अनुनय कर रही हैं। वे कहती हैं प्रिय मिथ्या अभिमान न करो। योगिनियाँ अनुनय कर रही हैं। प्रिय तुम शून्य स्वभाव हो। तुम उठो। योगिनियों की कामना करो जिससे अभाव का भाव दूर हो।

अपनी अनुभूतियों चिन्तन रेखाओं तथा साधना स्वरूप को व्यक्त करने के लिए इस धारा के साधकों ने गुह्य प्रतीकों और पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार किया है। इस प्रकार उपमा उत्प्रेक्षा तथा रूपक के स्वरूप-विधानों के प्रति ये विशेष आग्रहशील हैं। इनमें अर्थ की द्विधा निहित है। एक अर्थ सामान्य या साधारण होता है जिसे अभिधेयात्मक कह सकते हैं। दूसरा अर्थ प्रतीकात्मक या लक्षणा मूलक होता है। सरह के 'दोहा कोष' के पञ्जिकाकार अद्वयवज्र तथा 'चर्या गीति' के वृत्तिकार मुनिदत्त ने भाषा के इस विशिष्ट प्रयोग-स्वरूप को 'सन्ध्या

१—चर्या गीति पदावली पृ० २२ से उद्धृत।

भाषा' कहा है। इसे 'सन्ध्या वचन' 'सन्ध्या संकेत' या 'सन्ध्या' भी कहा गया है।[1] महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने संध्या भाषा का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि 'प्रकाश' और 'अन्धकार' की भाषा को सन्ध्या भाषा कहते हैं। इसमें कतिपय व्यक्त और कतिपय गोपन तत्त्व रहते हैं। अर्थ की स्पष्टता और अस्पष्टता यहाँ निरन्तर विद्यमान है।[2] परन्तु इस परिभाषा या स्पष्टीकरण से 'सन्ध्या भाषा' का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता है। डा॰ सुकुमार सेन ने इस सम्बन्ध में अपना मन्तव्य देते हुए कहा है कि 'आलो' (आलोक) अंधारि (अन्धकार) के साथ सन्ध्या भाषा का कोई सम्बन्ध नहीं है। उनकी धारणा है कि जिस भाषा या शब्द में निहित अभीष्ट अर्थ को मर्मज्ञ होकर समझा जाय उसे सन्ध्या भाषा कहते हैं।[3] वस्तुतः इसमें दो अर्थों की सन्धि रहती है। इस कारण ही इसे सन्ध्या भाषा की संज्ञा मिली है। प्रस्तुत पंक्तियों में संध्या भाषा के कतिपय उदाहरण दिए जा रहे हैं:—

शब्द	सामान्य अर्थ	सन्ध्या अर्थ
आलि-कालि	'स्वर' 'व्यंजन'	प्रश्वास निश्वास

उदा॰ आलिएँ कालिएँ बाट रुन्धेला (चर्या—७)।

चन्द चाँद	चाँद	प्रज्ञा ज्ञान प्रवाह

उदा॰ चान्द सूज दुइ चका सिठि संहार पुलिन्दा। (चर्या १४)

उदक चान्द जिम साच न मिच्छा। (चर्या ३१)

हरिण	हरिण	चित्त

उदा॰ अपने मांसे हरिणा बैरी। (६)

हरिणी	हरिणी	नैरात्मा ज्ञान मुद्रा

उदा॰ हरिणा हरिणीर निलय ण जाणी। (चर्या ६)

नौका	नौका	महा सुख काय।

उदा॰ सोने भरिती करुणा नावी। (चर्या ८)।

१—देखिए चर्या गीति पदावली: भूमिका—पृ० ७४

२—देखिए बौद्धगान ओ दोहा—भूमिका।

३—देखिए चर्या गीति पदावली—पृ० २४

रूपक के माध्यम से साधना विधि का प्रकाशन इस धारा के साहित्य की अभिव्यञ्जना प्रणाली का एक मुख्य गुण है। सम्भोग शृङ्गार-परक रूपक द्वारा 'शून्य' या 'सहज' की उपलब्धि का चित्रण इनकी अभिव्यञ्जना प्रणाली की विशिष्टता है। इस सन्दर्भ में लोकसापेक्ष विधानों का प्रयोग विशेष दर्शनीय है उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत अंश में प्रणयातुर प्रणयी के द्वारा साधक ने सहज समाधि की चर्चा की है —

ऊंचा ऊँचा पावत ताहिं वसइ सबरीबाला
मोरंगि पिच्छ परिहिण सबरी गीवत गुंजरीमाला
उमत सबरो पागल सबरो मा कर गुली-गुहाड़ा
तोहोरि णिअ घरिणी णामे सहज सुन्दरी
नाना तरुवर मौलिलि र गअणत लागेलि डाली।
एकेलि सबरी ए बण हिंडइ कर्ण कुण्डल बज्रधारी
तिअधातु खाट पड़िला सबरो महासुहे सेजछाइली
सबर भुजंगम नैरामणि दारी पेम्ह रात पोहाई॥

'ऊँचे-ऊँचे पर्वत पर शबरी बाला रहती है। उसने मोर पंख धारण कर लिया है। उसने गले में गुंज की माला पहन ली है। उन्मत्त शबर पागल शबर कोलाहल नहीं करता है। निज गृहिणी तुम्हारा नाम सहज सुन्दरी है। अनेक वृक्ष मञ्जरित हैं। उनकी शाखायें गगन को स्पर्श कर रही हैं। कर्ण-कुण्डल और वज्र धारण किए शबरी अकेली घूम रही है। त्रिधातुओं की शय्या (महासुख की शैय्या) है। शबर प्रेमी (भुजंगम) है। शबरी प्रेमिका है। प्रणय-केलि में रात्रि व्यतीत हुई। यहाँ सहज को 'सुन्दरी' या 'गृहिणी' के रूप में ग्रहण किया गया है। 'नैरात्म' से आलिंगन की कल्पना की गई है। साधना-भूमि में लय हो जाने की प्रक्रिया को काम-केलि के रूपक द्वारा व्यञ्जित किया गया है।

पञ्च इन्द्रियों को मारने की विधा को साधक ने आखेट के रूपक द्वारा व्यक्त किया है—

बाइ तुम्ह भुसुक अहेरी जाइब
मारिहसि पञ्च जणा ।
णलिनी बन पइसन्ते होहिसि एकु मणा ।

इसी प्रकार नौका के रूपक (चर्या १३ १४) का प्रयोग मिलता है, रुई धुनने का रूपक (चर्या २६) वीणा का रूपक (चर्या १७) साधना प्रणाली की व्याख्या के लिए प्रयुक्त है ।

साहित्य में युग-जीवन की सापेक्षता विद्यमान रहती है । यह सापेक्षता सिद्धों की रचनाओं में भी विद्यमान है । अपने युग के सामाजिक स्वरूप को अप्रस्तुत विधान के रूप में सिद्ध-साहित्य के रचनाकारों ने ग्रहण किया है । इस सापेक्ष विधान के स्वरूप का उद्घाटन डॉ॰ सुकुमार सेन ने 'चर्या गीति पदावली' की भूमिका में किया है। उनका यह निर्धारण है कि सिद्धों की रचनाओं में सम सामयिक जीवन के चित्र उभर कर आए हैं । अपने निष्कर्ष को अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं 'चर्यागीत में देवी-देवता की उपासना नहीं है । इसमें राजा मंत्री की अनुकथा भी नहीं है । इनका साहित्य न तो किसी पूर्व-परम्परा पर अवलम्बित है और न यहाँ किसी रीतिसिद्ध धारा का स्वरूप ही नियोजित है । अपने युग का साधारण जीवन-स्वरूप और लोकजीवन की दैनिक चर्या यहाँ प्रतिबिम्बित है ।'[1] उदाहरणस्वरूप 'दारुणी बनाने की विधा' में युग-जीवन की एक धारा का स्पष्ट परिचय मिलता है । सरिता की गति और उसके रूप-सौन्दर्य को साधक संश्लिष्ट रूप विधान के द्वारा निर्मोचित करता है । रुई धुनने और कपड़ा बुनने के रूपक में भी युग-जीवन का स्वरूप सापेक्ष रूप में विद्यमान है । पारिवारिक जीवन के संगठन-स्वरूप का सापेक्षविधान यहाँ विशेष द्रष्टव्य है । इस कथन की सत्यता सिद्धों द्वारा प्रयुक्त 'श्वसुर' 'सासु' 'ननद' इत्यादि शब्दों द्वारा स्थापित होती है । विरोधमूलक अलंकार के द्वारा उलट बाँसियों की रचना यहाँ एक विशेष प्रकार की अभिव्यञ्जना प्रणाली है । इसके अन्तर्गत विपरीत धर्म (गुण) वाले शब्दों का प्रयोग किया गया है । चर्या संख्या २ (कुक्कुरीपा) चर्या संख्या ३३ (ढेंढणपा) में इस विधा का प्रयोग मिलता है । यथा •

---

१ देखिए चर्या गीति पदावली भूमिका पृष्ठ २६

टालत मोर घर माहि पड़वेषी
हाड़ीत भात माहि नित आवेशी । ध्रुव ।

× × × ×

दुहिल दुध कि बेन्टे समाय
बलद बियाएल गविआ बाँझे
पिटो दुहिए-ए तीनो साँझे ।
जो सो बुधि सोइ निबुधी

× × × ×

निते निते सिआल सिहे सम जूझअ
ढेण्ढनपाएर गीत विरले बूझे । ध्रुव । चर्या ३३ ।

भाषा

सिद्धों की रचनाओं की भाषा मागधी अवहट्ठ है । डॉ॰सुनीति कुमार चटर्जी ने इन रचनाकारों की भाषा को शौरसेनी अपभ्रंश से पूर्णत संस्पर्शित माना है । वस्तुस्थिति यह है कि भिन्न-भिन्न प्रादेशिक भाषाओं के आचार्यों एवं भाषा वैज्ञानिकों ने यह संस्थापित करने का प्रयास किया है कि 'चर्या गीति' और 'दोहा कोष' उनकी भाषा की अपनी निधियाँ हैं । इस प्रकार हिन्दी बंगाली मैथिली उड़िया आसामी—इन समस्त भाषाओं के विद्वानों ने सिद्धों की रचनाओं को अपनी-अपनी भाषा के साहित्य के रूप में स्वीकार किया है । परन्तु उनकी धारणा वैज्ञानिक और इतिहास-सम्मत् नहीं है । सिद्धों की रचना जिस भाषा में हुई है उसमें संक्रान्तिकालीन आधुनिक भारतीय आर्य भाषा के स्वरूप निहित हैं यही कारण है कि इसमें विभिन्न आधुनिक आर्य भाषाओं के प्रारम्भिक स्वरूप के दर्शन सहज में ही हो जाते हैं । परन्तु ये रचनायें मागधी अवहट्ठ में ही हैं । इस सत्यता का प्रतिवाद अवैज्ञानिक होगा । 'दोहा कोष' एवं 'चर्या गीति' की रचनायें जिस काल अवधि में हो रही थीं उसमें अवहट्ठ साहित्यिक भाषा के रूप में उत्तर भारत में गृहीत थी । कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि 'दोहा कोष' की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश है और 'चर्या गीति' की भाषा मागधी अपभ्रंश । दोहा पश्चिमी प्रदेश का प्रचलित छन्द है इसका प्रयोग

पूर्वी अंचलों में व्यापकरूप से नहीं हुआ है परन्तु भाषा के आधार पर 'दोहा कोष' और 'चर्या-गीति' में अन्तर स्पष्ट नहीं किया जा सकता है।

भाषा-स्वरूप पर विचार करते समय एक अन्य सत्य की अवहेलना कर दी जाती है। इन रचनाओं का विकास मौखिक रूप में होता रहा है। इसके अतिरिक्त इनके लिपिबद्ध हो जाने के पश्चात् समय-समय पर इनकी प्रतिलिपियाँ होती रही हैं। प्रतिलिपिकारों की असावधानी के कारण भाषा के मूल स्वरूप में यत्र-तत्र परिवर्तन होते रहे हैं उदाहरण स्वरूप 'उकारान्त' शब्दों को 'इकारान्त' या 'एकारान्त' कर देना उनके लिए साधारण बात थी।

व्याकरण की दृष्टि से निम्नलिखित विशेषतायें उल्लेखनीय हैं—

(क) करण के लिए -त -ते विभक्ति का प्रयोग। सप्तमी के लिए -ए,-एर,-र षष्ठी के लिए रे, रेँ चतुर्थी के लिए—दिया -सांग अधिकरण कारक के लिए 'माझे' के प्रयोग विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

(ख) अतीतकाल के लिए -ल प्रत्यय का प्रयोग यहाँ नियमित रूप से होता है—यथा॰ 'पड़िल मिलि' (दोहा) 'सोने भरिली करुना नावी' 'सहि आमेलि तान्ही'।

(ग) स्त्री प्रत्यय के रूप में -इ,-ई का प्रयोग विशेष रूप में मिलता है। पुल्लिंग प्रत्यय के रूप में आ का प्रयोग मिलता है। यह प्रयोग कर्त्ता और कर्म कारक के रूपों में विशेष रूप से देखने को मिलता है।

(घ) भविष्यत् काल के लिए-इब-(ब) प्रत्ययों का प्रयोग किया गया है। उदा॰—'करिब्', 'खाइब्' 'होइब' इत्यादि।

(ङ) वर्तमान काल के अतिरिक्त अन्य कालों में क्रिया भाव-कर्मवाच्य में प्रयुक्त हुई है।

(च) संख्यावाचक शब्द; एक एकु, दुई, बनि तिनि चउ पञ्च पाञ्च बतीस तेतीसँ चउषठी कोड़ि इत्यादि।

छन्द—अधिकांश 'चर्या गीति' 'पादकुलक' 'पज्झटिका' पद्धड़ी चउपई छन्दों में रचित हैं। इनमें गीति-तत्त्व विद्यमान है और इनके रागों का भी

'चच्चरीगीति' में मात्राओं का क्रम ११+१२ है। 'चर्या गीति' में दो विधायें मिलती हैं। प्रथम में मात्रा-क्रम ८+७ है। द्वितीय में ८+८+१० है। अधिकांश चर्या प्रथम विधा में रचित हैं। इस छन्द विधा ने ही परवर्तीकाल में 'पयार छन्द' का स्वरूप धारण कर लिया। द्वितीय छन्द विधा से परवर्ती काल में 'त्रिपदी' छन्द का विकास हुआ।

प्रथम —

।। ।२। ।। ।। ।।।
निति निति सिआल सिहे सम जुझअ ॥
।।। ।।। ।। ।।२ ।।।
ढेण्ढण पाएर गीत विरले बुझअ ॥

द्वितीय —

।।।।।। ।। ।।। ।।। ।। ।।२ ।। ।।।
मुसुक मणइ कत राउत भणइ कत सअला एह सहाव[1]

इस प्रकार अपभ्रंश-अवहट्ठ की काव्य-परम्परा अभिव्यञ्जना प्रणाली और छन्द-सम्पत्ति ने हिन्दी के आदिकालीन साहित्य की पीठिका निर्मित की है। हिन्दी की आदिकालीनकाव्य विधायें अपभ्रंश और अवहट्ठ से ही प्रस्फुटित हुई हैं। अतः हिन्दी के आदिकालीन साहित्य की आधारभित्ति के अध्ययन की दृष्टि से इन पृष्ठों में प्रस्तुत सामग्रियों का विशेष महत्त्व है। आगे के पृष्ठों में हिन्दी के आदिकालीन साहित्य पर विचार किया जा रहा है।

---

१ देखिए:—Indian Linguistics vol X Old Bengali Text पृष्ठ ४५

आदिकाल का काव्य स्वरूप

(१) रासो काव्य धारा

रासो काव्य-धारा आदिकालीन हिन्दी साहित्य की एक प्रमुख काव्य विधा है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने भिन्न भिन्न दृष्टियों से 'रासो' शब्द और 'रासो'-काव्य-रूप का विश्लेषण और मूल्यांकन किया है। परन्तु मूल्यांकन में काव्य-स्वरूप के विकास और प्रसार के ऐतिहासिक सन्दर्भों की अवहेलना की गई है। 'हिन्दी शब्द सागर' में इस शब्द का परिचय प्रस्तुत रूप में प्रस्तावित किया गया है— संज्ञा पु० (रहस्य[1] किसी राजा का पद्यमय जीवनचरित, विशेषतः वह जीवनचरित जिसमें उसके युद्धों और वीरता आदि का वर्णन हो जैसे पृथ्वीराज रासो, खुमान रासो हम्मीर रासो इत्यादि। कतिपय विद्वानों ने इसका सम्बन्ध 'रहस्य' शब्द से स्थापित किया है परन्तु हिन्दी भाषाविज्ञान के ध्वनि परिवर्तन की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार 'रहस्य' शब्द से इसका विकास सम्भव नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'बीसलदेव रासो' का आधार ग्रहण करते हुए इस शब्द की व्युत्पत्ति प्रस्तावित की है। 'बीसलदेव रासो' के कवि ने अपने काव्य में 'रसायन' शब्द का प्रयोग किया है—

(१) नाल्ह रसाइण रस भर गाइ,
तूठी सह सारदा त्रिभुवन माइ
(२) नाल्ह रसायण आरम्भइ,

कतिपय विद्वानों ने इसकी व्युत्पत्ति राजादेश शब्द से किया है—यथा राजादेश>राआएसु>रासु>रासो या राजयश>राजयसो>रायसो>रासो। 'तासी' ने इसकी व्युत्पत्ति के लिए 'राजसूय' शब्द की प्रस्तावना की है। राजस्थान में 'रासा' या 'रासो' का अर्थ झगड़ा होता है। इस अनुचेतना को ग्रहण करते हुए कतिपय आलोचकों की यह धारणा है कि 'रासो' वह विशिष्ट

१—संस्कृत रहस्य>रहस्सो>रअस्सो>रासो कविराज श्यामल दास काशी प्रसाद जायसवाल तथा रामनारायण दूगड़।

काव्य मिला है जिसकी मूल संवेदना 'समर्ष' या संघर्ष की भावना पर परिचालित हो। इस सन्दर्भ में 'पृथ्वीराज रासो' का स्पष्टीकरण करते हुए यह संस्थापना की गई है कि 'पृथ्वीराज रासो' का अर्थ हुआ 'पृथ्वीराज की क्रीड़ायें' 'पृथ्वीराज का साहसिक कार्य' या उनका 'संघर्ष'।

'रासो' शब्द संस्कृत के 'रासक' शब्द से विकसित हुआ है। प्राचीन इतिवृत्ति को भी 'रास' कहने की प्रथा थी जैसे॰ 'कुमारपाल रास' 'भीसाल रास' इत्यादि।

साहित्य-स्वरूप की दृष्टि से 'रासक' एक नृत्य-काव्य या गेय रूपक है। 'हरिवंश पुराण' में 'रास' का सांकेतिक उल्लेख मिलता है। 'विष्णु पुराण' में रास की चर्चा गोपालों के एक विशेष नृत्य के रूप में मिलती है। भास के 'बालचरित' नाटक में रास के समजातीय 'हल्लीसक' का उल्लेख मिलता है। डॉ॰ मनकड Types of Sanskrit Drama में 'रास' की विवेचना करते हुए इसका अर्थ 'चिल्लाना' देते हैं और इसका सम्बन्ध उस काल के आदिम नृत्य से जोड़ते हैं जब संगीत की भाषा और कलात्मक रीति व्यवस्थित नहीं हुई थी। बाणभट्ट के 'हर्षचरित' में इसके प्रमाण मिलते हैं कि इनके समय तक 'रास' में नृत्य की पूर्ण व्यवस्था हो चुकी थी। रासक-नृत्य का प्रचार जन-जीवन में हो चुका था। 'हर्ष चरित' में 'अश्लील रासक पदानि' का उल्लेख मिलता है। 'अश्लील रासक पदानि' का अभिप्राय स्त्रियों द्वारा गाए जाने वाले गीत से है (डॉ॰ वासुदेव शरण अग्रवाल)। इस प्रसंग में कानों को अमृत के समान मधुर लगने वाले मधुर आलाप करने वाली स्त्रियों के अश्लील रासक प॰ गाने का उल्लेख मिलता है।

सातवीं से दसवीं शताब्दी तक 'रासक' की व्यापक विधाओं का प्रस्फुटन हो रहा था। इस सन्दर्भ में अप्रकाशित जन-ग्रंथ 'खरतर गच्छ पट्टावली' का उल्लेख विशेष महत्त्व रखता है। इस दृष्टि से एक विशिष्ट तथ्य का उद्घाटन होता है। इस समय तक जैन मन्दिरों में 'लगुड़ रास' की प्रथा वर्जित थी परन्तु सामान्य जीवन में 'रासो' का व्यापक प्रचार था। अनेक सन्दर्भों से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक 'नृत्य रासकों' की भाव-धारा में पाठ्यतत्त्व का समावेश हो चुका था अर्थात् 'नृत्य रास' के समानान्तर

'भव्यरास-धारा' का प्रादुर्भाव हो चुका था। चौदहवीं शताब्दी की मध्यवर्ती आने वाली कृति 'उपदेश गच्छ पट्टावली' में 'हल्लीस' 'लगुड रास' और 'प्रेक्षणक' का उल्लेख गीति-नृत्य रूपकों की विविध शैलियों के लिए होता है। 'रास' के साथ-साथ 'चर्चरी' का भी प्रयोग मिलता है। जैन साधकों ने इस काव्य रूप को उपदेश-काव्य के रूप में अपनाया। फलतः 'रासो' काव्य विधा में गेय तत्त्व शिथिल होने लगा और उपदेशतत्त्व की प्रधानता होने लगी।

डा० माता प्रसाद गुप्त ने 'रासक-काव्य धारा' के विकास का इतिहास प्रस्तुत करते हुए यह संभावना की है कि अपभ्रंश काल में ही 'रासो' की दो भिन्न भिन्न परम्परायें स्थापित हो चुकी थीं, (क) नृत्य-गीत-परक रासो (ख) छन्द वैविध्यपरक रासो। प्रथम परम्परा के अन्तर्गत उन कृतियों का विकास हुआ जिनका भाव-संवेदन जैन-धर्म की कृतियों पर अवलम्बित है। इनका सम्बन्ध जैन महात्माओं संघपतियों तथा तीर्थोद्धारकर्ताओं के चरित से है। इसी परम्परा के अन्तर्गत वे 'बीसलदेवरासो' को भी स्वीकार करते हैं।

दूसरी धारा छन्दवैविध्यपरक 'रासो' की है—'सन्देश रासक' तथा 'पृथ्वीराज रासो' ऐसी कृतियाँ इसके अन्तर्गत आती हैं। इस विभाजन के अनुसार प्रथम का विकास नृत्यमूलक रहा है। डॉ० गुप्त की यह धारणा शारदा तनय के वर्गीकरण के आधार पर निर्मित है। शारदातनय की प्रसिद्ध कृति है 'भाव प्रकाशन'। प्रस्तुत कृति में लेखक ने लास्य के प्रस्तुत रूपों का उल्लेख किया है—

[क] शृ खला [ख] लता [ग] पिंडी [घ] भेद्यक। प्रथमित स्वरूपों की चर्चा करते हुए लेखक ने 'लता' के उपभेदों का उल्लेख किया है— [क] दण्ड रासक [ख] मण्डल रासक [ग] नाट्य रासक।

शृङ्खला लता पिण्डी भेद्यकै स्याच्चतुर्विधम्।
लता रासक नामस्यात्तेमा रासकं भवेत्॥
दण्ड रासकमित्यन्तु तथा मण्डल रासकम्।
एकन्तु त्रोटिमित्यमामाख्य रासकमीरीतम्[1]॥

शारदा तनय ने नाट्य रासक को उप रूपक रासक नृत्य

१—भाव प्रकाशन गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज पृ० २६७ हिन्दी साहित्य पृ० ६६ से उद्धृत।

के अन्तर्गत माना है। डा० गुप्त की यह धारणा है "ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्य रासक नाटकीय संकेतों और उसके कुछ अन्य तत्वों से विरहित होकर गीत-नृत्य-परक रासक-परम्परा में ढल गया। इस परम्परा की अनेक रचनाओं में उनके गाए जाने और नृत्य-समन्वित होने का जो उल्लेख मिलता है वह इस उद्भव की ओर संकेत करता है।[1] वसन्तक में रासक को भागवत कहा गया है—

डोम्बी श्री गदितं भाणो
भाणी प्रस्थान रासका
काव्यं च सप्त नृत्यस्य
भेदा स्युस्तेऽपि भागवत्।[2]

विरहांक ने 'वृत्तजातिसमुच्चय' में 'रासक' की प्रस्तावना छन्द-संवेदना पर की है। उदाहरण —

अडिलहि दुवहएहिंव मत्ता रड्डहिं तह ढोसाहिं
बहुएहिं जो रज्जई सो भण्णइ रासउ ॥४॥

जिस रचना में अडिल्ला दूहा, मात्रा रड्डा और ढोसा इत्यादि छन्द हों उसे रासक कहते हैं (वृत्तजातिसमुच्च ४ ११)। 'वृत्तजातिसमुच्चय' के अतिरिक्त स्वयंभू ने 'स्वयंभूछन्दस' में कल्पना की है —

घत्ता छड्डणिआहिं पद्धडिया सु अण्णरूएहिं।
रासा बन्धो कव्वे जणमण अहिरामो होइ ॥

जिस काव्य में घत्ता छ(ड्)डणिआ पद्धडी तथा अन्य रूपकों के कारण जन-मन अभिराम होता है वह रासक है। 'रास' या 'रासक' की दो धारायें 'सन्देशरासक' के रचनाकाल तक सुस्थापित हो चुकी थीं। 'रासक' का उल्लेख नृत्य के रूप में मिलता है साथ ही साथ गेय रूपक के रूप में भी इसकी चर्चा मिलती है। उदा

कह व ठाइ चउवेईहिं वेउ पयासियइ
कह बहुरूवि णिबद्धउ रासउ भासियइ। सन्देश रासक ४३

डॉ० भोला शंकर व्यास ने यह संकेत किया है कि रासक का गीति नाटकों से सम्बन्ध स्थापित करना भ्रामक है। डा० व्यास की यह धारणा है कि 'सन्देश

१—हिन्दी साहित्य—पृ० १००।
२—रास और रासान्वयी काव्य पृ० १।

रासक' हिन्दी का प्राचीनतम नाटक नहीं है। उनका कथन है। "ऐसा मत-प्रकाशन वैचारिक अपरिपक्वता का द्योतक है। वस्तुतः इस भ्रांत धारणा का आधार सन्देश रासक के ४३ वें पद्य की 'कह बहुरूवि निबद्धउ रासउ भासियइ' पंक्ति के 'रासउ भासियउ' का डा० भयाणी द्वारा प्रस्तुत अंग्रेजी अनुवाद है जिसका आशय है— इस (समोर नगर में) रासक बहुरूपियों द्वारा अभिनीत होता है।' संस्कृत टीकाकार भासियइ' का संस्कृत रूपान्तर 'भाष्यते' लिखता है जो स्पष्टतः 'रासक' पढ़ा जाता है—इस मत की पुष्टि करता है। उपर्युक्त हिन्दी लेखकों की भ्रान्त धारणा भयाणी जी के अंग्रेजी अनुवाद के कारण है। वस्तुतः भाटों के द्वारा गोष्ठियों में गाए जाने वाले गीतों के लिए 'रासक' शब्द प्रयुक्त हुआ है ठीक वैसे ही जैसे बनारस की कजली।[1] डॉ० व्यास की यह संस्थापना वैज्ञानिक विश्लेषण की अपेक्षा रखती है। भाटों द्वारा गोष्ठियों में गाए जाने वाले गीतों को रासक के रूप में डॉ० व्यास ने स्वीकार किया है। इस स्वीकृति के लिए उनके पास कोई आधार नहीं है। 'रासक' की एक भाव-धारा का पल्लवन गेय रूपकत्व की भूमिका पर हुआ है। इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। डॉ० दशरथ ओझा ने उन प्रमाणों का संकलन और विश्लेषण किया है जिनके आधार पर 'रासक' को उपरूपक के अन्तर्गत स्थान मिला है। 'उपदेश रसायन' में यह स्पष्ट उल्लेख है कि 'रासक' एक गेय काव्य है।[1] 'उपदेश रसायन रास' में 'रास' के अभिनेय स्वरूप की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है।[2]

'बीसलदेव रासो' में ऐसे सन्दर्भ मिलते हैं जिनके आधार पर 'रासो' या 'रास' के रूपक-स्वरूप को स्वीकार करने में संकोच नहीं होता है—

सरसति सामणी करउ हउ पसाउ।
रास प्रयासऊं बीसल-दे राउ॥
खेला पसइ मोरडी।
आखर आखर आणाजे जोड़ि॥

१—हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास। प्रथम भाग खण्ड २

२—अयं सर्वेषु रागेषु श्रीमले गीत कोविदै।

रि निम्मविएउ।

अथवा

नाचण हार मांडइ (म) र गाई ।
रास करइ (सम) मह बैसती बाई ।
ताल कइ समचइ घूमरी ।
मौंहिली मांडली सौंचका ।
रास प्रयास ईसी विधि होई ।— सत्यजीवन वर्मा ।

'रास गाने वाले अपनी मंडलियाँ बनाकर जब इसे गायें तो उस समय बाँसुरी आदि बाजे साथ-साथ बजते रहें । घुंघरू आदि के साथ ताल दी जाय । गायकों की मण्डली के बीच में बैठने वाले कलाकार जोड़ हों और वे दूर-दूर बैठें और बाहर के वृत्त में बैठने वाले कलाकार सघन होकर बैठें ।

इन सन्दर्भों से यह स्पष्ट होता है कि लघुकाय रास की मूल प्रेरणा अभिनयात्मक थी । ऐसा लगता है कि रास की मूल अनुप्रेरणा नृत्यपरक थी । समय के साथ उसमें छन्द की योजना की गई होगी और नृत्य तथा छन्द की सामूहिकता के पश्चात् उसमें कथावस्तु का नियोजन किया गया होगा ।[1]

ऊपर डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त के उस विश्लेषणस्वरूप का उल्लेख किया गया है जिसमें उन्होंने 'रासक काव्य' का वर्गीकरण छन्दों के आधार पर किया है ।

१—रास-नृत्य के भेद के कारण इस गेय रूपक के दो प्रधान वर्ग हो जाते हैं—(१) तालारास (२) लकुटारास । तालारास में मंडलाकार घूमते हुए तालियों से ताल देकर संगीत और पदचाप से नर्तन किया जाता है । लकुटा रास में दो छोटे-छोटे डंडों को हाथ में लेकर परस्पर एक दूसरे के डंडों पर ताल देते हैं । स्त्रियों के तालारास को 'हमची' कहते हैं और पुरुषों के तालारास को 'हींच' कहते हैं । रास का मूल अर्थ है गर्जना । उसके बाद उसका अर्थ हुआ मात्रिक छन्द में विरचित रचना । उसके बाद एक दो छन्दों में विरचित रचना रास कहलाने लगी । तदुपरान्त इसने स्वतन्त्र गेय उपरूपक का रूप धारण किया । सामूहिक गेय रूपक होने के नाते इसमें रस अनिवार्य बन गया । इसलिए रास काव्य 'रसायन' कहे जाने लगे । रसपूर्ण होने के कारण ही यह रचना 'रास' कहलाई ऐसा भी एक मत है ।

परन्तु छन्दों की अपेक्षा काव्य-रूपों के आधार पर 'रासक' का वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक होगा। 'काव्यानुशासन' के आठवें अध्याय में हेमचन्द्र ने काव्य के दो मुख्य भेदों का उल्लेख किया है।—(क) प्रेक्ष्य (ख) श्रव्य।

प्रेक्ष्य के अन्तर्गत पुन वे उपवर्गों का उल्लेख करते हैं। (१) पाठ्य (२) गेय।

हेमचन्द्र ने गेय के प्रस्तुत रूपों के स्वरूप का निर्धारण किया है—(१) डोम्बिका (२) भाण (३) प्रस्थान (४) सिंगक (५) भाणिका (६) प्रेरण (७) रामाक्रीड (८) हल्लीसक (९) गोष्ठी (१०) श्रीगदित। ये गेय रूपक कोमल उद्धत मिश्र—इन तीन रूपों में मिलते हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यह प्रस्तावित किया है—रासक आरम्भ में एक प्रकार के गेय-उद्धत प्रयोग प्रधान रूपक को कहते थे जिसमें थोड़े मसृण प्रयोग भी मिलते हैं। नर्तकियाँ ताल-लय के साथ इसे गाती थीं। 'सन्देश रासक' इसी प्रकार का गेय रूपक है। इसके अनुसार 'पृथ्वीराज रासो' का आदिरूप भी 'सन्देश रासक' के समान ही रहा होगा। यह प्रधान रूप से उद्धत प्रयोग प्रधान मसृण प्रयोग-युक्त गेय रूपक था। इस प्रकार द्विवेदी जी ने रास काव्य की तीन शैलियों की चर्चा की है-(१) लास्य या मसृण रास (२) उद्धत रास (३) मिश्रित रास। प्रथम की मूल अनुचेतना शृंगार-मूलक होती है द्वितीय की सर्जना वीर भावना पर अवलम्बित होती है तृतीय शृंगार-वीर मिश्रित होती है। 'संदेशरासक' तथा 'बीसलदेवरास' प्रथम परम्परा की कृतियाँ हैं। 'बाहुबलीरास' (जैन काव्य) उद्धत शैली पर निर्मित है और 'पृथ्वीराजरासो' मिश्रित शैली का 'रास काव्य' है।

काव्य विधा की अनुचेतना गतिशील होती है। एक निश्चित काव्य विधा का पल्लवन होता है और वह शाखा प्रशाखा का रूप धारण कर लेती है। रासक 'काव्य विधा' व्यापक भाव-संवेदना पर विकसित हुई है। यही कारण है कि परवर्तीकाल में 'रास' का विकास 'चरित काव्य-शैली' में हुआ। इसमें कथा-तत्वों का समावेश किया गया। अपभ्रंश काल में चरितकाव्यों के लिए विविध नामों का उपयोग मिलता है। इनमें विलास और रूपक विशेष प्रचलित हुए। इसी भाव धारा के अनुसार 'रास' या 'रासक' संज्ञा देकर भी चरित-काव्य लिखे गये। इसके पश्चात् 'रासक' 'काव्य-रूप' का पर्यायवाची बन जाता है। यही कारण है कि 'रतन रासो' 'संगति सिंह रासो' 'बीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो' को

विवेचना काव्य रूपों की दृष्टि से होने लगी। आख्यायिका के गुणों के समावेश हो जाने के पश्चात् रासक का पल्लवन प्रस्तुत धाराओं में हुआ—

(क) लौकिक पद्य-बद्ध कथा-काव्य के रूप में—'सन्देश रासक'।

(ख) ऐतिहासिक चरित काव्य—'पृथ्वीराज रासो'।

(ग) जैन मुनियों द्वारा—पुराण-साहित्य की भूमि पर प्रस्तावित 'चन्दनबाला रास' 'जम्बू स्वामी 'रासो' इत्यादि।

(घ) ऐतिहासिक संवेदना पर आधारित परन्तु मुख्यतः लोक-धर्मी-काव्य संवेदना पर आधारित—'बीसलदेव रासो'।

रासक-काव्य-कृतियों का परिचय[1]

मुँज रास —'मुँज रास' शीर्षक किसी स्वतंत्र ग्रन्थ की प्राप्ति अभी तक नहीं हो सकी है। 'हेमचन्द्र' 'प्रबन्ध चिन्तामणि' और 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में उपलब्ध कतिपय सांकेतिक संदर्भों के आधार पर इस कृति के आदि स्वरूप की कल्पना की जाती है। हेमचन्द्र ने 'सिद्ध हेम' (सन् ११४०) में जो दोहे संकलित किए हैं जिनमें मुंज की प्रणय-कथा की मूल संवेदना का परिचय मिलता है। उदा०

रक्खइ सा विसहारिणी बे कर चुम्बिवि जीउ।
पडिबिम्बिअ मुंजालु जलु जेहिं अडोहिउ पीउ॥
बाह बिछोडवि जाहु तुहुं हउं तेवँइ को दोसु।
हिअयट्ठिउ जइ नीसरहिं जाणउं मुंज सरोसु॥

प्राकृत व्याकरणम् ४।४३९।२,३।

'जल भरने वाली बाला मुञ्ज के प्रतिबिम्ब के साथ जल पीने वाले करों

१—डा० माता प्रसाद गुप्त ने रासक-काव्य-धारा का विभाजन निम्नलिखित रूप में किया है (हिन्दी साहित्य द्वितीय खण्ड १०१ ११६)।

(क) अल्प रूपक निबद्ध परम्परा—'उपदेश रसायण रास' 'भरतेश्वर बाहुबली रास' 'बुद्धि रास, 'जीव दया रास' 'चंदनबाला रास' 'जम्बू स्वामी रास' नेमिजिणंदरया रास' 'कच्छूली रास' 'समरा रास' तथा 'बीसल देव रास'।

(ख) छन्द-वैविध्य-परक-रासो परम्परा —'मुंज रास' 'सन्देश रासक' 'पृथ्वीराज रासो' हम्मीर रासो बुद्धि रासो 'परमाल रासो' 'विजयपाल रासो' राणा रासो रतन रासो 'कायम रासो' 'छत्र साल रासो' मांकड़ रासो समत सिंह रासो हम्मीर रासो'।

का चुम्बन कर के जीवित है।२। मो मुग्ध ! तुम मेरे भुज-बन्धन को छुड़ा कर जा सकते हो। यदि तुम मेरे हृदय से चले जाओ तभी (मैं) तुम्हें अपने से रुष्ट (विमुख) समझूंगी। [1] 'प्रबन्ध चिन्तामणि'[2] (मेरुतुंग समय लगभग १३०४ ई०) में भी मुंज से सम्बन्धित कथा का उल्लेख किया गया है। पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी के जैन प्रबन्धसंग्रहों की एक प्रतिलिपि का आधार ग्रहण करते हुए 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह'[3] (संग्रहकर्ता-मुनि जिनविजय) में मुंज से सम्बन्धित प्रबन्ध का संकलन किया गया है। इन समस्त सन्दर्भों से 'मुंज रास' के मूल स्वरूप का निर्धारण नहीं हो पाता। हेमचन्द्र के द्वारा संकलित दोहों के आधार पर यह निष्कर्ष तो निकाला जा सकता है कि इनके व्याकरण की रचना-अवधि के पूर्व ही मुंज से सम्बन्धित कथायें या किंवदन्तियां लोक-जीवन में प्रचलित हो चुकी थीं और इन किंवदन्तियों का आधार मुंज से सम्बन्धित कोई काव्य-ग्रन्थ रहा हो। परन्तु इसके आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वह रासक-परम्परा का काव्य-ग्रन्थ ही रहा होगा और उसका नाम 'मुंज रास' या 'मुंज रासक' रहा होगा।[4] इस सम्बन्ध में आपत्ति यह है कि इसके रचनाकार और इसकी रचना तिथि के विषय में हमें कुछ ज्ञान नहीं है। मुंज का समय अनुमान से ई० १००० १ ५४ माना गया है। सिद्धहेम' का समय सन् ११४० अनुमानित किया गया है। अत यदि मुंजराज से सम्बन्धित किसी काव्य की रचना हुई होगी तो उसकी रचना तिथि इन दोनों के मध्य रही होगी। 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में संकलित कतिपय अंशों को यहाँ लिया जा रहा है—

सायरु खाइ लंक गढ़ गढ़वइ दस सिर राउ।
भग्गक्खइ सो भज्जि गउ मुंज म करसि विसाउ॥
जा मति पच्छइ सम्पजइ सा मति पहिली होइ।
मुंज भणइ मुणालवइ विघन न वेढइ कोइ॥

१—सिद्ध हेम अनुशासन सम्पादक पी० एल वैद्य (पूना) पृष्ठ ७ ५।
२—प्रबन्ध चिन्तामणि (सिंघी जैन ग्रन्थमाला) पृ २१ २३।
३—पुरातनप्रबन्धसंग्रह (सिंघी जैन ग्रन्थ माला) पृ० १३ १५।
४—देखिए—हिंदी साहित्य द्वितीय खण्ड पृ० ११२।

मेरी व्यक्तिगत धारणा यह है कि ये ग्रंथ लोक-जीवन में प्रचलित किंवदन्तियों पर ही अधिक आधारित हैं, अतः इनकी प्रामाणिकता के लिए यथेष्ट प्रमाणों की आवश्यकता है।

उपदेश रसायन रास—'उपदेश रसायन रास' के रचनाकार जिनदत्त सूरि हैं। इस कृति में ग्रंथकी रचना तिथि का कोई उल्लेख नहीं है। जिनदत्त सूरि की एक अन्य रचना उपलब्ध हुई है जिसका नाम है, 'काल स्वरूप कुलक'। इस ग्रन्थ की रचना तिथि का उल्लेख प्रस्तुत अंश में मिलता है—

विक्कम सवच्छरि सय बारह ।
हुयइह पणइट्ठ गुहु घर बारह ॥
इस संसार सहावि भमंतिहि ।
पत्तहिं मुम्माह सुक्ख अणंतहि ॥[1]

अर्थात् इसकी रचना तिथि सम्वत् १२०० वि० है। डॉ० माता प्रसाद गुप्त की यह धारणा है कि 'उपदेश रसायन रास' इस कृति की पूर्व की रचना है।

भाषा की दृष्टि से 'उपदेश रसायन रास' अपभ्रंश की रचना है। यह १२ पद्यों की कृति है और यह 'चउपई' छंद में लिखी गई है। इस सन्दर्भ में एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि ग्रन्थ में इसके काव्य-रूप ('रास या 'रासक' नामक) का उल्लेख नहीं किया गया है। जिनपाल उपाध्याय ने इसकी टीका की है। टीकाकार ने इसे 'रासक-परम्परा' की कृति कहा है। उनके विश्लेषण के आधार पर यह पज्झटिका-बन्ध काव्य है और अनेक रागों में गेय है।[2] इसकी मूल संवेदना धार्मिक है और यह गेय-रूप में लिखित है। इसमें मनुष्य-जीवन के महत्त्व पर व्याख्या के साथ-साथ मनुष्य के उद्धार-मार्ग का भी वर्णन है।[3]

१—देखिए वही पृ० १०१।

२—अपभ्रंश काव्य त्रयी-गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज टीका 'छंद' २ ३ ४।

३—मुनि जिनदत्त सूरि की एक अन्य कृति 'चर्चरी' है। रचना ४७ वस्तु छन्दों में समाप्त हुई है। 'कालस्वरूप कुलक' में भयंकर दुष्काल का वर्णन है, साथ ही मनुष्यों के धर्मविरोधी आचरणों की निन्दा है। जिनदत्त सूरि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के 'खरतर गच्छ' के प्रतिनिधि आचार्य थे।

भरतेश्वर बाहुबली रासः—'भरतेश्वर बाहुबली रास' के रचयिता शालिभद्र सूरि हैं। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की रचना तिथि का उल्लेख इस रूप में किया है—

सम्वत एं बारह एताळि फागुण पंचमिइ एउ कीउ ए।२०३। अर्थात इसकी रचना तिथि सं १२४१ (सन् ११८४) है। इस काव्य का प्रधान रस वीर है। इसमें भरत तथा बाहुबलि (भगवान ऋषभ के पुत्रों) के मध्य राजसत्ता के लिए संघर्ष का आधार ग्रहण किया गया है। इसकी रचना २०३ छन्दों में हुई है। यह 'रासक-काव्य-परम्परा' की एक महत्वपूर्ण कृति है। इसकी भाषा अवहट्ठ है। कृतिकार ने इसके काव्य-रूप की ओर संकेत करते हुए कहा है—'हूं हिव पभणिसु रासह छंदिहिं।' इसमें प्रेम-तत्त्व भी पर्याप्त मात्रा में है। इस कृति से एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

चल चमाल करिमाल कुंत करवाल की हंडउ
भस्मकई सावल सबल-सेल्हल मसल पमंड (उ)।
सिंगिणि गुण टंकार सहित भाणावलि वाजई।
परगु सधारई करि धरइ भाला उल्लाळई॥

सन्देशरासक—'सन्देश रासक' अवहट्ठ की रचना है। भाषा की दृष्टि से यह हिन्दी की पूर्ववर्ती कृति है। परन्तु हिन्दी के 'रासक काव्य' स्वरूप के विकास के अध्ययन की दृष्टि से यह कृति ऐतिहासिक महत्व रखती है। साथ ही साथ भाषा के सन्धि कालीन स्वरूप (अपभ्रंश और हिन्दी के मध्य की भाषा) के अध्ययन के लिए भी इस रचना का विशेष महत्व है। इन्हीं दृष्टियों को सम्मुख रखते हुए इस कृति पर यहाँ विचार किया जा रहा है।

सन्देश रासक' के रचयिता अद्दहमाण (अब्दुलरहमान) हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में इन्होंने अपने परिचय के रूप में कहा है—

पच्चाएसि पहूओ पुव्व पसिद्धो य मिच्छदेसो त्थि।
तह विसए संभूओ आरद्दो मीरसेणस्स।
तह तणओ कुलकमलो पाइय कव्वेसु गीयविसयेसु।
अद्दहमाण पसिद्धो संनेहयरासयं रइयं।

पश्चिम में प्राचीन काल से अत्यन्त प्रसिद्ध जो म्लेच्छ देश है उसी प्रदेश में मीर सेन तन्तुवाय (आरद्) उत्पन्न हुआ। उसके पुत्र अद्दहमाणने जो अपने कुल का कमल था तथा प्राकृत-काव्य और गीत विषय में सुप्रसिद्ध था सन्देश रासक की रचना की है। कवि ने अपनी कृति को 'संनेह रायस' कहा है। विद्वानों ने 'संनेह रासक' का रूपान्तर 'सन्देश रासक' किया है। परन्तु ध्वनि परिवर्तन की सामान्य प्रवृत्तियों के अनुसार इसका रूपान्तर 'सस्नेह रासक' होना चाहिए।[1] कवि ने अपने को 'आरद् वंश' का कहा है। 'आरद्' शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता है। इस कृति के टीकाकार ने इस अंश की टीका करते हुए लिखा है 'प्रतीच्यां पश्चिम दिशि प्रभूत पूर्व प्रसिद्धो म्लेच्छनामा देशोऽस्ति तत्र विषये आरद्दो देशीत्वात् तन्तुवायो मीरसेनाख्य सम्भूतः उत्पन्न।' 'अर्थात् पश्चिम में म्लेच्छ नामक देश है। यह पूर्व में अति प्रख्यात है। वहाँ मीरसेन नामक जुलाहा (आरद्) उत्पन्न हुआ। 'आरद्' देशी शब्द लगता है। परन्तु 'देशी नाम माला' में इसका उल्लेख नहीं मिलता है। वैसे इस शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में होता है—(क) प्रचुर (ख) सतृष्ण (ग) पहले में आया हुआ। परन्तु लक्ष्मीचन्द्र ने टिप्पनक में इसका अर्थ 'जुलाहा' ही किया है। निम्न लिखित अंश से भी इसका स्पष्टीकरण होता है—

णिय कवित्तह विज्ज माहप्पु
पडिउ पयिडयणु मणुय अंमि कोलिय पयासिड।
कोऊहलिण भासियउ सरलभाइ संनेहरासउ।
तं आयणवि णिसि णिउ णयणिउणय करवि सणेहु।
पामर जण थूलक्खरहिं जं रयउ णिसुणेहु।

'अपनी काव्य विद्या के माहात्म्य और पाण्डित्य को बढ़ाने वाले इस सन्देश रासक की रचना मनुष्य लोक (जन्म) में कौलिक ने कौतूहलवश सरल भाव से की है। यह जान कर हे गुणजनो ! आप क्षण भर स्नेह कर पामर जन द्वारा स्थूल अक्षरों में रचित इस काव्य को सुनें। सन्देश रासक पृ० ५

प्रस्तुत अंश में अद्दहमाण ने अपने लिए 'कोलिय' शब्द का प्रयोग किया है जो जुलाहा का पर्यायवाची है।

१—सस्नेह रासक>सस्नेह रासय>संनेह रायस

अद्दहमाण अपने पूर्व की काव्य-परम्परा से परिचित थे। अत्यन्त विनयशील होकर अपने पूर्व के अपभ्रंश प्राकृत पैशाची एवं संस्कृत के कवियों को नमन करते हैं उनके काव्य तथा छन्द-वैभव के प्रति सम्मानभाव व्यक्त करते हैं—

पुव्वच्छेयाण णमो सुकईण य सद्दसत्थ कुसलाण ।
तियलोए सुच्छंदं जेहिं कयं जेहि णिद्दिट्ठं ॥
अवहट्टय-सक्कय-पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए ।
लक्खणछंदाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहिं ॥

'छन्द शास्त्र में कुशल प्राचीन विद्वानों और कवियों को मैं नमस्कार करता हूँ, जिनके द्वारा त्रिलोक के सुन्दर छन्द बनाए गए। जिन्होंने अपभ्रंश संस्कृत प्राकृत और पैशाची भाषा में कविता की तथा सुन्दर काव्य को लक्षण छंद अलंकार से विभूषित किया। इसके पश्चात् कवि अपनी रचनाशक्ति और उसके प्रति आस्था की व्यञ्जना करता है—

ताणणु कईण अम्हारि साण सुरसइ सत्थ रहियाण ।
लक्खणछंदपमुक्कं कुकवित्तं को पसंसेइ ॥
अहवा ण इत्थ दोसो जइ उइयं ससहरेण णिसिसमए ।
ता किं ण हु जोइज्ज भुवणे रयणीसु जोइक्खं ॥
जइ पयडुरिएहिं रविर्य सरसं सुमणोहरं च तरुसिहरे ।
ता किं सुबद्धवासा मा कायं कलरवं करउ ॥

'उन कवियों के सम्मुख हम जैसे श्रुति शास्त्र न जानने वालों की लक्षण रहित कुकविता की प्रशंसा कौन करेगा? अथवा इसमें कोई दोष नहीं क्योंकि यदि निशा में चन्द्रमा उदित होता है तो रात को घर में दीपक नहीं जलाये जाते हैं? यदि तरु-शिखरों पर बैठकर कोयलें सरस और मनोहर शब्द करती हैं तो क्या (घर की मुंडेरों) पर बैठकर कौवे कावँ-कावँ न करें?

सन्देश रासक का रचना-काल —

पाटन स्थित जैन भण्डारों से मुनि जिनविजयको सन् १९१२ में 'सन्देश रासक' की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई थी। सन् १९१८ में 'भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट' से इन्हें इस कृति की एक अन्य प्रतिलिपि मिली थी। इसमें

मूल पाठ की संस्कृत छाया 'अवचूरिका' भी संलग्न थी। सन् १९१९ में लोहावटी (मारवाड़) से उन्हें एक अन्य प्रतिलिपि मिली। इसके आधार पर डॉ॰ हरिवल्लभ भियाणी ने इसका सम्पादन किया[1]। अद्दहमाण ने अपने समय अथवा ग्रन्थ के रचनाकाल का कोई उल्लेख नहीं किया है। अतः इस कृति की रचना तिथि का स्पष्ट निर्धारण नहीं हो पाता है। अनेक ऐतिहासिक तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने यह निष्कर्ष प्रदान किया है कि 'सन्देश रासक' की रचना सिद्धराज या कुमार पाल के समय में हुई थी। उनका समय बारहवीं शताब्दी उत्तरार्ध या तेरहवीं शती पूर्वार्ध है। भाषा की दृष्टि से भी यह कृति इसी काल की रचना लगती है।[2] राहुलसांकृत्यायन इसे ग्यारहवीं शताब्दी की कृति मानते हैं (हिन्दी काव्य धारा)। डॉ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी उसे बारहवीं तेरहवीं शताब्दी की रचना मानते हैं। (हिन्दी साहित्य का आदि काल पृ॰ ६०)। श्री अगरचन्द नाहटा इसे पन्द्रहवीं शताब्दी की रचना मानते हैं।

सन्देश रासक का काव्य-रूप --

सन्देश रासक' रासक काव्य विधा की प्रतिनिधि रचना है। यह कृति तीन प्रक्रमों में विभक्त है। प्रथम प्रक्रम कवि-परिचय और काव्य-परिचय से संबंधित है। मूल कथा द्वितीय प्रक्रम से आरम्भ होती है। तृतीय प्रक्रम में विप्रलंभ के अन्तर्गत ऋतु वर्णन की महती चेतना मिलती है। तथा संयोग में ग्रन्थ की समाप्ति होती है। द्वितीय प्रक्रम में कथा की संविदता कवि इस रूप में प्रस्तावित करता है—

उत्तुंगथिरथोरथणि विरडक्कडि धयरट्ठगइहरि।
दीणाणणिहि पहु णिहइ जल पवाहपवहंति दीहरि ॥

1—सन्देश रासक—सम्पादक—श्री जिनविजय मुनि और हरिवल्लभ भियाणी। सिन्धी जैन ग्रन्थमाला प्रकाशक भारतीय विद्याभवन सं॰ २००१। संदेश रासक—सम्पादक डॉ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा विश्वनाथ त्रिपाठी—प्रकाशक हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर बम्बई ४। डॉ॰ माता प्रसाद गुप्त भी सन्देश रासक का सम्पादन कर रहे हैं। २ सन्देश रासक-भूमिका पृष्ठ ११।

विरहग्गि कणयंगितणु, तह सामलिमपवन्नु ।
णज्जइ राहि विडंबिअ ताराहिवइ सउन्नु ॥२५॥

—सन्देश रासक द्वितीय प्रक्रम ।

'विजयनगर की कोई सुन्दरी जो यौवन के सम्पूर्ण प्रस्फुटन में है, जिसकी कटि क्षीण है जो हंसगामिनी है—उसका मुख-मण्डल मलिन हो गया है। अश्रु-प्रवाह के साथ (प्रिय के) पथ देख रही है। उस रमणी का कंचन वर्ण शरीर विरहाग्नि से श्यामल हो गया है मानो राहु ने चन्द्रमा को ग्रस लिया है।' रमणी एक पथिक को देखती है। पथिक के माध्यम से कवि आठ गाथाओं में रमणी के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करता है—

कुसुम सराउह रूवणिहि, विहि णिम्मविअ परिट्ठ ।
तं णिएविणु पहिय णिहि, गहा मणिया अट्ठ ॥

'वह कामदेव के बाण के समान थी। रूपनिधि और रचनाकार की अद्भुत रचना उस रमणी को देखकर ममतापूर्ण पथिक ने आठ गाथायें पढ़ी।

इन आठ 'गाथाओं' में से यहाँ कतिपय उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत है —

रयणीसिम विह्मणो अमियंझरणो सुपुण्णसोमो य ।
अकलंक माइ वयणं बाहरणाहस्स पडिबिंबं ॥३१॥

'निशा के अन्धकार को नष्ट करने वाले अमृतवर्षी पूर्ण चन्द्रमा के समान उस रमणी का मुख निष्कलंकता में सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान है।

उच्चत्तण सिरेणिपु पयडियाइं अंगाइं तीहमि गुणविसेसं ।
को कविअणाण दूसइ सिट्ठं विहिणामि पुणरुत्तं ॥

'गौरवा (पार्वती) को बनाकर ब्रह्मा ने उससे भी अधिक गुणों के साथ नायिका के अंगों का गठन किया है। कवियों को कौन दोष दे सकता है जब ब्रह्मा ने स्वयं पुनरुक्ति की सृष्टि की है।

इन गाथाओं को सुनकर वह राजमरालगामिनी लज्जित हो जाती है। पद-अंगूठे से धरती खोदती हुई उस कंचन-वर्णी ने पथिक से जिज्ञासा की 'हे पथिक! अब तुम कहाँ जा रहे हो और तुम कहाँ से आ रहे हो?' वह प्रिय के पास सन्देश भेजने की उत्कण्ठा प्रकट करती है। वह सन्देश कहती है जो

समाप्त नहीं होता। पथिक कहता है 'हे मृगनयने! तपन तीर्थ समस्त दिशाओं में विख्यात है। सम्पूर्ण पृथ्वीपर वह मूल स्थान के नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ से गोप्य संदेशों को ग्रहणकर (गोपन सन्देश लेकर) प्रभु के आदेश से खम्भात जा रहा हूँ।' (६५)। इस कथन की प्रतिक्रिया रमणी पर जिस रूप में हुई (क्योंकि उसका प्रिय भी तो खम्भात ही में है।) उसका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

> पउ मावखि भिमि सिग्घु पहिय जइ दय करहि,
> कहउँ किंपि सविसउ पिय तुच्छक्खरहि।
> पहिअ भणइ कम्मंगि कहह कि रुण्णमपि
> कि खिज्जहि दिण रयणि उव्विग्गियमियणयणि ॥६८॥

'हे पथिक! यदि आपेक्षण (पैर) मोड़कर अर्थात् बैठकर दया करो तो प्रिय को थोड़े शब्दों (अक्षरों) में कुछ सन्देश कहूँ। पथिक कहता है हे कनकांगिनि! कहो रोने से क्या काम। उद्विग्न मृगनयने! तुम दिन-रात क्षीण क्यों होती जाती हो?'

इस प्रकार इस प्रसंग में विरहिणी की विकल वेदना अगणित भाव-आवेगों में मुखरित हुई है। विविध शब्दों में अपनी मनोव्यथा को पथिक के माध्यम से प्रिय के पास पहुँचाना चाहती है। उसके मन की आकुलता प्रिय के नैकट्य की कामना, और भावों के आकुल संस्पर्शों की तरलता इस अंश में काव्य-वैभव का शृंगार है।

पथिक से अपनी व्यथा की व्यञ्जना में मार्मिका लज्जा का अनुभव करती है। परन्तु वह अपनी व्यथा से असमर्थ है, वह अनुभव करती है कि यदि लज्जा करके वह मौन रह जाय तो उसकी जीवन-धारा अति दमनीय हो जायगी। वह सन्देश कहती है (६६-८१ छन्द) जो समाप्त नहीं होता। पथिक प्रस्थान की अभिलाषा व्यक्त करता है। विरहिणी के निवेदन पर वह पुन रुक जाता है। अनेक रूपों में अपनी मनोव्यथा को अंकित करने के पश्चात् अन्त में वह पथिक से कहती है—

विरहग्गि कणयंगितणु, तह सामलिमपवन्नु।
णज्जइ राहि विडंबिय, ताराहिवइ सउन्नु ॥२४॥

—सन्देश रासक द्वितीय प्रक्रम।

विजयनगर की कोई सुन्दरी जो यौवन के सम्पूर्ण प्रस्फुटन में है जिसकी कटि क्षीण है जो हंसगामिनी है—उसका मुख-मण्डल मलिन हो गया है। अश्रु प्रवाह के साथ (प्रिय के) पथ देख रही है। उस रमणी का कंचन वर्ण शरीर विरहाग्नि से श्यामल हो गया है मानो राहु ने चन्द्रमा को ग्रस लिया है। रमणी एक पथिक को देखती है। पथिक के माध्यम से कवि आठ गाथाओं में रमणी के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करता है—

कुसुम सराउह रूवणिहि, णिहि णिम्मविय गरिट्ठ।
तं पिक्खेविणु पहिय णिहि, गहा भणिया अट्ठ॥

'वह कामदेव के बाण के समान थी। रूपनिधि और रत्नाकार की महत्तम रचना उस रमणी को देखकर ममतापूर्ण पथिक ने आठ गाथायें पढ़ी।

इन आठ 'गाथाओं' में से यहाँ कतिपय उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत है —

रयणीतम विद्दवणो अमियमंऊरणो सुपुण्णसोमो य।
अकलंक माइ वयणं वासरणाहस्स पडिबिंबं ॥११॥

निशा के अन्धकार को नष्ट करने वाले अमृतवर्षी पूर्ण चन्द्रमा के समान उस रमणी का मुख निष्कलंकता में सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान है।

सयलज्ज सिरेविणु पयडियाइं अंगाइं तीइवि गुणविसेसे।
को कवियणाण दूसइ सिट्ठं विहिणावि पुणरुत्तं॥

'गौरव्या (पार्वती) को अम्लकर ब्रह्मा ने उससे भी अधिक गुणों के साथ नायिका के अंगों का गठन किया है। कवियों को कौन दोष दे सकता है, जब ब्रह्मा ने स्वयं पुनरुक्ति की सृष्टि की है।

इन गाथाओं को सुनकर वह राजमरालगामिनी लज्जित हो जाती है। पद-अंगूठे से धरती खोदती हुई उस कंचन-वर्णा ने पथिक से जिज्ञासा की 'हे पथिक! अब तुम कहाँ जा रहे हो और तुम कहाँ से आ रहे हो? वह प्रिय के पास सन्देश भेजने की उत्कण्ठा प्रकट करती है। वह सन्देश कहती है जो

समाप्त नहीं होता। पथिक कहता है 'हे मृगनयने ! तपन तीर्थ समस्त दिशाओं में विख्यात है। सम्पूर्ण पृथ्वीपर वह मूल स्थान के नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ से गोपन पत्रियों को ग्रहणकर (गोपन सन्देश लेकर) प्रभु के आदेश से खम्भात जा रहा हूँ। (६५)। इस कथन की प्रतिक्रिया रमणी पर जिस रूप में हुई (क्योंकि उसका प्रिय भी तो खम्भात ही में है।) उसका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

पउ मोडवि निमि सिवणु पहिय जइ खणु करहि,
कहउँ किंपि संदेसउ पिय तुच्छक्खरहि।
पहिय भणइ कमलंगि कहहु किं रुन्नयणि
किं खिज्जहि विण रयणि उविक्खिमियमियम यणि ॥६८॥

हे पथिक ! यदि आवेश्म (पैर) मोड़कर अर्थात् बैठकर क्षण करो तो प्रिय को थोड़ शब्दों (अक्षरों) में कुछ सन्देश कहूँ।' पथिक कहता है हे कमलांगिनि ! कहो रोने से क्या काम। उद्विग्न मृगनयने ! तुम दिन रात क्षीण क्यों होती जाती हो ?"

इस प्रकार इस प्रक्रम में विरहिणी की विकल वेदना अपरिमित भाव-आवेगों में मुखरित हुई है। विविध शब्दों में अपनी मनोव्यथा को पथिक के माध्यम से प्रिय के पास पहुँचाना चाहती है। उसके मन की आकुलता प्रिय के सैकल्प की कामना, और भावों के आकुल संस्पर्शों की तरलता इस ग्रंथ में काव्य-वैभव का शृंगार है।

पथिक से अपनी व्यथा की व्यञ्जना में नायिका लज्जा का अनुभव करती है। परन्तु वह अपनी व्यथा से असमर्थ है वह अनुभव करती है कि यदि लज्जा करके वह मौन रह जाय तो उसकी जीवन-धारा अति दयनीय हो जायगी। वह सन्देश कहती है (६९ ८१ छन्द) जो समाप्त नहीं होता। पथिक प्रस्थान की अभिलाषा व्यक्त करता है। विरहिणी के निवेदन पर वह पुन: रुक जाता है। अनेक रूपों में अपनी मनोव्यथा को अंकित करने के पश्चात् अन्त में वह पथिक से कहती है—

जत्थ गयो सो सुहओ तद्दिह जम्ह दिवसाउ अणिवत्ती ।
विज्झउ हियए पंथिय कालो कालुव्व परिणमइ ॥१२८॥
मुक्काऽहं जत्थ पिए डज्झउ गिम्हग्गिलेण जो गिम्ह ।
मलयगिरि सोसणेण य सोसिअउ सोसिया जेण ॥१२९॥

'जिस दिन से वह प्रिय (सुभग) गया है, उस दिन से मुझे अनिवृत्ति (उद्विग्नता) है। निश्चय ही समय हृदय में काल के समान लगता है। जिससे मैं प्रिय-त्यक्ता हुई वह ग्रीष्म अपनी अग्नि (ग्रीष्माग्नि) से जल जाये। जिसके द्वारा मैं शोषित हुई हूँ वह (ग्रीष्म) मलयगिरि समीर से सूख जाए।

तृतीय प्रक्रम में कवि षट् ऋतुवर्णन की योजना के द्वारा विरहिणी की अवस्था का चित्रण करता है। यह वर्णन उद्दीपन के रूप में हुआ है। और यह ग्रीष्म से आरम्भ होता जिसका क्रम इस रूप में है—

ग्रीष्म वर्णनम्, वर्षा वर्णनम्, शरद् वर्णनम् हेमन्त वर्णनम् शिशिर वर्णनम्, तथा वसन्त वर्णनम्। ऋतुओं के संश्लिष्ट व्यापार विधान की ओर कवि की दृष्टि यहाँ नहीं है। नायिका पथिक से विभिन्न ऋतुओं में अपनी मनोदशाओं के रूप ही प्रस्तुत करती है। और अपने भावों के नियोजन के लिए प्रकृति के भिन्न-व्यापारों को संकलित कर करती है। ग्रीष्म की तप्त वायु विरहिणियों को तप्त करती है चातक नवघन की कामना से पिउ पिउ करते हैं। सरिता का जल क्षीण हो जाता है। फल-भार से नमित सुन्दर सहकार वन और सुन्दर लगते हैं।

मउलन्तउ चामयम्मि पईसगु जं महइ,
तं सुयवर विरहिणिहि अंगु फरिसिउ दहइ ॥
पिउ चायइहि भणिअइ नवघण कंखिरिहिं ।
सलिल निवहु तुच्छत्तनु सरइ तरंगिणि हिं ॥
फलहारिण उन्नमिअउ मन्सहयार सुहि ।
कुंकुम रस अणसरिव्व पहुमिकर गंधवहिं ॥

सन्देश रासक —१३२।
—१३३।

वर्षा के वर्णन में कवि अधिक जीवन्त है। नव मेघों के समानान्तर उड़ने वाली बक-पंक्तियों का रूप विशेष मोहक लगता है। मयूर नृत्य करते हैं। पावस का उपसंहार करती हुई वह कहती है—

> णवमेहमाल मालिय णहम्मि सुरचाव रत्तविहि पसरो।
> णवसस्स धम्म इ ढोइएहिं पिय पावसं दुसहं ॥ १५१ ॥
> राय रुद्ध कंठमि विउसी बं सिचमि
> कह हुउ कह पिउ पत्थरगि णु न मुअस खणि।
> जइ णहु णिग्गउ जीउ पावपिंडिहि घडिउ
> हियउ न किम फिरि फुट्ट-उम्म वज्जिहि घडिउ।

'नवमेघ मालों से मण्डित नभ में इन्द्रधनुष और पृथ्वी तल को सघन आच्छादित किए हुए इन्द्रगोपों से दिशाओं का प्रसार आरम्भ हो गया है।'

'प्रिय ! पावस दुसह है। अनुराग से रुद्ध-कण्ठा (मैं) जब स्वप्नों से जगी तो कहाँ मैं और कहाँ प्रिय ! मेरे अंग प्रस्तर के बने हुए थे जो उसी क्षण मर नहीं गई यदि पाप-बन्ध से घटित जीव नहीं निकला तो हृदय ही क्यों नहीं फूट गया मानो यह भी वज्र का बना हुआ है। इसी प्रकार शरद हेमन्त शिशिर और बसन्त के वर्णन हैं। बसन्त के उन्मादपूर्ण प्रभावों के अंकन के प्रति कवि की दृष्टि विशेष सजग है। ऋतुवर्णन के द्वारा कथा को विकसित करने की चेष्टा भी की गई है।

इस प्रकार 'सन्देश रासक' 'क्षीण प्रबन्ध धर्मी' मुक्तक काव्य है और इसकी मूल अनुचेतना शृङ्गार मूलक है। इस कृति में युग के लोक-जीवन-स्वरूप का भी अंकन मिलता है। और ऋतु वर्णन और नगर वर्णन से उस समय के भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्त का पूरा परिचय मिलता है। रूपवर्णन प्रकृतिवर्णन इत्यादि में कवि पूर्व परम्परा का ही अनुसरण करता है।

सन्देश रासक' २२१ छन्दों का काव्य है। छान्दसिकता की दृष्टि से इसमें २२ प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। पिछले पृष्ठों में 'वृत्तजातिसमुच्चय' और 'स्वयंभूछन्दस' का उल्लेख किया गया है। इन कृतियों में रासक' के लक्षणों की चर्चा मिलती है। 'सन्देश रासक' में इनके द्वारा निर्धारित 'रासक' के सम्पूर्ण

प्रमाण उपलब्ध है। २२३ छन्दों में ८४ छन्द केवल रासा' है। इसके अतिरिक्त अन्य छन्दों की संख्या इस प्रकार है—

छन्द	संख्या
गाहा	४०
अडिल्ला	२४
पद्धडिया	२२
दोहा	१८
डोमिलय	९
कामिनीमोहन	२
चूडिल्लय	२
खडहडय	२
मालिनी	१
दुवइ	१
नन्दिनी	१
भ्रमरावली	१
संखोडय	१
रमणिज्ज	१

सन्देश रासक की भाषा

सन्देश रासक' परवर्ती अपभ्रंश अथवा अवहट्ठ की कृति है। इसकी भाषा की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख नीचे किया जाता है।

(क) संवृत अक्षरों (closed syllables) में सामान्य स्थिति में अ ध्वनि इ में परिवर्तित मिलती है। उदाहरणः—पथवर>पयहर, पयिहर।

तथा भायर जन संपुन्नु पसिहर नयरी (है पथवर नगरी बहुमत श्रेष्ठ जनों से परिपूर्ण है।)। सवगुणम् सिर>सगम्भिरसिर हो कायन्न पहुत सवम्भिरसिर अयमि। विरह लहु संविभासु कसम चीहर नयणि। (फिर पथिक के पास पहुँचकर दीर्घ नयना विरहिणी मधुर वाणी से विलास पूर्वक बोली)।

(ख) अनेक सम्पर्कों में इ ध्वनि अ में परिवर्तित मिलती है।

उदा० विरहिणि > विरहणि विरह्णि मह दहउ पुणबहु बिमुद्धउ रसियह रस संजी वयरो (विरहिनियों के लिए मकरध्वज रसिकों के लिए विशुद्ध रस संजीवक है)।

(ग) अकारान्त पुल्लिंग प्रातिपदकों की उ विभक्ति स्वार्थे प्रत्यय के साथ संलग्न होने पर लुप्त हो जाती है—उदा० पेम मुणिय परवेयण निन्नेहह चलह

मलिणिविणु कहि व्वउ इहद तह बलइ ।

'उस स्नेहहीन ने चलते हुए मेरी वेदना नहीं सुनी उस पल मे एक मालिनी वृत्त कहना'।

(४) द्वितीय और तृतीय पर्व की मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा में प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के स्वर मध्य स्पर्श व्यञ्जनों का लोप होने लगा था फलस्वरूप सम्पर्कित स्वरों (vowels in contact) की प्रवृत्ति की उद्भावना हुई। अन्य प्रक्रियाओं के साथ-साथ आधुनिक भारतीय आर्य भाषा में सम्पर्कित स्वर समीकृत होने लगे थे। यह प्रवृत्ति 'सन्देश रासक' की भाषा में मिलती है।

उदा० स्वर्णकार > सुनआर > सुन्नार ।

सुन्नारह जिमि महहियउ पिय उक्किव करेइ (सुनार के समान मेरा हृदय सर्वप्रथम प्रिय की उत्कण्ठा उत्पन्न करता है)।

सहकार > सहआर > साहार ।

कह पल्लव भुल्लति समुट्ठिय करुण झुणि

हुउ किम णिस्साहार पहिय साहार बणि ।

'वे (कीर) पल्लव के साथ झूलते हैं तो करुण ध्वनि उठती है। पथिक! सहकार वनने मुझे निस्साधार कर दिया ।

(५) सन्देश रासक की भाषा में 'य' श्रुति (y glide) की प्रधानता मिलती है—

उदा० मद > मअ > मय ।

वइ मयमत्तु मउ मरए कमक मउ मरए कमल बलब्ब हलमंथ दुप्पिच्छो ।

इसी प्रकार 'व' श्रुति के भी व्यापक उदाहरण मिलते हैं।

यथा० स्तुति > थुइ > थवइ ।

धूसर कोमल गवइ दुरवत्त ।

केतकी > केअइ > केवइ ।

केवइ वाह कंदुदम अनुरत्ता समण ।

(६) द्वित व्यञ्जन के सरलीकरण (Simplification of double Consonants) के उदाहरण दो रूपों में मिलते हैं—

(१) पूर्व की लघु स्वरध्वनि को बिना दीर्घ किए हुए—

कर्णिकार > कण्णिआर > कणयार

चूड़ा+छल्ल > चूडिल्लउ

(२) पूर्व की लघु स्वरध्वनि को दीर्घ करके —

उदा० उच्छ्वास > ऊसास

निस्सरति > नीसरइ

(७) कर्तृवाचक संज्ञा रचना के लिए —यर प्रत्यय का प्रयोग 'सन्देश रासक' की भाषा की एक प्रमुख विशेषता है—उदा० दीवयर (२२) संबोवयर (२२) उन्हावयर (१७)। हिन्दी के कर्तृवाचक प्रत्यय-एरा (लुटेरा चितेरा) का विकास इसी प्रत्यय से हुआ है।

(८) सम्बन्ध कारक के लिए—ह का सविभक्तिक प्रयोग किया गया है। पवसंतह, (७) विरहंतह ।

(९) सर्वनाम प्रथम पु० कर्ता एकवचन हउ हउँ, मध्यम पुरुष तुहु तुँ

कर्म ,,	मइ	
करण	मइ	तइ
अधिकरण	मइ	पइ
सम्बन्ध	मह	

बहुवचन —करण अम्हहि, तुम्हेहि, तुम्हि

सम्बन्ध = अम्ह

(१०) संख्या वाचक —इक्क, एम (१८) बे बिन्नी (८५) तिउण्ण (त्रिगुणा) दु चिय (११२ दोनों) ति (१८) चउव्वली (१२६)।

(११) क्रिया—

(क) आज्ञार्थ में इ (१६) हि, इहि का प्रयोग मिलता है। (मध्यम पु० एकवचन) अमु = कहसु (८२) कहि कहह (१८) अन्य पुरुष एकवचन

के लिए—अउ का प्रयोग मिलता है—उदा॰ होउ, (२) सिज्मउ चयउ इत्यादि।

मध्यम॰ बहु॰ के लिए—अहु का प्रयोग मिलता है—उदा॰ पुच्छहु मिलुणहु।

(ख) वर्तमान कालिक कृदन्त के लिए—अन्त का प्रयोग नियमित रूप से मिलता है—उदा॰ उम्मिल्लन्तो (१००) मोडंत (६२)।

(ग) इच्छार्थ के लिए—इज्जउ (छज्जिज्जउ), इज्जसु (पढिज्जसु, कहिज्जसु) आदि रूप मिलते हैं।

(घ) भविष्य के लिए—स और-ह रूप मिलते हैं।

इसु (प्रथम) इसि इहसि इहइ, इत्यादि।

(१२) कर्मवाच्य के लिए निम्नलिखित तीन रूप प्रयुक्त मिलते हैं—

(क) इय (ख) इज, (ग) ईस। इनके अतिरिक्त इ रूप भी मिलता है—मिजइ रिजइ सिज्जइ, पज्जइ।

(१३) प्रेरणार्थ और नामधातु—प्रेरणार्थक के लिए 'आव' प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। 'भ्यावमान' व 'कवामियइ, 'तिलक' से तिलकिकवि' (१६८) 'वमिय' से 'वमिज्जइ' आदि नाम धातु हैं। ये 'सन्देश रासक' में व्यापक रूप में प्रयुक्त है।

(१४) परसर्गीय शब्दावली:—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के कतिपय संयोगात्मक रूपों के अवशेष 'सन्देश रासक' की भाषा में मिलते हैं। परन्तु नवीन कारक चिह्नों के रूप में निम्नलिखित शब्द विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं

(क) मज्झिहि (अधिकरण):—विविह विअक्खण-मज्झिहि कर मक्कियइ (४३)।

(ख) हुंतउ द्विभ्यउ रेसि—उदा॰ हिमउ तिट्टउ (हृदय स) कुकविस रसि।

(ग) सरिस (>सम) उदा कमय सरिस।

(घ) तणि इस परसर्ग का प्रयोग सम्बन्ध कारक के अर्थ में होता है, उदा॰ मह्तणि, महुतणि, इत्यादि।

बीसलदेव रासो—'बीसलदेवरासो' के रचयिता नरपति नाल्ह हैं। प्रस्तुत कृति की रचना तिथि के विषय में लेखक ने स्वयं लिखा है:—

बारह से बहोत्तराहाँ मंझारि।
जेठ बदी नवमी बुधिवारि ॥

मास्ह रसाइन आरम्भई।
सारदा तूठी ब्रह्म कुमारि ॥
कासमीरां मुख मंडनी।
रास प्रयासों बीसल दे राइ ॥

एक अन्य प्रतिलिपि म इसकी रचना तिथि प्रस्तुत रूप में प्रस्तावित है—

संवत सहस सतिहुत्तरई जाणि।
नल्ह कवीसरे कही अमृत वाणि ॥
गुण गुण्यउ चउहाण रा।
मुकुल पस पंचमी श्रावण मास ॥
रोहिणी नक्षत्र सोहामणउ।
सो दिन मिथि जोतसी जोइइ रास ॥

एक अन्य प्रति में इस कृति की रचना तिथि का निर्देशन इस रूप में मिलता है—

संवत तेर सतोत्तरइ जाणि
सुक पञ्चमी नइ श्रावण मास
हस्त नक्षत्र रविवार सुं।

एक अन्य प्रति में रचना तिथि का उल्लेख इस रूप में हुआ है—

संवत सहस तिहुत्तरइ जाणि
नाल्ह कवीसरि सरसिय वाणि।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'बारह सै बहोत्तराहां' का अर्थ संवत् १२ लेते हैं[1]

१—बारह सै बहोत्तरां का स्पष्ट अर्थ—१२१२ है। 'बहोत्तर' 'द्वादशोत्तर' का रूपान्तर है। अतः 'बारह सै बहोत्तरां' का अर्थ 'द्वादशोत्तर बारह सौ' से है। गणना करने पर विक्रम संवत् १२१२ में ज्येष्ठ बदी नवमी को बुधवार पड़ता है। कवि ने रासो में सर्वत्र वर्तमान काल का ही प्रयोग किया है जिससे वह बीसल देव का समकालीन जान पड़ता है—
हिन्दी० सा० इ० पृ० ३२ ३२।

डॉ० तारक नाथ अग्रवाल ने संवत् १०६१ की तिथि को स्वीकार किया है। अगरचन्द नाहटा ने विभिन्न प्राप्त प्रतियों के अनुसार प्रस्तुत तिथियों का निर्धारण किया है। सम्वत् १०७३,१०७३, १२१२, १३०७, ११७७। मिश्र बन्धुओं ने सं० १२२० लाला सीताराम ने १२७२ सत्य जीवन वर्मा ने १२१२ गौरी शंकर हीराचन्द ओझा ने इसे संवत १०३० १०२६ के मध्य की रचना माना है। इन दृष्टियों से 'बीसलदेव रासो' की रचना बीसलदेव के १२६ वर्ष पश्चात् हुई[1]।

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा इसे चौदहवीं शती विक्रम की रचना मानते हैं।[1] डॉ० राम कुमार वर्मा इसे सं० १०७३ की रचना मानते हैं।

भिन्न-भिन्न प्रतियों का आधार ग्रहण करते हुए डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने 'बीसलदेव रासो' के रचनाकाल से सम्बन्धित निम्नलिखित तिथियों की प्रस्तावना की है।

(१) चै० सं० १०३३।
(२) म० सं० १०७३।
(३) म० स० १३७३। } 'तेर समोतर' में म का भिन्न अर्थ
(४) ,, सं० १३०६। } लिए जा सकते हैं।
(५) ,, सं० १२७२। } बारह सौ बहोत्तराहा' में म बाना
(६) सं० १२१२। }

अर्थ लिए जा सकते हैं। इस तालिका को प्रस्तुत करते हुए डॉ० गुप्त ने आगे कहा है "चैत्रादि और कार्तिकादि—दो प्रकार के वर्षों के अनुसार इन छः की बारह तिथियाँ बन जाती हैं और यदि गत और वर्तमान संवत् लिए जावें तो उपर्युक्त ये कुल चौबीस तिथियाँ होती हैं'।[3] वस्तुतः इन विभिन्न तिथियों के आधार पर 'बीसलदेव रासो' की रचना तिथि का निर्णय सम्भव नहीं लगता है। बहुत सम्भव है इस काव्य का विकास लोक-जीवन में मौखिक परम्परा से

१—राजपूतों का इतिहास भूमिका पृ० ११।

—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० १४०।

३—बीसलदेव रास द्वितीय संस्करण पृ० १६ १७।

हुआ हो। और मूल रचना के पर्याप्त समय बाद इसे पुनः लिपिबद्ध करने के अनेक प्रयत्न हुए हों। डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने इस कृति के विकासशील स्वरूप की कल्पना की है। 'बीसलदेव रास' के सम्पादन में उन्होंने केवल एक सौ अट्ठाईस छन्दों का आधार ग्रहण किया है। उनकी यह धारणा है कि 'बीसलदेव रास' का मूल रूप इन्हीं छन्दों में रहा होगा। इस कृति के स्वरूप विकास की चार अवस्थाओं की भी कल्पना इन्होंने की है। प्रत्येक अवस्था के लिए पचास वर्षों की अवधि के अन्तर की प्रस्तावना की गई है। अपने निर्धारित पाठ-परम्परा के अनुसार डॉ० गुप्त ने प्रथम प्रतिका काल सं० १६६१ १४३३ के मध्य माना है। तथा संवत् १४०० को 'बीसलदेव रास' का रचनाकाल स्वीकार किया है। इस सन्दर्भ में अपनी धारणा का अधिक व्यापक रूप में स्पष्टीकरण करते हुए डॉ० गुप्त ने लिखा है 'एक अन्य प्रकार से विचार करने पर ग्रन्थ की रचना १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होने का अनुमान होता है। इसके पाठ की एक प्राचीन तम विद्यमान प्रति सं १६६६ (सन् १६०९) की है और एक दूसरी शाखा की सं १६६९ (सन् १६१२ ई) की। पाठ-परम्परा पर विचार करने पर दिखाई पड़ता है कि सं० १६३३ (सन् १६०९) की प्रति तक मूल से पाठ की कम से कम चार स्थितियाँ पड़ी होंगी और इसी प्रकार सं० १६६९ (सन् १६१० ई) की प्रति तक मूल रचना से पाठ तक दो स्थितियाँ कम से कम पड़ी होंगी। यदि प्रत्येक स्थिति के लिए ५० वर्षों का समय रक्खा जाय जो मेरे विचार से अधिक नहीं है—तो एक शाखा के अनुसार मूल पाठ का समय सं० १४३३ (सन् १३७६ ई०) तथा दूसरी शाखा के अनुसार सं १६६९ (सन् १६१२ ई०) के लगभग ठहरता है। यह तो प्राप्त प्रतियों के आधार पर हुआ। असंभव नहीं कि और प्रतियाँ प्राप्त होने पर बीच में एकाध स्थितियाँ और भी निकल आएँ। ऐसी दशा में दोनों तिथियों में से सं० १६६६ (सन् १६१२ ई०) के लगभग की तिथि अधिक मान्य प्रतीत होती है।'[1]

१—हिन्दी साहित्य द्वितीय खण्ड पृ० १०८।

श्री मोतीलाल मेनारिया ने 'बीसलदेव रासो' के भाषा-स्वरूप का आधार ग्रहण करते हुए कहा है कि यह कृति सोलहवीं शताब्दी की है।[२] श्री अगरचन्द नाहटा ने भी इसी विश्वास का समर्थन किया है।[३] मेनारियाजी ने यह भी कहा है कि 'बीसलदेव रासो' का रचयिता गुजरात का एक कवि है जिसने सं० १५५५ वि० (सन् १४८८ ई०) तथा सन् १५०१ ई० में दो अन्य ग्रन्थों की रचना की है। मेनारिया जी ने गुजराती कवि नरपति की कतिपय पंक्तियों को प्रमाण-स्वरूप उद्धृत भी किया है।[४]

नाहटा और मेनारिया का निष्कर्ष 'बीसलदेव रासो' के नागरी प्रचारिणी वाले संस्करण पर आधारित है। यह संस्करण विश्वसनीय नहीं है। इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता है। डॉ० माताप्रसाद[५] गुप्त ने 'बीसलदेव रास' का सम्पादन किया है। डॉ० तारकनाथ[६] अग्रवाल ने भी इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। ये सम्पादन अधिक वैज्ञानिक हैं। इनमें भाषा का जो स्वरूप प्रस्तावित है, उसके आधार पर हम यह निर्णय ले सकते हैं कि यह कृति चौदहवीं शताब्दी में लिखी गई है।

'बीसलदेव रास' के रचयिता नरपति नाल्ह और गुजरात के नरपति क्या एक ही व्यक्ति हैं यह प्रश्न विचारणीय है। इस सम्बन्ध में निर्णय सरलता से नहीं दिया जा सकता। डॉ० गुप्त ने वस्तु स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनका निष्कर्ष इस प्रकार है—

(क) गुजरात के कवि ने अपने लिए 'नाल्ह' का प्रयोग नहीं किया है। 'बीसलदेव रास के कवि ने अपने को 'नरपति नाल्ह' कहा है।

(ख) जो सात पंक्तियाँ तुलना के लिए दोनों कवियों से दी गई हैं उनमें से चार तो 'बीसलदेव रास' के निश्चित रूप से प्रक्षिप्त छंदों के हैं। शेष तीनों में

२—राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ० ८७-८८।

३—राजस्थानी जनवरी १९४०।

४—राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ० ८८-८९।

५—बीसलदेव रास हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय प्रयाग।

६—बीसलदेव रासो हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय—वाराणसी।

जो साम्य है वह साधारण है उस प्रकार और उतना साम्य देखा जाय तो मध्ययुग के किन्हीं भी दो कवियों मिल सकता है।[1]

डॉ० गुप्त का द्वितीय निष्कर्ष अधिक वैज्ञानिक प्रमाणों की अपेक्षा रखता है। गुजरात के नरपति जैन धर्मावलम्बी थे। इनकी जिन रचनाओं का उल्लेख किया गया है वे जैन धर्म से सम्बन्धित हैं। 'बीसलदेवरासो' का कवि जैन मतावलम्बी नहीं है और प्रस्तुत कृति शृंगार मूलक रचना है। इन तथ्यों से वस्तु स्थिति का स्पष्टीकरण हो सकता है।[2]

कवि कथा के अन्त में कहता है —

जिउँ राजा राणी सु मिल्या।
तिम एव संसार मिलिज्यो सहुकोइ॥

'सन्देश रासक' के कवि ने भी कथा के अन्त में इसी प्रकार की भावना प्रकट की है—

जेम अचिंतिउ कज्जु तसु सिद्धु खणद्धि महंतु।
तेम पढंत सुणंतयहं जयउ अणाइ अणंतु॥ २२३॥

बीसलदेव रासो का काव्य-सौन्दर्य

'बीसलदेव रासो' रासक-काव्य परम्परा की प्रतिनिधि रचना है। विरहांक तथा स्वयंभू की रासक-विषयक जिन परिभाषाओं का उल्लेख किया जा चुका है उनके अनुसार 'बीसलदेव रासो' का मूल्यांकन सम्भव नहीं लगता है। परन्तु

१—हिन्दी साहित्य द्वितीय खण्ड पृ० १०१

२—राजस्थानी साहित्य के इतिहास की रूप रेखा (मोतीलाल मेनारिया १९३९) में लेखक ने लिखा है हिन्दी भाषा के आदि स्वरूप और उसकी अविकसित अवस्था का बहुत कुछ आभास हमें इस ग्रन्थ द्वारा मिलता है। पुनः नाहटा ने 'बीसलदेव रासो की हस्तलिखित प्रतियाँ' शीर्षक लेख (राजस्थानी जनवरी १९४०) में ग्रन्थ की भौगोलिक ऐतिहासिक और भाषा-तत्त्वों का विश्लेषण करके ग्रन्थ की प्रामाणिकता का खण्डन किया है। स्वर्गीय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका-वर्ष ४७ ५४ सं० १९९९ २००१ में 'बीसलदेव रासो की व्यापक आलोचना की है। इससे नाहटा जी की शंकाओं का समाधान होता है। विशेष अध्ययन के लिए इन सन्दर्भों को देखें।

'रासक काव्य' की प्रधान वृत्तियाँ इस कृति में उपलब्ध हो जाती हैं। इस कृति में छन्दों की विविधता नहीं है। इसमें केवल एक ही प्रकार का छन्द प्रयुक्त है। डॉ० माता प्रसाद गुप्त इसे अस्त व्यस्त निबद्ध परम्परा की कृति मानते हैं। डॉ० गुप्त के वर्गीकरण के सिद्धान्त के प्रति विचार प्रकट किया जा चुका है। परन्तु यदि उनके वर्गीकरण की स्थूलता के प्रति आग्रह ही प्रकट किया जाय तो इसे 'अस्तव्यस्त निबद्ध परम्परा' की अपेक्षा 'एक रूपक निबद्ध रासक-काव्य-कृति' की संज्ञा दी जानी चाहिए। वास्तविकता यह है कि 'बीसलदेव रासक' का विकास 'गेय रासक काव्य' के रूप में हुआ है और अपनी रचना के अनेक वर्षों पश्चात् यह कृति लिपिबद्ध हुई है।

'बीसलदेव रासो' एक कोमलकान्त 'रासक काव्य' है। अपने मूलरूप में यह एक प्रमगीत है जो विप्रलम्भ की संवेदना पर विकसित है। इस कृति में बीसलदेव तथा राजमती दाम्पत्य-सुख की घटना के आधार विरह-रूप में ग्रहण किया गया है। बीसलदेव का राजमती से रूठकर उड़ीसा जाना और बारह वर्षों के पश्चात् लौट आना—यही इसकी कथा है। परन्तु इसमें कथा का विशेष महत्त्व नहीं है। विरहिणी नायिका का प्रवास में गए पति के पास किसी पथिक या अन्य व्यक्ति द्वारा सन्देश भेजने की रूढ़ि का प्रयोग भारतीय साहित्य की एक प्रमुख विधा है। कालिदास के 'मेघदूत' में मेघ का प्रयोग दूत के रूप में हुआ है। 'सन्देश रासक' में इस रूढ़ि का प्रयोग किया गया है। अत बीसलदेव रासो इसी धारा की कृति है।

'बीसलदेव रासो' का कवि भारतीय काव्य-रूढ़ि का अनुसरण करते हुए आरम्भ में गणेश वन्दना करता है—

गवरिका नंदन त्रिभुवन सार।
गाव मेवइ वारइ वरर भंडार॥
एक दंतउ मुनि मुखहसइ।

इस वन्दना के पश्चात् कवि इति भी मुख्य संवेदना की ओर संकेत करता है—

हंस गमणि मृगलोयणी नारि।
सीस समारइ दिन मणइ॥

× × × ×

कोइ सिरजी उलगाणोरी नारि।
खाइ विहाळउ रे मूरछा॥

बीसलदेव रास' का आरम्भिक अंश केवल उपक्रम है। कृति की मूल संवेदना द्वितीय प्रक्रम से आरम्भ होती है। यह अनुचेतना पुरुष और नारी की सहज मनोवैज्ञानिक भाव अनुप्रेरणाओं पर अवलम्बित है। नव परिणीता के सम्मुख प्रणयव्याकुलता की अपेक्षा वह अपने वैभव का अभिमान प्रकट करता है। यह सामन्तवादी मनोगठन की विशेषता है। वैभव से राजमती को प्रभावित करने के प्रयत्न का वर्णन प्रस्तुत पंक्तियों में किया गया है—

गरब करि बोलियउ संइभरि वाल।
मो सारिषउ नहिं अवर भुआल॥
म्हा घरि संइमरि उगहइ
चिहुं दिसइ थाणा रे जेसल मेर।
राज तुरीया पापर पड़इ,
गोरी रावळउ वरसणउ गढ़ अजमेरि।

राजमती प्रत्युत्तर देती है 'हे सॉभरवाल गर्व न करो तुम्हारे समान अन्य भूपाल भी हैं एक [तो] उड़ीसा का स्वामी है। उसके घर हीरे की खानें हैं। उड़ीसा के राजा के वैभव का उल्लेख सुनते ही बीसलदेव को आघात लगता है। उसके पुरुष मन में शंका जाग्रत होती है। वह कहता है, 'हे गोरी तेरा जन्म जैसलमेर में हुआ विवाह अजमेर में हुआ। तू बारह बरस की छोरी है और कहाँ उड़ीसा और जगन्नाथपुरी है। मैं जल छोड़ता हूँ और पानी लगता हूँ। तू अपने जन्म की वार्ता कह। इस सन्दर्भ में कवि राजमती का रूपवर्णन करता है और लोक तत्त्वों का समावेश करता है। बीसलदेव के प्रत्युत्तर में राजमती अपने पूर्व जन्म की कथा कहती है। इस रूप-वर्णन में कवि परम्परा गृहीत उपमानों का प्रयोग करता है —

जनम मांगिउं स्वामी भाल कइ देसि।
राज कुंवरि अमह रूप सवेसि।
रूप निरूपम मेदिनी।
पहिरमइ चोवटी मीमइ रे लंकि।
माछी गोरी घण पातली।
अहर प्रवालीय नइ दाडिम दंत।

राजमती नारी की नैसर्गिक अनुभूतियों से पूर्णतः संस्पर्शित हो जाती है। वह अपने प्रिय की अहमन्यता के सम्मुख अपने को नत कर लेती है, क्योंकि दाम्पत्य जीवन की गरिमा के प्रति उसमें मोह है। वह यह अनुभव करती है कि अपने प्रत्युत्तर से उसने अपने पति को आघात पहुँचाया है। बीसलदेव प्रवास की प्रस्तावना करता है। राजमती उसे समझाती है। वह अपने पीहर से हीरों के लाने का प्रलोभन देती है। बीसलदेव का आहत अहं इससे सन्तुष्ट नहीं होता। वह प्रवास के लिए तत्पर है। राजमती की नारी-चेतना आकुलता में परिवर्तित हो जाती है। विप्रलम्भ की आशंका से उद्वेलित राजमती का स्वरूप विधान कवि अनुभूतियों की तीव्रता द्वारा व्यञ्जित करता है।

चालिस्यउ उलगाणउ मण जाण न देइ।
मो मइ मारि कइ सरिसीय लेइ।
अंचल ग्रहि धन इम कहइ।
दुइ दुख साभइ हो सामीय सांभ।
जोबन मुरडीय मारिस्यइ।
दोस दिस्यउ मइ सायम बाम्भ।

प्रवासी चला परन्तु स्त्री उसे जाने नहीं देती। वह कहती है, 'या तो मुझ मार डाल या तो साथ ले चल। उसका उत्तरीय पकड़ कर राजमती इस प्रकार कह रही है, 'हे स्वामी सन्ध्या समय मुझ को दुख पीड़ा पहुँचाते हैं। एक तो यौवन जो मुझ मरोड़ कर मारता है। दूसरा संतान हीन होना।

हम स्पष्ट देखते हैं कि इस सन्दर्भ में कवि ने दाम्पत्य की सहज अभिकार जन्य अनुप्रेरणाओं के द्वारा प्रणयी-युगल की शृङ्गारपूर्ण [illegible] अनुभूतियों

का चित्रण किया है। प्रणय की कुहेलिकाओं में वियोग की भावी सम्भावनाओं का अंकन काव्य-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य की उद्भावना करता है। अति संप्रधानावली में कवि ने संस्पर्श के प्रभावों का भी अंकन किया है। राजमती संस्पर्श से बीसलदेव उच्छ्वसित हो उठता है। भावना तथा तर्क के मध्य उसकी स्थिति द्वन्द्वात्मक हो उठती है।

छोड़ि गइ गोरी तूं दे मुझे आण।
बरस दिन रहुँ तउ थारली आंण
कठिन पयोहर दिन किया।
हसि करि गोरडी कहिसु विचार।
एक दिन सुर नर हुआछइ छार।

'गोरी तू मुझे छोड़ मुझे जाने दे। यदि मैं बरस दिन रहूं तो मेरी शपथ तुमने अपने कठिन पयोधरों पर अग्नि रख लिया है। गोरी तू हँस कर अपने विचार कह। यह दिव्य अग्नि तूने बढ़ाकर रक्खा है। इस अग्नि में सुर-नर सभी क्षार हो चुके हैं।

राजमती सह-धर्मिणी है। वह मानिनी भी है। उसका मान अधिकार जन्य अभिमान पूर्ण है बीसलदेव उसकी अवमानना करता है। राजमती का अभिमान आहत होता है। वह मर्माहत होकर कहती है—

थाकी हो स्वामी म्हे थारी हो आस।
मस्का हो बारह सिकउ वेसास
बांधी करि अणि नमि गिणी
म्हाकी सगा सुणीला मांई बीपी थे भाम।
बीसल की मूर्या मरद
मार्ड् हो बली तुम्हारडा मास।

इस प्रकार की वर्णन प्रणाली में कवि ने लोक प्रचलित मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग किया है। इन प्रयोगों से वचन भंगिमा एवं मानसिक प्रतिक्रिया का उद्घाटन कवि सफलतापूर्वक कर देता है। राजमती अपनी ही भावनाओं का मूल्यांकन कर पाती है। बीसलदेव के आहत मन को वह समझने का

प्रयास नहीं करती। बीसलदेव के आहत मन का परिचय उसके ही कथन से स्पष्ट हो जाता है।

कठुआ बोल न बोलि हे नारि
मह तुम्हे मेल्हीस हे चितह विसारि,
जीभ नवी नहु मीकलइ
दव का दाधा मो कूपल लेइ
जीभ का दाधा न पाल्हवइ।

अग्नि-दग्ध (वृक्ष) तो पुनः पल्लवित होता है परन्तु वचन-दग्ध (व्यक्ति) पल्लवित नहीं होता।

बीसलदेव चला जाता है। वियोगिनि राजमती को सात सहेलियाँ समझा रही है। परन्तु उनकी वाणी में सहानुभूति की अपेक्षा व्यंग ही अधिक प्रकट है। वे कहती है 'यदि नारी में गुण हों तो पुरुष विदेश क्यों जाय? राजमती इस व्यंग को समझती है। वह अत्यन्त संयमित शब्दों में उत्तर देती है। 'चरते हुए मृग को मोहित कर लीजिए—पर स्वामी को अञ्चल में कैसे बाँध लें? सखियाँ इस संकेत को ग्रहण नहीं कर पाती हैं। अतः उसे अति स्पष्ट शब्दों में कहना पड़ता है—

सात सहेलीय सुभउ म्हारीय बात
कंचूउ खोलि दिखाड़िया गाभी,
जा दीठां मुनिवर चलइ
म्हकउ मूरख रावण जाणए सार
भीमीं चरित महस रूप किया
राउ नहीं खवी भई पीहार।

वह अति स्पष्ट शब्दों में अपने को व्यक्त कर देती है। सखियों ने उसके दाम्पत्यधर्म रूप लावण्य और नारी मनोविज्ञान पर व्यंग किया था, अतः इस प्रकार का कथन उसके लिए अनिवार्य हो गया था।

इसके पश्चात् कवि प्रकृति वर्णन की योजना करता है। 'बारह मासा वर्णन प्रणाली के अन्तर्गत प्रकृति-वर्णन उद्दीपन-रूप में किया गया है। वह पर

भ्रंश अपभ्रंश में मिलती है। इसका उल्लेख पीछे हो चुका है। बीसलदेव रास में प्रकृति वर्णन कार्तिक मास से आरम्भ होता है और आश्विन में समाप्त हो जाता है। वर्णन की विधा में प्रकृति का संश्लिष्ट और रंग रूप और उसके सौन्दर्य का गत्यात्मक रूप सम्मुख नहीं आ सका है। प्रकृति का सम्पूर्ण क्रियात्मक आवेग विरहिणी को तीव्रता के साथ संचालित नहीं कर पाता। इस कृति में परिगणना या इतिवृत्ति की प्रणाली ही विशेष रूप से ग्रहण की गई है। प्रकृति की भूमिका पर नाना भावनाओं की उद्भावना 'सन्देश रासक' में मिलती है। इस ओर हम संकेत कर चुके हैं। परन्तु 'बीसल देव रासो' में इस सम्भावना का विकास नहीं हो सका है। प्रकृति के उन्मेष की अपेक्षा कवि नायिका की संवेदना पर ही अधिक केन्द्रित रहता है। परन्तु आरम्भिक चित्रों में वर्णन की नैसर्गिकता विशेष आकर्षण पूर्ण है। इनमें चित्रात्मकता का आग्रह भी है नायिका की विकलता की व्यंजना की चेष्टा भी है। उदा०—

फागुण फरहरया कंपिया रूप।
विरह चमकिमउ निसि दिन न भूप।
दिन ममो ऋतु पाछटी।
म्हाकउ मूरष राउ वेपइ आइ।
जीवउ तउ जोवन धही।
फरहरइ चिहुँ दिसि वाजइ छइ वाइ।

इस संदर्भ में जायसी के 'पद्मावत' की प्रस्तुत पंक्तियाँ तुलनीय हैं—

फागुन पवन झकोरा बहा।
चौगुन सीउ जाइ नहिं सहा॥
तन जस पियर पात भा मोरा।
तेहि पर बिरह देइ झकझोरा॥
तरवर झरहिं झरहिं बन ढाखा।
भइ ओनन्त फूल फरि साखा॥
फागु करहिं सब चाँचरि जोरी।
मोहिं तन लाइ दीन्ह जस होरी॥

जायसी के वर्णन की संश्लिष्टता तीव्रता और व्यापारों की अत्यात्मकता नरपतिनाल्ह में नहीं है।

प्रकृति की परिवर्तित भूमि में राजमती के भावों की परिवर्तित रेखाओं का अंकन कवि आंशिक रूप में ही कर पाता है। राजमती अपनी सम्वेदना पर केन्द्रित और विप्रलम्भ की सापेक्षता में जीवित है। उसकी पीड़ा उसकी असमर्थता में अधिक काल्पनिक हो जाती है। कवि उसकी अनुभूतियों के वर्णन का विधान रचनात्मक संस्पर्शो से ही करता है। इस निरूपण में लोक चेतना के प्रति कवि अधिक आग्रह शील है। राजमती कहती है —

अस्त्रीय जनम काई दीधउ महेस।
अवर जनम थारइ घणा रे नरेस।
रानि न सिरजीय रोझड़ी।
घणह न सिरजीय धउलीय गाइ।
वनषंड काली कोइली
हउं बइसती अंबा नइ चंपा की डाल।
भषती दाष बीजोरड़ी।
इणि दुष झूरइ अबला जी बाल।

इसके पश्चात राजमती पथिक से प्रिय के पास सन्देश भेजती है। यह संदर्भ दूत काव्य की परम्परा में आता है। अतः 'बीसलदेव रासो' 'सन्देशकाव्य भी है। आन्तरिक सापेक्षता की दृष्टि से 'बीसलदेव रासो' 'मेघ दूत' तथा 'संदेश रासक' की परम्परा की कृति है। परन्तु 'बीसलदेव रासो की प्रस्तावना 'मेघदूत' के समान व्यापक परिपार्श्व पर नहीं है। 'सन्देश रासक' और 'बीसलदेव रासो' इन दोनों में सन्देश नायिका भेजती है। परन्तु कथानक की दृष्टि से 'मेघदूत' सन्देश रासक' और 'बीसलदेव रासो' में एक रूपता मिलती है। 'बीसलदेव रासो' के विरह-वर्णन से सम्बन्धित छन्द कथा सूत्र से स्वतंत्र होकर भी अपनी भावात्मक संश्लिष्टता में पूर्ण लगते हैं। समस्त ऋतुओं के व्यतीत हो जाने पर भी प्रिय जब नहीं आया तो राजमती को सन्देश-वाहक का आधार ग्रहण करना पड़ता है। वह सन्देश के माध्यम से कहती है 'मेरा नवयौवन क्षीण हो

रहा है। परन्तु मैंने यौवन पर मर्यादा का बन्धन लगा लिया है। इस बन्धन को खण्डित करने में रावण की पराजय हुई थी। नारी के कारण राम ने सेतु बन्ध बाँधा था।' इस कथन में राजमती अपनी व्यथा ही प्रस्तुत नहीं करती अपितु वीसलदेव के विवेक को भी जाग्रत करती है। राजमती प्रिय को पत्र लिखती है। सखियाँ पत्र पढ़ने को उत्सुक हैं। वह पत्र में उन सन्दर्भों की चर्चा करती है जिनसे प्रिय की अनुभूतियाँ उद्दीप्त हों। सन्देश प्रदान करते समय राजमती उल्लसित है और साथ ही साथ शंकापूर्ण भी है। और वह सन्देश वाहक को सचेत भी करती है। उससे विनय शिष्टाचार एवं आग्रह प्रदर्शन करने का उपदेश देती है। सन्देशवाहक प्रिय का अभिज्ञान (पहिचान) पूछता है। अभिज्ञान देते हुए कहती है—

लहुडा देवर वडउ उलहारि।
एहु गोरउ प्रिय बीस सावलउ।
सीस तिलक लिलु लगइ रे बिहुन।
उरि चौकउ कडि पावलउ।
अंचउ रे आवउ कडि कमजाउ।
सायाँ माहि पिछाणिजइ।
पंखिया प्रीय भइ एह सहिनाण।

सन्देश पाकर वीसलदेव घर लौटता है। राजमती शृंगार करती है। वह अर्जुन के समान शृंगार करती। उसने भ्रू चाप चढ़ा लिया है। नव पल्लो वरों को बाण के रूप में कर लिया है। काव्य के उपसंहार में संयोग के चित्रों के उन्मादित वैभव के दर्शन होते हैं। राजमती का सम्पूर्ण शृंगार और उसका उपालम्भ वीसलदेव को आकर्षण और उल्लास प्रदान करता है। संयोग-वैभव की मार्मिकता इस अंश का विशेष नियोजन है।

राजमती के शृंगार और संयोग के अनुभवों की रचना से इस कृति का उपसंहार होता है। वर्णन चित्रण का वैभव इस अंश में विशेष उपलब्धि के रूप में प्रदर्शित है—

भूता कउ उम्पट भूना ताम।
ठमकि ठमकि बमि मेल्हुतीय पाइ।
मन्दिर चालिउ प्रीय कइ।
सुकउ चंदन भरीय कचोल।
संबत करि सेजइ चढ़ी।
ठठइ मुगुधी सरिसी करइ किलोल।

'भूना का दुपट्टा है और भूना का ही ताव है। ठमक-ठमक कर वह पैर रखती है। वह प्रियतम के मन्दिर को जा रही है। उसने श्वेत चन्दन कटोरे में भर लिया है। सजा कर के वह शैय्या पर आ गई—और वहाँ वह सद्गुणवती कल्लोल करने लगी।

बीसलदेव रासो की ऐतिहासिकता

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'बीसलदेव रासो' को बीसलदेव की सामयिक रचना कहा है। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा इसे बीसलदेव की समकालीन रचना नहीं मानते। ओझा जी इसे हम्मीर के समय की रचना मानते हैं। 'बीसलदेव रासो' में प्रस्तुत ऐतिहासिक नाम आये हैं—

(क) बीसलदेव।

(ख) राजमती।

(ग) भोजराजपरमार।

बीसलदेव को विग्रहराज का पर्यायवाची माना गया है। बीसलदेव तृतीय का समय वि॰ सं० ११५० माना गया है। विग्रह राज चतुर्थ का समय सं॰ १२१० १२२० माना गया है। विग्रराज तृतीय की रानी का नाम राजदेवी था। अतः यह अनुमान लगाया जाता है कि नरपतिनाल्ह ने राजदेवी को ही राजमती के रूप में स्वीकार किया है। भोजपरमार का समय वि॰ सं॰ ११९२ (सन् १०३५) 'बीसलदेव रासो' का सम्बन्ध विग्रह राज तृतीय से लगता है।[1] यदि इस निर्णय को स्वीकार कर लिया जाय तो कुछ अन्य समस्याए उत्पन्न होती हैं।

१—गौरीशंकरहीराचन्द ओझा—नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ४४ पृ॰ १९५ १९७।

'बीसलदेव रासो' में आए हुए ऐतिहासिक स्थान विग्रहराज तृतीय के पश्चात् अस्तित्व में आए। यथा०—

> जइ अजमेर बसइ रे गुवाल।
> बहुमाओ कुडि सिसक सिणवार॥

अजमेर का निर्माण सन् ११०८ में अजयराज ने किया था। जेसलमेर ११५५ सन् ई० में अस्तित्व में आया। 'बीसलदेवरासो' के अनुसार मडोवर सोरठ टोंक आदि बीसलदेव को भोज के रूप में मिले थे। परन्तु ये स्थान भोज के अधिकार में नहीं थे। बीसलदेव की उड़ीसायात्रा भी ऐतिहासिक नहीं है। इतिहास के आधार पर इस कृति की प्रमाणिकता का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है।

'बीसलदेव रासो' एक काव्यग्रन्थ है इतिहासग्रन्थ नहीं। इसकी सम्वेदना ऐतिहासिक नहीं है। कवि ने प्रणयसम्वेदना को ही अपना मुख्य लक्ष्य माना है। अपने इस काव्य को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने की दृष्टि से वह ऐतिहासिक व्यक्तियों से इसकी कथा का सम्बन्ध स्थापित करता है। इतिहास इसमें गौण है। अतः इतिहास की दृष्टि से इसकी प्रमाणिकता-अप्रमाणिकता पर विचार करना विशेष वैज्ञानिक और उपयोगी नहीं होगा।

बीसलदेव रासो की भाषा

विभिन्न उपलब्धप्रतियों के आधार पर यह संकेत मिलता है कि 'बीसलदेव रासो' की भाषा परवर्ती अपभ्रंश काल की है। मेरी धारणा है कि अन्य 'रासक काव्यकृतियों' के समान इस कृति का विकास मौखिक परम्परा से हुआ है। अतः इसमें भाषा की एकरूपता के प्रति आग्रह नहीं प्रकट किया जा सकता। कतिपय विद्वानों की धारणा है कि यह सोलहवीं शताब्दी की रचना है। परन्तु यह निर्णय 'बीसलदेव रासो' के 'काशी नागरीप्रचारिणी' सभा के संस्करण के आधार पर किया गया है। यह प्रति सुसम्पादित नहीं है। डॉ० माता प्रसाद गुप्त एवं डॉ तारक नाथ अग्रवाल के संस्करण अधिक सुसम्पादित हैं। अतः भाषा के अध्ययन के लिए इन्हीं संस्करणों का आधार ग्रहण किया गया है। संक्षेप में 'बीसलदेव रासो' की भाषागत विशेषतायें निम्नलिखित हैं।

(क) प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की संयुक्तस्वर ध्वनियाँ मध्य कालीन भारतीय आर्य भाषाओं में एक स्वर में परिवर्तित हो गईं। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के द्वितीय पर्व में स्वर-मध्य स्पर्शव्यञ्जन ध्वनियों के लुप्त हो जाने से उद्वृत्त स्वरों के कारण पुनः संयुक्त स्वर सस्थापित होते हैं। अपभ्रंश व अवहट्ट प्रारम्भिक आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में इस प्रकार के नव विकसित संयुक्त स्वर मिलते हैं। 'बीसलदेव रासो' में भी इस प्रकार के रूप मिलते हैं। उदा०

अइ=नाद भेदइ धारइ उरर मंझार।

अउ=एक अन्तउ मुख मरुमलइ।

(ख) कतिपय सब्दों में आदि स्वर-लोप के उदाहरण भी मिलते हैं। उदा० भोज राज तमउ मिल्यउ छइ विमाण बहु गर बैठा छइ अगवाणि। [छइ का विकास क्रम इस प्रकार है प्रा० भा० मध्यति 7 अप० अच्छइ 7 बीसल० छइ]

(ग) अनुस्वार और अनुनासिक में भेद नहीं माना गया है।

(घ) मध्यवर्ती अनुनासिक के स्थानपरिवर्तन के नियमित उदाहरण मिलते हैं। उदा —

ठाँइ=ठाउँ

मुइ=मुइँ

(क) शब्द-रूप विभक्तिपरक और प्रत्ययपरक इन दोनों रूपों में मिलते हैं।

(ख) कर्त्ता कर्म एक वचन पुल्लिंग स्वरान्त प्रातिपदिक-उकारान्त होते हैं। यह अपभ्रंश की परम्परा का ही विकसित रूप है—उदा० राउ तणउ इत्यादि।

(ग) बहुवचन प्रत्यय के लिये आँ का प्रयोग किया गया है। इसका विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के षष्ठी बहुवचन—आनाम् से हुआ है।

उदा०—सगुण सुमाणसाँ सीसिज्यो रास।

(घ) अपादान के लिए-थी-थाकी,-थ आदि परसर्गों का प्रयोग मिलता है।

उदा० सुरग थी आविया सुरह विमाण।

भइ म्हाँसूँ रूठउ सिरजणहार।

अधिकरण के लिए सविभक्तिक प्रयोग-अइ मिलता है उदा० सुरताइ मोहर वेवता। बेग मणावइ भयउ रे उछाह। परसर्गीय प्रयोग के अन्तर्गत माहँ, मोहि के प्रयोग मिलते हैं उदा मन माहँ हरषियउ राजकुमारि। गोकल माहि जिसउ परितिप्य मोविंद।

अपभ्रंश और अवहट्ट में सम्प्रदान अपादान सम्बन्ध और अधिकरण के लिए-अहु,-अई -इ के प्रयोग मिलते हैं। 'बीसलदेव रासो' में भी इनका प्रयोग इन्हीं अर्थों में होता है। उदा -कानह कुम्भक भिगमियइ, भायरे हिरणी मनह विचार। पाछइ बिहुणा किम विजइ माथ।

सम्बन्ध के लिए तणउ का प्रयोग मिलता है'—उदा० राजमती तणउ रच् मउ विवाह। अधिकरण के लिए-ए का सविभक्तिक प्रयोग भी मिलता है-उदा० चरमाहे मन माहे मस्तक माहे इत्यादि। करण कारक एक वचन के लिए हि के रूप भी मिलते हैं उदा० पवनहिं दीवमउ नाहिं बलइ (पवन से दीपक नहीं जलता इसे अधिकरण के रूप में ग्रहण करते हुए प्रस्तुत अर्थ किया जा सकता है—पवन में दीपक नहीं जलता है)। करण के अर्थ में-इ रूप भी प्रयुक्त मिलता है—राइ तूठी अमार पुहइ।

कर्म-सम्प्रदान के लिए,-नइ रूप मिलता है-उदा०—अइ अजमेरि नइ यम करो। दीन्ही सोपारीय नइ हरखियउ राव बमाइ नू बीवइ छइ दाइबइ।

संख्यावाचक:—बे (दो) मासइ अपाभन बे कर जोडि। दुबइ, भीजइ, इत्यादि।

सर्वनाम—मुझ, म्हा (म्हा परि संइमरि उग्रहइ)। मू, मो हउ अम्हउ अम्हारउ, तउँ तू, तूँ तुम्ह, थारउ।

सहायक क्रिया—छइ, बहु नर बठा छइ अकमाथि

प्रथम पुरुष वर्तमान एक वचन में क्रिया-अउ से निर्मित होती है।

उदा० बीनवउ तोहि सम्बोधर, चउथि करउ तुम्ह पावथ।

सामान्य वर्तमान के रूप अपभ्रंश और पुरानी राजस्थानी के अनुसार ही हैं—उदा० करउँ, मिलवउ करहुँ।

करनहि, करसि करहु।

करइ गिनइ बोलइ, मरीहि।

कर्मवाच्य के लिए-इज इय इज के रूप मिलते हैं। 'प्राकृतपैंगलम्' में इन रूपों के उदाहरण संकलित हैं। उदा०-महुरा करइ बीजइ वाइजइ। भावार्थ के लिए भी इन्हीं रूपों के प्रयोग मिलते हैं—सालइ मणइ सुमिरन्यो सहु कोइ।

परमाल रासो—'आल्हखण्ड' को ही 'परमालरासो' का पर्यायवाची माना गया है। इसे 'लोक भाषा' या 'वीर गीत' भी कहा गया है।[1] आचार्य रामचन्द्रशुक्ल इसे "बैलेड" (ballad) की कोटि की रचना मानते हैं। 'परमाल रासो प्रमाणिक रचना के रूप में उपलब्ध नहीं है। इस सम्बन्ध में अपने इतिहास में विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है' 'ऐसा प्रसिद्ध है कि कालिंजर के राजा परमाल के यहाँ जगनिक नाम के एक भाट थे जिन्होंने महोबे के दो वेस प्रसिद्ध वीरों—आल्हा और ऊदल (उदयसिंह)—के वीर चरित का विस्तृत वर्णन एक वीर गीतात्मक काव्य के रूप में लिखा था जो इतना सर्वप्रिय हुआ कि उसके वीर गीतों का प्रचार क्रमशः सारे उत्तरीय भारत में विशेषतः उन प्रदेशों में जो कन्नौज साम्राज्य के अन्तर्गत थे हो गया। जगनिक के काव्य का कहीं पता नहीं। पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिन्दी भाषी प्रान्तों के गाँव-गाँव में सुनाई पड़ते हैं। ये गीत आल्हा के नाम से प्रसिद्ध हैं और बरसात में गाये जाते हैं।[2] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने निर्णय में शुक्ल जी का ही आधार ग्रहण किया है 'इस काल में पृथ्वीराज रासो के समान ही जगनिक लिखित परमाल रासो नामक एक ग्रन्थ का नाम मिलता है। कहते हैं कि कालिंजर के राजा परमाल (परमर्दि देव) के यहाँ जगनिक नाम के एक भाट थे जिन्होंने महोबे के दो वीर प्रसिद्ध वीरों—आल्हा और ऊदल के चरित्र का एक वीर काव्य लिखा

१—'जगनिक' (सं० १२३०) का यह वीर रस प्रधान एक गीत काव्य माना जाता है।—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास।

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास The Lay of Alha Indroduction (by Grierson) के अनुसार जगनिक परमाल का भाँजा था। उनका यह निर्णय प्रस्तुत पंक्तियों पर आधारित है—

यहै बिचारत मल्हनारानी तुरतै बोलि लीन्ह प्रतिहार।
पुत्र भुजारा जगनायक का भने जौन बनाफे म्यार।

था।'[1] 'वीर काव्य संग्रह' की भूमिका में डॉ उदय नारायण तिवारी ने संकेत किया है 'पृथ्वीराज रासो में एक महोबा-खण्ड है। यह परमाल रासो के नाम से भी प्रसिद्ध है। वस्तु स्थिति यह है कि चार्ल्स इलियट ने मौखिक परम्परा के आधार पर इसका सम्पादन सन् १८६५ में कराया था। इसके पहले जहाँ तक मुझे ज्ञात है, 'परमाल रासो' की कोई हस्तलिखित प्रति नहीं मिलती है। इसका आंशिक अंग्रेजी गद्य-अनुवाद सन् १८८५ में इण्डियन एण्टिक्वेरी में भी प्रकाशित हुआ। (देखिए—Indian Antiquary Vol xiv 1885 page 209-235)। इसका प्रकाशन अंग्रेजी के संक्षेप काव्य-रूप में भी हुआ है। (देखिए—Calcutta Review Vol xii xiii 1875 78)। संवत् १९७६ में 'नागरी प्रचारिणी सभा' (काशी) ने इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया। डॉ॰ श्यामसुन्दर दास ने इसका सम्पादन किया है। सम्पादकीय भूमिका में श्याम सुन्दर दास जी ने लिखा है जिन प्रतियों के आधार पर यह संस्करण सम्पादित हुआ है उनमें यह नाम नहीं है। उनमें 'चन्दकृत पृथ्वीराज रासो' का महोबा खण्ड लिखा हुआ है। किन्तु वास्तव में यह 'पृथ्वीराज रासो' का महोबा खण्ड नहीं है—वरन् उसमें वर्णित घटनाओं को लेकर—मुख्यत 'पृथ्वी राज रासो' में दिए हुए एक वर्णन के आधार पर—लिखा हुआ एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। यद्यपि इस ग्रन्थ का नाम मूल प्रतियों में 'पृथ्वी राज रासो' दिया हुआ है पर उसके नाम से प्रकाशित करना लोगों को भ्रम में डालना होगा। अतएव मैंने इसे 'परमाल रासो' नाम देने का साहस किया है। देखिए—'परमाल रासो भूमिका (पृ॰ ३ ४)। परन्तु अपने वर्तमान रूप में यह 'पृथ्वी राज रासो' के अन्त में संकलित महोबा खण्ड का रूपान्तर ही लगता है। इस संदर्भ में 'पृथ्वीराज रासो' तथा 'परमाल रासो' के अन्तिम छन्दों की तुलना की जा सकती है। दोनों में साम्य है। डॉ॰ माता प्रसाद गुप्त ने इस साम्य की ओर स्पष्ट संकेत किया है। (देखिए—हिन्दी साहित्य—द्वितीय खण्ड—पृष्ठ १२७। इन समस्त विवेचनाओं से वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता।

१—हिन्दी साहित्य १९५२।६५ देखिए—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास पृ ११

लोकजीवन में प्रचलित आख्यानों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि इसका विकास लोकगाथाओं या लोकगीतों की परम्परा पर विकसनशील काव्यपरम्परा का अनुसरण करके हुआ है। लोक गाथात्मक काव्यों की निम्नलिखित प्रमुखतायें 'परमाल रासो' या 'आल्ह खण्ड' में मिल जाती हैं।

(१) यह गेय गाथा है। (२) इसमें चमत्कारप्रदर्शन पाण्डित्यप्रदर्शन और अलंकरण का अभाव है। यद्यपि डॉ० शम्भू नाथ सिंह ने[1] यह कहा है कि इसका प्रधान उद्देश्य मनोरंजन है नैतिक उपदेश चरित्र-सुधार राष्ट्रीयता आदि उसके उद्देश्य नहीं हैं। फिर भी वीरभावना को जाग्रत और पुष्ट करना उसका अप्रत्यक्ष कथ्य है। परन्तु उनका यह निष्कर्ष उचित नहीं है। राष्ट्रीय संवेदना और वीरभावना की पीठिका पर ही इसका विकास हुआ है।

परमाल रासो की कृति

प्रस्तुत कृति में पृथ्वीराज और परमाल के संघर्ष की कथा प्रमुख पीठिका के रूप में ग्रहण की गई है। परन्तु परमाल की कथा इतिहास की अपेक्षा लोक जीवन से ही संगृहीत है। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' और 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में भी जयचन्द और परमाल के संघर्षों का संकेतिक उल्लेख मिलता है। डॉ० शम्भूनाथ सिंह ने परमाल से सम्बन्धित निम्नलिखित तथ्यों का निर्देश किया है—

१—परमर्दि (परमाल) ऐतिहासिक व्यक्ति है जिसने दीर्घकाल तक शासन किया था।

२—वह जयचन्द का स्वतन्त्र करदाता सामंत नहीं अपितु स्वतन्त्र साम्राज्य का अधिपति था। 'कोप कालाग्निरुद्र' 'अनन्य कोप प्रसाद' आदि उसकी अनेक उपाधियाँ थीं।

३—जयचन्द ने उस पर एक बार आक्रमण किया था किन्तु बाद में उनसे उसका मैत्रीसम्बन्ध स्थापित हो गया था।

४—वह सम्भवत अधिक वीर नहीं था इसके विपरीत वह विलासी और कायर था।

१—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास पृ० ११२।

५—वह वीरों का सम्मान करता था और दूसरे राजाओं के वीर सामन्तों को बुलाकर अपने यहाँ रखता था। सम्भवतः इसका कारण यह था कि वह स्वयं युद्ध से डरता था।

६—वह काव्य प्रेमी था उसका महामात्य मल्हदेव स्वयं कवि था।

७—पृथ्वीराज से उसका युद्ध हुआ था जिसमें वह पराजित होकर भाग गया और अपनी राजधानी कालिंजर में जाकर छिपा।

८—शिला लेखों से इस बात की पुष्टि होती है कि पृथ्वीराज राज से उसका युद्ध सन् ११८२ में हुआ था जिसमें वह पराजित हुआ था। पर उसके बाद भी वह कालिंजर में शासन करता रहा। सन् १२०३ में कालिंजर पर मुसलमानी आक्रमण के समय उसकी मृत्यु हुई थी।[१]

'परमाल रासो' (आल्ह खण्ड) में इन घटनाओं का उल्लेख मिल जाता है। परन्तु लोक जीवन में विकसित होते रहने के कारण इसमें किंवदन्ती कथाओं का भी मिश्रण पर्याप्त मात्रा में होता रहा है।

आलोच्य कृति की कथानकयोजना पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करना न्यायसंगत न होगा क्योंकि यह किसी एक कवि की कृति नहीं है और इसका संकलन और सम्पादन अति आधुनिक है। परन्तु अपने मूल रूप में यह जनश्रुतिभूमि पर आधारित एक गेयकाव्य के रूप में विकसित हुआ है। यह एक गाथाचक्र है जिसमें एक ही परिवार के कुछ व्यक्तियों—आल्हा ऊदल इन्दल मलखान—को प्रधान पात्र बनाकर तथा अन्य वीरों—सैयद तालहन, जागी राजा जैसा वागनिक स्वना—बारी आदि को उनका सहायक बनाकर अनेक गाथायें जोड़ दी गई हैं।[२]

इस प्रकार इस रचना में शिथिलता और अव्यवस्थित विकास-सूत्र का रहना स्वाभाविक है। इस कृति का मूल्यांकन महाकाव्य के सन्दर्भ में भी किया गया है। यह प्रयास अधिक न्यायसंगत नहीं है। विकसनशील महाकाव्य की अपेक्षा इसे विकसनशील काव्य कहना ही अधिक उचित होगा। इसके रूप

१—वही पृ० १४७

२—देखिए हिन्दी महा काव्य-स्वरूपविकास पृ० १७८।

नियोजन में किसी क्रम-बद्ध योजना का प्रयास नहीं मिलता है और न इसमें महाकाव्य की संश्लिष्टता ही मिलती है। डॉ० शम्भूनाथ सिंह ने इसके विकास की चार अवस्थाओं की कल्पना की है जो विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसका उल्लेख आवश्यक है—

(क) आल्ह खण्ड का मूलरूप —इस अवस्था में बुन्देलखण्ड के साहित्यिक प्रबन्ध काव्य के रूप में इसकी रचना हुई।

(ख) लोकगाथा में रूपान्तर —साहित्यिक स्वरूप से लोक गाथाओं में रूपान्तर।

(ग) विकास की तीसरी अवस्था —साहित्यिक रूपान्तर (१६०० १८०० ई०)। 'महोबा समयो' और बृहत् साहित्यिक रूपान्तर 'परमाल रासो' (महोबा खण्ड)।

(घ) विकास की चौथी अवस्था —चार्ल्सईलियट द्वारा सन् १८६५ में इसका संग्रह और सम्पादन। इसमें तेईस युद्धों का वर्णन है और आज यही मूल आल्हखण्ड के रूप में स्वीकृत है।[1]

मेरी व्यक्तिगत धारणा है कि 'आल्हखण्ड' या 'परमालरासो' अपने मूल रूप में लोक-गाथा की गीतात्मक परम्परा में पल्लवित हुआ है और उसे साहित्यिक रूपान्तर देने की चेष्टा अति आधुनिक है।

पिछले पृष्ठों में अपभ्रंश काव्य में प्रयुक्त कथानकरूढ़ियों की चर्चा की गई है। अपनी पूर्व काव्यपरम्परा के समान 'परमाल रासो' में भी कथानक रूढ़ियों का उद्देश्यपूर्ण प्रयोग मिलता है। इनमें पूर्वजन्म की स्मृति रूप-गुण से प्रेम की उद्भावना पशु-पक्षियों से सन्देश भेजने और रूप परिवर्तन से सम्बन्धित कथानकरूढ़ियों के प्रयोग विशेष रूप में दर्शनीय हैं।

भाषा की दृष्टि से इसे बैसवाड़ी की रचना माना गया है। परन्तु अपने वर्तमान रूप में यह बैसवाड़ी की रचना नहीं है। विषय के समान इसके भाषा रूप में भी आमूल परिवर्तन हो गया है। इसकी भाषा अति आधुनिक है। यह

१—वही पृ० १४१।

'आल्ह छन्द' या 'वीर छन्द' की कृति है। उदाहरण के लिए कतिपय पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं--

चले बुन्देली औ गुजराती उना चले विलायत क्यार।
खट खट खट खट तेगा बाजे बोले छपक-छपक तलवार।
पैदल के संग पैदल भिरिगे औ असवारन से असवार।
हौदा के संग हौदा मिरिगै हाथिन भड़ी दाँत से दाँत।
तेगा चमकै बर्दवान के कटि कटि गिरैं सुघरवा ज्वान।
सात कोस लौं चले सिरोही चारो ओर होय घमसान।

× × ×

मन भर छाती पृथीराज की अब मैनन में धरै मसान।
सवि के पृथ्वीराज ठाढ़े भए, मामहु छत्र अखाड़े बाम।

× × ×

सदा तरैया ना बन फूलै मारो सदा न सावन होय।
स्वर्ग मड़ैया सब काहू को यारो सदा न जीवे कोय।

हम्मीर रासो—'हम्मीर रासो' शीर्षक किसी स्वतंत्र ग्रन्थ की उपलब्धि अभी तक नहीं हुई है। 'प्राकृतपैंगलम्' में हम्मीर सम्बन्धित आठ छन्द संकलित हैं। इन छन्दों में इनके रचयिता के नाम का कोई उल्लेख नहीं है। प्रचलित धारणा यह है कि इन छन्दों के रचयिता (और हम्मीर रासो के रचयिता) शार्ङ्गधर थे। शार्ङ्गधर के नाम से एक आयुर्वेद ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है। 'शिव सिंह सरोज' में इन्हें चन्द का वंशधर माना गया है। इसके अनुसार शार्ङ्गधर को हम्मीर काव्य' और 'हम्मीर रासक' का कृतिकार भी माना गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्राकृतपैंगलम्' के पदों को ही 'हम्मीर रासो' का मूल रूप मानते हैं।[१] परन्तु शुक्ल जी ने इसके लिए प्रमाण नहीं दिया है। शार्ङ्गधर के पितामह का नाम राघव था। वे हम्मीर के आश्रय में थे। उनके कतिपय पद्य 'शार्ङ्गधर पद्धति' में संकलित हैं। यदि शार्ङ्ग धर को हम्मीर का समकालीन माना जाय तो इन छन्दों की रचना वि० सं०

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २१।

१३१० के निकट हुई होगी। 'प्राकृत पैंगलम्' के जिन छन्दों का उल्लेख किया गया है उनमें दो छन्दों में जज्जल का उल्लेख आता है। उदा०

पिंधउ दिढ़ सण्णाह बाह उप्पर पक्खर दइ।
बंधु समदि रण धसउ सामि हम्मीर बअणलइ।
उड्डल णहपह भमउ खग्गरिउ सीसहि डारउ।
पक्खर पक्खर ठल्लि पल्लि पव्वअ अप्फालउ।
हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल मुह मह जलउ।
सुलताण सीस करवाल दइ तेज्जि कलेवर दिअ चलउ।

'भुजाओं पर पक्खर देकर मैं दृढ़ सन्नाह धारण कर लूँ। स्वामी हम्मीर का वचन लेकर, बन्धुओं से विदा लेकर युद्ध के अन्तराल में प्रवेश कर रहा हूँ। मैं नभ में घूम रहा हूँ शत्रुओं के शीश पर खड्ग डाल रहा हूँ। और पक्खरों के उपयोग से मैं पर्वत को गिरा रहा हूँ। जज्जल का कथन है कि हम्मीर के कार्य के लिए वह क्रोधानल में जा रहा है। सुलतान पर खड्ग डालकर क्रोधाग्नि में जा रहा हूँ।

ढोल्ला मारिअ ढिल्लि मह मुच्छिअ मेच्छ सरीर।
पुर जज्जला मंतिवर चलिअ बीर हम्मीर।
चलिअ बीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ।
दिगमगणह अंधार धूलि सूरह रह झंपइ।
दिगमगणह अंधार आणु खुरसाणक ओल्ला।
दरमरि दमसि बिपक्ख मारु ढिल्ली मह ढोल्ला॥

'ढोल पर आघात कर हम्मीर ने दिल्ली में म्लेच्छों को मूर्छित किया है। पुर-रक्षा हेतु मंत्रिवर जज्जल को रखकर चला। उसके प्रस्थान से मेदिनी कम्पित हो गई। दिशाओं में अन्धकार हो गया। रथ से सूर्य छिप गया। दिशाओं और नभ में अन्धकार छा गया। हम्मीर खुरसान का ओल ले आया। विपक्षियों का दलन कर हम्मीर ने दिल्ली में विजयोल्लास निनादित किया। इस सन्दर्भ में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये पद्य जज्जल के हैं या शार्ङ्गधर के हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यह धारणा है कि इसमें जज्जल (किसी वीर विशेष) की प्रशंसा है। परन्तु राहुल सांकृत्यायन की यह धारणा है कि ये जज्जल

कवि के हैं।[1] जिनमें जम्मल का उल्लेख नहीं किया गया है उनके विषय में राहुल जी ने अपना सन्देह प्रकट किया है। पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में इस विषय में स्पष्ट निर्णय नहीं लिया जा सकता है। यद्यपि डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के 'जाज या जम्मल'[2] शीर्षक लेख का आधार ग्रहण करते हुए डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने यह कहने का प्रयास किया है कि जम्मल हम्मीर का मंत्री था और इन पदों में उसका ही उल्लेख है परन्तु इससे वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। 'शार्ङ्गधर पद्धति' की भाषा अधिक व्यवस्थित नहीं है। जो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं उनमें भाषारूप सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी का है। अतः भाषा की दृष्टि से इस रचना की प्राचीनता का समर्थन नहीं हो पाता।

खुमान रासो—'खुमान रासो' का प्रथम उल्लेख 'शिवसिंह सरोज' में मिलता है। इसके कवि हैं दलपतिविजय। चित्तौड़ में तीन खुमाण हो चुके हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यह धारणा है कि विवेच्य कृति का सम्बन्ध द्वितीय खुमाण से है (वि० सं० ८७० १००)। ऐसी धारणा है कि यह प्राचीन कृति है। परन्तु इसकी प्राचीनता का समर्थन नहीं किया जा सकता। इसकी जो प्रतिलिपियाँ प्राप्त हैं उनमें राणा संग्राम सिंह द्वितीय (सन् १७१० १७११) तक के ऐतिहासिक सन्दर्भ वर्णित हैं। मेवाड़ के खुमाण वंश की कथा के होते हुए भी ऐतिहासिक अनुशीलना और भाषा की दृष्टि से यह अठारहवीं शताब्दी की रचना है। मोतीलाल मेनारिया इस समस्या का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि (दलपत) तपागच्छीय जैन साधु शान्तिविजय के शिष्य थे। इनका असली नाम दलपत था, पर दीक्षा के बाद बदलकर दौलतविजय कर दिया गया था। हिन्दी के विद्वानों ने इन्हें मेवाड़ के रावल खुमाण (सं० ८७०) का समकालीन होना अनुमानित किया है जो गलत है। वास्तव में इसका रचनाकाल सं० १७३० से लेकर १७६० के मध्य तक पड़ता है,[3] इस कृति से एक अंश यहाँ दिया जा रहा है। भाषा की दृष्टि से इसकी प्राचीनता इस अंश द्वारा खण्डित हो जाती है।

१—हिन्दी काव्य धारा पृ० ४२१ ४२२।

२—हिन्दी अनुशीलन पौष चैत्र सं० २०११ पृ० १।

३—राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ० १०१।

मिउ चित्तौड़ न भाखिक साचप पड़िहूमी तीज ।
पंथे बाट रति बिरहिमी खिण खिण बणवें खीज ॥
संदेशो पिण साहिबा पाछो फिरिय न देह ।
पंछी घाल्या पींजरे छूटण रो संदेह ॥[1]

विजयपाल रासो—'विजयपाल रासो' के रचनाकार नल्लसिंह भाट हैं। इनके विषय में हमें विशेष ज्ञान नहीं है। ऐसा अनुमान किया गया है कि ये विजय गढ़ के शासक विजयपाल के आश्रित भाट कवि थे। इतिहास की दृष्टि से यह रचना सन् १०४३ की होनी चाहिए। परन्तु अपने वर्तमान स्वरूप में यह सोलहवीं शताब्दी की रचना है। इस कृति के केवल बयालीस छन्द उपलब्ध हैं। इसकी दृष्टि से यह वीरकाव्य के अन्तर्गत की रचना है। मिश्रबन्धुओं ने इसे वि० सं० १६५५ की कृति कहा है[2]। इस सम्बन्ध में समय-समय पर इसकी प्रामाणिकता अप्रामाणिकता पर विचार किया गया है। हिन्दी साहित्य के बृहद् इतिहास के भाग एक खण्ड दो; अध्याय चार के लेखक ने यह कहने का प्रयास किया है कि 'विजयपाल रासो' के जिस विजयपाल से हमारा परिचय है उसकी स्मृति कृति की आधार पीठिका नहीं है। वह दूसरा विजयपाल है। इसने कार्ड नामक वीर को पराजित किया था। इसके प्रपौत्र विजयसिंह के एक शिलालेख का उल्लेख डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया है। वह इस प्रकार है —

विसमित गोत्त उत्तिम चरित विमल पवित्तोगाम ।
अरभइ पढमो संसिअप हवओ भुवाप ॥
हवओ पीट परिट्ठिअउ खत्तिय विजयपालु ।
जीणे काइउ रणि विजिणिउ तहं भुवन पालु ।
× + × ×
जेण्वि गुजर गौडहर की अ अजिवे मारि ।
विजयसीह किउ संहयुम पौरिस महं संसारि ।[1]

१—देखिए नागरी प्रचारिणी पत्रिका—सं० २००६ पृ० १२६ ।

२—नल्लसिंह ने विजयपालसिंह तथा बंगराजा के संघर्षों का वर्णन इस काव्य में किया है। परन्तु यह रचना वि० सं० १६५५ के लगभग की है। मिश्रबन्धुविनोद भाग १ पृ० २०७। हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास पृ०१२।

मुमुक देवह पत्त पत्तवि पवहि मकित समग्ग ।
विजयसीह विद्यविधु करि आरम्भिउ सुख सग्ग ॥

इस अंश में 'विजयपालु' तथा विजयसीह' नाम आए हैं। इसकी भाषा उत्तरवर्ती अवहट्ठ तथा आरम्भिक हिन्दी के सन्धि काल की है। परन्तु इससे 'विजयपाल रासो' की रचनातिथि तथा उसकी प्रामाणिकता का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता है। यथा०

जुरे जुद्ध जादव पंग नरद् । पहि कर तेग चहुयौ रनसद् ।
हंकारिय जुद्ध सुहं दल पूर । मनो गिरी चीत्र जलम्धरि पूर ॥
हली दिल हांक बजी रन मद्धि । भई दिन ऊगत कूक प्रसिद्धि ।
परस्पर तोप बहै किलराक । गजै सुर मुम्मि सरग्ग पताल ॥

इस उद्धरण से आलोच्य कृति की प्राचीनता पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। निस्सन्देह यह पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद की ही रचना है।

पृथ्वी राज रासो—हिन्दी के आदिकालीन काव्य-ग्रन्थों में 'पृथ्वी राज रासो' एक विशिष्ट रचना है। 'रासक काव्य' परम्परा में प्रस्तुत ग्रन्थ काव्यत्व तथा ऐतिहासिकता की दृष्टि से आरम्भ से ही विशेष आकर्षण का केन्द्र रहा है। इसके रचयिता चन्दबरदाई माने गए हैं। लोक जीवन में इस प्रकार की भावना प्रचलित है कि चन्दबरदाई पृथ्वीराज के मित्र और राज कवि थे। उन्होंने 'पृथ्वीराज रासो' की रचना की। इसमें शृङ्गार और वीररस की प्रधानता है। गोरी ने पृथ्वीराज को बन्दी बनाया। चन्द पृथ्वीराज के साथ गजनी गया। 'पृथ्वीराज रासो' की पूर्ति चन्द के पुत्र जल्हण ने की—

पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज ।
रघुनाथ चरित हनुमन्त कृत भूपभोज उद्धरिय जिमि ।
प्रथिराज सुजस कवि चंद कृत चन्द नन्द उद्धरिय तिमि ।

इन अंशों की प्रामाणिकता स्थापित नहीं हो सकी है। अतः इन अंशों में लोक किंवदन्तियों का ही विशेष आधार ग्रहण कर लिया गया है। चन्दबरदाई के लिए चन्द बलिद्दय का प्रयोग भी मिलता है। इस सन्दर्भ में प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या जल्हण चन्दबरदाई के पुत्र थे और उन्होंने 'पृथ्वीराज रासो' को पूरा

किया था। अब तक की उपलब्धियों के आधार पर हम इस प्रकार का निर्णय नहीं ले सकते। 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में पृथ्वीराज और जयचन्द से सम्बन्धित चार छप्पय संकलित हैं। इस ग्रन्थ के सम्पादक श्री मुनिजिनविजय ने चन्दबलिद्दय को इनका रचयिता माना है। और इन्हीं के आधार पर 'पृथ्वीराज रासो' की प्रमाणिकता की ओर 'प्रस्ताविक वक्तव्य' में संकेत करते हुए उन्होंने स्पष्ट निर्णय दिया है कि अपने मूल या आदि रूप में यह अपभ्रंश की रचना है। इस संदर्भ में आगे विचार किया गया है। यहाँ जल्हण के सम्बन्ध में संकेत किया जा रहा है। 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' के जिन चार छन्दों को मुनिजिनविजय ने चन्दकृत माना है उनमें दो जल्ह कवि के हैं। इसका निर्णय इनमें प्रयुक्त 'जल्ह' नाम से ही हो जाता है। उदा०—

(क) त्रिण्हि लक्ख तुखार पाखरीअइ जसु हय।
चऊ दसइ मयमत्त दन्ति गज्जन्ति महामय।
बीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क धणुद्धर।
ल्हूसडु अरु बलुयान संख कु जाणइ ताँह पर।
छत्तीस लक्ख नराहिवइ विहि विनडिओ हो किम भयउ।
जयचन्द न जाणउ 'जल्हु' कइ गयउ कि मूउ कि धरि गयउ।

(ख) जइतचन्दु चक्कवइ देव तुह दुसह पयाणउ।
धरणि धसवि उद्धसइ पडइ रायह भंगाणओ।
सेसु मणिहिंग संकियउ मुक्कु हयखुरि सिरि खण्डिओ।
तुट्टओ सो हर धवलु धूलि जसु चिय तणि मण्डिओ।
उच्छलीउ रेणु जसगि गय सुकवि जल्हु सच्चउँ चवि।
वग्ग इन्दु बिन्दु भुयजु अलि सहस नयण किम परि मिलइ।

'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो' के संस्करण में इनमें से केवल एक छन्द मिलता है (प्रथम)। परन्तु 'पृथ्वीराज रासो' की अन्य प्रतियों में इनका उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। परन्तु इन सन्दर्भों से यह संकेत मिलता है कि 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में आए 'चन्दबलिद्दय' और 'जल्ह' समकालीन थे। परन्तु जल्ह चन्दबलिद्दय के पुत्र थे और उन्होंने 'पृथ्वीराज रासो' को चन्द

बरदाई के पश्चात् पूरा किया इस सम्बन्ध में निश्चित प्रमाण की प्रस्तावना नहीं की जा सकती है।

इस प्रकार 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता पर विभिन्न दृष्टियों से विचार करने वाले विद्वानों के मतों का यहाँ विश्लेषण किया जा रहा है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वे लेखक आते हैं जिन्होंने इस कृति को प्रामाणिक माना है। इनमें पंडित मोहनलाल पंड्या पं० मथुराप्रसाद दीक्षित (इन्होंने जिस संस्करण का सम्पादन किया है उसे लाहौर संस्करण कहते हैं।) तथा श्यामसुन्दर दास हैं।

डॉ बूलर डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा मुंशी देवीप्रसाद तथा कविराज श्यामल दास द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इसी वर्ग में मोतीलाल मेनारिया भी आते हैं। इनके अनुसार 'पृथ्वीराज रासो' अप्रमाणिक कृति है।

तीसरा वर्ग 'रासो' की प्रामाणिकता पर विश्वास करते हुए उसके वर्तमान स्वरूप को विकासशील मानता है। मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में संकलित 'पृथ्वीराज और जयचन्द प्रबन्ध' से यह वर्ग प्रेरित है। 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में जो छप्पय संकलित हैं वे अपभ्रंश की रचनायें हैं। इस वर्ग के अनुसार पृथ्वीराज रासो' अपने मूल रूप में अपभ्रंश की कृति है। इसकी भाषा 'प्राकृतपैंगलम्' की भाषा रही होगी। इस सन्दर्भ में आगे चर्चा की जायगी।

रासो के रूपान्तर तथा इसकी प्रतियाँ

तथा इसकी प्रतियाँ सम्पूर्ण-स्थिति पर विचार करने के पूर्व यह अपेक्षित है कि 'पृथ्वीराज रासो' के वर्तमान आकार और इसकी विभिन्न प्राप्त प्रतियों का विश्लेषण यहाँ कर लें। अपने वर्तमान रूप में यह हिन्दी के आदिकालीन साहित्य का प्रथम बृहद् प्रबन्ध काव्य है और इसे हिन्दी का प्रथम महाकाव्य भी माना गया है। 'रासो' के सम्बन्ध में जितनी धारणायें प्रचलित हैं उनमें दो ही दृष्टियाँ प्रमुख हैं। प्रथम के अनुसार 'पृथ्वीराज रासो' बारहवीं शताब्दी की रचना है। दूसरी दृष्टि के अनुसार यह सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की रचना है। इस पर हम आगे के पृष्ठों में विचार कर रहे हैं। यहाँ हम रासो की भिन्न भिन्न प्रतियों पर विचार करेंगे। उपलब्धप्रतियों की समग्रता की दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' के निम्नलिखित रूपान्तर मिलते हैं —

(क) बृहद् रूपान्तर—इसमें समयो संख्या ६९ ६९ छन्द है। इसमें लगभग सोलह हजार पद्य तथा अनुष्टुप छन्द हैं। छत्तीस हजार श्लोक हैं जिन्हें

ग्रन्था-ग्रन्थ भी कहा गया है। वृहद् पाठ या रूपान्तर के आधार पर डॉ० श्यामसुन्दर दास तथा श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने काशीनागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण का सम्पादन १९१० में किया।

(ख) मध्यम रूपान्तर—इसमें समयों की संख्या चालीस और सैंतालीस के मध्य है। इसमें सोलहसार पद्य और पैंतीस सौ श्लोक हैं। मथुरा प्रसाद दीक्षित का संस्करण इस रूपान्तर पर ही आधारित है।

(ग) लघु रूपान्तर—इसमें लगभग उन्नीस समयो, दो हजार पद्य और पैंतीस सौ श्लोक है।

जहाँ तक मुझे ज्ञात है इस रूपान्तर के आधार पर अभी तक किसी प्रति का सम्पादन नहीं हुआ है।

(घ) लघुतम रूपान्तर—इसमें लगभग तेरह सौ श्लोक हैं दो हजार पद्य हैं। 'राजस्थान भारती' में इसका प्रकाशन हुआ है (राजस्थान भारती अंक १ भाग ४ से इसका प्रकाशन आरम्भ हुआ है)।[1] लघुतम के छन्द व्यापक रूप में लघु में उपलब्ध हैं। लघु और मध्य के छन्दों में भी समता मिलती है। मध्य के छन्द वृहद् में उपलब्ध हैं। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि लघुतम रूपान्तर ही रासो का मूल रूप है[2] और इसके समानान्तर यह भी कहा जाता है कि परवर्ती काल में वृहद् के रूपान्तर ही मध्य लघु और लघुतम का धारण करते गये।[3] डॉ० माता प्रसाद गुप्त की यह धारणा है कि लघु में दी हुई संख्यायें ही मूल पाठ के अधिक निकट हैं। यह निष्कर्ष उन्होंने कलाबद्ध संख्याओं के आधार पर किया है। उनकी प्रस्तावना है, 'यदि ध्यान दिया जाए तो ज्ञात होगा कि प्रायः उन सभी प्रसंगों में जहाँ कलाबद्ध सूचक संख्याओं

१—विषय सूचना के लिये देखिए (क) प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ-पृथ्वीराज रासो की विविध वाचनाएँ पृ० ४१० (ख) राजस्थान भारती भाग ३ अंक २ १९५१ पृ० ११। (ग) विशाल भारत—भाग ३८ अंक ६ दिसम्बर १९४६, पृ० ३९५।

२—नाहटा—राजस्थान भारती अंक १ भाग ४।

३—हिन्दी साहित्य—हजारी प्रसाद द्विवेदी—६१।

के विषय में तीनो पाठों में मन्तर है लघु पाठ की संख्यायें दो एक अपवादों को छोड़कर जो अनेक कारणों से सम्भव है, सर्वत्र लघु है, मध्य की इसी प्रकार मध्य है और वृहत् की इसी प्रकार वृहत् है। मध्यम पाठ की संख्यायें कहीं कहीं पर तो लघु की है और कहीं कहीं पर वृहत् की है। उदाहरणों के लिए निम्न लिखित उल्लेखों को लिया जा सकता है —

१ वृहत् ४५ २०२ तीस सप्प तोआर सप्प गैवर बस पम्बाहि।
  मध्य ११ १ ।
  लघु १ कवित्त १ सहस बीस ।

२ वृहत् ४५ २०२ दसह सप्प पयदसह पुरुष बस सत ठि रज्जाहि।
  मध्य ११ १ सत सप्प पयदसपुर्लत „ ।
  लघु १ कवित्त १ ।

३ वृहत् ६१-७२१ आसम रासन सप्त हुनि अयुत एक भट सप्त।
  मध्य १२ ६६ ।
  लघु ६ दोहा १० „ अस्सिय सहस ।

इसलिए वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि लघु में दी हुई संख्यायें ही मूल पाठ के निकटतम हैं मध्य वृहत् की उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रक्षिप्त हैं। फलतः परिणाम यह निकलता है इन तीनों पाठों में लघु मूल के सबसे अधिक निकट है।[1] 'रासो' के आरम्भ में एक दोहा मिलता है। इसका भी मूल्यांकन डॉ० गुप्त ने किया है। लघु०

सहस सत्त नख सिख सरस आदि अन्त मुनि वेपु।
घटि बढि मत्तहि को पढ़े दूषन मोहि न विसेषु।

इस दोहे के आधार पर भी वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि लघु रूपान्तर ही मूल रासो के अधिक निकट है।

इस प्रकार प्रतियों के आकार निर्णय की दृष्टि से भी 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता की स्थापना के प्रयास हुए हैं। इस दृष्टि से 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में संकलित पृथ्वीराज और जयचन्द से सम्बन्धित प्रबन्धों का उल्लेख किया

१—हिन्दी साहित्य द्वितीय खण्ड पृ० ११६ १२०।

गया है। इस में से तीन नागरी प्रचारिणी सभा के 'पृथ्वीराज रासो' के संस्करण में मिल जाते हैं। तुलना के लिए उन्हें यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।—

इक्कु बाणु पहुवीसु जु पई कइं बासह मुक्कओ
उर भीतरि खडहडिउ धीर कक्खंतरि चुक्कउ।
बीअं करि संधीउं भमइ सूमेसर नंदण
एहु सु गडि दाहिमओ खणइ खुद्दइ सइंभरि वणु।
फुड छंडि न जाई इहु लुब्भिउ बारइ पलकउ खल गुलह।
नं जाणउं चंद बलद्दिउ किं न वि छुट्टइ इह फलह।
पुरातन प्रबन्ध संग्रह पद्य २७५।

एकं बान पहुमी नरेसु कैमासह मुक्यौ।
उर अप्पर थरहर्यौ बीर कष्यंतर चुक्यौ॥
बियौ बान संधान हन्यौ सोमेसर नंदन।
गाढौ करि निग्रह्यौ षनिव गड्यौ संभरि धन।
थल छोरि न जाइ अभागरौ गाड्यौ गुन गहि अग्गरौ॥
इम जंपै चंद बरद्दिया कहा निघट्टै इय प्रलौ।
पृथ्वी राज रासो १४६१ २३६।

अगहु म गहि दाहिमओ रिपुरायखयं करू,
कुडु मंत्रु मम ठवओ एहु जंबुय (प) मिली जग्गरू।
सहनामा सिक्खवउ जइ सिक्खिवउ बुज्झई।
जंपइ चंदबलिद्दु मज्झ परमक्खर सुज्झइ।
पहु पहुविराय सइं भरि धनी सयंभरि सउणइ संभरिसि।
कईवास विआस विसट्ठविणु मच्छिबंधिबद्धओ मारिसी।
पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पद्य २७६।

अगह मगह दाहिमौ देव रिपुराई षयंकर।
कूरमंत जिन करौ मिले जंबू वै जंगर॥
मो सहनामा सुनौ एह परमारथ सुज्झै।
अप्पै चंद बिरद्द बियो कोई एह न बुज्झै॥
प्रथिराज सुनवि संभरि धनी इह संभलि संभारि रिस।
कैमास बलिष्ट बसीठ बिन म्लेच्छ बंध बंध्यो मरसि।
पृथ्वीराज रासो २०८७ ७१४।

इस सत्य को सम्मुख रखते हुए ही मुनि जिनविजय ने चन्दबरदाई को देश्य भाषा प्राकृत का कवि माना है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन्हें हिन्दी परम्परा के आदि कवि की अपेक्षा अपभ्रंश-परम्परा का अन्तिम कवि माना है। 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' के जो अंश उदाहरण में दिए गए हैं उनकी भाषा अवहट्ट है। इस प्रकार द्विवेदीजी की प्रस्तावना में मैं विनम्र संशोधन करना चाहूँगा। चन्दबरदाई अवहट्ट-परम्परा के आदि कवि हैं। इस प्रकार इन्हें हिन्दी के आदिकाल के कवि के रूप में स्वीकार करने में भी कोई संकोच नहीं होना चाहिए।

ऊपर 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' और 'पृथ्वीराज रासो' के छन्दों में भाषा विषयक अन्तर का उल्लेख किया गया है। और यह अन्तर उसके विकासशील स्वरूप की ओर संकेत करता है। डॉ माता प्रसाद गुप्त ने इस सन्दर्भ में भी शंका व्यक्त की है। इस प्रसंग में दो प्रश्नों की ओर संकेत करते हुए वे लिखते हैं[1]—

१—प्रबन्धों में चंद द्वारा पृथ्वीराज या जयचन्द को सम्बोधित करके कुछ छन्द कहे गये हैं, क्या इसीलिए मान लिया जाए कि चंद पृथ्वीराज का समकालीन और उसका राज कवि था?

२—क्या उद्धृत छंदों की भाषा का स्वरूप इतना निश्चयात्मक माना जा सकता है कि उसके आधार पर चन्द की असली रचना को प्रक्षेपों से अलग किया जा सकता है? डॉ० गुप्त ने स्वयं इन प्रश्नों के समाधान के द्वारा स्थिति का स्पष्टीकरण करना चाहा है। प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए उनका यह आग्रह है कि इन प्रबन्धों पर विश्वास करना उचित नहीं है। ये प्रबन्ध कल्पित हैं। इनके आधार पर यह *निर्णय नहीं किया जा सकता* है कि चंद पृथ्वीराज का समकालीन या उसका राज कवि था। इस विषय में मेरा आग्रह यह है कि चन्द पृथ्वीराज का समकालीन भले ही न रहा हो परन्तु इन प्रबन्धों की *प्राचीनता पर सन्देह की सम्भावना नहीं होनी चाहिए।* पृथ्वीराज से सम्बन्धित प्रबन्ध पृथ्वीराज के समय में अथवा उसके पश्चात् तत्काल ही अस्तित्व में आ चुके थे। द्वितीय प्रश्न का समाधान करते हुए उनका यह कथन है कि देश्य

१—हिन्दी साहित्य खण्ड २ पृ० ११९

प्राकृत में रचनायें पृथ्वीराज के अनेक वर्षों पश्चात् तक होती रही हैं। अतः देश्य प्राकृत में होने के कारण ही इनकी प्राचीनता प्रमाणित नहीं होती है। विचार करके देखें तो देश्य प्राकृत एक भ्रामक या अस्पष्ट शब्द है जिसकी मूल अनुप्रेरणा सम्भवतः डॉ० माता प्रसाद गुप्त ग्रहण नहीं कर सके हैं। देश्य प्राकृत के विपरीत साहित्यिक प्राकृत का भी उल्लेख मिलता है। जब हम यह कहते हैं कि इन प्रबन्धों की रचना देश्य प्राकृत में हुई है तो इसका तात्पर्य यह है कि ये रचनायें अपने युग की लोकभाषा में हुई हैं। इस कथन का स्पष्टीकरण इस रूप में किया जा सकता है कि प्रत्येक पर्व में भाषा के दो रूप मिलते हैं। प्रथम—जनभाषा का रूप द्वितीय—साहित्यिक भाषा का रूप। अपभ्रंश या अवहट्ठ में भी भाषा-स्वरूप के दो रूप मिलते हैं। अतः जब हम वर्तमान सन्दर्भ में देश्य प्राकृत का उल्लेख करते हैं तो हमारा तात्पर्य जनभाषा से ही है। अतः इन प्रबन्धों की रचना अपने युग की साहित्यिक भाषा से विपरीत जन भाषा में हुई है।

डॉ० गुप्त ने यह कहा है कि देश्य प्राकृत में रचना हम्मीर और उसके पश्चात् भी होती रही है। 'प्राकृत पैंगलम्' की भाषा को वे अपने कथन के प्रमाण में प्रस्तुत करते हैं। परन्तु 'प्राकृत पैंगलम्' अथवा 'सिद्ध हेम शब्दानुशासन' में भाषा की एक रूपता नहीं है। इनमें प्रस्तुत अंश लोकजीवन से संकलित हैं। अतः इनमें भाषा का विकासशील स्वरूप ही मिलता है। अतः इनके आधार पर भाषा की एक रूपता के प्रति आग्रह नहीं प्रकट करना चाहिए। 'प्राकृत पैंगलम्' में संकलित हम्मीर सम्बन्धी छन्दों की भाषा भी देश्य प्राकृत इस अर्थ में है कि ये छन्द अपने रचनाकाल की जन भाषा में रचित हैं। हम्मीर सम्बन्धी छन्दों की भाषा और 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में 'पृथ्वी राज प्रबन्ध' या 'जयचन्द प्रबन्ध' की भाषा में अन्तर है। अतः डॉ० गुप्त का यह संकेत कि इनमें भाषा का अन्तर नहीं है उचित नहीं है। इन दोनों की भाषा में काल का अन्तर स्पष्ट है। हम्मीर सम्बन्धी छन्दों की भाषा 'पृथ्वीराज प्रबन्ध' के भाषारूप के परवर्ती काल की भाषा है। दोनों सन्दर्भों की भाषा के उदाहरण प्रमाण के लिए यहाँ दिए जाते हैं।

ढोल्ला मारिअ ढिल्लि महं मुच्छिअ मेच्छ सरीर।
पुरअज्जला मंतिवर चलिअ वीर हम्मीर।
चलिअ वीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ।
दिग मगणह अंधार धूलि सूरह रह झंपइ।

प्राकृत पैंगलम्।

इसके अतिरिक्त 'हम्मीर रासो' नामक एक और रचना है जिसके कृतिकार जोधराज हैं। यह सन् १७२८ की रचना है। जयचन्द्र सूरि ने भी 'हम्मीर महाकाव्य' की रचना की है। यह कृति पन्द्रहवीं शताब्दी की मानी जाती है। इसमें छन्द संख्या एक हजार है। इसकी भाषा 'प्राकृत पैंगलम्' में हम्मीर सम्बन्धी छन्दों की भाषा से भी विकासशील है। उदाहरण —

कहै सील अंग परै पार होई।
मनौ ऊड मैं नाग स्पर्टत सोई॥
कटारी असी अंग वीसंत पारं।
मनौ नारि मुग्धा कछयौ पा निवारं॥

हम्मीर रासो। छन्द १०१।

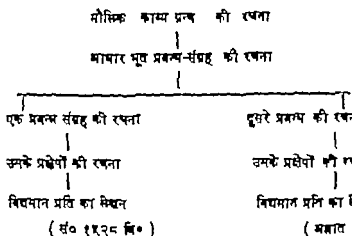
'पृथ्वीराज प्रबन्ध' की भाषा देखिए—

सहु नामा सिक्खवउं जइ सिक्खिवउं बुज्झाइ।
जंपइ चन्द बलिद्दु मज्झ परमक्खर सुज्झइ॥
पहु पहुविराय सइंभरि धनी सयंभरि सउणइ संभरिसि।
कइंबास विआस विसट्ठ विणु मच्छिबंधि बध्दओ मारिसि॥

पुरातन प्रबन्ध संग्रह। २७६।

'पृथ्वीराज प्रबन्ध' दो संग्रहों में मिलता है। बाह्य समानता होते हुए भी छन्दों और वाक्य नियोजन की दृष्टि से इन दोनों में सूक्ष्म भेद भी है। इस दृष्टि को सम्मुख रखते हुए डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने इसके विकास-क्रम-स्वरूप

का संकेत किया है जो इस प्रकार है—



अतः डॉ० गुप्त की यह धारणा है कि मौलिक काव्य-ग्रन्थ की रच
विद्यमान प्रति के लेखन के बीच चार पीढ़ियों का अन्तर है, और प्रक्षेप
के लिए पचास वर्षों के अन्तर को स्वीकार करते हुए उन्होंने सन् १२७१
'पृथ्वीराज रासो' का रचनाकाल स्वीकार किया है। यह समय पृथ्वी
समय से १०० वर्ष पश्चात् पड़ता है।[1]

'पृथ्वीराज रासो' के जिस विकास क्रम की कल्पना डॉ० गुप्त ने की
योजना-बद्ध है। 'बीसलदेव रासो' के विकास-क्रम के लिए भी इसी प्र
योजना इन्होंने प्रस्तावित की है। किसी भी काव्य विधा काव्य
भाषास्वरूप या विशिष्ट काव्य की विकासशीलता किसी पूर्वनियोजित
अवलम्बित नहीं होती। इस आधार से समस्या का समाधान सम्भव न
भाषा की विकासशीलता के विभिन्न स्तरों के क्रमनियोजन के आधार पर
विकास-अवस्थाओं का निर्धारण हो सकता है। इस क्रम का आधा
पर यदि 'पृथ्वीराज रासो' का सम्पादन हो सके तो वस्तु स्थिति का किस
तक स्पष्टीकरण हो सकता है।

'पृथ्वीराज रासो' के आदि रूप और उसकी प्रामाणिकता की कल्पना उसमें प्रयुक्त छन्दों के आधार पर भी की गई है। यह विश्वास प्रकट किया गया है कि चन्दबरदाई ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही यह संकेत कर दिया है कि उनकी कृति कतिपय विशिष्ट छन्दों में ही लिखी गई है। यथा०—

छन्द प्रबंध कवित्त जति साटक गाह दुहत्थ।
लघु गुरु मण्डित खंडियहि पिंगल अमर भरत्थ॥

मथुरा प्रसाद दीक्षित ने इस कथन का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—'छन्द अर्थात् एक ही छन्द के रसावला नाराच भुजंगप्रयात इत्यादि छन्दों को प्रबंध पृथ्वीराजजी के चरित्र-संगठन को कवित—श्लेषा रूपकादि कवि-कल्पना को यति (जति) विराम तथा साटक अर्थात् शार्दूल विक्रीड़ित आदि छन्दों को तथा गाथा आर्यागीति उपगीति आदि तथा दुवर्थ श्लेषात्मक वर्णन को इस रासो में स्थान है।'[१] सम्पादक की यह धारणा है कि इन्हीं वृत्तों में पृथ्वीराज रासो' की रचना हुई है। परन्तु इस कथन का स्पष्ट अर्थ यह है कि 'रासो' की प्रबन्धात्मकता में 'छन्द' 'कवित्त' 'साटक' (षट्पद) 'गाथा' और 'दोहा' (दुहत्थ) आदि वृत्तों का प्रयोग है। इस अर्थ को ग्रहण करते हुए कविराव मोहनसिंह ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इन्हीं छन्दों में मूल 'पृथ्वीराज रासो' की रचना हुई है।[२] इन निष्कर्षों को स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'पृथ्वीराज रासो' में 'रासक-काव्य विधा' के छन्द अति व्यापक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इसके साथ ही साथ संस्कृत के छन्दों का भी प्रयोग इस कृति के वर्तमान रूप में मिलता है (पिंगल अमर भरत्थ)। अतः इन छन्दों के आधार पर 'पृथ्वीराज रासो' के आदि रूप की कल्पना सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में आवश्यक तथ्यों की चर्चा पृथ्वीराज रासो की छन्द-योजना के अन्तर्गत की गई है।

'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता पर विचार करने की परम्परा इतिहास के संदर्भों तक ही सीमित रही है। इस दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामा

१—असली पृथ्वीराज रासो (प्रथम भाग पृ० १४)। देखिए—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास पृ० ३२१।

२—इस सूत्र को ग्रहण करके वे 'पृथ्वीराज रासो' का सम्पादन कर रहे हैं—राजस्थान विद्यापीठ।

विकता पर विचार करने वाले आलोचकों की दृष्टि इतिहास-सम्मत और इतिहास विपरीत तथ्यों तक ही सीमित रही है। परन्तु 'पृथ्वीराज रासो' का अध्ययन साहित्य के अन्तर्गत हम काव्य-ग्रन्थ के रूप में करते हैं। अतः काव्यात्मक अनुचेतना के सन्दर्भ में इसकी प्रामाणिकता का विश्लेषण अपेक्षित है। इस सन्दर्भ को ग्रहण करते हुए हम आगे के पृष्ठों में विचार करेंगे। अभी इतिहास के आधार को ग्रहण करने वाले आलोचकों की भावनाओं की चर्चा और विश्लेषण किया जा रहा है।

श्यामसुन्दर दास 'पृथ्वीराज रासो' को प्रामाणिक कृति मानते हैं। इस विषय में उनका 'हिन्दी का आदि कवि' शीर्षक लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है।[1] इस लेख में निम्नलिखित निष्कर्ष ध्यान देने योग्य हैं—

(क) चन्दबरदाई के अनुसार पृथ्वीराज का जन्मकाल संवत् १११५ है। उनके गोद जाने का समय संवत् ११२२ है।

(ख) संवत् ११५१ में उनका कन्नौज-गमन हुआ।

(ग) शहाबुद्दीन के साथ उनका अन्तिम युद्ध संवत् ११५८ में हुआ था। 'तब-कात इ नसीरी' के अनुसार यह अन्तिम युद्ध हिजरी ५८८ (सं० १२४८) में हुआ था। इस प्रकार चन्दबरदाई की तिथि और 'नसीरी' की तिथि में ९० वर्षों का अन्तर पड़ता है। इस अन्तर का समाधान उन्होंने 'अानन्द संवद्' की कल्पना करके किया है।

हस्तलिखित पुस्तकों के अनुसंधान में मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या को भी प्राचीन 'पट्टे' तथा 'परवाने' उपलब्ध हुए हैं। इनमें स्थान-स्थान पर ऋषिकेश नामक व्यक्ति का उल्लेख मिलता है। वह वैद्य था और पृथा के विवाह में समर सिंह को दहेज में दिया गया था। पृथाबाई ने उन चार व्यक्तियों का उल्लेख किया है जो उनके साथ चित्तौड़ आये थे। उनका उल्लेख 'पृथ्वीराजरासो' में भी मिलता है यथा—

> षीपत साह सुजान देस बम्मह संग दिन्नो।
> बक प्रोहित गुरराम ताहि अग्या नृप किन्नो॥
> रिषिकेस दिए वद्य ताहि धनन्तर पद सोहै।
> चन्द सुतन कवि जल्ह असुर सुर नर मन मोहै॥

१—नागरी प्रचारिणी पत्रिका—१६०१।

ऊपर 'आनन्द संवत्' का उल्लेख किया गया है। इस सम्बन्ध में विचारकों की यह धारणा है कि सम्भवतः पृथ्वीराज ने साक' संवत् चलाने की कल्पना की हो। 'आदि पर्व' में चन्दबरदाई ने लिखा भी है—

एकादस से पंचदह विक्रम जिमि ध्रुम सुत।

तदिय साक प्रथिराज को लिक्ख्यो विप्र गुन गुत॥

इसी सन्दर्भ में एक अन्य मत की चर्चा अपेक्षित है। जयचन्द के पूर्व से लेकर जयचन्द्र तक उनकी परम्परा में नब्बे वर्षों की अवधि आती है। जयचन्द से कटुता होने के कारण इस अवधि की गणना सम्भवतः पृथ्वीराज के सन्दर्भ में नहीं की गई है।

अतः श्याम सुन्दरदास और मिश्र बन्धुओं ने 'पृथ्वीराज रासो' को पूर्ण प्रामाणिक माना है। इतिहास-सम्मत् भ्रान्तियों के लिए वे निम्नलिखित कारणों का उल्लेख करते हैं—

(क) सम्भवतः चन्द ने अपने स्वामी का अतिशयोक्ति पूर्ण प्रताप-कथन किया हो। कवि के लिए यह स्वाभाविक भी था। (ख) जो भ्रान्तियाँ विदित होती हैं वे वास्तव में भ्रान्तियाँ नहीं हैं क्योंकि 'नागरी प्रचारिणी सभा' की ओर से प्रकाशित कुछ तात्कालिक परवानों पट्टों से उनकी पूर्ति हो जाती है। तिथियों के अन्तर के लिए मिश्रबन्धुओं ने यह संकेत किया है कि रासो के सम्वत् विक्रम सम्वत् से नब्बे वर्ष कम हैं। यह अन्तर सभी प्रतियों में मिलता है। इसका कारण यह है कि 'पृथ्वीराज रासो' में साधारण सम्वत् का प्रयोग नहीं किया गया है। यह वह सम्वत् है जो वर्तमान सम्वत से नब्बे वर्ष पीछे पड़ता है। यह प्रस्तावना अति शिथिल अवैज्ञानिक और तथ्यरहित है। यह इस वर्ग के समर्थकों को किसी भी रूप में शक्ति नहीं प्रदान कर पाता है।

(ग) 'पृथ्वी राज रासो' के वर्तमान स्वरूप में अरबी-फारसी की शब्दावली व्यापक रूप में प्रयुक्त है। इसके आधार पर भी आलोच्य कृति की प्रामाणिकता स्थापित करने का प्रयास किया गया है। इस संकेत का निदान करते हुए उन्होंने यह कहने का प्रयास किया है कि गोरी से लगभग पौने दो सौ वर्ष पहले महमूद गजनवी भारत में आ चुका था। गजनवी से प्रायः तीन सौ वर्ष पहले ही सिन्ध-मुल्तान पर मुसलमानों का अधिकार हो चुका था। पंजाब भी मुसलमानी संस्कृति से प्रभावित हो चुका था। चन्द लाहौर का निवासी था अतः बाल्यावस्था से ही अरबी और फारसी के शब्द उसके मस्तिष्क में आ चुके थे।

यह निष्कर्ष भी सबल प्रमाणों के आधार पर स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। 'पृथ्वीराज रासो' में अरबी-फारसी के शब्दों को सख्या अति व्यापक है। और किसी एक निश्चित काल-अवधि में विदेशी भाषा के शब्दों की यह व्यापकता सम्भव नहीं है। यह कृति इन विद्वानों द्वारा जिस काल की रचना स्वीकृत है उस काल की भाषा में अरबी-फारसी का इतना जीवन्त प्रभाव सम्भव नहीं है। उस युग की अन्य कृतियों में 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा का यह स्वरूप परिलक्षित नहीं होता है। किसी भाषा में विदेशी भाषाओं के शब्दों का पर्याप्त मात्रा में आगमन कालक्रम से होता है। इसके अतिरिक्त विदेशी भाषा का कौन सा शब्द किसी अन्य भाषा में किस समय आया इसका भी निर्णय भाषा-स्वरूप के अध्ययन के द्वारा हो जाता है। इस दृष्टि से भी यह स्पष्ट निर्णय हो जाता है कि 'पृथ्वीराज रासो' में अरबी-फारसी के शब्दों का व्यापक मात्रा में आगमन अनेक काल-स्तरों में हुआ है। इस दृष्टि से यह भी स्पष्ट होता है कि अपने वर्तमान स्वरूप में आलोच्य कृति किसी एक कवि अथवा किसी एक काल अवधि की रचना नहीं है।

'पृथ्वीराज रासो' की अप्रमाणिकता पर विचार करने वाले आलोचकों ने भी इतिहास की स्थूलता का ही आधार ग्रहण किया है। बंगाल से 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' द्वारा 'पृथ्वीराज रासो' का प्रकाशन हो रहा था। मुरारीदान और श्यामलदान ने इस कृति की प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट किया। इनके सन्देह से अनुप्रेरित हो कर और जयानक के 'पृथ्वीराज विजय' के विश्लेषण से पूर्णत विश्वस्त होकर बूह्लर ने भी इस विश्वास का प्रतिपादन किया है कि 'पृथ्वीराज रासो' एक अप्रामाणिक रचना है। इनके निष्कर्षों से प्रभावित होने के कारण 'एशियाटिक सोसाइटी' ने इसका प्रकाशन स्थगित कर दिया।

काश्मीर के कवि जयानक की रचना 'पृथ्वीराज विजय' एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। अपने वर्तमान रूप में यह अपूर्ण है इसमें केवल बारह सर्ग हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह कृति संवत् १२४६ में लिखी गई है। इस ग्रन्थ के बारहवें सर्ग में यह संकेत मिलता है कि काश्मीर का एक कवि (सम्भवत जयानक ?) पृथ्वीराज के दरबार में आता है। वहाँ उसको सम्मान मिलता है और उसका परिचय राजकवि तथा सामन्त पृथ्वी भट्ट से कराया जाता है। यह अनुमान किया जाता है कि यह घटना पृथ्वीराज की मृत्यु के कुछ ही समय (दो-एक वर्ष) पूर्व हुई होगी। इसके बारहवें सर्ग में पृथ्वीराज को राम का अवतार कहा

गया है। इसके अनुसार तिलोत्तमा ने गंगा तटवर्ती किसी विशेष स्थान पर राजकुमारी के रूप में अवतार लिया था। इस वर्णन के बाद प्रति खण्डित है।

डॉ बूलर ने 'पृथ्वीराज विजय'[१] का विश्लेषण किया। इस विश्लेषण के अनुसार जयानक पृथ्वीराज का समकालीन था। जयानक ने चौहानों का जो वर्णन प्रस्तुत किया है उसकी प्रामाणिकता इतिहासग्रन्थों और शिलालेखों से स्थापित हो जाती है। 'पृथ्वीराज रासो' में वर्णित घटनायें और तिथियाँ इतिहास विपरीत पड़ती हैं। इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय यह है कि कतिपय विद्वानों ने 'पृथ्वीराज विजय' के आधार पर ही 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता का संस्थापन किया है। जयानक का परिचय पृथ्वीराज के राज कवि पृथ्वी भट्ट से कराया गया। जयानक ने इसका उल्लेख किया है। इस वर्ग के आलोचकों की यह धारणा है कि पृथ्वीभट्ट चन्दबरदाई का ही नाम था। परन्तु इस निर्णय के लिए उनके पास कोई सापेक्ष प्रमाण नहीं है। इन आलोचकों की यह भी धारणा है कि 'पृथ्वीराज विजय' में जिस तिलोत्तमा की चर्चा मिलती है वह जयचन्द की पुत्री संयोगिता ही है। 'पृथ्वराज विजय' की प्रति खण्डित है। अतः इन विचारकों का यह अनुमान है कि आगे तिलोत्तमा (संयोगिता) और पृथ्वीराज के विवाह का वर्णन रहा होगा और शहाबुद्दीन के साथ पृथ्वीराज के संघर्षों का भी वर्णन उसमें अनिवार्य रूप से रहा होगा। यदि ये निष्कर्ष सत्य है तो 'पृथ्वीराज विजय' की तिलोत्तमा और पृथ्वीराज रासो की 'संयोगिता' एक ही व्यक्ति हैं। दोनों ग्रन्थों में नायिका को अप्सरा के अवतार के रूप में स्वीकार किया गया है। इस सन्दर्भ में मेरा विनम्र आग्रह यह है कि 'पृथ्वीराज विजय'

१—पृथ्वीराज विजय की हस्तलिखित खण्डित प्रति डॉ॰ बूलर को सन् १८७५ में काश्मीर में प्राप्त हुई थी। इसमें जोनराज की टीका भी संलग्न है। डॉ॰ बूलर तथा जेम्स *मारीसन्* ने इसका अध्ययन किया है। देखिए Proceedings of the Royal Asiatic Society of Bengal April 1893 Extract Number of the Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society 1877

की सम्पूर्ण प्रति जब तक उपलब्ध न हो जाय तब तक इस प्रकार का कोई निर्णय नहीं लिया जा सकता है।

पृथ्वीराज विजय' के विश्लेषण से 'पृथ्वीराजरासो' की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता की संस्थापना सम्भव नहीं है।

सन् १२०० के लगभग काश्मीर के कवि और आचार्य जयरथ का उल्लेख मिलता है। इनके एक ग्रन्थ 'विमर्शिनी' का उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ में 'पृथ्वीराज विजय'[१] का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। अतः 'पृथ्वीराज विजय' की रचना इस समय तक हो चुकी थी।[२]

प्रसिद्ध इतिहासकार और पुरातत्ववेत्ता श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने 'पृथ्वीराज रासो' की ऐतिहासिकता का मूल्यांकन इतिहास के सूक्ष्मतम तथ्यों से

१—देखिए—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० १६१।

२—पृथ्वीराज विजय का विभाजन इस प्रकार है—प्रथम सर्ग—पूर्व कवियों—वाल्मीकि व्यास आदि की वन्दना के पश्चात् पृथ्वीराज की गौरव गाथा का वर्णन। द्वितीय सर्ग—सूर्य मण्डल से चाहमान (चौहानों के आदि पुरुष) का अवतरण वासुदेव का जन्म वर्णन। तृतीय सर्ग—वासुदेव वर्णन (शाकम्भरी झील की उत्पत्ति की कथा) वासुदेव का वहाँ प्रस्थान। चतुर्थ सर्ग—और पञ्चम सर्ग—वासुदेव का वंश वर्णन अजयराज का वर्णन। षष्ठ सर्ग—अजयराज के पुत्र अर्णोराज का उल्लेख। अर्णोराज की दो रानियों—सुधवा और कंचन देवी का उल्लेख। सुधवा के तीन पुत्रों में विग्रहराज की कीर्ति चर्चा। कंचन देवी के पुत्र सोमेश्वर का उल्लेख। सप्तम सर्ग—कुमारपाल का वर्णन। सोमेश्वर और कर्पूरदेवी के विवाह की कथा। अष्टम सर्ग—पृथ्वीराज की जन्म कथा। नवम सर्ग—कर्पूरदेवी के शासन का वर्णन। कादम्बवास की प्रतिभा की चर्चा। दशम सर्ग—पृथ्वीराज के विवाह की कथा। पृथ्वीराज के गुणों का वर्णन। एकादश सर्ग—गोरी और कादम्बवास के मध्य संघर्ष का वर्णन। भीमदेव द्वारा गोरी की पराजय की कथा। पृथ्वीराज की प्रणय-उद्भावनाओं में उद्दीपन के अन्तर्गत उसकी चित्रशाला का सौन्दर्य वर्णन। द्वादश सर्ग में जयानक का परिचय इसके पश्चात् की प्रति खण्डित है—विशेष सूचना के लिए देखिए—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ १६१।

गया है। इसके अनुसार तिलोत्तमा ने गंगा तटवर्ती किसी विशेष स्थान पर राजकुमारी के रूप में अवतार लिया था। इस वर्णन के बाद प्रति खण्डित है।

डॉ॰ बूलर ने 'पृथ्वीराज विजय'[1] का विश्लेषण किया। इस विश्लेषण के अनुसार जयानक पृथ्वीराज का समकालीन था। जयानक ने चौहानों का जो वर्णन प्रस्तुत किया है उसकी प्रामाणिकता इतिहासग्रन्थों और शिलालेखों से स्थापित हो जाती है। 'पृथ्वीराज रासो' में वर्णित घटनायें और तिथियाँ इतिहास विपरीत पड़ती हैं। इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय यह है कि कतिपय विचारकों ने 'पृथ्वीराज विजय' के आधार पर ही 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता का संस्थापन किया है। जयानक का परिचय पृथ्वीराज के राज कवि पृथ्वी भट्ट से कराया गया। जयानक ने इसका उल्लेख किया है। इस वर्ग के आलोचकों की यह धारणा है कि पृथ्वीभट्ट चन्दबरदाई का ही नाम था। परन्तु इस निर्णय के लिए उनके पास कोई सापेक्ष प्रमाण नहीं है। इन आलोचकों की यह भी धारणा है कि 'पृथ्वीराज विजय' में जिस तिलोत्तमा की चर्चा मिलती है वह जयचन्द की पुत्री संयोगिता ही है। 'पृथ्वीराज विजय' की प्रति खण्डित है। अत इन विचारकों का यह अनुमान है कि आगे तिलोत्तमा (संयोगिता) और पृथ्वीराज के विवाह का वर्णन रहा होगा और शहाबुद्दीन के साथ पृथ्वीराज के संघर्षों का भी वर्णन उसमें अनिवार्य रूप से रहा होगा। यदि य निष्कर्ष सत्य है तो 'पृथ्वीराज विजय' की तिलोत्तमा और पृथ्वीराज रासो की 'संयोगिता' एक ही व्यक्ति है। दोनों ग्रन्थों में नायिका को अप्सरा के अवतार के रूप में स्वीकार किया गया है। इस सन्दर्भ में मेरा विनम्र आग्रह यह है कि 'पृथ्वीराज विजय'

१—पृथ्वीराज विजय की हस्तलिखित खण्डित प्रति डॉ॰ बूलर को सन् १८७५ में काश्मीर में प्राप्त हुई थी। इसमें जोनराज की टीका भी संलग्न है। डॉ॰ बूलर तथा जेम्स मारीसन् ने इसका अध्ययन किया है। देखिए Proceedings of the Royal Asiatic Society of Bengal April 1893 Extract Number of the Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society 1877

की सम्पूर्ण प्रति जब तक उपलब्ध न हो जाय तब तक इस प्रकार का कोई निर्णय नहीं किया जा सकता है।

'पृथ्वीराज विजय' के विश्लेषण से 'पृथ्वीराजरासो' की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता की संस्थापना सम्भव नहीं है।

सन् १२०० के लगभग काश्मीर के कवि और आचार्य जयरथ का उल्लेख मिलता है। इनके एक ग्रन्थ 'विमर्शिनी' का उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ में 'पृथ्वीराज विजय'[1] का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। अतः 'पृथ्वीराज विजय' की रचना इस समय तक हो चुकी थी।[2]

प्रसिद्ध इतिहासकार और पुरातत्ववेत्ता श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता का मूल्यांकन इतिहास के मूलतम तत्वों के

१—देखिए—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० १६१।

२—पृथ्वीराज विजय का विभाजन इस प्रकार है—प्रथम सर्ग—पूर्व कवियों—वाल्मीकि व्यास आदि की वन्दना के पश्चात् पृथ्वीराज की गौरव गाथा का वर्णन। द्वितीय सर्ग—सूर्य मण्डल से चाहमान (चौहानों के आदि पुरुष) का अवतरण वासुदेव का जन्म वर्णन। तृतीय सर्ग—वासुदेव वर्णन (शाकम्भरी झील की उत्पत्ति की कथा) वासुदेव का वहाँ प्रस्थान। चतुर्थ सर्ग—और पञ्चम सर्ग—वासुदेव का वंश वर्णन अजयराज का वर्णन। षष्ठ सर्ग—अजयराज के पुत्र अर्णोराज का उल्लेख। अर्णोराज की दो रानियों—सुधवा और कंचन देवी का उल्लेख। सुधवा के तीन पुत्रों में विग्रहराज की कीर्ति चर्चा। कंचन देवी के पुत्र सोमेश्वर का उल्लेख। सप्तम सर्ग—कुमारपाल का वर्णन। सोमेश्वर और कर्पूरदेवी के विवाह की कथा। अष्टम सर्ग—पृथ्वीराज की जन्म कथा। नवम सर्ग—कर्पूरदेवी के शासन का वर्णन। कादम्बवास की प्रतिमा की चर्चा। दशम सर्ग—पृथ्वीराज के विवाह की कथा। पृथ्वीराज के युद्धों का वर्णन। एकादश सर्ग—गोरी और कादम्बवास के मध्य संघर्ष का वर्णन। भीमदेव द्वारा गोरी की पराजय की कथा। पृथ्वीराज की प्रणय-उद्भावनाओं में उद्दीपन के अन्तर्गत उसकी चित्रशाला का सौन्दर्य वर्णन। द्वादश सर्ग में कथानक का परिचय इसके पश्चात् की प्रति खण्डित है—विशेष सूचना के लिए देखिए—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० १६१।

मानदण्ड पर किया है। उनकी यह धारणा है कि वि० सं० १४४० में रचित 'हम्मीर काव्य' एक प्रामाणिक कृति है। प्रस्तुत कृति के स्वरूप पर हम विचार कर चुके हैं। इस रचना में चौहानों को अग्निवंशी नहीं माना गया है। 'पृथ्वीराज रासो' में उन्हें अग्निवंशी माना गया है। इस अन्तर के आधार पर अपना निष्कर्ष प्रदान करते हुए वे कहते हैं 'इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक 'पृथ्वीराज रासो' प्रसिद्धि में नहीं आया। यदि 'रासो' की प्रसिद्धि हो गई होती तो 'हम्मीर महाकाव्य' का लेखक उसी के आधार पर चलता।

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने कुम्भलगढ़ किले का उल्लेख किया है। महाराणा कुम्भकर्ण ने वि० सं० १५१७ में इसका निर्माण किया। कुम्भ स्वामी के मन्दिर में पाँच शिलालेखों पर श्लोकों में अपने समय तक के मेवाड़ के शासकों का विस्तृत वर्णन है। इस सन्दर्भ में इतिहासकार ने दो प्रमुख तथ्यों की ओर संकेत किया है—(क) समरसिंह ने पृथा (पृथ्वीराज की बहन) के साथ विवाह किया था इसका यहाँ कोई उल्लेख नहीं मिलता। (ख) समरसिंह गोरी के साथ युद्ध म मारा गया इसकी स्वकृति इन शिलालेखों से नहीं होती है। इसके समानान्तर महाराणा राजसिंह के राजसमुद्र के तालाब के नौ चौकी बांध पर स्थापित पचीस शिलाओं पर उत्कीर्ण महाकाव्य को ओझाजी ने प्रस्तुत किया है। इसके तृतीय सर्ग में समरसिंह और पृथा के विवाह का उल्लेख है। समरसिंह का गोरी द्वारा वध हुआ इस घटना का भी उल्लेख यहाँ मिलता है। इन दो घटनाओं की प्रामाणिकता के लिए इस महाकाव्य में 'पृथ्वीराज रासो' में वर्णित इन घटनाओं को साक्षी रूप में ग्रहण किया गया है। अतः निष्कर्ष रूप में इनकी मान्यता है कि पृथ्वीराज रासो की रचना कुम्भलगढ़ किले की स्थापना (वि सं० १५१७) के पश्चात् और राज समुद्र तलाव के निर्माण (१७३२) के पूर्व होगी।[१]

इस प्रकार ओझा जी भी इतिहास के सन्दर्भ से ऊपर नहीं उठ पाते।

सं० १६३४ में सुर्जन हाड़ा की प्रशस्ति में लिखित 'सुर्जन चरित महाकाव्य' का उल्लेख पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता की स्थापना में किया जाता है। यह

१—नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग १० (पृ० ९२)

बत्तीस सर्गों की कृति है। इसके अनुसार चाहुमान या चहमान ब्रह्मा के यज्ञकुण्ड से प्रकट हुए हैं (सर्ग सात)। इसके दसवें सर्ग में कान्यकुब्जेश्वरी के साथ पृथ्वीराज की प्रेमकथा के साथ-साथ म्लेच्छों के इक्कीस बार पराजीत होने का उल्लेख है। अन्तिम संघर्ष में पृथ्वीराज की पराजय के साथ-साथ उसका बन्दी होकर गजनी जाना भी वर्णित है। उसके नेत्रहीन होने की कथा भी यहाँ मिलती है। चन्द कवि के गजनी जाने के उल्लेख के साथ-साथ शब्दवेधी बाण द्वारा गोरी के वध का भी उल्लेख है। इस सन्दर्भ में इस सत्य की ओर संकेत किया जा सकता है कि 'सुजन चरित्र' में वर्णित ये घटनायें 'पृथ्वीराज रासो' से ही ग्रहण की गई हैं अतः 'सुजन चरित्र' के आधार पर प्रामाणिकता-संस्थापना की चेष्टा विशेष उपयोगी नहीं सिद्ध होगी। क्योंकि सुर्जन चरित्र' महाकाव्य में वर्णित घटनायें बीकानेर फोर्ट में सुरक्षित 'पृथ्वीराज रासो' की प्रति में उपलब्ध घटनाओं के अनुसार ही है।

मोती लाल मेनारिया की यह संस्थापना है कि चन्द नाम का कोई कवि पृथ्वीराज का सामयिक था परन्तु उसने 'पृथ्वीराज रासो' नाम की कोई कृति लिखी है इसमें संदेह है। उन्होंने रणमल्ल छन्द' या 'पाबजी रा छन्द' की तरह पृथ्वीराज से सम्बंधित किसी लघु काव्य की रचना की या उसकी प्रशस्ति में कतिपय फुटकल पदों की रचना की।[1] 'आइ-ने-अकबरी' में सूर दास की कृति 'साहित्य लहरी' का उल्लेख मिलता है। इसके एक पद में सूरदास ने अपने को चंद का वंशज कहा है। इस कथन पर किसी अज्ञात कवि की टीका भी मिलती है।

प्रथम ही प्रभु यज्ञ ते भे प्रकट अद्भुत रूप।
ब्रह्म राव विचार ब्रह्मा राखु नाम अनूप ॥
पान पय देवी दियो सिव आदि सुर सुख पाय।
कह्यो दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति अधिकाय।

१—पृथ्वीराजा रासो का निर्माण काल—विशाल भारत १९८९

पारि पामन सुरन के सुर सहित अस्तुति कीन।
तासु अंस प्रसंस में भो चन्द भाट नवीन॥
भूप पृथ्वी राज दीन्हों तिन्हें ज्वाला देस।[1]

इस मे इस संकेत को ग्रहण किया जा सकता है कि चन्दबरदाई भाट या भट्ट वंश के थे। 'पुरातन प्रबंध' संग्रह में भी चंद को भाट या भट्ट जाति का कहा गया है। 'भविष्य पुराण' के प्रस्तुत अंश को आधार मान कर भी सूरदास और चन्द को भट्ट जाति का कहा गया है—

सूरदास इति ज्ञेय कृष्णलीलाकार कवि
सम्मुखे चन्द्र भट्टस्य कुले जातो हरि प्रिय ।

'साहित्य लहरी' की प्रामाणिकता पर निर्णय नहीं हो सका है। 'चन्द छन्द वर्णन की महिमा' का उल्लेख 'रासो' की प्रमाणिकता संस्थापना हेतु कतिपय सन्दर्भो में किया जाता है। परन्तु 'चन्द छन्द वर्णन की महिमा' की प्रामाणिकता पर हम निर्णय लेने में असमर्थ हैं। अत आलोच्य सन्दर्भ में इसका उपयोग समस्या के निर्णय में विशेष उपयोगी नहीं होगा।[2] इन सन्दर्भो से एक ही निष्कर्ष निकलता है कि अकबर के समय तक 'पृथ्वी राज रासो' और चन्दबर दाई का व्यापक प्रचार हो चुका था। परन्तु यह प्रचार लोक-अनुश्रुतियों के माध्यम से ही विशद रूप में हुआ जान रहा है। 'रासो' की प्रमाणिकता या उसके मूल रूप का इन सन्दर्भो से कोई परिचय नहीं मिलता।

इस प्रकार 'पृथ्वी राज रासो' का विश्लेषण इतिहास की पीठिका पर किया गया है। और किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की अपेक्षा समस्या और गुम्फित होती गई। 'रासो' की विवेचना हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्त

१—देखिए—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास पृ० २११। परन्तु लेखक ने इस उद्धरण के स्रोत का उल्लेख नहीं किया है, जिससे इसकी प्रामाणिकता का प्रश्न उत्पन्न होता है।

२—चन्द छन्द वर्णन की महिमा की जिस प्रति का उपयोग किया गया वह एशियाटिक सोसाइटी बंगाल में सुरक्षित है। यह किसी प्रतिलिपि की प्रतिलिपि है।

गो इतिहास ग्रन्थ के रूप में छापी गयी है। विद्वानों के लिए यह आवश्यक था कि शास्त्र-भूमि के रूप में इसकी समस्त समस्याओं पर विचार करें। भिन्न भिन्न प्रतियों का आधार ग्रहण कर इसकी भाषा के विभिन्न स्तरों के स्वरूप का अध्ययन करें। आधुनिक युग में इन्हीं सन्दर्भों के आधार पर 'पृथ्वी राज रासो' के स्वरूप और उसकी प्रामाणिकता पर विचार किया गया है। प्रस्तुत पृष्ठों में इस सन्दर्भ की चर्चा की जा रही है।

'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' की भूमिका में मुनि जिनविजय ने 'पृथ्वी राज रासो' के काव्य-रूप सम्बन्धी वैज्ञानिक विचार धाराओं की अतिरिक्त रूप-योजना उपस्थित की है।[1] 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' के पद संख्या ८६, ८८, ८६ का सन्दर्भ ग्रहण करते हुए उन्होंने कहा है कि चन्द एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, वे पृथ्वीराज के समकालीन थे। उन्होंने पृथ्वी राज के कीर्तिकलाप-वर्णन के लिए देश्य प्राकृत भाषा में एक काव्य की रचना की थी जो 'पृथ्वी राज रासो' के नाम से विख्यात हुआ। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' 'प्रबन्ध कोश' तथा 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में संकलित प्रबन्धों द्वारा पृथ्वी राज से सम्बन्धित घटनाओं की पुष्टि होती है। मेरुतुंग की कृति 'प्रबन्ध चिन्तामणि' के 'पृथ्वी मुमट' प्रबन्ध में पृथ्वी राज और गोरी के मध्य २२ युद्धों का उल्लेख है। इस सन्दर्भ में राजशेखर सूरि रचित 'प्रबन्ध कोष' (सं १४०५) विशेष उल्लेखनीय रचना है। इसके 'वस्तु पाल प्रबन्ध' के अनुसार पृथ्वी राज ने गोरी को बीस बार बन्दी बनाया और उन्हें मुक्त कर दिया। अन्तिम बार गोरी ने पृथ्वी राज को पराजित कर उसका वध किया—

'विसति बार बद्ध-मुक्क महाबलीन सुरत्ताण मोच्छा पृथ्वी राज निबद्ध।'

इसमें जयचन्द्र और पृथ्वी राज सम्बन्धित प्रबन्ध भी है। इन से पृथ्वी राज से सम्बन्धित इतिहास-सम्मत तथ्यों की पुष्टि तो होती है परन्तु इन प्रबन्धों में उद्धृत चार छप्पयों का महत्व 'पृथ्वी राज रासो' के आदि रूप और उसकी भाषा के स्वरूप निर्धारण में विशेष सहयोगी है। इन प्रबन्धों की ओर संकेत करते हुए यह कहा गया है कि इनमें दो 'जयचन्द्रप्रबन्ध' के और दो 'चन्द' के हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'पृथ्वी राज रासो' अपने मूल रूप में इन्हीं छन्दों में रचित

१—पुरातन प्रबन्ध संग्रह—भूमिका—प्रास्ताविक वक्तव्य पृ० ९ १०

अपभ्रंश-अवहट्ठ की कृति है। 'चन्द बलिद्दय' के अतिरिक्त बल्ह ने भी पृथ्वी राज से सम्बन्धित छन्दों की रचना की है। सं० १२१० तक पृथ्वी राज और शहाबुद्दीन के मध्य सात युद्धों के होने की अनुभूति प्रचलित हो चुकी थी। राजसेखर सूरि (सं० १४ ५) तक ये अनुभूतियाँ लगभग बाईस तक हो गई। तात्पर्य यह कि समय-समय में लोक अनुभूतियों के आधार पर इसका विकास हुआ है। अतः वर्तमान रूप में समग्रता की दृष्टि से यह एक काल अथवा एक कवि की कृति नहीं है। अपने वर्तमान रूप म 'पृथ्वी राज रासो' एक विपुलाय तन काव्य ग्रन्थ है। और इसके कवि चन्दबरदाई का व्यक्तित्व भी विपुलायतन ही है। डॉ० शशि भूषण दास गुप्त ने अपने 'वाल्मीकि और कालिदास' शीर्षक निबन्धमें एक महत्त्वपूर्ण सत्य की ओर संकेत किया है। यद्यपि इनका यह संकेत 'रामायण' और 'महाभारत के सन्दर्भ में है परन्तु 'पृथ्वी राज रासो' या किसी भी विक-सनशील विपुलायतन काव्य के लिए यह वक्तव्य विशेष महत्व रखता है। 'जैसे एक बीच वाले पत्थर को घेर कर स्फटिक के सभी पत्थर गोंथे जाते हैं अथवा जैसे एक जीवकोष को अवलम्बन कर असंख्य कोषों के समवाय के फल स्वरूप जीव देह बनता है, उसी तरह उस काल में एक विशेष प्रतिभा को केन्द्र में रख कर छोटी बड़ी सभी प्रतिमाएं एक साथ गठित होती थी। वाल्मीकि-रचित रामायण अथवा व्यास रचित महाभारत का अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है कि कई दिनों या कई वर्षों में किसी एक विशेष कवि के द्वारा ये वृहत्‌काय काव्य नहीं रचे गये। जैसे नल की मूर्त प्रतिमा के जरिए विपुल वानर वाहिनी की कर्मनिपुणता दक्षिण सागर पर विशाल सेतु बन्ध निर्माण में समर्थ हुई थी उसी प्रकार वाल्मीकि तथा वेदव्यास की प्रतिमा को अवलम्बन कर उस काल के छोटे-बड़े असंख्य कवियों की साहित्य-साधना लेकर रामायण-महाभारत का काव्य मंडल खड़ा हुआ। ऐसे छोटे-बड़े अनेक कवियों को आत्मसात् कर लेने के कारण विपुलायतन रामायण और महाभारत के कवि भी विपुलायतन हैं।[1] मेरा विनम्र आग्रह है कि चन्दबलिद्दय की प्रतिमा का भी आधार ग्रहण कर अनेक कवियों की साहित्य-साधना

१—वाल्मीकि और कालिदास—डॉ० शशिभूषण दास गुप्त—भारतीय साहित्य वर्ष ३, पृष्ठ ३११

(जिसमें लोक-कवि की प्रतिभा भी सम्मिलित है) के फलस्वरूप ही 'पृथ्वीराज रासो' का वर्तमान स्वरूप सम्भव हो सका है। यही कारण है कि विपुलायतन 'पृथ्वी राज रासो' का कवि भी विपुलायतन है। इन कवियों में केवल चन्द ही अपनी कविप्रतिभा का सत्याभ कर सके हैं। चन्दबरदाइ ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। परन्तु इनकी कविप्रतिभा में इनके परिवर्ती काल में अनेक अलौकिक और अनैतिहासिक तत्वों का समावेश होता रहा है। अतः 'पृथ्वीराज रासो' के वर्तमान स्वरूप में चन्दबरदाई क कविस्वरूप के मूल अस्तित्व की संस्थापना सम्भव नहीं है। 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह में जो छप्पय मकलित हैं वे निश्चय ही एक विशेष कवि की रचना हैं। परन्तु 'पृथ्वीराज रासो' को पढ़कर यह लगता है कि यह एक कवि अथवा युग विशेष की रचना नहीं है। इस बृहत्काय काव्य में एक व्यापक-युग-जीवन की अन्तश्चेतना का अंकन स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह युग जीवन जिस में उत्तरभारत के पश्चिमी प्रान्तर की समग्रता उद्भासित होकर जीवन के नरया-त्मक धरातल पर नव अंकुर के लिए लालायित दृष्टिगोचर होती प्रतीत होती है। आन्तरिक उलझनों और बाह्य संघर्षों को वहन करने वाली मानवता विश्वास और आस्था क साथ भावी युग के सकल्पों में अपने अवचेतन में ही सक्षम थी। एक विशाल जनजीवन का जीवन-इतिहास 'पृथ्वीराज रासो' में संकलित है। यही कारण है कि यह काव्य-कृति अपनी उदात्ततागरिमा की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। 'पृथ्वीराज रासो' का मूल्यांकन आदिकालीन साहित्य की काव्य प्रवृत्तियों और काव्य-रूपों के सन्दर्भ में विशेष महत्वपूर्ण होगा। इन दो तत्वों का आधार ग्रहण कर हम इसके मूल रूप की कल्पना कर सकते हैं अथवा इसके मूल रूप के निकट पहुँच सकते हैं। 'पृथ्वीराज रासो' से सम्बन्धित अध्ययन की इस दिशा की ओर ध्यान आकर्षित करने का सर्वप्रथम प्रयास डॉ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया है।[1]

सर्वप्रथम हमारा ध्यान कविराज मोहन सिंह की प्रस्तावना की ओर जाता है। उन्होंने 'रासो' की अभिव्यञ्जना विधा का आधार ग्रहण करते हुए इसकी प्रामाणिकता-संस्थापना की चेष्टा की है। उन्होंने प्रस्तुत अंश उद्धृत करते हुए

१—देखिए —हिन्दी साहित्य का आदिकाल —तृतीय व्याख्यान पृ॰ ५६।

कहाँ है कि इन्हीं छन्दों में 'पृथ्वीराज रासो' का मूल स्वरूप रचा गया होगा'—

छंद प्रबन्ध कवित्त यति साटक गाह दुहत्थ
लघु गुरु मंडित खंडि यह, पिंगल अमर भरत्थ।

इसके अनुसार कवित्त (छप्पय) साटक (शार्दूल विक्रीडित) गाहा (गाथा) और दोहा आदि छन्दों में ही मूल रासो की रचना हुई है। परन्तु 'पृथ्वीराज रासो' रासक-काव्य-परम्परा की कृति है। 'रासक-काव्य विधा' में प्रयुक्त समस्त प्रकार के छन्दों का प्रयोग इस कृति में हुआ है। इसके अतिरिक्त जिन छन्दों को यहाँ 'रासो' का मूल माना गया है उनमें प्रस्तुत 'पृथ्वीराज रासो' की कतिपय वृत्तियाँ प्रक्षिप्त या अप्रमाणिक हैं।

ऊपर यह कहा गया है कि 'पृथ्वीराज रासो' रासक काव्य-परम्परा की कृति है साथ ही साथ इसकी प्रवृत्ति विकसनशील भी रही है। अपभ्रंश काव्य विधाओं की समग्रता इसके विकसनशील स्वरूप में प्रतिबिम्बित है। गेय-नृत्य रासक काव्य की भूमिका से पल्लवित होकर इसने चरित और कथा की अनुचेतना को भी आग्रहपूर्वक ग्रहण किया है। अपभ्रंश काव्य-रूपों की समग्रता इस बृहद् काव्य ग्रन्थ के संगठन में क्रियाशील लगती है। काव्य-रूपों की व्यापकता के साथ साथ अभिव्यञ्जना प्रणाली की व्यापकता भी यहाँ विशेष रूप से देखने को मिलती है। अपभ्रंश के जिन व्यापक काव्य रूपों की चर्चा पिछले पृष्ठों में हो चुकी है उनकी संश्लिष्टता 'पृथ्वीराज रासो' में मिलती है। इसी प्रकार छन्दों के अति व्यापक प्रयोग की दृष्टि से भी 'रासो' आदिकाल का प्रतिनिधि रचना है। पिछले पृष्ठों में यह संकेत किया गया है कि रासक-काव्य-धारा में कालक्रम से चरित या कथा तत्व का भी समावेश किया गया। अतः 'पृथ्वीराज रासो' 'रासक काव्य' के साथ-साथ 'चरित काव्य' भी है। इस प्रकार यह निर्णय किया जा सकता है कि अपने आरंभिक रूप में 'पृथ्वीराज रासो' कतिपय छन्दों में गीत-नृत्य-परक रहा होगा। और इसका प्रचार जन-जीवन में हुआ होगा और इस प्रसार के समानान्तर

१—राजस्थान भारती भाग १ अंक २ ३ जुलाई-अक्टूबर १९४६ पृथ्वीराज रासो की प्रमाणिकता पर पुनर्विचार।

वैसे साहित्य का भी महती योजना भी हुई होगी। अत आवश्यकता इस बात की है कि हम 'पृथ्वीराज रासो' के उन अंशों को देखें जिनमें रासक-काव्य' के लक्षण विद्यमान मिलते हैं। 'पृथ्वीराज रासो' में कतिपय संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर यह निर्णय लेने का प्रलोभन जाग्रत होता है कि इस कृति का आदिरूप गीति-नृत्य तत्वों से समन्वित रहा होगा। उदाहरण—

बरन गीम अम्बर सुरंग पाट लहु पुब विधि मंडिय।
सुर विलास धारी सु मुग्ध ललित्त्स गौरव निबद्धिय॥
आदिपर्व समय प्रथम छं० ४०।

पृथ्वीराज रासो के गेय तत्त्वों से परिपूर्ण होने का संकेत प्रस्तुत अवतरण में भी मिलता है—

मंत्र सहित मा मंत्र भूप अप्पत उप्पेसम।
मुने भवन मृग एह बाल भवा करि देवम।
गङ विस करि माव भाव मामश्मह पावम।
बरन हीन क्रम हीन छन्दह मन भावम।
पिंगल प्रमान बहु भौति युति रस रूपक नव नव सरम।
बरदाय माय रसमा रसिक परखि परखि प्रीति पावे सुरस॥
समयो ६८ २२४।

यद्यपि ये अंश परवर्ती काल में 'पृथ्वीराज रासो' में सम्मिलित किए गए हैं परन्तु इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि 'पृथ्वीराज रासो' के विकास-स्वरूप निर्माण में रासक-काव्य स्वरूप के गेयतत्व ने अवश्य सहयोग प्रदान किया है।[1] आरम्भिक पृष्ठों में यह भी कहा गया है कि दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक रासक काव्य विधा में प्रबन्ध काव्यों की रचना भी होने लगी थी और इस परम्परा का पूर्ण विकास 'पृथ्वीराज रासो' में मिलता है। अत रासक काव्य विधा की समग्रता की दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' उद्धत प्रयोग प्रधान गेय रूपक के अन्तर्गत आता है जिसमें युद्धों के वर्णन के साथ-साथ प्रेम-लीलाओं का भी नियोजन मिलता है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी 'पृथ्वीराज रासो' में उपलब्ध रासक-

१—देखिए —हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास।

कहा है कि इन्हीं छन्दों में 'पृथ्वीराज रासो' का मूल स्वरूप रचा गया होगा[1]—

छंद प्रबन्ध कवित्त यति साटक गाह दुहत्थ
लघु गुरु मंडित खंडि यह, पिंगल अमर भरत्थ।

इसके अनुसार कवित्त (षट्पदी) साटक (शार्दूल विक्रीड़ित) गाहा (गाथा) और दोहा आदि छन्दों में ही मूल रासो की रचना हुई है। परन्तु 'पृथ्वीराज रासो' रासक-काव्य-परम्परा की कृति है। रासक-काव्य विधा' में प्रयुक्त समस्त प्रकार के छन्दों का प्रयोग इस कृति में हुआ है। इसके अतिरिक्त जिन छन्दों को यहाँ 'रासो' का मूल माना गया है उनमें प्रस्तुत 'पृथ्वीराज रासो' की कतिपय वृत्तियाँ प्रक्षिप्त या अप्रमाणिक हैं।

ऊपर यह कहा गया है कि 'पृथ्वीराज रासो' रासक-काव्य-परम्परा की कृति है साथ ही साथ इसकी प्रवृत्ति विकसनशील भी रही है। अपभ्रंश काव्य विधाओं की समग्रता इसके विकसनशील स्वरूप में प्रतिबिम्बित है। गेय-नृत्य रासक काव्य की भूमिका से पल्लवित होकर इसने चरित और कथा की अनुचेतना को भी आग्रहपूर्वक ग्रहण किया है। अपभ्रंश काव्य-रूपों की समग्रता इस वृहद् काव्य ग्रन्थ के संगठन में क्रियाशील लगती है। काव्य-रूपों की व्यापकता के साथ साथ अभिव्यञ्जना प्रणाली की व्यापकता भी यहाँ विशेष रूप से देखने को मिलती है। अपभ्रंश के जिन व्यापक काव्य रूपों की चर्चा पिछले पृष्ठों में हो चुकी है उनकी संश्लिष्टता 'पृथ्वीराज रासो' में मिलती है। इसी प्रकार छन्दों के अति व्यापक प्रयोग की दृष्टि से भी 'रासो' आदिकाल की प्रतिनिधि रचना है। पिछले पृष्ठों में यह संकेत किया गया है कि रासक-काव्य-धारा में काल-क्रम से चरित या कथा तत्व का भी समावेश किया गया। अतः 'पृथ्वीराज रासो' 'रासक काव्य' के साथ-साथ चरित काव्य' भी है। इस प्रकार यह निर्णय किया जा सकता है कि अपने आरंभिक रूप में 'पृथ्वीराज रासो' कतिपय छन्दों में गीत-नृत्य-परक रहा होगा। और इसका प्रचार जन-जीवन में हुआ होगा और इस प्रचार के समानान्तर

१—राजस्थान भारती, भाग १ अंक २ ३ जुलाई-अक्टूबर १९४६ पृथ्वीराज रासो की प्रमाणिकता पर पुनर्विचार।

इसके साहित्य रूप की महती योजना भी हुई होगी। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम 'पृथ्वीराज रासो' के उन अंशों को देखें जिनमें 'रासक-काव्य' के लक्षण विद्यमान मिलते हैं। 'पृथ्वीराज रासो' में कतिपय संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर यह निर्णय करने का प्रलोभन जाग्रत होता है कि इस कृति का आदिरूप गीति-नृत्य तत्त्वों से समन्वित रहा होगा।

उदाहरण—

वरन नीम मण्डार सुरंग पाट मह गुरु विधि मंडिय।
सुर विलास आरी सु सुन्दर उच्चरिय गौरव सिद्धरिय॥
आदिपर्व समय प्रथम छ० ४०।

पृथ्वीराज रासो के गेय तत्त्वों से परिपूर्ण होने का संकेत प्रस्तुत अवतरण में भी मिलता है—

मंच ललित आ मंच खूब मण्डल तण्डवय।
सुने भवन सुन एह बान मथा करि दैवय।
एक चित्त करि भाव भाव मानकम्मह पावय।
भरथ हीन मन हीन सन्देह मन गावय।
निगम प्रमान बहु भाँति सुनि, रस रूपक नव नव सरस।
भरताय नाम रचना रसिक परखि परखि प्रीति पाव सुरस॥
समयो ६८ २२४।

यद्यपि ये अंश परवर्ती काल में 'पृथ्वीराज रासो' में सम्मिलित किए गए हैं परन्तु इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि 'पृथ्वीराज रासो' के विकास-स्वरूप निर्माण में रासक-काव्य स्वरूप के गेयतत्त्व ने अवश्य सहयोग प्रदान किया है।[1] आरम्भिक पृष्ठों में यह भी कहा गया है कि दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक रासक काव्य विधा में प्रबन्ध काव्यों की रचना भी होने लगी थी और इस परम्परा का पूर्ण विकास 'पृथ्वीराज रासो' में मिलता है। अतः रासक काव्य-विधा की समग्रता की दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' उक्त प्रयोग प्रधान गेय रूपक के अन्तर्गत आता है जिसमें युद्धों के वर्णन के साथ-साथ प्रेम-लीलाओं का भी अनुयोग मिलता है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी 'पृथ्वीराज रासो' में उपलब्ध रासक-

१—देखिए —हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास।

काव्य प्रवृत्तियों की ओर संकेत करते हुए इसे 'सन्देश रासक' के सन्दर्भ में देखने की चेष्टा करते हैं। परन्तु इस स्थल पर इन दो कृतियों के मूल अन्तर की ओर संकेत कर देना भी आवश्यक है। (क) 'सन्देश रासक' एक निश्चित कवि और एक निश्चित काल की रचना है। 'पृथ्वीराज रासो' की रचना में चन्दबरदाई के अतिरिक्त परवर्ती काल के अनेक कवियों का सहयोग है। इस प्रकार यह एक निश्चित काल-अवधि की रचना नहीं है। (ख) 'सन्देश रासक' क्षीण प्रबन्ध-धर्मी काव्य है, इसमें कथा तत्व गौण है। परन्तु 'पृथ्वीराज रासो' में कथातत्व प्रधान है। हम 'पृथ्वीराज रासो' के उस रूप की कल्पना करें जिसमें वह आकार में या काव्य-रूप की दृष्टि से सन्देश रासक' के आकार से भिन्न नहीं रहा होगा। उस रूप में भी युद्धों की वस्तुस्थिति इसकी अनुप्रेरणा रही होगी। परन्तु संदेश रासक' और 'पृथ्वीराज रासो' में निम्नलिखित दृष्टियों से समानता मिलती है।

'सन्देश रासक' और 'पृथ्वीराज रासो'—इन दोनों कृतियों में काव्य-आरम्भ करने की विधा एक सी है। दोनों ही कृति के कृतिकार अपने पूर्व के कवियों की काव्य प्रतिभा को नमन करते हैं अपनी कवि प्रतिभा की लघुता का प्रकाशन करते हैं। (देखिए इस पुस्तक की पृष्ठ संख्या ११ २)। इस विषय में वर्णनीय यह है कि यह विधा अपभ्रंश की प्रायः समस्त काव्य-कृतियों में अपनाई गई है। अपभ्रंश-अवहट्ट की काव्य-कृतियों में कथा-काव्य-कृतियों या चरित-काव्य कृतियों का आरम्भ दो व्यक्तियों या पशु पक्षियों की वार्ता से होता है। वार्ता का यह क्रम प्रायः सम्पूर्ण कृति में किसी न किसी रूप में निरन्तर चलता है। पिछले पृष्ठों में इस ओर संकेत किया जा चुका है। 'पृथ्वीराज रासो' में वार्ता के माध्यम से कथा-क्रम की प्रस्तावना नियमित रूप से मिलती है। कतिपय विद्वानों का यह विश्वास है कि सम्भवतः 'पृथ्वीराज रासो का मूल रूप इन्हीं वार्ताओं में लिखा गया होगा।[१]

---

[१]—देखिए—हिन्दी साहित्य का आदि काल—'और सच पूछिए तो यह बात आप से छिपाना नहीं चाहता कि यह बात मेरे मन में समाई हुई है कि चंद का मूल ग्रन्थ शुक-शुकी के संवाद के रूप में लिखा गया था और जितना अंश इस संवाद के रूप में है उतना ही वास्तविक है।

१

प्रथम समयो में 'धर्म स्तुति' 'कर्म स्तुति' के पश्चात् पूर्व कवियों की स्तुति और उपविष्ट संज्ञा कथन आता है—

> प्रथम भुजंगी सुधारी ग्रहनं। जिने नाम एकं अनेकं कहनं।
> दुती लभ्भयं देवतं जीवतेसं। जिने विस्व राख्यो बलीमंत्र सेसं॥
> त्रतं वेद वंभं हरी कित्ती भाखी। जिने ध्रम्म साध्रम्म संसार साखी।
> चवी भारती व्यास भारत्थ भाख्यौ। जिने उत्त पारत्थ सारत्थ साख्यौ॥
> पंचं सुकदेवं परी कस्त पायं। जिनें उद्धरयौ श्रव्व कुरुवंस रायं।
> षट् रूप जयदेव श्रीहर्ष सारं। नमो राय कंठं जिने पद्द हारं॥
>
> × × × ×
>
> अवद्दस बज्ज कवी कविरायं। जिने केवलं कित्ति गोविन्द गायं।
> गुरं सब्ब कव्वी लहू चंद कव्वी। जिने दर्सियं देवि सा अंग हव्वी॥
> कवी कित्ती कित्ती उकत्ती सुदिक्खी। तिनें की उचिष्टि कवी चंद भक्खी।
>
> सं० ।१०। छ० ।१६। पृ० ११

और इसके पश्चात् ही कवि चन्द की स्त्री शंका करती है। और उत्तर-प्रत्युत्तर में कथा प्रवाहित होती है। इस प्रकार संवाद रूप में कथा-योजना की प्रस्तुत रूप रेखा देखने को मिलती है—

(क) आरम्भ में रात्रि के समय कविपत्नी पृथ्वीराज की कीर्तिकथा के सविस्तार वर्णन का अनुरोध करती है।[1]

(ख) कथा की संवादात्मक योजना पुनः पाँचवें समय में है। यहाँ संवाद शुक-शुकी के मध्य होता है—

> सुकी कहै सुक संभरी कहौ कथा पति प्राम।
> पृथु भोरो भीमंग पहु किय हुअ बैर विराम॥

(ग) पृथ्वी राज के तीन विवाहों से सम्बन्धित कथा की प्रस्तावना शुक-शुकी संवाद के माध्यम से हुई है। बारहवें समयो में शुकी शुक से इंछिनी के विवाह

१—विद्यापति की कीर्तिलता के समान रासो में भी प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में—और कदाचित् अन्त में भी—शुक और शुकी की बात चीत उसमें अवश्य रही होगी—हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ० ६८।

१—शुक शुकी यह लीलावती के कवि कौतूहल के समान ही है—वही पृ० ६७।

की कथा पूछनी है। और तेरहवें में शुक-शुकी का उल्लेख नहीं मिलता परन्तु इसका अन्त—

शुकी-शुकी के अतिरिक्त 'भृंग' 'भृंगी' की वार्ता आती है (देखिए पृथ्वीराज रासो का सैंतीसवाँ समयौ)। 'शुक' 'शुकी' की या 'भृंग' 'भृंगी' की वार्ता में उनके श्रोता-वक्ता-रूप की प्रधानता कतिपय अंशों तक बनी रहती है। परन्तु इस विशेष विधा के प्रयोग में अपभ्रंश की अन्य कृतियों में विविध रूपता मिलती है। श्रोता-वक्ता के रूप में कथा प्रस्तुत करने वाले तत्वों के अतिरिक्त कतिपय सन्दर्भों में ये पात्र कथा के अंग या पात्र के रूप में आते हैं। ये कथा की मुख्य संविदना में भाग लेते हैं और कथा को गतिशीलता प्रदान करते हैं। यह परम्परा काव्य में रूढ़ि सी बन गई थी। इस दृष्टि से 'पृथ्वी राज रासो' का छियासिठवाँ समय विशेष रूप से द्रष्टव्य है। यहाँ शुक-शुकी पृथ्वीराज और संयोगिता की प्रणय-संविदना के वाहक का रूप धारण करते हैं। 'शुक' मनुष्य का रूप धारण कर पृथ्वीराज के पास संयोगिता का सन्देश लेकर जाता है। इस प्रकार की आयोजना जायसी के 'पद्मावत्' में मिलती है जहाँ शुक कथा के मुख्य पात्रों में अपना विशेष स्थान रखता है। इसकी चर्चा पद्मावत की विवेचना के अन्तर्गत की गई है। कथा में भाग लेने वाले पात्र के रूप में शुक का प्रयोग अपभ्रंश की कतिपय कृतियों में नियमित रूप से हुआ है। इस सन्दर्भ में 'करकण्ड चरिउ' का उल्लेख किया जा चुका है। (देखिए पृ० २१)। इस दृष्टि से 'पृथ्वी राज रासो' में अपभ्रंश की काव्य-रूढ़ियों और कथानक —रूढ़ियों का प्रयोग नियमित रूप से हुआ है।

इन्हीं सन्दर्भों का आधार ग्रहण कर डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी की यह धारणा है कि इन प्रसंगों में ही रासक का मूल रूप रहा होगा।[1] द्विवेदी जी ने जिस निश्चयात्मक ढंग से यह निर्णय किया है उसमें संदिग्धता या सन्देह की भी सम्भावना है। परन्तु इसका समर्थन अति विश्वास के साथ किया जा सकता है कि इन प्रयोगों के माध्यम से 'पृथ्वी राज रासो' के आदि स्वरूप की सम्भावित कल्पना की जा सकती है। डॉ द्विवेदी ने इसी सन्दर्भ में एक अन्य सम्भावना

१—हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ० ७१।

की ओर संकेत किया है। उनका अनुमान है कि अपने मूल रूप में 'पृथ्वी राज रासो' रासक 'सार्थकार' युद्ध बद्ध कथा था और इसकी कथा वस्तु के अन्तर्गत केवल तीन बातें रही होंगी (१) नायक की प्रेम लीला (२) कन्या हरण (३) शत्रु पराजय।[१]

पिछले पृष्ठों में यह कहा गया है कि 'पृथ्वीराज रासो' का अध्ययन-काव्य ग्रन्थ के रूप में ही विशेष उपयोगी होगा क्योंकि अपने पूर्व की (अपभ्रंश) काव्य विधाओं की मूल चेतना पर इसका विकास हुआ है। अपभ्रंश की वे कृतियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिनमें कथा के संगठन का सम्बन्ध इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियों से है। इनमें इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियों पर अलौकिक तत्वों का आरोपण निरन्तर मिलता है। इस आरोपण से इनकी रचना साहित्य के परिपार्श्व को स्पर्श करने लगती है। 'पृथ्वीराज रासो' में पृथ्वीराज के व्यक्तित्व पर तथा अन्य सम्बन्धी व्यक्तियों के व्यक्तित्व पर इस प्रकार अनेक काल्पनिक तत्वों का आरोपण मिलता है। इसी सत्य की ओर संकेत करते हुए डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है 'वस्तुतः इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया है बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथानायक बनाने की प्रवृत्ति रही है। कुछ में दैवी शक्ति का आरोप करके पौराणिक बना दिया गया है जैसे—राम बुद्ध कृष्ण आदि और कुछ में काल्पनिक रोमांस का आरोप करके निजंधरी कथाओं का आश्रय बना दिया गया है जैसे उदयन विक्रमादित्य और हाल। जायसी के रत्नसेन रासो के पृथ्वीराज में-तथ्य और कल्पना का—फैक्ट्स और फिक्शन का—अद्भुत योग हुआ है।' तात्पर्य यह कि काल्पनिक कथा-अंशों के निरंतर संयोग होते रहने के कारण 'पृथ्वीराज रासो' के ऐतिहासिक स्वरूप पर आवरण-सा पड़ गया है। फलस्वरूप पृथ्वीराज के ऐतिहासिक व्यक्तित्व की नैसर्गिकता यहाँ अति आंशिक रूप में ही उपलब्ध होती है।

१—हिन्दी साहित्य का आदि काल पृ० ७२।

१—हिन्दी साहित्य का आदिकाल—चतुर्थ व्याख्यान-पृ० ७७

स्थल-स्थल पर यह संकेत किया गया है कि अपने वर्तमान रूप में 'पृथ्वीराज रासो' का स्वरूप अपभ्रंश के चरित काव्यों के समान यहाँ भी निजन्धरी विश्वासों और अभिप्रायों का अति व्यापक प्रयोग हुआ है। निजन्धरी कथाओं का प्रयोग रूढ़ि रूप में संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों में नियमित रूप से हुआ है। मुख्यतः अपभ्रंश का कवि तो चरित काव्यों की रचना में कथानक रूढ़ियों का प्रयोग बेखटक रूप में करता है। इस सन्दर्भ में 'करकण्ड चरिउ' का उल्लेख किया जा चुका है। (देखिए-पृ० २० २१) भारतीय साहित्य में शुक सारिका (तोता मैना) से सम्बन्धित कथानक रूढ़ि का प्रयोग। यह प्रयोग तीन दृष्टियों से हुआ है—(क) कथा के कहने वाले श्रोता के रूप में (ख) कथा की गति को अग्रसर करनेवाले सन्देश वाहक के रूप में (ग) कथा के रहस्यों को खोलने वाले अनपराध भेदिया के रूप में। इस ओर संकेत किया गया है कि 'पृथ्वीराज रासो' में शुक-शुकी के माध्यम से ही कथा की प्रस्तावना की गई है।[1] वक्ता-श्रोता के रूप में यहाँ इनका प्रयोग तो हुआ ही है इसके अतिरिक्त किसी विशेष बिन्दु से कथा को अग्रसर करने का प्रयास भी इनके द्वारा किया गया है। पृथ्वीराज

१—हिन्दी साहित्य का आदिकाल-पृ० ८२ पृथ्वीराज रासो में प्रयुक्त इस विधा का पूर्व रूप बाणभट्ट की 'कादम्बरी' में मिलता है जहाँ शुक-शुकी के माध्यम से कथा कहलाई गई है। डॉ० द्विवेदी ने अमरुक के शतक से एक मोहक श्लोक प्रस्तुत किया है—'दम्पति ने रात भर प्रेमालाप किया अन्तःपुर का शुक सब सुनता रहा। प्रातःकाल सास जिठानी के सामने उसने उन वाक्यों को दुहराना शुरू किया। वधू हैरान। उसे तुरन्त एक युक्ति सूझ गई। कान के कर्णफूल में पद्मराग मणि का टुकड़ा था। उसे लेकर उसने शुक के सामने रखा और उस नासमझ मूर्ख ने उसे दाड़िम-फल समझ कर चोंच मारी। बचन उसका बन्द हुआ और लज्जा विह्वला नववधू ने शान्ति की साँस ली—दम्पत्योर्निशि जल्पतोर्गृहशुकेनाकर्णितं यद्वचः

तत्प्रातर्गुरुसन्निधौ निगदतः श्रुत्वैव तारं वधूः।
कर्णालम्बित पद्मराग शकलं विन्यस्य चञ्च्वाः पुरो।
व्रीडार्ता प्रकरोति दाडिम फल व्याजेन वाग्बन्धनं।

और पद्मावती विवाह के सम्बन्ध में और इंछिनी विवाह के सन्दर्भ में शुक-शुकी प्रयोग इसी रूप में किया गया है। अतः 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता पर विचार करते समय इन विशिष्ट कथानकरूढ़ियों पर अनिवार्य रूप से विचार करना होगा। इसके अतिरिक्त 'पृथ्वीराज रासो' में निम्नलिखित कथानक रूढ़ियों का प्रयोग विशेष रूप से दर्शनीय है—

(क) पुरुष-राग की परम्परापूर्ण कथानक रूढ़ियां—भट के मुख से पृथ्वीराज शशिव्रता के रूप-सौन्दर्य का वर्णन सुनता है। वह उस पर मुग्ध होता है। शशिव्रता के लिए शिव पूजन की चिरपरिचित प्रणाली का प्रयोग इस सन्दर्भ में मिलता है। इस आकांक्षा-पूर्ति के लिए उसे स्वप्न में वरदान मिल जाता है।

(ख) सन्देश वाहक के रूप में हंस-कपोत से सम्बन्धित रूढ़ि का प्रयोग भी भारतीय लोक-जीवन में निरन्तर हुआ है। 'नैषध' में स्वर्ण हंस की कल्पना की गई है। पृथ्वीराज रासो में गन्धर्व हंस का रूप धारण करता है। और वह 'नैषध' के हंस के समान ही हो जाता है। वह शशिव्रता के निकट पहुँचता है। वह उसके हृदय में पृथ्वीराज के प्रति आकर्षण उत्पन्न करता है।

(ग) अन्य रूढ़ियों में लिंग परिवर्तन सांकेतिक भाषा पूर्वजन्म की स्मृति भविष्य सूचक स्वप्न कन्या हरण जन्मान्ध मुक इत्यादि विशेष द्रष्टव्य हैं।

इस प्रकार काव्य-कृति की दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता उसके आदि रूप और उसके विकासशील स्वरूप की प्रस्तावना जिन मूल वृत्तियों के आधार पर की गई है उनका विश्लेषण इन पृष्ठों में किया गया। 'पृथ्वीराज रासो' की मूल काव्यात्मक अनुचेतना को सम्मुख रखते हुए डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अति निश्चयात्मक शब्दों में यह कहने का प्रयास किया है कि, 'संयोगिता वाला प्रसंग निर्विवाद रूप से मूल रासो का सर्वप्रथम अंश था।'[1] अपनी विवेचना में इस तथ्य की ओर भी उन्होंने संकेत किया है कि इसके वर्तमान रूप में अनेक प्रक्षिप्त अंश भी समाविष्ट हुए हैं। इसके अतिरिक्त शुक चरित्र से सम्बन्धित अंश को भी द्विवेदी जी ने मूल रासो का अंश माना है। 'रासक काव्य' के उपसंहार की विधाको सम्मुख रखते हुए भी द्विवेदी जी ने इसके आदिरूप की कल्पना की है। 'रासक काव्यों' कि यह सामान्य प्रवृत्ति है कि

१ – हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ॰ ६५

उनका अन्त सुखान्त (मिलनान्त) होता है। 'सन्देश रासक' या 'बीसलदेव रासक' को उदाहरण रूप में ले सकते हैं। इनका अन्त मिलन-सुख में होता है। ऐसी सम्भावना की गई है कि 'पृथ्वीराज रासो' का मौलिक स्वरूप भी सुखान्त रहा होगा। इस दृष्टि से विचार करते हुए द्विवेदी जी ने कहा है 'संयोगिता के मिलन के बाद कवि का उद्देश्य पूरा हो जाना ही संगत जान पड़ता है। शुक चरित्र के द्वारा इंछिनी का हृदय शान्त करना भी संगत ही है।'[1] द्विवेदीजी की यह धारणा भारतीय काव्य में निहित व्यापक जीवन-दृष्टि पर अवलम्बित है। भारतीय काव्य-दृष्टि सुखान्त रही है। अतः 'पृथ्वीराज रासो' के कवि की दृष्टि भी सुखान्त ही रही होगी। अपनी विवेचना में 'सन्देश रासक' की समाप्ति विधि के अतिरिक्त 'मेघदूत' के समापन की विधि का भी उल्लेख द्विवेदी जी ने किया है और तो और कालिदास को भी विरह का समुद्र पार करा देने के बाद मिलन करा देने को उतावला होना पड़ा था —

> भुत्वा वार्तां जनक दुहितो जनेडो'सि सम
> शाप स्यान्तं शरम हृदयः संविधायास्तकोपः।
> संयोज्यैतौ विगलित शुचौ दम्पती हृष्टचित्तौ
> भोगानिष्टा नविरतसुखं भोजयामास शश्वत् ॥"[2]

" ऐसी ही समाप्ति पृथ्वीराज रासो' की रही होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी जी ने पृथ्वीराज रासो के आदि स्वरूप और उसके प्रमाणिक अंश की कल्पना अति व्यापक सन्दर्भों को ग्रहण करते हुए की है। उनकी विवेचना का आधार ग्रहण कर हम 'पृथ्वीराज रासो' के मौलिक रूप तक पहुंच सकेंगे, इसमें सन्देह है। परन्तु उन्होंने चिन्तन के लिए एक

१—वही

२—हिन्दी साहित्य का आदि काल पृ० ६५

सुस्पष्ट और व्यापक धरातल उपस्थित किया है। इसका आधार ग्रहण कर नवीन तथ्यों की उद्भावना सम्भव हो सकेगी।[१]

काव्य-कृति के रूप में 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता और आदि रूप पर विचार करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपने प्रारम्भिक रूप में पृथ्वीराज रासो उद्धत प्रयोग प्रधान मसृण-युक्त गेय रूपक था। इसमें कथाओं के प्रसंगों के अतिरिक्त 'रासकों' के भी लक्षण थे। अपभ्रंश काव्य-रूपों की सामूहिकता पर इसका विकास हुआ है। इसके स्वरूप—निर्माण में अपभ्रंश के रोमांचक शैली के काव्यों ने विशेष सहयोग प्रदान किया है। युद्ध और प्रेम के समन्वित रूप के अतिरिक्त लोक गाथाओं और वीर गीतों का भी निरंतर योग होता रहा है। अतः इसमें प्रबन्ध कथा और आख्यायिका के तत्वों का समावेश नैसर्गिक ही है। इस प्रकार—

१ 'पृथ्वीराज रासो गेय'रासक' काव्य-शैली में निबद्ध था।

२ इसमें इतिहास और कल्पना का मिश्रण है।

३ 'रासो' भी 'कीर्तिलता' की भाँति संवाद में निबद्ध रहा होगा। साथ ही साथ कीर्तिलता के समान इसमें बीच-बीच में वार्ता परक गद्य भी रहा होगा।

४ 'रासो' में अनेक कथानक रूढ़ियों का व्यवहार हुआ है।

५ मूल रासो के प्रामाणिक अंश निम्नलिखित माने जा सकते हैं—

(क) आरंभिक अंश (ख) इंछिनी विवाह (ग) शशिव्रता का गंधर्व विवाह (घ) तोमर पाहार द्वारा शहाबुद्दीन का पकड़ना (ङ) संयोगिता का जन्म विवाह और इंछिनी और संयोगिता की प्रतिद्वन्द्विता और उनका सममझौता।[२]

१—द्विवेदीजी ने अपने निष्कर्षों के आधारपर 'पृथ्वीराज रासो' के एक रूप का निर्धारण किया है। इसे उन्होंने संक्षिप्त 'पृथ्वीराज रासो' की संज्ञा दी है। यह सम्पादन इस विश्वास के साथ किया गया है कि चन्दवरदाई की मूल रचना इसके समीप ही रही होगी। देखिए-संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो सम्पादक :—डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ॰ नामवर सिंह—प्रकाशक साहित्य भवन प्रयाग।

२—देखिए—संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो की भूमिका।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस निष्कर्षों को आधारहीन मानते हुए डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने यह कहा है कि 'पृथ्वीराज रासो' की कथा का संवाद रूप में होना इस विषय में कोई विश्वसनीय आधार नहीं है कि इसका मूल रूप संवादों में ही रहा होगा। उदाहरण स्वरूप पैंतालीसवें समयो में संयोगिता के अवतार ग्रहण करने की जो कथा है वह भी शुक-शुकी संवाद के रूप में है किन्तु इसे द्विवेदीजी ने स्वतः प्रक्षिप्त माना है। इसके अतिरिक्त डॉ० माताप्रसाद गुप्त का द्वितीय आग्रह यह है कि रासो-परम्परा में संवाद रूढ़ि व्यापक रूप में प्रचलित नहीं थी। 'बीसल देव रासो' में इस विधा का प्रयोग नहीं मिलता है। इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन यह है कि संवाद रूप में कथा प्रस्तुत करने की विधा चरित-काव्यों में ही विशेष रूप में देखने को मिलती है। अपभ्रंश की इस विधा में बहुत सम्भव है 'पृथ्वीराज रासो' का आरम्भिक अंश इसी शैली में रहा हो तो यह आश्चर्य की बात नहीं। 'कीर्तिलता' 'पद्मावत' और 'रामचरित मानस' में इस शैली का प्रयोग इस विश्वास को शक्ति देता है। जहाँ तक 'बीसलदेव रासो' का सम्बन्ध है यह चरित काव्य नहीं है। यह संकेत किया जा चुका है कि इसमें कथा-अंश का विशेष महत्व नहीं है। इसके अतिरिक्त 'पृथ्वीराज रासो' के विकासशील स्वरूप की अवहेलना हम नहीं कर सकते। परवर्ती काल में अन्य कृतियों के साथ-साथ संवादात्मक शैली ने भी इसके विकासशील स्वरूप का संरक्षण किया है। अतः संवादात्मक अंशों में प्रक्षिप्त अंशों का रहना भी नैसर्गिक ही है।

द्विवेदीजी ने 'पृथ्वीराज रासो' में प्रयुक्त कथानक रूढ़ियों के आधार पर भी इसकी प्रामाणिकता स्थापित करने का प्रयास किया है। इस पर आपत्ति प्रकट करते हुए डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने कहा है इन रूढ़ियों का आधार कितना सच्चा है यह स्वतः द्विवेदीजी के इन शब्दों में प्रकट होगा—परवर्ती काल में जिन लोगों ने उसमें प्रक्षेप किया वे चन्द की इस प्रवृत्ति को जानते थे। इसीलिए प्रक्षेप करने वालों ने धुन धुन कर के कथानक रूढ़ियों और काव्य-रूढ़ियों का प्रयोग किया है।[1] विशेष ध्यान देने की बात यह है कि अपभ्रंश के कथा और चरित काव्यों में काव्य-रूढ़ियों और कथानक रूढ़ियों का नियमित प्रयोग हुआ है।

१—देखिए—रासक काव्य विमर्श।

'पृथ्वीराज रासो' के आदि रूप में कतिपय कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग सम्भव नहीं है। साथ ही साथ इन्हीं कथानक रूढ़ियों के आधार पर पृथ्वीराज रासो' के वर्तमान स्वरूप का आकार निर्मित हुआ है। इस संकेत का प्रतिवाद नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी जी ने 'पृथ्वीराज रासो के आदि स्वरूप और प्रामाणिक अंश की कल्पना अति व्यापक सन्दर्भों को ग्रहण करते हुए की है। इनके संकेतों का आधार ग्रहण कर हम 'पृथ्वीराज रासो' के मूल रूप तक पहुँच सकेंगे, इसमें सन्देह है। परन्तु उन्होंने चिन्तन के लिए एक स्पष्ट और व्यापक धरातल उपस्थित किया है। इसका आधार ग्रहण कर नवीन तथ्यों की सम्भावना सम्भव हो सकेगी।

संयोगिता स्वयंवर और कयमासवध निश्चय ही 'पृथ्वीराज रासो के प्राचीनतम अंश हैं। संयोगिता स्वयंवर की तिथि के विषय में हम निश्चित नहीं हैं परन्तु कयमासवध की तिथि निश्चित की जा सकती है। 'पृथ्वीराज विजय' के रचनाकाल तक इसका व्यक्तित्व प्रभावशाली था। कयमासवध के लिए हम सन् ११९२ को ग्रहण कर सकते हैं। अतः 'पृथ्वीराज रासो' का आदि रूप इसी वर्ष या इसके तत्काल पश्चात् ही रचा गया होगा। 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में जो अंश उपलब्ध हैं उनकी भाषा हेम व्याकरण में संकलित अंशों की भाषा से अधिक विकसनशील है इस हेतु ही डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त ने सन् १४०० को रासो' का प्रणयनकाल माना है।

पृथ्वीराज रासो का काव्य सौन्दर्य

'पृथ्वीराज रासो एक विपुलाकार काव्य है। इसमें एक विशिष्ट युग का जीवन-स्वरूप अंकित है। अपनी विवेचना में इस सत्य को निरन्तर ध्यान में रखना होगा कि यह अपने वर्तमान आकार में किसी एक कवि की कृति नहीं है। कविचन्द की प्रतिभा का अवलम्ब ग्रहण कर अनेक कवियों की प्रतिभा ने पृथ्वीराज रासो के 'काव्य सौन्दर्य' का शृंगार किया है। 'पृथ्वीराज रासो' एक वर्णनात्मक या इतिवृत्ति प्रधान काव्य है। परन्तु इतिवृत्तियों के मध्य अनेक परिभूमियों में रसात्मक अनुभवों का मैथिलिक सौन्दर्य मिल पा (Narrative Poetry) कथाम वाव्यों की प्रमुखता है।

विविध परिपाश्वों से वर्णन की प्रेरणा ग्रहण करता है। इस प्रेरणा में लोक-जीवन के स्पर्शों का आधार ग्रहण करता है लोक-संस्कारों की अनुचेतना के संरक्षण में भावों का साधारणीकरण करता है। शृ गार की रसमयी भूमिका का निर्माण करता है। रूपचित्रण और वर्णन की स्निग्धता स्वन्निल संस्पर्शों पर सापेक्ष-रूप धारण करती है। साम्यविधान के आधार पर प्रभाव की अभिव्यक्ति स्थापित होती है। ऋतु वर्णन का अति व्यापक सौन्दर्य पृथ्वीराज रासो में मुखरित मिलता है। इस अंकन में प्रकृति उद्दीपन रूप में प्रयुक्त है परन्तु प्रकृति चित्रों की संश्लिष्टता भी यहाँ विशेष रूप से द्रष्टव्य है। पृथ्वीराज रासो' में प्रेम शृ गार के साथ ही साथ युद्धों के अनेक सन्दर्भों का अंकन है। इस प्रकार यह वीरगाथात्मक काव्य भी है। अतः युद्धों के वर्णन के समन्वित स्वरूप इस कृति में उपलब्ध हैं। उत्साह संघर्ष एवं युद्धचेतना के अनेक स्तरों का रूपांकन यहाँ मिलता है। उल्लास ओज तथा सैनिक धर्म की निष्ठा की व्यापकता का उल्लेख अनेक उपाख्यानों में हुआ है।

'पृथ्वीराज रासो' के आदि में इसमें प्रयुक्त रूपकों की संख्या का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

सत्त सहस्र नष सिष सरस सकल आदि मुनि दिष्य।
घट बढ़ मत्त कोऊ पढ़ौ मोहि दूसन न बसिष्य।

सं० एक। छन्द ९०।

और— सहस सत्त रूपक सरस गुन सुन्दर बहु वित्त।
कै पुस्तक कवि चन्द की दिय माता बहुरित्त।

स० ६७।६।२०

परन्तु 'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो' में छन्दों की संख्या सोलह हजार तीन सौ छः है। यहाँ पर यह संकेत कर देना आवश्यक है कि प्रामाणिकता और छन्दों की संख्या के मूल स्वरूप के सन्दर्भ से ऊपर उठकर ही 'पृथ्वीराज रासो' के काव्य सौन्दय का अध्ययन साहित्य के सन्दर्भ में विशेष महत्वपूर्ण होगा। अपने वर्तमान आकार में 'पृथ्वीराज रासो' एक वृहद् काव्य रचना है। रासो के कवि की निम्नलिखित उक्ति विशेष ध्यान देने योग्य है—

उक्ति धर्म बिसालस्य राजनीति नवं रस।
षट् भाषा पुराणं च कुरान कथितं मया।

इस प्रकार 'रासो' में धर्म सम्बन्धी उक्तियाँ हैं नवरस से परिपूर्ण काव्य सौन्दर्य है राजनीति के तत्व हैं भाषा की व्यापकता है पौराणिक आख्यान हैं और इस्लाम-सम्बन्धित विशेषताएं हैं। यह कथन यद्यपि क्षेपक के रूप में है परन्तु इससे 'पृथ्वीराज रासो' की सम्पूर्णता और उसकी गरिमा का बोध होता है।[1]

इसी प्रकार इस कृति के उपसंहार में भी इसकी समग्रता का वर्णन निम्न लिखित पंक्तियों में किया गया है—

सुरत बाद बिग्यान मान। नाटक्क गेय विद्या बिवान।
चातुरी भेद बचनह बिलास। मति करम मरम रस हास राम।

× × ×

चौबरन बरन कारन बिवेक। रस भाष भेय बिग्यान नेक।
पौरान सकल कथ ब्रम्ह माय। भारथ्य अथ्यवे अन्तराय।
कलि काव्य रस्स प्राहास रंग। बंबनिय सन्" सुम्से सुबंग।
रितु रस रसानि बैलास भत्ति। मंतन सुमंत आभास बत्ति।

समय ६८ २२१ ११।

इस प्रकार 'पृथ्वीराज रासो' एक वर्णनप्रधान काव्य है जिसमें घटनाओं की प्रधानता है। इसमें वस्तु-वर्णन अति व्यापक रूप में हुआ है। इसके अन्तर्गत पौराणिक कथाओं का वर्णन हुआ है।[2] वस्तु वर्णन के अन्तर्गत नगर और देश

१—इस दृष्टि से पृथ्वीराज रासो की तुलना महाभारत से की जाती है। महाभारत के विषय में कहा गया है 'यन्न भारते तन्न भारते।' पृथ्वीराज रासो के विषय में भी यह कथन स्वीकार किया जा सकता है। देखिए— हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास-पृ० २११।

२—होली कथा दीपमालिका कथा। होली कथा के अन्तर्गत ढूँढा (ढौंढा) राक्षसी की कथा का वर्णन। यह कथा 'भविष्य पुराण' की कथा से प्रभावित लगती है। पृथ्वीराज ने चन्द से कार्तिक मास में होनेवाले दीपमालिका पर्व के प्रति जिज्ञासा प्रकट की। कथा संख्या २ के छन्द संख्या १ २४ तक इस पर्व में निहित पौराणिक सन्दर्भों की चर्चा है।

वर्णन में कवि की प्रतिभा का विशेष उन्मयन देखने को मिलता है। इस सन्दर्भ में पट्टनपुर (गुर्जर नरेश भीमदेव चालुक्य की राजधानी समयो १८)। पृथ्वीराज की दिल्ली का वर्णन देखिए।

सुर्ब निकम बोधयं बमन्न तट्ट सोधयं।
तहा सु बाग बच्छयं बने सु गुच्छ भच्छयं। छ ५।
समीर तासु बासयं फर्ब सु फूल रासयं।
बिरच्छ बेलि उंबरं सुरंग पान अंबर ।छ
सु केसरं कुसं कुसं मधुप्प बास तं भ्रमं।
बनार दाप पक्कयं सु छत्र पत्ति बिल्लय छ ७।

दिल्ली इन्द्रपुरी के समान है। नगाड़ों के उद्घोष से नगरी निनादित है। दिल्ली का वैभव अतुलनीय है। मोती और माणिक्य से यहाँ के हार चमचम चमचम करते रहते हैं—

घुरि चुम्मिय प्रब्ब निसान घुरं, पुर है प्रथिराज कि इंद्रपुरं।
प्रथमं बिढिर्य विढिर्य कहुनं ग्रह पौरि प्रकासपना सतनं।६१

× × × ×

पथि लष्षिय मीतिय मानक्कं रतनं बतनं मनिरोव कर्म।
सुम दिल्लिय हट्ट सुमेर मझे करि दंत मिलंत मिरंत सभे छ ९ ।

समयो ६१ में कन्नौज का वर्णन है। समय ६७ में गजनी का वर्णन है। नगर वर्णन के सन्दर्भ में कवि पनघट का वर्णन करता है। कवि जीवन की समग्रता के चित्रण के अन्तर्गत एक-एक सूक्ष्म तत्त्वों का संकलन करता है। वर्णन की स्थूलता के मध्य भावों के तीव्र आवेगों के संस्पर्शों की क्रियात्मकता के माध्यम से शृंगार के जीवन्त रूप की अवतारणा करता है।

उदाहरणस्वरूप पट्टनपुर के वर्णन में कवि केवल स्थूल चित्रों की उद्भावना नहीं करता अपितु जीवित तथा गत्यात्मक सौन्दर्य का अंकन करता है। पनघट पर जल भरनेवाली तरुणियों के वर्णन में कवि उनके रूप-व्यापार और प्रभाव का संक्षिप्त वर्णन करता है—

भरे सु कुंभयं घनं इला सु पानि अंगनं।
अता अनेक कुअनं - । छं२१ ।

सरोवरं समानयं परीस रंभ आनयं।
बराह सार संमयं अनेक हंस क्रम्मयं। ९७।
भरं सुनीर खुंभयं
अनङ्ग काम रम्भयं सु उत्तरी समप्पयं। स० ४२ १८

अप्सराओं के रूप लावण्य और यौवन-वैभव से शोभित बालायें कामदेव के रथ से सरोवर के पनघट पर उतरती हैं। इस सरोवर में हंस रमण कर रहे हैं।

'पृथ्वीराज रासो' में शृंगार के सरस-सरस रूपों का वैभव बिखरा है। इसमें प्रेम की तितीक्षा है और यौवन वभव की गरिमा है। इसमें ऐसे अनेक युद्धों के वर्णन हैं जिनकी उद्भावना प्रणय की अनुपेक्षता पर आधारित है। युद्धों की उद्भावना तो प्रणय की आकुल संवेदना पर आधारित है पृथ्वीराज शशिवृता के सौन्दर्य का वर्णन भट्ट द्वारा सुनता है। इस सन्दर्भ में पृथ्वीराज के उद्वेलित मनोभावों के चित्रण का अनुप्रेरणा वर्णन का विशेष वैभव है। प्रकृति के व्यापारों और परिवर्तित रूपों के साथ-साथ पृथ्वीराज की मनोव्यथा की विविधता विशेष रूप से दर्शनीय है। समयो २५ के १५ ४५ छन्दों में वर्षा और शरद् के वर्णन हैं। इन वर्णनों की विशेषता यह है कि प्रकृति के संश्लिष्ट रूप नियोजन के साथ उसके उद्दीपक व्यापारों का प्रसार भी होता चलता है। मेघों के वभव की छाया में मयूर उद्दीप्त होकर बोल रहे हैं। पपीहे की पी पी की रटन से नभ और धरती प्रतिध्वनित हैं जल के कण धरती के अञ्चल पर गिर रहे हैं। पृथ्वीराज शशिवृता की स्मृति में अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व को तिरोहित कर चुके हैं। (छं० ६५) वर्षा की समाप्ति होती है सरिता का जल कगारों से नीचे उतर गया निर्मल शशि अपनी कलाओं के साथ आकाश में दिखने लगा शरद् के आगमन ने पृथ्वीराज का मन उल्लसित कर दिया।

मोर सोर चहुं ओर घटा आसाढ़ बंधि नभ।
बग दादुर झिंगरन रटत चातिग रंजत सुभ।
नील बरन बसुमतिय पहिर आभ्रन असंकिय।
चंद बधू सिंगार धरं बसुमतिसु रंकिय।

बरषंत बूंद घन मेघ सर तब सुभोम बाइब कुँअरि ।
मन हंस मीर बीरज मुवन इप फुट्ट भरब करि ।
घन घरा बंधि तम मेघ छाय । दामिनिय दमकि कामिनिय बाय ।
बोलंत मोर गिरवर सुहाय । चातिग रटत पिहूं मौर छाइ ।

'पृथ्वी राज रासो' के कवि ने प्रकृति वर्णन की एक विशिष्ट विधा का प्रयोग किया है। सन्देश रासक' में अथवा 'बीसलदेव रासो' में प्रकृति वर्णन विप्रलम्भ की भूमिका से हुआ है। परन्तु आलोच्य कृति में संयोग की भाव भूमि से विप्रलम्भ की सम्भावना के अन्तर्गत प्रकृति का अंकन उद्दीपन विभाव के रूप मे हुआ है। उदाहरण स्वरूप पृथ्वी राज संयोगिता की प्राप्ति हेतु प्रस्थान करने के पूर्व इंछिनी के पास बिदा लेने जाते हैं। यह बसंत ऋतु है। इंछिनी आश्चर्य प्रकट करती है। बसन्त विप्रलम्भ के लिए नहीं है। उसमें संयोग के उन्मादित स्वरूप का वैभव ही मुख्य है। बसन्त के उद्दीपन स्वरूप के द्वारा वह विप्रलम्भ को रोकने का प्रयास करती हुई कहती है—

मवरी अंब फुल्लिग कदंब रयनी दिघ दीसं।
भँवर भाव मुल्लें भ्रमन्त मकरन्द बरीसं॥
बहत बात उज्जलति मौर अति विरह अगनिम किय।
कुहु कुहंत कल कंठ पत्र राषस रति अगिय।
पय लागि प्राणपति बीनवौं नाह नेह मुझ चित धरहु।
दिन दिन अवद्धि जुब्बन घटै कन्त बसन्त न गम करहु॥१०

पृथ्वीराज बसन्त के इस वैभव में अपने प्रस्थान को स्थगित कर देता है। ग्रीष्म में वह रानी पुण्डीरनी से बिदा लेने जाता है। उसकी रानी भी ग्रीष्म के वर्णन के माध्यम से विप्रलम्भ में भावी स्वरूप का चित्र प्रस्तुत करती है। पृथ्वीराज अपनी यात्रा पुनः स्थगित करते हैं। वर्षा में पृथ्वीराज इन्द्रावती से बिदा लेने जाते हैं। इस सन्दर्भ के माध्यम से कवि ने वर्षा के उद्दीपक व्यापारों से वर्षा का संश्लिष्ट बिम्ब विधान करता है और साथ ही साथ उन व्यापारों के प्रभावों का भी अंकन करता है।

घन गरजै घरहरै पप्पिह पिय रैनि निय है।
सजल सरोवर पिम्मि हियौ उच्छन बन ह ॥

अब बहुल बरषत प्रेम पम्महो निरुतर।
कोकिल सुर उचरै मंग पहुरंत पंच सर ॥
बादुरह मोर दामिनी दसय भरि चवत चातक रटय।
पावस प्रवेस बालम न चलि विरह अगिनि तन तन घटय ॥

इस प्रकार ऋतु वर्णन की एक विशिष्ट प्रणाली का प्रयोग 'पृथ्वीराज रासो' के वस्तु वर्णन के अन्तर्गत विशेष भावात्मक संस्पर्शों के साथ हुआ है। शरद हेमन्त और शिशिर के चित्रों की उद्भावना भी उद्दीपन की व्यापक सम्भावनाओं के साथ हुआ है।

'पृथ्वीराज रासो' में शृंगार के अनेक मोहक सन्दर्भ नियोजित हैं। संयोग शृंगार के मादक संस्पर्शों के साथ-साथ आकृति और रूप-सौन्दर्य के पाश से सम्बन्धित स्थलों को परिवृद्ध करने का रसात्मक प्रयास इस कृति की सम्पूर्णता के शृंगार में विशेष रूप से सहयोगी है। शृंगारचित्र में नख शिख वर्णन के अनेक स्थलों से कृति में भावपूर्ण स्थलों का सन्मय होता है। इंछिनि पृथा इन्द्रावती तथा सन्दर्भ में आए अन्य नारी पात्रों के रूपांकन के प्रयास कवि प्रतिमा को गरिमा से मण्डित करते हैं। उदाहरण स्वरूप हंसावती के शृंगार वर्णन से एक अंश यहाँ उद्धृत है—

जु केस मुक्ति संजुरै ससी सराहु जो करे
मनीस वास साथ ज्यौ कि कन्द्र काछि मांचि ज्यौ।
उपम्म नैन ऐन सो मनौ कि मन मीन सी।
भवौ मिसंग आमयो सरम्म चिन मामयो।
जु बेहरी जराउ की भ्रु रंत मह पाद की।
निलंच मझ बुंदियं प्रकास रंच पुच्छियं।
कि काम रम्य चक्क ए, कलंति एहि बक्क ए।
बलट्टि रंभ अभ्भनं करी सुगाल चिड्डनं।

पृ० १६१ १६७ १७७ १७०

'पृथ्वी राज रासो' में युद्ध और प्रेम स्पर्श और प्रणय के अंश दूसरे को गति देते चलते हैं। युद्ध की विभीषिका में प्रणय की फुहेलियाँ चलती हैं। वीर युद्ध भूमि में मर रहे हैं, यौवन की मस्वरता अति प्रभाव और कष्ट सरय के रूप

में सम्मुख है। विनाश के प्रत्यक्ष में प्रणय का उल्लास जाग्रत है। संयोगिता और पृथ्वीराज का मिलन इस संघर्ष के मध्य ही होता है। पृथ्वीराज ने संयोगिता को जिस रूप में देखा उसका चित्रण देखिए—

कुँवर उप्पर सिव सिव उप्पर चोव पन्नय।
पन्नय उप्पर भ्रग भ्रग उप्पर ससि सुम्मय।
ससि उप्पर इक कीर कीर उप्पर भ्रग दिट्ठी।
भ्रग उप्पर कोवंड संघ नंग्रम्म नमट्ठी।
अहि मयूर महि उप्परह हीर सरस हेमन जर्यो।
सुर भुवन छंडि कवि चंद कहि तिहि धो पे राजन् पर्यौ॥

पृथ्वी राज रासो वीरगाथात्मक काव्य है। इसमें युद्ध के अगणित आकर्षण पूर्ण वर्णन मिलते हैं। उत्साह संघर्ष तथा युद्ध-घटना के अनेक स्तरों का अंकन इस कृति को काव्य-गरिमा से मण्डित करते हैं। युद्ध गाथाओं में युद्ध के मध्य उल्लास और ओज के अगणित सन्दर्भ देखने को मिलते हैं। देखिए—

मचे हुक हुकं बहे सार मारं
चमक्के चमक्के करारं करारं।

× × × ×

समक्के सनक्के बहे बान मारं
झमक्के झमक्के बहे सेल मेलं।
कुकें कूक फूटी सुरत्तान डालं।
बढ़ी मोग मावा सुर अप्पचारं।
बहे चट्ट पट्ट उपट्ट उकट्ट।
कुरक्का बरे अप्प अप्पं उलट्ठं।
दरक्कं बजे रैन सेना सुघट्ठं।

वीर रस की व्यञ्जना के लिए शृंगारमूलक तथा रति विषयक उपमायें यहाँ वर्णन को वैभव प्रदान करती हैं। उत्साह और रति दो परस्पर विरोधी भाव हैं। परन्तु रति के माध्यम से उत्साह का वर्णन विरोधाभास के मन्तराल से शक्ति रसवत्ता और प्रभावकता को संश्लिष्टता का संस्पर्श प्रदान करता। उदा०—

पु मूवरं ममककमं कि वाघुरं मुमहयं
सुती उपम्म मेलयं मुहाग बाम केयं ।

इस प्रकार पारस्परिक विरोधी भावों के माध्यम से प्रभाव की अभिव्यक्ति आलोच्य कृति में एक विशिष्ट वर्णन प्रणाली के रूप में प्रयुक्त है। युद्ध प्रधान कृति होने के कारण यहाँ रौद्र की व्यापकता मिलती है। युद्धों के प्रसंगों में 'वीर रौद्र' तथा वीभत्स के सम्मिलित रूप मिलते हैं। इन रसों में स्थायी भावों के परिपाक का कार्य आलम्बन-उद्दीपन या अनुभावों से किया गया है। युद्ध वर्णन के सम्बन्ध में जुगुप्साभाव उत्पन्न करने वाले अनेक सन्दर्भ भी मिलते हैं—

मरं मुंड रुंडं सहं भंम घोरं
भेव बरछी मेव मेरुन्न बारं।
घुमैं मुक्कि सीसं भटं मोह सुक्कै
उमै बानिभूतं महामंस हुक्कै।
फिरै रुड बिन मुंड रुध रोस सच्चे,
मने मम्मरं नट्ट बिद्या कि मच्चे।

स्थल-स्थल पर वीर विरोधी निर्वेद और शान्त के संस्पर्श भी मिलते हैं। करुण रस के अन्तर्गत 'सती' होने वाले दृश्य उल्लेखनीय हैं परन्तु प्रभावकत्ता की दृष्टि से इनकी समाप्ति शोक में होती है।

इस प्रकार काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' में लोक काव्यशैली और अलंकृत काव्य विधा इन दोनों का आधार मिलता है। शृंगार की वैभव युद्धों की भीषणता से इस काव्य की अन्तश्चेतना जीवित है। वस्तु वर्णन और भाव व्यंजना इन दोनों दृष्टियों से यह एक अति प्राणवन्त रचना है। इस कृति की प्रेषणीयता अति उदात्त है। भाव संसर्गों के साधारणीकरण की दृष्टि से इसकी अभिव्यंजना विधा इस कृति को स्थायित्व का अनुमान देती है। अलंकार वैभव की दृष्टि से और छन्द-बन्धों की दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' का महत्व कम नहीं है। इन दो दृष्टियों के मानदण्ड के अनुसार 'पृथ्वीराज रासो' पर विचार यहाँ किया जा रहा है।

महाकाव्य की शास्त्रीय परिभाषाओं के अनुसार 'पृथ्वीराज रासो' के महाकाव्यत्व का मूल्यांकन सम्भव नहीं है। इस सत्य की ओर संकेत किया जा चुका

है कि आलोच्य ग्रन्थ किसी एक कवि की संश्लिष्ट रचना नहीं है। इसका विकास अनेक सन्दर्भों में हुआ है। परन्तु परवर्ती काल में इसका स्वरूप संगठन संस्कृत महाकाव्यों के संस्पर्शों से भी हुआ है। अतः इसके वर्तमान रूप में संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश महाकाव्यों की प्रबन्ध रूढ़ियाँ सम्मिलित रूप में मिलती हैं। संस्कृत महाकाव्य सर्ग-बद्ध होते हैं। परन्तु इस परम्परा के विपरीत रासो' पर्व' 'समय' और प्रस्ताव में विभक्त है। अनेक स्थलों पर 'पर्व' का भी प्रयोग किया गया है। संस्कृत महाकाव्यों के समान इसकी कथा का सन्तुलन नाटकीय सन्धियों के अनुरूप नहीं है। अपभ्रंश महाकाव्यों में सर्गों के शीर्षक के लिए 'प्रस्ताव' का प्रयोग किया गया है। पृथ्वीराज रासो में भी पद 'प्रस्ताव' का प्रयोग किया गया है, उदाहरण 'वर्षाऋतु वर्णन प्रस्ताव'।

'पृथ्वीराज रासो' के आदि पर्व अथवा प्रथम सर्ग में मङ्गलाचरण के छन्द है। इसके लघु रूपान्तर की प्रति में 'दसावतार वर्णन' के अन्तर्गत ही मंगलाचरण है। जैन अपभ्रंश काव्यों में श्रेष्ठ पुरुषों का स्तवन मिलता है। पृथ्वीराज रासो में इस प्रणाली का प्रयोग मिलता है। संवाद रूप में कथा लिखने की विधा परम्परा महाभारत रामायण और अपभ्रंश की कृतियों की विशेषता है। आलोच्य कृति में भी यह विधा ग्रहण की गई है। इसकी चर्चा की जा चुकी है। इस कृति के वस्तु निर्देश में प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण भी किया गया है। यहाँ पृथ्वीराज रासो के गुण उसके महत्व उसकी व्यापकता उसकी श्लोक संख्या और उसके तत्व ज्ञान का उल्लेख मिलता है। यहाँ 'पृथ्वीराज रासो' की कथा का संक्षेप भी वर्णित है। इस प्रकार वस्तु निर्देश तथा भूमिका की दृष्टि से इस कृति में अपभ्रंश काव्य-कृतियों की प्रमुखताओं का निर्वाह मिलता है। अपभ्रंश के काव्य के ग्रन्थो के समान इस कृति में भी एक ही सग के अन्तर्गत विविध छन्दों का प्रयोग किया गया है। आलोच्य कृति का विकास अपभ्रंश के रासक काव्यों के अनुसार हुआ है। इस प्रबन्ध काव्य में छप्पय रासक रासा पद्धरी, चर्चरी कवित्त सट्टक, गाथा दोहा आदि छन्दों का विशेष रूप में प्रयोग हुआ है। यहाँ वर्णिक वृत्तो मात्रिक वृत्त के अतिरिक्त मिश्रित छन्दों का भी प्रयोग हुआ है। प्रथम पर्व के छन्दों की संख्या प्राय तीस द्वितीय पर्व के छन्दों

की संख्या लगभग बत्तीस और मिश्र छन्दों की संख्या ६ के लगभग है। इस प्रकार अपभ्रंश के कड़वक-बद्ध काव्य-ग्रन्थों में प्रयुक्त प्राय: समस्त प्रकार के छन्द 'पृथ्वीराज रासो' में मिल जाते हैं।

मूल रासक प्रशस्ति-मूलक और चरितकाव्य रहा परन्तु अपने आधुनिक रूप में यह एक बातीय महाकाव्य है और कतिपय विचारकों ने इसे विकसनशील महाकाव्य भी कहा है। अत: अलंकृत महाकाव्य का कथानक-संगठन यहाँ सम्भव नहीं है। विकसनशील महाकाव्यों के समान इसके कथानक में भी अन्विति नहीं है। इसमें सकलित कथायें एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं। इस दृष्टि में जीवन के बाह्य रूपों का ही चित्रण प्रमुख रूप में हुआ है। इसमें पौराणिक और रोमांचक—इन दोनों तत्वों का समावेश हुआ है। भामह दण्डी और विश्वनाथ ने महाकाव्य के नायक का धीरोदात्त और चतुरोदात्त होना माना है। रुद्रट के अनुसार उसे त्रिशक्तिमय होना चाहिए, अर्थात् उसमें प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति और उत्साह शक्तियाँ अपेक्षित हैं। इसमें धर्म अर्थ और काम प्राप्ति का आग्रह होना चाहिए। अत: भारतीय आचार्यों के अनुसार 'पृथ्वी राज रासो' के नायक पृथ्वीराज में आदर्श नायक के गुण नहीं हैं। उसमें मर्यादा शील और लोकहित की भावना नहीं है। 'पृथ्वीराज रासो' सामन्ती युग का काव्य है। सामन्ती वीरों में नैतिक आदर्शों के प्रति आग्रह नहीं मिलता है। अत पृथ्वीराज में सामन्ती चरितकाव्य के नायकों के सम्पूर्ण गुण मिल जाते हैं। 'पृथ्वीराज रासो' में चरित्र-वैविध्य नहीं है। यह शौर्य पराक्रम और उत्साह का काव्य है। अत: इसकी शैली उदात्त है। परन्तु घटनाओं के निरूपण में यहाँ संतुलन नहीं है। इसमें अनुप्रास, उपमा उत्प्रेक्षा रूपक आदि अलंकारों के सर्वाधिक प्रयोग हुए हैं। वीररस के प्रसंग में ओज और शृंगाररस के प्रसंग में माधुर्य गुणों के प्रयोग इसकी काव्यात्मक अनुभूतिना को उत्कर्ष प्रदान करते हैं।

अपने युग की पूर्ण अभिव्यक्ति इस कृति में विद्यमान है। सामन्ती युग के सामाजिक संगठन की स्वरूप-योजना यहाँ मिल जाती है। राष्ट्र की स्वतन्त्रता के संघर्षों के वर्णन भी अनेक स्थलों पर मिलते हैं।

पृथ्वीराज रासो की भाषा

'पृथ्वीराज रासो' के भाषा-स्वरूप में विविधरूपता है। यह अनेक बार कहा गया है कि यह किसी कवि विशेष या युग विशेष की कृति नहीं है अत इसकी भाषा में अनेक भाषा-स्तरों के रूप मिलते हैं। अपने मूल रूप में यह अपभ्रंश की रचना है। परन्तु समग्रता की दृष्टि से इसमें पश्चिमी प्रदेश में दसवीं से सोलहवीं शताब्दी के मध्य की भाषा के विकासनशील स्वरूप के दर्शन हो जाते हैं। इसकी भाषा की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया जा रहा है।

(क) प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के शब्द-मध्य की संयुक्त व्यञ्जन ध्वनियाँ मध्य कालीन भारतीय आर्य भाषा में समीकृत हो जाती हैं और पूर्व की दीर्घ स्वर ध्वनि लघु हो जाती है। परन्तु आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में (पञ्जाबी और सिन्धी के अतिरिक्त) समीकृत ध्वनियाँ सरल हो जाती हैं और पूर्व की लघु स्वर ध्वनि दीर्घ हो जाती है। इस दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' के कतिपय अंशों की भाषा मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के सन्निकट है।

धूम्र>धुम्म हस्त>हत्थ

मार्ग>मग्ग रात्रि>रत्ति[1]

(ख) शब्द मध्य संयुक्त व्यञ्जनों के मध्य स्वरागम की प्रक्रिया मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा में ही दृष्टिगोचर होने लगी थी। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के कतिपय विभागों में इस प्रक्रिया का व्यापक प्रसार हुआ है।

उदाहरण—

शब्द>सबद भस्म>भसम रक्त>रकत[2]

१—इस सन्दर्भ में 'चंदबरदाई और उनका काव्य' नामक ग्रन्थ में डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी ने 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा पर जो विचार प्रकट किया है उस ओर मैं विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। डॉ० त्रिवेदी भारतीय आर्य भाषाओं के विकास-क्रम की प्रवृत्तियों की वैज्ञानिकता से अनभिज्ञ से लगते हैं। उनके ग्रन्थ के एक उद्धरण से इस कथन का समर्थन किया जा सकता है—'वैदिक भाषा में संयुक्त वर्ण का पूर्वस्वर ह्रस्व पाया जाता है यथा—रोदसीप्रा=रोदसिप्रा (ऋग्वेद १०=८८ १)

(ग) शब्द-मध्य स्वर-लोप या स्वर-संकोच के उदाहरण भी मिलते हैं—

मगर>मग्ग भगिनी>भग्नी

(घ) स्वर-मध्य स्पर्श व्यञ्जनों के लोप के बाद उद्वृत्त स्वरों के मध्य 'य' श्रुति के व्यापक उदाहरण उपलब्ध होते हैं—

प्रा०

नगर>नअर>नयर

सागर>साअर>सायर

लोक>लोअ>लोग

(ङ) सर्वनाम—उत्तम० एक वचन मैं।

मध्यम० एक० तुंहि, तुम तुज्झी।

(च) कर्ता के लिए साविभक्तिक—ह का प्रयोग।

उदा०—श्राप दियौ तापसहु, अवनि करनी गुमवत्तिरि।

(छ) परसर्गीय शब्दावली—सम=करण कहै दूत प्रथिराज सम।

कहै कंति सम कंत।

अधिकरण—मांझ, मज्झ, मझार।

उपवास मांझ वसि गए बाप नर नारी छला गई फागुन मास मझार।

सम्बन्ध-केरा केरी थौरि गज अंध चहुआन केर मिली दिट्ठि सों दिट्ठि चहुआन केर।

(ज) संख्या वाचक —बहु=वहु गुना बल साहि।

श्रमात्र—श्रमत्र और प्राकृत में भी यह नियम मिलता है पात्र—पत्त, रात्रि—रत्ति साध्य=सज्झ, इस लक्षण की अनुरूपता से निर्मित शब्द रासो में भी वर्तमान मिलते हैं उदा० धूम>धुम्म कार्य>कज्ज—देखिए—'चन्दबरदाई और उनका काव्य' पृ० २८८। वस्तुतः जिस प्रवृत्ति की चर्चा यहाँ डॉ० त्रिवेदी ने की है वह मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की प्रवृत्ति है जिसके आधार पर मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा प्राचीन भारतीय आर्य भाषा से प्रस्फुटित हुई है। डॉ० त्रिवेदी इसे भी वैदिक भाषा की प्रवृत्ति मानते हैं। उनके द्वारा प्रस्तावित भाषा की विवेचना की आलोचना एक स्वतन्त्र विषय है।

च्यारि—च्यारि प्रकार विरिय बन बारन। चौअग्गानी बीस=२४ तीस युम १२।

(ग) क्रिया — तदार्थ के लिए—इ का प्रयोग मुख्यतः आदर के अर्थ में—तुमहि राज प्रथिराज विप्न रक्षीय करिय युम।
तुम्हु प्रिथिराज राजमत।

हेमचन्द्र ने दो प्रकार के अपभ्रंश-रूपों की चर्चा की है —

(क) शिष्ट वर्ग की अपभ्रंश भाषा इसका प्रयोग जैन आचार्यों द्वारा हुआ है (ख) ग्राम्य अपभ्रंश। भाषा वैज्ञानिकों की यह धारणा है कि 'सन्देश रासक' ग्राम्य अपभ्रंश में लिखित एक कृति है। परन्तु वस्तुतः यह अवहट्ठ की रचना है। इस सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि सन्देश रासक' और 'पृथ्वीराज रासो' एक ही काल की कृतियाँ हैं। अतः 'पृथ्वीराज रासो' का आदि रूप अवहट्ठ में रचित हुआ है। इस धारणा की पुष्टि 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह'में संकलित 'पृथ्वीराज प्रबन्ध' और 'जयचन्द प्रबन्ध' की भाषा के स्वरूप से हो जाता है। इससे 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा क आदि स्वरूप का परिचय मिल जाता है। इसमें अपभ्रंश—अवहट्ठ के संक्रान्ति काल की भाषा का रूप मिलता है।

अपभ्रंश—अवहट्ठ उकार-बहुला भाषा है। 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा म उकार-बहुला भाषा के रूप मिलते हैं—यथा पहुवीसु, वपु, चंदवलद्दिउ। इस प्रकार के प्रयोग 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा के विभिन्न स्तरों में मिलते हैं। 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा की विकासशील अवस्था में उकार रूप का प्रयोग छन्द विशेष की मात्रा या लय-पूर्ति हेतु भी होता है।

'पृथ्वीराज रासो' की भाषा में संज्ञा के निम्नलिखित कारकीय प्रयोग मिलते हैं—

(१) सविभक्तिक प्रयोग—इसके अन्तर्गत संज्ञाओं के वे रूप आते हैं जिनमें प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की संज्ञाओं की विभक्तियों के अवशेष मिलते हैं। उदा० कै सिर तुमहि समप्पिहौं।

(२) लुप्तविभक्तिक प्रयोग

(३) कारकीय प्रयोग।

(४) परसर्गीय प्रयोग।

परवर्ती अपभ्रंश-अवहट्ट में केहि, रेसि तणेण होन्तो करेब केर, मज्झि, सउ सरिस, माझ आदि परसर्गों का प्रयोग मिलता है। पृथ्वीराज रासो में भी इन समस्त परसर्गों का प्रयोग मिलता है।

रासोकाव्य की परम्परा सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी तक मिलती है। इसके अन्तर्गत दयालकवि का 'राणा रासो' (सन १६१८ ई०) कुम्भकर्ण का 'रतन रासो' (सन १६१८ १६२४), न्यामत खाँ जान कवि का 'कायम रासो' (१६२४) राव डूँगरसी का 'शत्रुसाल रासो' (सन १६५१) कीर्ति सुन्दर का 'माकड़ रासो' अन्य उल्लेखनीय रचनायें हैं।

काव्यरूप और भावयोजना की दृष्टि ढोला मारुरा दूहा एक महत्वपूर्ण कृति है। भाषा की दृष्टि से यह हिन्दी की कृति नहीं है। परन्तु हिन्दी की कतिपय आदिकालीन कृतियों की आन्तरिकता इस रचना में उपलब्ध हो जाती है। यह एक प्रेमाख्यानक काव्य है और इसकी समता 'बीसलदेव रासो' से मिलती है। 'बीसलदेव रासो' के समान इस कृति की कथा अति क्षीण है। परन्तु बीसलदेव रासो की कथा में एक शृङ्खला मिलती है। 'ढोला मारु रा दूहा' मुक्तकबन्धकाव्य है। इस कृति का मूल रूप लोक गीतों के रूप में रहा है। काल-क्रम से विकसित होकर इसने साहित्यिक रूप धारण कर लिया। 'ढोला मारु-रा दूहा' को एक नवीन रूप देने का प्रयास कवि कुशललाभ (जैन कवि) ने किया। दोहों के मध्य स्थान-स्थान पर चउपई की योजना कर उन्होंने इसका नामकरण 'ढोला मारु चउपई' रखा। पश्चिमी भारत में—पंजाब, राजस्थान गुजरात में—ढोला और मारुवणी की प्रणयगाथा के इस काव्यरूप के अनेक रूपान्तर मिलते हैं। प्रेमाख्यानक काव्यों की रूढ़ियाँ इस कृति में व्यापक रूप में प्रयुक्त हैं। मारुवणी के लिए ढोला सिंहल की यात्रा करता है। विप्रलम्भ वर्णन और ऋतु वर्णन की दृष्टियों से भी यह प्रेमाख्यानक काव्यों के निकट की कृति है। इन्हीं दृष्टियों से हिन्दी के आदिकालीन साहित्य के साथ ढोला मारु-रा दूहा का अध्ययन अपेक्षित है।

कोरियाखी'[१]—तुम तो रानियों का परित्याग नहीं कर पा रहे हो, और मैं मिल्ली नगर का राजा था मैंने सात सत रानियों का परित्याग किया है। अपना विशेष परिचय देते हुए वे कहते हैं—

'जालन्धरि मूपति जालन्धर वहा
श्री आदिनाथ कहिय उपदेश'[२]

ऊपर यह संकेत किया गया है कि कन्हू या कानूपा जालन्धर के शिष्य थे। इसका संकेत कानूपा के निम्नलिखित कथन में भी मिलता है—

पालि करिब जालन्धरि पाए।
पाखि य राहूब मोरि पण्डियाआये॥

एक अन्य अंश में शबर की स्मृति करते हुए कन्हू ने कहा है—

बर गिरि शिहर उत्तुंग मुनि
शबरे जहिं किअ वास
णउ सो लंघिअ पञ्चाननेहिं
करि वर दुरिअ आस।

'जालन्धर नामक महामेरु है गिरि के शिखर का उष्णीष कमल है। यह साधकों की चरम उपलब्धि है। जहाँ शबर पाद ने वास किया था। इस अंश में 'जालन्धर' को प्रतीक रूप में ग्रहण किया गया है। 'बौद्ध गान और दोहा' तथा 'धर्मार्थविनिश्चय' के अनुसार कानूपा कापालिक थे। अतः इस परम्परा के

१—In India however instead of being a purely medical science it developed theological speculations and already in fairly old medical texts we find references to the view that Siddhi or perfection can be attained by making the body immutale with the help of Rasa—Obscure Religious cult Pages 251

२—ये हस्तिनापुर के पुरुवंशी राजा बृहद्रथ की यज्ञाग्नि से उत्पन्न हुए थे अतः इनका नाम ज्वालेन्द्रनाथ पड़ा। इनका सम्बन्ध जालन्धर पीठ से रहा है। तिब्बती परम्परा के अनुसार ये ब्राह्मण थे।

अनुसार जालन्धर का भी कापालिक होना निश्चित होता है। किन्तु वास्तविकता क्या है इस विषय में स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में हम निर्णय लेने में असमर्थ हैं।

मत्स्येन्द्र नाथ को नेपाल में अवलोकितेश्वर बुद्ध का अवतार माना गया है। तंत्रालोक के अनुसार इनका नाम मच्छन्द था। ये 'कौलज्ञान निर्णय' नामक ग्रन्थ के रचयिता थे[1]। कौलज्ञान निर्णय में इनके लिए मच्छिन्द्रनाथ पाद मच्छेन्द्र-पाद मीन पाद तथा मत्स्येन्द्र पाद आदि नामों का उल्लेख मिलता है। अनुश्रुतियों के अनुसार ये मछली मारने वाली जाति के थे यही कारण है कि इन्हें मच्छघ्न' भी कहा गया है। इस सम्बन्ध में कतिपय लोक कथाएँ प्रचलित हैं। एक कथा के अनुसार कार्तिकेय ने शास्त्र चुराकर समुद्र में डाल दिया। उसे एक मत्स्य खा गया। शिव ने मत्स्य का रूप धारण कर समुद्र में प्रवेश किया और इस विधि से उन्होंने शास्त्र का उद्धार किया। एक अन्य परम्परा में इस कथा का रूपान्तर मिलता है। इसके अनुसार क्षीरोद समुद्र में शिव अपनी शक्ति से तंत्र साधना पर वार्तालाप कर रहे थे। मत्स्येन्द्र नाथ ने मत्स्य के रूप में इस ज्ञान को गोपन होकर सुना। इस प्रकार एक ही कथा के भिन्न-भिन्न रूपान्तर मिलते हैं।

यहाँ स्पष्ट शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इन लोक कथाओं से आलोच्य सम्प्रदाय के स्वरूप का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता है। वास्तविकता यह लगती है कि शिव और मत्स्य जिस कथा के पात्र हैं वह किसी विशिष्ट सिद्धान्त की सांकेतिकता को आत्मसात् किए है। दर्शन को प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तावित करने की प्रथा इस देश की एक विशिष्ट प्रणाली है। लोक जीवन में पहुँचकर यह प्रस्तावना जब विशेष प्रसार पा जाती है तो उसका दर्शन तत्व शिथिल हो जाता है और अभिधामूलक स्वरूप ही प्रमुख हो जाता है। मेरी अपनी धारणा है कि मत्स्येन्द्रनाथ से सम्बन्धित समस्त लोक प्रचलित कथाओं की रचना में इस प्रवृत्ति ने कार्य किया है। मैं 'कौलज्ञान निर्णय' के आधार पर ही इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए लालायित होता हूँ। 'कौल ज्ञान निर्णय' में यह स्पष्ट उल्लेख

१—महा महोपाध्याय श्री हर प्रसाद शास्त्री इसे नवीं शताब्दी की रचना मानते हैं। प्रबोध चन्द्र बागची इसे ग्यारहवीं शताब्दी की रचना मानते हैं।

मिलता है कि शिव सिद्ध रूप में भूतल पर अवतीर्ण हुए। पार्वती से एक वार्ता में वे कहते हैं —

महं सो भैरवो देवि कै मत्तत्वं ममा कृत्व
आहम्य तु तदा मत्स्यं शक्तिजाल समीहृत्व
मत्स्योदरन्तु ततस्फोट्य गृहीतम् कुलागमं
भवन्ति निरिता लोके पशवो ज्ञान वर्जिता

इसी सन्दर्भ में मत्स्यरूप में शिव द्वारा 'ज्ञान उद्धार' की चर्चा मिलती है। यहीं पर यह संकेत मिलता है कि कैवर्त होकर शिव ने कौल का उद्धार किया। अभिनव गुप्त ने रागारुणम् ग्रन्थ' का उल्लेख करते हुए लिखा है—

रागारुणं ग्रन्थि बिलाव कीर्णम् यो जाल मातान वितान वृत्तिम्।
कलोम्भितम् बाह्यपथे चकार स्तान्मे स मच्छन्द विभु: प्रसन्न

वस्तु स्थिति यह है कि 'कौलज्ञान' में मत्स्य और मत्स्येन्द्र प्रतीक रूप में ही प्रयुक्त हैं। अभिधामूलक अर्थ परवर्ती काल में ही ग्रहण किया गया।

नाथ-पंथ का इतिहास और इसके प्रवर्तकों तथा आचार्यों की जीवनी और उनकी साधना-विधा का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता। इस साधना-धारा की रूप योजना का परिचय लोक अनुभुतियों से ही मिलता है। मत्स्येन्द्र नाथ नाथ पंथ के प्रथम लौकिक आचार्य माने गए हैं। इनको मीननाथ भी कहा गया है। परन्तु 'हठयोग प्रदीपिका' में मत्स्येन्द्रनाथ और मीननाथ का उल्लेख दो स्वतन्त्र व्यक्तियों के रूप में हुआ है। 'योग' 'सम्प्रदायविष्कृति' नामक ग्रन्थ में मीननाथ को मत्स्येन्द्रनाथ का पुत्र कहा गया है। विभिन्न सन्दर्भों से यह ज्ञात होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ का व्यक्तित्व अति प्रभावशाली था और नाथपंथ के संगठन में इनका विशेष योगदान रहा है। तिब्बती अनुभुतियों में भी मत्स्येन्द्र नाथ से सम्बन्धित अनेक कथायें मिलती हैं। यहाँ भी मत्स्येन्द्र नाथ के समानान्तर मीन नाथ का उल्लेख मिलता है। परन्तु यहाँ मीन नाथ को मत्स्येन्द्रनाथ का पिता कहा गया है। सिद्ध साधना-धारा के आदि सिद्ध लुईपा का उल्लेख किया जा चुका है। लुईपा और मत्स्येन्द्र नाथ को एक ही व्यक्ति के रूप में भी कतिपय परम्पराओं में ग्रहण किया गया है। 'मत्स्य' और 'लुई' को पर्यायवाची शब्द मान कर इस प्रकार का निर्णय लिया गया है। इस प्रकार 'लुइ' 'रोहित या लोहित'

से विकसित शब्द माना गया है। तिब्बती परम्परा में लुई के लिए मत्स्यान्त्राद (मछली की अंतड़ी खाने वाला)। परन्तु इससे वस्तु स्थिति का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता है। मत्स्येन्द्र के लिए 'मछन्दरनाथ' का भी प्रयोग मिलता है। मत्स्येन्द्र नाथ लिखित चार पुस्तकों अकुलवीरतंत्र कुलानन्द और ज्ञानकारिका में इनके लिए 'मीनाख', मच्छेन्द्रपाद, मत्स्येन्द्र और मच्छिन्द्रपाद आदि नामों का उल्लेख मिलता है। 'कौल ज्ञान निर्णय' में इनके लिए मच्छन्नपाद मच्छेन्द्रपाद मत्स्येन्द्र पाद और मीनपाद आदि नामों का प्रयोग मिलता है। हरप्रसाद शास्त्री की यह धारणा थी कि ये कृतियाँ नवीं शताब्दी की हैं। परन्तु प्रबोधचन्द्र बागची का निर्णय है कि ये कृतियाँ ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य भाग की हैं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मत्स्येन्द्र नाथ का समय नवीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य पड़ता है।

वास्तविकता यह है कि मीननाथ और मत्स्येन्द्र नाथ एक ही व्यक्ति हैं। तंत्रालोक के भाष्य से इस विश्वास की पुष्टि होती है। कामरूप में ब्रह्मपुत्र नदी को लोहित भी कहते हैं और उस प्रदेश को लोहित प्रदेश भी कहते हैं। अतः इस देश के वासी होने के कारण मत्स्येन्द्र को लुईपाद या लुइपा कहा गया होगा[१]। तिब्बती अनुश्रुतियों में यह कथा भी प्रचलित है कि कौलागम के प्रचार हेतु मत्स्य के उदर से स्वयं शिव ने कैवर्त के रूप में अवतार लिया था। मीन नाथ को सहज सिद्धि का प्रथम आचार्य भी माना गया है। सहज सिद्धि से ही नाथ पंथ का सूत्रपात होता है। लुईपा वज्रयानी सिद्ध थे परन्तु मीन या मत्स्येन्द्र वज्रयानी साधक नहीं थे। अतः मत्स्येन्द्र और लुईपा दो भिन्न साधना धाराओं के आचार्य थे। परन्तु तारानाथ ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है कि मत्स्येन्द्र 'चन्द्र द्वीप' के निवासी थे और य 'कौल मार्ग' के अनुयायी थे। तारानाथ ने इस ओर स्पष्ट शब्दों में संकेत किया है कि लुईपा ने योगिनी पद्धति का प्रादुर्भाव किया था। अतः इस संकेत के आधार पर मत्स्येन्द्र तथा लुई एक ही व्यक्ति लगते हैं। परन्तु लुईपा और मत्स्येन्द्र के नाम से प्रस्तावित रचनाओं में भिन्न भिन्न साधना विधा का उल्लेख मिलता है। लुईपा प्रवृत्ति मार्गी थ। मत्स्येन्द्र

१—रोहित>लोहित>लाहित>लोहत>लुई।
२—नाथपंथ - कल्याणी मल्लिक—पृ० ५०

निवृत्ति मार्गी थे। सिद्धों ने लुईपा को 'मत्स्येन्द्रावतार' कहा है। बहुत सम्भव है इस कारण ही परवर्ती काल में 'मत्स्येन्द्र और 'लुई' को एक ही व्यक्ति के रूप में ग्रहण करने की भावना विकसित हुई हो।

'कौलज्ञान निर्णय' की भूमिका में डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने यह संस्थापना की है कि मत्स्येन्द्र नाथ और 'लुईपाद एक ही व्यक्ति थे। अपने निर्णय के लिए उन्होंने निम्नलिखित कारणों का उल्लेख किया है—

[क] तिब्बती परम्परा के अनुसार लुईपा आदि सिद्ध थे। भारतीय परम्परा के अनुसार मत्स्येन्द्र आदि सिद्ध थे।

[ख] लुईपा का सम्बन्ध शबरीपा से था। 'हठयोग प्रदीपिका' के अनुसार मत्स्येन्द्र का सम्बन्ध भी शबरपा से था 'श्री आदिनाथ मत्स्येन्द्र शाबरानन्द भैरव'।

[ग] लुईपा और मत्स्येन्द्र दोनों ही कैवर्त थे। लुई का अर्थ है लोहित रोहित या मत्स्यराज और यह मत्स्येन्द्र का पर्यायवाची है।

[घ] तिब्बती में लुई का अर्थ होता है Nalropa—अर्थात् मत्स्योदर भारतीय मत के अनुसार मत्स्येन्द्र का जन्म मत्स्य क उदर से हुआ था कौलज्ञान निर्णय' में भी इसका संकेत मिलता है।

राजमोहन नाथ ने इस समस्या का समाधान एक अन्य रूप से किया है। इनके अनुसार मत्स्येन्द्र नाथ दो हुए हैं। एक मत्स्येन्द्र नाथ हठयोग और नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। दूसरे थे बौद्ध सहजिया तान्त्रिक धर्म के प्रवर्तक जिन्हें लुईपा भी कहा गया है। डॉ० कल्याणी मल्लिक ने इस निष्कर्ष की ओर संकेत करते हुए कहा है 'उड़ियान के राज कर्मचारी लोमा बौद्धधर्म में दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् लुईपा के नाम से इसलिए विख्यात हुए कि वे लोहित प्रदेश के थे। लुईपाद सहज धर्म का प्रचार करते और दोहा में रचना करते। वे जब मत्स्येन्द्रनाथ ने कौलज्ञान निर्णय की रचना की परन्तु नाथ सम्प्रदाय के इस प्रवर्तक मत्स्येन्द्र नाथ समुद्र-वासी थे और परवर्ती काल में नारी के पाश में आबद्ध हुए। नाथधर्म के प्रवर्तक मत्स्येन्द्र नाथ और सहज धर्म के प्रचारक लुईपाद-मत्स्येन्द्र नाथ को राजनाथ महाशय ने इस रूप में प्रस्तुत किया है।

(क) मत्स्येन्द्र (मीननाथ) —नाथधर्म के आदि गुरु।

(ख) मत्स्येन्द्र नाथ (लुईपाद)—दोहा और कौलज्ञान रचयिता नव मत्स्येन्द्र नाथ।[१]

मत्स्येन्द्र नाथ से सम्बन्धित अनेक कथायें प्रचलित हैं। इनमें कतिपय अलौकिक और अतिप्राकृतिक कहानियाँ भी हैं। नैपाल में प्रचलित एक कहानी के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने शरीर की रक्षा का भार गोरखनाथ पर डालकर एक मृत राजा के शरीर में प्रवेश किया और वे उसकी रानी के माया-पाश में आबद्ध हुए। गोरखनाथ ने उनके अचेतन शरीर में प्राण संचार कर उनकी रक्षा की। इसी प्रकार की एक कथा योगी सम्प्रदाय विष्कृति में मिलती है। गिरनार पर्वत पर महासिद्ध के रूप में निवास करते हुए मत्स्येन्द्र सिंहल द्वीप की रानी के माया-पाश में बद्ध हुए और इनसे परशुराम और मीनराम नामक पुत्र उत्पन्न हुए इस कथा में गोरख द्वारा ही मत्स्येन्द्र का उद्धार होता है। कदलीवन में मत्स्येन्द्र पतन की कथा तो अति प्रसिद्ध इस कथा में भी गोरख द्वारा ही मत्स्येन्द्र नाथ का उद्धार होता है। नेपाली अनुश्रुति के अनुसार मत्स्येन्द्र नैपाल के रक्षक थे। गोरखनाथ से पंजाब से होकर नेपाल में आए थे। पशुपति नाथ के मन्दिर के निकट निवास कर उन्होंने शैव धर्म का प्रचार किया। तिब्बती अनुश्रुति में गोरखनाथ बौद्ध तन्त्र कापालिक थे। शैवधर्म इन्होंने बाद को ग्रहण किया। कौलज्ञान निर्णय' में मत्स्येन्द्र नाथ को मच्छीपाद भी कहा गया है। गोरखनाथ का उल्लेख यहाँ बौद्ध रूप में हुआ है। आपने धर्म का परित्याग कर व बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए थे। यही कारण है कि नेपाल के गोरखनाथ अप्रसन्न थे। परन्तु मत्स्येन्द्रनाथ की उपासना व बौद्ध के रूप में करते रहे। बौद्ध ग्रन्थों में मीननाथ के पदों का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार मत्स्येन्द्र बौद्ध सम्प्रदाय के आचार्य हो जाते हैं।

'कौलज्ञान निर्णय' मत्स्येन्द्रनाथ चन्द्रद्वीप के निवासी थे। यह स्थान कामरूप के निकट है। इस ग्रन्थ में मत्स्येन्द्रनाथ के पतन की कहानी का उल्लेख नहीं है। यहाँ इन्हें कौल योगी कहा गया है। एक अन्य स्रोत के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ का जन्म-स्थान बंग देश था व ब्राह्मण थे और इनका नाम विष्णु शर्मा

१—देखिए—नाथपंथ-पृ० ७१

था। 'नारद पुराण' में मत्स्येन्द्र नाथ का उल्लेख मिलता है। इसके पुराण की एक कथा के अनुसार मत्स्येन्द्र का जन्म अशुभ लग्न में हुआ था, फलस्वरूप इनके माता पिता ने इनको समुद्र में डाल दिया। मत्स्य के माध्यम से उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया और शिव ने उनका उद्धार किया। सत्रहवीं शताब्दी के एक शिला लेख के अनुसार योगी श्रेष्ठ मत्स्येन्द्र नाथ शक्ति के उपासक थे बौद्ध उन्हें लोकेश्वर कहते थे और उनका सम्मान वे अवलोकितेश्वर के रूप में करते थे। लोकेश्वर या लोकनाथ इनके अन्य नाम थे। वे परम तपस्वी और इन्द्र जालिक थे। इनका मुख्य मन्त्र था 'ओं मणि पद्मे हुम्'। मंत्र की दृष्टि से ये सिद्धों की परम्परा में आते हैं।

नाथ-पंथ पर विचार करते हुए विद्वानों ने इन समस्त कहानियों का उल्लेख किया है। परन्तु इनके माध्यम से क्या निष्कर्ष निकलता है इस ओर किसी की भी दृष्टि नहीं गयी है। ये कहानियाँ एक दूसरे में मिश्रित हैं। इनसे किसी स्पष्ट निष्कर्ष की उपलब्धि सम्भव नहीं है। परन्तु इन कहानियों में कतिपय सांकेतिक अंश भी विद्यमान हैं। जिनसे निम्नलिखित निष्कर्षों के प्रति मैं आग्रहशील होता हूँ।

ऊपर वर्णित विभिन्न कहानियों में यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि मत्स्येन्द्र नाथ बौद्ध-साधक थे। गोरखनाथ भी मूल रूप में बौद्ध थे। परवर्ती काल में उन्होंने *नाथ-पंथ में दीक्षा ली। उनके द्वारा मत्स्येन्द्र के उद्धार की कथा भी* स्थान-स्थान पर मिलती है। इसका संकेत ग्रहण करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है मत्स्येन्द्रनाथ कभी योग मार्ग के प्रवर्तक थे और फिर संयोगवश एक ऐसे साधना में सम्मिलित हो गए जिसमें स्त्रियों के साथ अबाध संसर्ग मुख्य बात थी—सम्भवतः यह वाममार्गी साधना थी।[1] परन्तु इस निर्णय को एक अन्य रूप में ग्रहण करने का प्रलोभन जाग्रत होता है। सामग्रियों की समग्रता की दृष्टि से दो निष्कर्ष की सम्भावना जागृत होती है। नाथ-पंथ के मत्स्येन्द्र और गोरख बौद्ध-पंथ के मत्स्येन्द्र और गोरख से भिन्न थे। इस सम्बन्ध में राज मोहन नाथ के विचारों का उल्लेख किया जा चुका है। गोरखनाथ का उल्लेख करते हुए उन्होंने दो स्वतन्त्र व्यक्तियों की कल्पना इस रूप में की है—

१—नाथ सम्प्रदाय पृष्ठ ५२

(क) गोरखनाथ—नाथ धर्मी काया साधना के नेता।

(ख) नव गोरखनाथ—रमण वज्र—सहजिया धर्म के प्रचारक—इसका सम्बन्ध गोपीचन्द और मयनावती से था।[1] परन्तु इन समस्याओं के आधार पर मैं एक अन्य रूप में सोचने के लिए आकर्षित होता हूँ—मत्स्येन्द्र और गोरख दोनों ही अपने मूल रूप में सहज सम्प्रदाय के थे। सम्भवतः मत्स्येन्द्र गोरख के गुरु थे। शैव-धर्म में दीक्षित हो जाने के पश्चात् सम्भवत गोरख की अनुप्रेरणा से मत्स्येन्द्र शैव या नाथ सम्प्रदाय में आए। गोरखनाथ द्वारा मत्स्येन्द्र के उद्धार की कथा बहुत सम्भवतः गोरखनाथ की अनुप्रेरणा में मत्स्येन्द्र के नाथ सम्प्रदाय के आगमन की कथा हो ?

नाथ सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव काल

नाथ मार्ग के प्रवर्तकों के समय के विषय में ज्ञान प्राप्त करने का कोई निश्चित साधन हमारे पास नहीं है। ऐतिहासिक तथ्यों की न्यूनता में इस संबंध में हम कोई निश्चित निर्णय नहीं ले सकते। परन्तु विविध कहानियों और जन श्रुतियों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मत्स्येन्द्र और गोरख का समय नवीं शताब्दी का मध्य भाग हो सकता है। गोरखनाथ और नाथ-पंथ के अन्य साधकों की हिन्दी या लोक भाषा में जो रचनायें उपलब्ध हैं वे सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की हैं इनमें भाषा के विविध-स्तरों का मिश्रण मिलता है। इनके विषय में आगे विचार किया गया है। यहाँ यह संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा कि इन रचनाओं द्वारा नाथ मार्ग के प्रवर्तकों का समय निर्धारण सम्भव नहीं है। जालन्धरनाथ गोरखनाथ और कृष्णपाद समसामयिक थे। सिद्ध-साहित्य के अन्त र्गत कान्ह (कृष्णपाद) पर विचार करते हुए हमने उनका स० ११११ माना है। अत मत्स्येन्द्र और गोरख यदि इनके समकालीन थे तो इनका समय भी यही मानना होगा। परन्तु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इनका समय नवीं शताब्दी का मध्य भाग मानते हैं नाथ मार्ग के आदि प्रवर्तकों का समय नवीं शताब्दी का मध्य भाग ही उचित जान पड़ता है। इस मार्ग में इसके पूर्ववर्ती सिद्ध भी बाद में चलकर अन्तर्भुक्त हुए हैं और इसलिए गोरखनाथ के सम्बन्ध में ऐसी दर्जनों

१—नाथ-पंथ पृष्ठ-७२

दन्तकथायें चल पड़ी हैं जिनको ऐतिहासिक तथ्य मान लेने पर तिथि-सम्बन्धी झमेला खड़ा हो जाता है।[1]

'गोरखनाथ की गोष्ठी' में गोरख और कबीर के मध्य वाद विवाद का उल्लेख मिलता है। यहाँ गोरखनाथ ने अपने को मत्स्येन्द्र का पुत्र और आदिनाथ का पौत्र कहा है।[2] कबीर का समय सोलहवीं शताब्दी है। अत यदि गोरख को कबीर का समसामयिक माना जाय तो मत्स्येन्द्र और गोरख का समय सोलहवीं शताब्दी है। परन्तु यह निर्धारण मान्य नहीं है। क्योंकि कबीर के नाम स प्रचलित एक पद में यह भी संकेत मिलता है कि कबीर उनसे अनेक वर्षों पूर्व हो चुके थे। गोरख के शिष्य गूगा सर्पों के देवता माने गये हैं। राजस्थान में यह प्रसिद्धि है कि यवनों के साथ युद्ध करने में इनकी मृत्यु हुई थी। जनश्रुति के अनुसार ये राजवंशी थे और जाहरपीर नाम से विख्यात थे। इनकी मृत्यु फीरोजशाह द्वारा हुई। इन दोनों कथाओं के अनुसार गोरख चौदहवीं शताब्दी में हुए थे। बाबा फरीद के साथ गोरखनाथ का नाम संयुक्त किया जाता है। फरीद का समय सन् १२४४ ई० है। ज्ञानेश्वररचित ज्ञानेश्वरी में नाथ योगियों का उल्लेख मिलता है। इनके अनुसार मत्स्येन्द्र और गोरख का समय सन् १२४४ १२९ के मध्य पड़ता है। गोपीचन्द्र गीत भर्तृहरि पिंगला कहानी ज्ञानेश्वरी गुरु-परम्परा के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ का समय द्वादश शताब्दी है। ऐसा कहा जाता है कि नेपाल के राजा नरेन्द्रदेव के समय गोरखनाथ नेपाल में आए थे। इस धारणा के अनुसार गोरखनाथ सातवीं-आठवीं शताब्दी में हुए थे। वस्तु स्थिति यह है कि नाथ-सम्प्रदाय का अभ्युदय बौद्ध धर्म के पतन के

१—नाथ सम्प्रदाय—पृ ५४।

२—इस प्रकार की भावना गोरखबानी में संकलित कतिपय पदों में भी मिलती है—

आदिनाथ नाती मछिन्द्रनाथ पूता घट पदी मचीका गोरष अवधूता

पृ० ८८ १

एक कुल बहिर्णदला रहि गइ होई, नगर मछिन्द्रनाथ पूता जोग न होई

पृ० ८६

साथ प्रारम्भ होता है। बौद्ध धर्म का पतन मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व ही आरम्भ हो जाता है। यह क्रम बारहवीं शताब्दी तक चलता है। अब नाथ पंथ का आविर्भाव और उत्थान इसी काल-अवधि में होता है। मत्स्येन्द्र और गोरखनाथ इसी अवधि में हुए माने हैं। डॉ॰ मोहन सिंह गोरखनाथ को नवीं शताब्दी का मानते हैं। Francis Young Husband के अनुसार जिस समय उत्तर भारत में हिन्दू, जैन बौद्ध, मुसलमान ये समस्त धर्म प्रधानता प्राप्ति के लिए संघर्ष कर रहे थे उस संक्रान्त काल में ही मत्स्येन्द्र और गोरखनाथ का प्रादुर्भाव हुआ था। इसका समय नवीं-दसवीं शताब्दी का मध्य है। Nirgun School of Hindu Poetry में डॉ॰ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की यह मान्यता है कि गोरखनाथ दसवीं शताब्दी में अवतरित हुए थे। इन्होंने हिन्दू-मुसलमान में एकता स्थापित करने का प्रयास किया था। भण्डारकर के निष्कर्षों के अनुसार मत्स्येन्द्र नाथ बारहवीं शताब्दी के थे। डॉ॰ प्रबोधचन्द्र बागची ने 'रस रत्न समुच्चय' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इसके रचयिता ने अपने को वाग्भट्ट कहा है। और इनके अनुसार इस ग्रन्थ का रचनाकाल छठवीं शताब्दी है। इस ग्रन्थ में गोरखनाथ और नित्यनाथ का उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार गोरखनाथ का समय छठवीं शताब्दी है। परन्तु आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने डॉ॰ बागची की मान्यता का खण्डन करते हुए कहा है कि 'रस रत्न समुच्चय वाग्भट्ट की रचना नहीं है। यह चौदहवीं शताब्दी का ग्रन्थ है।

इस प्रकार नाथ-सम्प्रदाय के प्रादुर्भाव काल और उसके प्रवर्तकों के समय का उचित निर्धारण सम्भव नहीं हो सका है। मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ आदि का स्वरूप किंवदन्ती कहानियों पर ही अधिक अवलम्बित है।

नाथपन्थ के साधकों की परम्परा

नाथपन्थ के साधकों की सूची अनेक रूपान्तरों के साथ उपलब्ध है।

पूर्ववर्तीकाल (क) आदिनाथ।
पार्वती (मत्स्य रूप में मत्स्येन्द्रनाथ का श्रवण)।
गोरखनाथ।
गैनीनाथ।
निवृत्तिनाथ।

ज्ञानेश्वर ।

सच्चिदानन्द ।

परवर्तीकाल (ब) विश्वम्भर—कृष्णचैतन्य ।

राघव चैतन्य ।

केशव चैतन्य ।

बाबाजी चैतन्य ।

तुकाराम ।

बहिणा बाई ।

'ज्ञानेश्वरी' के अनुसार इस परम्परा का स्वरूप इस प्रकार है—

शंकर ।
|
पार्वती—मत्स्येन्द्रनाथ का योगनश्रवण । मत्स्येन्द्रनाथ के साथ
|
सप्तशृंगीपर्वत पर विकलांग चौरंगी का साक्षात्कार ।
|
गोरखनाथ ।
|
गैनीनाथ ।
|
निवृत्तिनाथ ।
|
ज्ञानदेव ।

नाथपरम्परा बारह पंथों में विभक्त है । इसे बारहपंथ कहते हैं । ऐसी धारणा है कि शिष्य बल नाथपंथियों को गोरख ने बारह पन्थों में विभक्त किया ।

१ सतनामी पन्थ या सतनाथी पन्थ (भुवनेश्वर) २ धर्मनाथी पन्थ (कच्छ प्रदेश) ३ रामनाथी पन्थ—(प्रवर्तक-सन्तोषनाथ-गोरखपुर) ४ कपिलानी (गंगा सागर) ५ नटेश्वरी या लक्ष्मण नाथी (गोरखा टीला), ६ बैरागी (प्रवर्तक भर्तृहरि-रातादुंगा) ७ माननाथी (पावनापंथ—जोधपुर) ८ आईपंथ (प्रचारिका विमलादेवी गोरखाकुई स्थान) ९ गंगानाथ पंथ (बमवार-गुरुदासपुर) १० बनणाथ पंथ (अम्बाला), ११ पागलपंथ (प्रवर्तक चौरंगी नाथ हस्तप्रस्थ), १२ रावल या नागनाथीपंथ । एक अन्य

परम्परा के अनुसार ये नाम इस प्रकार हैं—सतनाथ रामनाथ, धरमनाथ लक्ष्मणनाथ दरियानाथ गंगानाथ वैराग्य, रावल या नागनाथ जालंधरिया आईपंथ कपिलानी और धजनाथ।[1] यह सूची किसी विशिष्ट प्रमाण पर आधारित नहीं है। अनुश्रुतियों की अनुप्रेरणा ही इसमें प्रधान है। परन्तु इनसे एक संकेत मिलता है। गोरखनाथ एक ऐसे व्यक्तित्व के प्रतिनिधि हैं जिसने अपने युग में प्रचलित समस्त वाममार्गीय साधना-धाराओं का विरोध किया। इनके द्वारा एक स्वस्थ साधना-पद्धति का प्रस्तावन हुआ। इन्होंने योगमार्ग और शैव मार्ग का समन्वय किया और सिद्धों का प्रतिरोध किया। गोरख ने अपनी साधना में जैन बौद्ध वैष्णव कापालिक कौल आदि मतों का समन्वय किया।

मत्स्येन्द्रनाथ : पिछले पृष्ठों में मत्स्येन्द्रनाथ की जीवनी और उनके व्यक्तित्व की चर्चा हो चुकी है। इनका सम्बन्ध 'योगिनी कौल मार्ग' से था। ये अद्वैत तांत्रिक मार्ग के संस्थापक थे। 'तंत्रालोक' में मत्स्येन्द्रनाथ को नमस्कार किया गया है। 'मीन चेतन या 'गोरखविजय' में कदली वन से मत्स्येन्द्रनाथ के उद्धार की कथा से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि वे प्रवृत्तिमार्गी थे। गोरखनाथ उनको निवृत्तिमार्ग की ओर आकर्षित करते हैं।

'मीननाथ चलि गेल कदलिर देश
करछिले देखे युवति जन भजा
स्त्री राजा हुए से वे स्त्री हुए राजा।

१—यह प्रसिद्धि है कि शिव द्वारा बारह पंथों का प्रवर्तन हुआ और गोरख द्वारा भी बारह पंथों का प्रवर्तन हुआ इन पंथों में संघर्ष हुआ। इसके निवारणहेतु इन्होंने शिव के ६ पन्थों और अपने ६ पन्थों के संयोग से नवीन बारहपंथ की स्थापना की जो इस प्रकार है—शिव-सम्प्रदाय —भुज (कच्छ) के कंठरनाथ पेशावर और रोहतक के पागलनाथ अफगानिस्तान के रावल, पंख या पंक मारवाड़ के बन गोपाल या राम के सन्तोषनाथ तथा धर्म गोपाल नाथ। गोरख सम्प्रदाय —हेठनाथ, आई पंथ के चोलीनाथ चाँद नाथ कपिलानी मारवाड़ का वैराग्य पंथ और रतननाथी जयपुर के पावनाथ धजनाथ महावीर। हिन्दी साहित्य द्वितीय भाग ७६।

कृष्णपाद (गोपीचन्द गीत के कानूपा) तथा मीननाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) रचित चर्या पद उपलब्ध हैं। अतः यहाँ तक एक स्पष्ट ऐतिहासिक परम्परा मिलती है। इसके आगे की परम्परा स्पष्ट नहीं हो पाती है। जालन्धरीपा (हाड़िपा) और गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे। मत्स्येन्द्रनाथ तथा हाड़िपा की रचनायें मागधी अपभ्रंश-अवहट्ट में तो उपलब्ध हैं, परन्तु गोरखनाथ की रचनायें मागधी अपभ्रंश-अवहट्ट में उपलब्ध नहीं हैं। ऐसी भी धारणा है कि हाडिफ्पाद और मालीपाद गोरख के शिष्य थे। ये बौद्ध थे। गोरख की प्रेरणा से ये नाथसम्प्रदाय में दीक्षित हुए। तिब्बती साहित्य में यह वृत्तान्त मिलता है। यहाँ मालीपाद को हाड़िपा कहा गया है। प्रचलित कहानियों के आधार पर डॉ० सुकुमार सेन का यह निष्कर्ष है कि मैनावती शैव तांत्रिक थीं और हाड़िपा की साधना-सङ्गिनी थीं। मयनावती का उल्लेख गोरखनाथ की शिष्या के रूप में हुआ है। इस रूप में निष्कर्ष यह निकलता है कि मत्स्येन्द्र का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में वाममार्गी साधना से रहा है। परवर्ती काल में गोरखनाथ की प्रेरणा से वे नाथसम्प्रदाय की ओर आकर्षित हुए। ये कामरूप में साधना करते थे। 'कौलज्ञान निर्णय' 'अकुल वीर तन्त्र' 'कुलानन्द' और 'ज्ञान कारिका' आदि इनकी रचनायें हैं। भिन्न भिन्न कहानियों और मत-मतान्तरों से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि तांत्रिक वामाचारी साधनाओं को लेकर मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ (गुरु शिष्य) में मतभेद हो गया था। 'गोरख विजय' और 'मीन चेतन' नामक कृतियों में वर्णित मत्स्येन्द्र के पतन और उनके उद्धार की कथा में इस ओर स्पष्ट संकेत मिलता है। 'गोरखबानी' में संकलित कतिपय रचनाओं से भी यही ध्वनि निकलती है। उदाहरण—

सुणौं हो मछिन्द्र गोरष बोलै अगम गवंन कहूं हेला।
निरति करी लै मीर्का सुनिस्यो तुम्हें सतगुर मैं चेला॥ टेक॥
कांमनी बहंता जोग न होई भंग मुष परलै केवा।
जहाँ उपजै तहाँ फिरि आवै ध्यंतामनि चित एवा॥

गोरखबाणी-पृ० ८८।

गुरुजी ऐसा करम न कीजै ताथैं अमी महारस छीजै ॥टेक॥
दिवसैं बाघणि मन मोहै राति सरोवर सोषै।
जाणि बूझि रे मूरिख लोया घरि घरि बाघी पोषै।
नदी तीरे बिरषा नारी संग पुरषा अल्प जीवन की आसा
मनथैं उपजा मेर पिसि पड़ई ताथैं कंध बिनासा।

गोरखबानी पृ० ११७।

इन अंशों से यह स्पष्ट होता है कि गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ को वाममार्गीय विचारधारा से मुक्त करने में प्रयत्नशील रहे हैं। 'गोरख बानी' में 'मछीन्द्र गोरष बोध' के अन्तर्गत 'मछीन्द्र' और 'गोरष' की बातें संकलित हैं। गोरख नाथ अपने गुरु मत्स्यन्द्र नाथ से जिज्ञासा करते हैं और मत्स्येन्द्रनाथ उनकी जिज्ञासाओं का उत्तर देते हैं। उदाहरण के लिए कतिपय अंश यहाँ दिए जा रहे हैं—

गोरष—स्वामी कौंण घरि मन कौण घरि सूर कौंण घरि काल बजावै तूर।
कौंण घरि पंच तत्त समि रहै। सतगुर होइ सु बूझ्या कहै।
मछिन्द्र—अवधू मनि चन्द्र पवन घर सूर।
सुन्नि घरि काल बजावै तूर।
ग्यान घरि पंच तत्त समि रहै।
सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै।

गोरखबाणी पृ० १८८।

'मछीन्द्र गोरख बोध' में जो अंश संकलित हैं वे अति आधुनिक हैं। इन अंशों की भाषा अठारहवीं शताब्दी की है। परवर्तीकाल में मत्स्यन्द्र और गोरख के नाम से ये संकलित की गयी हैं।

गोरखनाथ गोरखनाथ मध्य-युग के महत्वपूर्ण धार्मिक नेता के रूप में प्रसिद्ध हैं। और अनेक सन्दर्भों से यह स्पष्ट होता है कि अपने गुरु मत्स्यन्द्रनाथ द्वारा प्रचलित कौलमार्ग का उन्होंने परिष्कार किया। 'हठयोग प्रदीपिका' के अनुसार गोरखनाथ हठयोग के मान्यमीय आचार्य थे। उनके उपदेशों में योगतन्त्र तथा शैव तन्त्र इन दोनों का सामञ्जस्य मिलता है। प्रत्यभिज्ञादर्शन कायासाधना और शैव परम्परा के सामंजस्य में इन्होंने नाथसम्प्रदाय का गठन किया। शैवदर्शन के

प्रति गोरखनाथ विशेष आग्रहशील थे। प्राचीन रसेश्वर सम्प्रदाय से भी वे प्रभावित थे। हिन्दी में गोरखनाथ के नाम से जो साहित्य मिलता है उसमें अनेकरूपता है और परवर्ती काल में विभिन्न साधना प्रणालियों का योग होता रहा है। सिद्ध सम्प्रदाय की तांत्रिक विचारधाराओं के अतिरिक्त हिन्दू साधना के विशिष्ट तत्वों का समावेश भी इनकी रचनाओं में मिलता है। गोरखनाथ ने संस्कृत में भी रचनायें की हैं। इन रचनाओं से यह प्रमाणित होता है कि गोरखनाथ द्वारा प्रस्थापित नाथ सम्प्रदाय मुख्य शैव-दर्शन पर विशेष रूप से आधारित रहा है। 'गोरखबानी' की भूमिका में डा॰ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने *गोरख-रचित निम्नलिखित ग्रन्थों का उल्लेख किया है।*

(१) सबदी (२) पद (३) शिष्या दरसन, (४) प्राणसंकली (५) नरवै बोध (६) आत्मबोध (७) अभैमात्रा जोग (८) पन्द्रह तिथि (९) सप्तवार (१) मछीन्द्र गोरख बोध (११) रोमावली (१२) ग्यान तिलक (१३) ग्यान चौंतीसा (१४) पंचमात्रा (१५) गोरख गणेश गोष्ठी (१६) गोरख दत्त गोष्ठी, *महादेव गोरख गुष्टि* (१८) सिष्ट पुराण (१९) दयाबोध (२) जाती भौंरावली (छन्द गोरख) (२१) नवग्रह, २२) नवरात्र (२३) अष्ट पारछ्या (२४) रह रास (२५) ग्यान माला (२६) आत्म बोध (२७) व्रत (२८) निरंजन पुराण (२९) गोरख वचन (३) इंद्री देवता (३१) मूल गर्भावली (३२) खाणी बाणी (३३) गोरख सत (३४) अष्ट मुद्रा (३५) चौबीस सिधि, (३६) षडक्षरी (३७) पंच अग्नि (३८) अष्टचक्र, (३९) अवलि सिलूक (४) काफिर बोध।[1]

गोरखनाथ की निम्नलिखित संस्कृत रचनायें प्रसिद्ध हैं—

(१) अमनस्क, (२) अमरौघ शासनम्, (३) अवधूत गीता (४) गोरक्ष कल्प (५) गोरक्ष कौमुदी (६) गोरक्ष गीता (७) गोरक्ष चिकित्सा (८) गोरक्ष पंचय (९) गोरक्ष पद्धति (१०) गोरक्ष शतक (११) गोरक्ष शास्त्र (१२) गोरक्ष संहिता, (१३) चतुरशीत्यासन (१४) ज्ञानप्रकाश शतक (१५) ज्ञान शतक (१६) ज्ञानामृत योग (१७) नाड़ी ज्ञान प्रदीपिका (१८) योग चिन्तामणि

१—गोरखबानी —भूमिका पृष्ठ १४ १५।

(१९) योग मार्तण्ड, (२०) योग बीज शास्त्र (२१) योग शास्त्र (२२) योग सिद्धासन पद्धति (२३) श्रीनाथ सूत्र (२४) सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, (२५) हठ योग (२६) हठसंहिता।

हिन्दी-रचनाओं के अन्तर्गत जिन कृतियों का उल्लेख किया गया है उनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। अपने वर्तमान रूप में ये कृतियाँ सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी की हैं। इनका संरक्षण मौखिक परम्परा में होता रहा है। 'गोरखबानी' की भूमिका में इस सत्य का उल्लेख डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने भी किया है। "हिन्दी के ग्रन्थों की हस्त लिखित प्रतियाँ बहुत प्राचीन नहीं हैं। जो कुछ मिलती है विक्रम की सत्रहवीं अठारहवीं शती के इधर की हैं।"[1] परन्तु इन रचनाओं में नाथ-पन्थ के दर्शन और उनकी साधना प्रणाली के विविध रूप सुरक्षित हैं। मौखिक परम्परा पर विकसित होने के कारण इन कृतियों के आदि रूप का स्वरूप निर्धारण सम्भव नहीं है। पुरानी रचनाओं में परिवर्तन-परिवर्धन के साथ-साथ गोरखनाथ और अन्य नाथों के नाम पर परवर्तीकाल के योगियों द्वारा स्वतन्त्र रचनाओं का भी समावेश होता रहा है। नाथ-योगियों की भ्रमणशीलता के कारण देश के विभिन्न भागों में ये रचनाएँ कालक्रम से भिन्न भिन्न रूपधारण करती गई हैं। स्थान विभिन्नता के कारण इनमें भाषागत विभिन्नताएँ भी मिलती हैं। अतः निश्चयात्मक रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि गोरखनाथ से संबन्धित या अन्य नाथ योगियों के नाम से प्रचलित रचनाएँ किस भाषा की भाषा में अपने आदि रूप में लिखी गई।

गोरखनाथ की रचनाओं से नाथपन्थ के दर्शन और उसकी साधना प्रणाली के निश्चयात्मक रूप का संस्थापन भी संभव नहीं हो पाता है। सिद्ध साधना पद्धति, कापालिक साधना पद्धति और तांत्रिक विचारधाराओं के निर्धारण के सामूहिक रूप नहीं उपलब्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में गोरखनाथ के साहित्य में कतिपय साधनागत विशेषताओं के कारण यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सिद्धदर्शन और नाथ संप्रदाय के दर्शन में मौलिक अन्तर क्या है? वस्तुतः इस पद्धति के स्वरूप संगठन की दृष्टि से गोरखनाथ की कृतियों में वाममार्गीय विचारधारा के प्रति विरोध भाव मिलता है। अन्यथा यह निष्कर्ष देखा पड़ता है कि अपने

[1] गोरखबानी की भूमिका पृ० १५।

युग में प्रचलित समस्त साधना पद्धतियों का किसी न किसी रूप में गोरखनाथ ने समन्वय अवश्य किया है। इसकी चर्चा आगे के पृष्ठों में नाथ सम्प्रदाय के दर्शन और उसकी साधनापद्धति के अन्तर्गत की जाएगी। यहाँ गोरखनाथबानी में संकलित रचनाओं से गोरखनाथ से संबंधित पदों में व्यंजित विविध भाव रूपों की सांकेतिक चर्चा ही अभीष्ट होगी।

गोरखनाथ के पक्ष में शून्यसाधना की दिशा के प्रति विशेष आग्रह मिलता है। उदाहरण

बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिषर महि बालक बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा।

'जो बस्ती नहीं शून्य में रहता है और पुन: जो शून्य में नहीं अपितु बस्ती में रहता है वह अगम और अगोचर है। गगन शिखर पर यह बालक बोलता है उसका नाम क्या रखोगे? वस्तुत: इस अंश में शून्य का संबंध नादतत्व से स्थापित किया गया है और नाद बिन्दु के अन्तर्गत शिव और शक्ति की कल्पना की गई है। शान्ति रक्षित ने इसको ब्रह्म कहा है। उसे परमतत्व के रूप में स्वीकार किया है—

शून्य मिति न वक्तव्यं शून्य मिति वा भवेत,
उभयम नोभयम् चैव प्रज्ञार्थ तुकथ्यते।

नाद पूर्णता का बोधक है। इस ओर संकेत करते हुए कहा गया है—

अन्त शून्यो बहि शून्य शून्य कुम्भ इवाम्बरे
अन्त पूर्णो बहिः पूर्ण कुम्भ इव अर्णवे।

कबीर में इसी भाव की व्यंजना मिलती है—उदाहरण०

जल में कुम्भ कुम्भ में जल सो बाहर भीतर पानी
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तत बुझै गियानी।

गोरखनाथ की रचनाओं में सबद का प्रयोग-स्थल स्थल पर मिलता है। वस्तुत यह सुरति का पर्यायवाची है जिसे अनाहद नाद की संज्ञा भी दी गई है। नाद से प्रेरित होकर अन्त में चित्त नाद में ही समाविष्ट हो जाता है। तब न नाद रहता है न बिन्दु। उदाहरण —

सबदहिं तासा सबदहिं कूँची सबदहिं सबद जगाया।
सबदहिं सबद सु परचा हूआ सबदहिं सबद समाया॥

गोरखनाथ 'शून्य' के साधक थे। 'शून्य' को विविध रूपों में इन्होंने ग्रहण किया है। एक स्थल पर अपना चित्रण शून्य के व्यापारी के रूप में करते हुए वे कहते हैं—

सहज गोरखनाथ बणिज कराई पंच बलद नव गाई।
सहज सुभावै बाखर ल्याई, मेरो मन उडियानी आई॥
घुरहट हाट मझे बणिजारा, सुंनि हमारा पसारा।
लैंण न जाणैं देंण न जाणैं, एहा बणिज हमारा॥

गोरखनाथ 'सहज' का वाणिज्य करते हैं। (इस वाणिज्य में) पाँच बैल (पञ्चेन्द्रियाँ) नव गाय (नवरंध्र) हैं। इनके सहज के बराबर (निवासस्थान) में लाकर मेरा मन उड्डियानबन्ध में आ गया। मैं घुरहट हाट का व्यापारी हूँ। शून्य का मैंने प्रसार (व्यापार) किया है। मेरा व्यापार ऐसा है जिसमें आदान प्रदान की आवश्यकता नहीं है।' 'शून्य समाधि' या 'सहज समाधि' के अन्तर्गत ब्रह्माग्नि के ज्वलित होने का भी उल्लेख गोरखनाथ में मिलता है—

विपिण हमारी सीबी पाके अगिनि बरै मुल्तानां।
ऐसे हम जोगेसर तिषना प्रमन्था पद निरबांनां॥

ज्ञान से संस्पर्शित आत्मा की क्रियात्मकता को आखेटक के व्यापारों के माध्यम से प्रेषित करने की एक नियमित विधा का प्रयोग सिद्धों की रचनाओं में मिलता है। गोरखनाथ की रचनाओं में भी इस विशिष्ट अभिव्यञ्जना प्रणाली का प्रयोग मिलता है। इस सन्दर्भ में अचेतन मनको वे 'मृग' के रूप में चित्रित करते हैं। ज्ञान से अचेतन मन के हनन की प्रक्रिया को रूपक-शैली में उपस्थित करते हुए गोरखनाथ कहते हैं—

आई सो भील पारधी हाथ नहीं पाई घणुषौ मृग दौंत न काहीं।
हणो हणो मृघलौ धुनही न तहीं, बंटा मुर तिहीं भार नाहीं॥
भीलस्यैं तिहां तानियौ बांण मन ही मृघलौ बेधियौ प्रमाण।
हणौं हणौं मृघलौ बेधियो बाण धुनही बाण न भी सर तांण,
भीलड़ीं मार्तमी रांणी मृघलौ आंधी टांमी।

चरन बिहूणी मृगकौं बांध्यौ सीस सींग मुष बाहन बाढै।
भणत गोरखनाथ मछिन्द्रना पूता मार्‌यौ मृग भया अवधूता॥
याहि हियाली जे कोई बूझै ता जोगी कौं त्रिभुवन सूझै।

'ऐसा भील पारधी है जिसके हाथ नहीं है, वह पांवों का पंगु है। उसके मुख में दांत नहीं है। उसके पास धनुष भी नहीं है फिर भी उसने मृग को मार डाला। मृग को अधिकार में करने के लिए उसके पास बाघबन्ध भी नहीं है। हाँक के लिए उसके पास कोई नाद नहीं है। बाण ने मृग को बेध दिया वह मर गया वह मर गया। जो बाण उसने मारा था वह बाण नहीं था। भीलनी घायल मृग को ले आई। उसके सिर और पूंछ नहीं है। मत्स्येन्द्र के शिष्य गोरख कहते हैं मारा हुआ मृग अवधूत हो गया। इस प्रहेलिका को जो समझेगा उसके लिए त्रिभुवन बोधगम्य होगा।

गोरखनाथ की रचनाओं में दशम् द्वार का उल्लेख मिलता है। इस द्वार पर साधक अनाहत नाद सुनता है। यहाँ 'नाद' और 'बिन्दु' के संयोग से साधक अनाहत नाद के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। शून्य मण्डल के लिए आकाशतत्त्व का प्रयोग करते हुए गोरखनाथ ने उसे शिवत्व से परिपूर्ण माना है। उन्होंने यह विश्वास प्रकट किया है कि शिवत्व में ही निर्वाण निहित है। सिद्धों की साधना में 'चन्द्रमा' और 'सूर्य' के समत्व का उल्लेख किया जा चुका है। गोरखनाथ की रचनाओं में भी 'सूर्य' और चन्द्रमा' के मिलन की चर्चा मिलती है।

गोरखनाथ 'उलटी साधना' की चर्चा करते हैं। पवन को उलट कर ब्रह्मरंध्र में समाहित करने से बालक रूप (ब्रह्म ?) का साक्षात्कार होता है। 'उलटा पवनों गगन समोई तब बाल-रूप परतषि होई'। 'उदय' के घर 'अस्त' लाने से (मूलाधार स्थित सूर्य को अस्त में लाने से) 'सोम' (चन्द्रमा) के घर (ब्रह्मरंध्र) पवन का सम्मिलन करने से बंधा हुआ हाथी (मन) अपनी शाला में आ जाता है। बारह कला को सोखे, सोलह कला का पोषण करे, इस प्रकार चार कलायें सिद्ध होंगी। इससे अनन्त कला पूर्ण होगी। सिद्धि साधना में साधक चार कलाओं का पान करता है —

बारा कला सोखै सोला कला पोषै
चारि कला साधै अनन्त कला जीवै ।

गोरखनाथ की रचनाओं में 'अनाहद नाद' का उल्लेख मिलता है। इस सम्बन्ध में 'उन्मनी अवस्था' की भी चर्चा की गई है। जो असाध्य की साधना करते हैं गगन को अनाहद नाद से गर्जित करते हैं उन्मनी समाधि लगाते हैं पवन को प्रत्यावर्तित कर सुषुम्ना में समाहित करते हैं और अमृतपान करते हैं वे ब्रह्मज्ञानी हैं। गोरखनाथ ने अपनी साधना में प्रयुक्त प्रतीकों का स्पष्टीकरण भी किया है —

षोडस नाड़ी चन्द्र प्रकास्या द्वादस नाड़ी भानं ।
सहस्र नाड़ी प्राण का मेला जहाँ असंख कला सिवथानं ॥

सोलह कलापूर्ण नाड़ी में (ईड़ा) चन्द्रमा का प्रकाश है द्वादस में (पिंगला) में भानुका सहस्र नाड़ी (सुषुम्ना) में प्राण का मूल निवास है जहाँ असंख्य कलावाले शिव का निवास है।

अवधू ईड़ा मारग चन्द्र भणीजै प्यंगुला मारग भानं ।
सुषमनां मारग बाणी बोलिए, त्रिय मूल अस्थानं ॥

ईड़ा नाड़ी को चन्द्रमा कहते हैं। पिंगला को भानु कहते हैं, सुषुम्ना को सरस्वती कहते हैं। इन तीनों का उद्देश्य मूल स्थान (ब्रह्मारंध्र) है।

चौरंगीनाथ : तिब्बती परम्परा में के अनुसार 'चौरंगीनाथ' गोरखनाथ के गुरु भाई थे। चौरंगीनाथ के नाम से जो रचनायें उपलब्ध हैं उनमें भी इस धारणा की स्वीकृति मिलती है। चौरंगीनाथ लिखित 'प्राण संकली' नामक रचना प्राप्त हुई है। यह मुख्यतः एक गद्यग्रन्थ है। यह अपने वर्तमान रूप में एक संदिग्ध ग्रन्थ है परन्तु जिस रूप में यह ग्रन्थ उपलब्ध है उसके अनुसार चौरंगीनाथ राजा सालबाहन के पुत्र मच्छन्द्रनाथ के शिष्य और गोरखनाथ के गुरुभाई थे—

यथा•—सत्य बदन्त चौरंगी नाथ। आदि अंतरि सुनौ विरांत।
सालबाहन घरे हमारा जनमउत्पत्ति सति मांभूर बोलीला।

विमाता ने इनके साथ पाशविक व्यवहार किया था। इनको पंगु बना दिया था। इस बात पर क्षोभ करते हुए इन्होंने कहा है "ईअन्तारा मन्त्रा सारस, पाप

कल्पना नहीं हमारे मने हाथ पाँव कटाय, रसाइ कायका निरंजन भने सोप संताप मने परमेव सनमुख देपीला श्री मछीनाथ गुरुदेव नमस्कार करीला नमाइला माथा' २१२०७ । लोकजीवन में इस प्रकार की धारणा है कि चौरंगी के पिता बंग प्रदेश के पास राजा देवपाल के तृतीय पुत्र थे। पंजाब में प्रचलित विभिन्न कहानियों के अनुसार चौरंगीनाथ पूरन भगत का ही दूसरा नाम था। सिक्खों परम्परा को यदि हम आधार मानें तो चौरंगीनाथ का समय नवी शताब्दी का उत्तरार्ध है। 'हठयोग प्रदीपिका' में चौरंगीनाथ का उल्लेख आदि नाथ के साथ मिलता है —

श्री आदिनाथ-मत्स्येन्द्रनाथ शाबरानन्द भैरवा·
चौरंगी-मीन-गोरक्ष विरुपाक्ष बिलेशया ।

अन्य नाथसाधकों के समान चौरंगी ने अपने युग के प्रतिविशेष आस्थाभाव की व्यञ्जना की है। गोरखनाथ के समान ही 'प्राण' 'अपान' के अर्थ में इनकी रचनाओं में 'चन्द्रमा' और 'सूर्य' का प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण किया गया है। समाधि में इनके समत्व की चर्चा की गयी है —

चन्द्र अस्थान बुईला जागे रवि अस्थान बुईला सोवै इह जोग अभ्यास बोल्यिे। इह के समान बोल्यिी नाथ साधना में मूलाधार को 'उदय गिरि' कहा गया है। सहस्त्रार में चन्द्रमा है इसे 'अस्तगिरि' या 'हेम पहाड़' कहा गया है। चन्द्रमा जब सूर्य की चार कलायें प्राप्त कर लेता है तो यह उसके उदय की स्थिति होती है। गोरखनाथ की रचनाओं में इस स्थिति का उल्लेख मिलता है—'उदै ग्रहि अस्त हेम ग्रह पवना मेला आधिके हस्तियमिव छाल मेला'। चौरंगीनाथ की रचनाओं में भी इसी भाव का उल्लेख मिलता है—

'पूर्व मागे उदयागिरि बसै, पश्चिममागे अस्तगिरि बसै बाइव कुबे हेमगिरि बसे मेरशि कूबे कनेर गिरि बसै। —नाथ सिद्धों की बानियाँ। ४०। इड़ा पिंगला और सुषुम्ना को गंगा यमुना और सरस्वती के रूप में अंकित करते हुए पवन-नाड़ी के लिए इन्होंने 'भरवसा' का प्रयोग किया है।

'जिम्या दच्यन पासें गंगा बसै, जिम्या बामें पासें जमुना बसे मध्य जिम्या सरस्वती बसै, पवन नाड़ी भरवसा बसै। नाथ सिद्धोंकी बानियाँ ८०।२०२१ प्राण

ोक्ती' की भाषा सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व की नहीं है। इस कृति की भाषा में पूर्वी प्रभाव यथेष्ट है परन्तु इसकी रचना पश्चिम प्रदेश में ही हुई है।

चर्पटीनाथ चर्पटीनाथ गोरखनाथ के शिष्य थे। इनका उल्लेख 'रसेश्वर सिद्ध' के रूप में भी मिलता है। तिब्बती परम्परा के अनुसार ये मीनपा के शिष्य थे। इस प्रकार इनका उल्लेख सिद्धों की परम्परा में भी मिलता है। ये 'चतुर्भ वाभिवासन' नामक ग्रन्थ के लेखक हैं। इस ग्रन्थ का रूपान्तर तिब्बती भाषा में भी मिलता है। उपलब्ध सामग्रियों से यह संकेत मिलता है कि ये मूलतः वज्रयानी साधक थे। नाथपंथ में ये बाद को दीक्षित हुए थे। इनके नाम से जो रचनायें उपलब्ध हैं उनकी भाषा अधिक प्राचीन नहीं है। भावभूमि तथा अभिव्यञ्जना की इन दोनों ही दृष्टि से इनकी रचनाओं में नवीनता नहीं है। गोरखनाथ की रच नाओं में यत्र-तत्र काव्यात्मक संस्पर्श मिल जाते हैं। परन्तु चर्पटी नाथ की रचनायें काव्यत्व से शून्य हैं। नाथ पंथ के दर्शन और सिद्धान्त निरूपण की स्थूलता इनकी रचनाओं में मिलती है। उदाहरण :—

अवधू मूल दुवारै बंध लगाइ
पवन पलटै गगन समाई।
नाद बिन्दु दोउ अमथिर होई
अरधि पुरिस दसि तब कोई।

× × ×

पंचसि पत्र विषम करि बंध,
ससि करि रवि ऊरधिकरि चन्दा
रंधि दिवस रस चरपट पीया
फूटै तेल न बूझै दीया ।१६।१८७

गोपीचन्द : गोपीचन्द बंगाल के पालवंश से सम्बन्धित थे। गोपीचन्द मयनावती और बंगाल के राजा माणिकचन्द (सन् १०६५) के पुत्र थे। मयनावती हाड़िपा की शिष्या थी। अपनी माता की प्रेरणा से गोपीचन्द नाथपंथ में दीक्षित हुए थे। 'गोपीचन्द्र सन्यास' से सम्बन्धित अनेक कहानियाँ लोक जीवन में

प्रसिद्ध है। इसके नाम से सम्बन्धित 'सबरी' उपलब्ध है। मयनावती को अनुप्रेरणा का उल्लेख निम्नलिखित अंश में मिलता है।

राज तजेबा रे पुता पाट तजबा
तजेबा हस्ती घोड़ा।
सति सति भाषंत मैनावती
फकि मै जीवन थोड़ा ॥१७४॥

गोपीचन्द-मयणावती संवाद में भी मयणावती की प्रेरणा प्रत्यक्ष प्रकट हो जाती है।—

सोला से रानी बारा से कन्या
बंगाला देश बड़भोगी।
बारह बरस हमकू राज करन्थे माता,
पीछे हूंगा योगी।
माता के उपदेस करि,
तजिला देस बंगालं
गोपी चन्द गुरु के सरने
भेटल भया कालं

गोपी चन्द के वियोग में उसकी रानी के विप्रलम्भयुक्त मनो भावों का परिचय भी कतिपय अंशों में मिल जाता है। इस सन्दर्भ में रानी और गोपी चन्द के मध्य वार्तालाप सम्बन्धी पद भी मिलते हैं—

बहुड़ी मे बाहुड़ी गोपीचन्द राजा
बहुड़ी औलावर मायोधी
मंजूषा मैं जोबन मन विल्या हो राजा
भाव भगति सु पायबी।
× + × +
पालिक निद्रा मायै रे रानी
माई मनि राव न मावै जी
जोग जुगति मौ राव हम्हारो
अविचल कैमू पामै पी।
× × × ×

अगर चन्दा भी मढ़ी बनाऊँ,
सोना नां तुम्ह सूँवं की,
कहौ तौ ल्या नां पत्र बढ़ाऊँ
सीनों ना सींमी नाद की।

× × + ×

गगन मंडल में मढ़ी हमारी
चंद सूरजा दूँवं की
सहज सीरूनां पत्र हमारे
अनहद सींगी नाद की

भरथरी (भर्तृहरि) गोरखपंथी शाखा के अन्तर्गत वैरागपंथी एक विशेष शाखा है। इसके प्रवर्तक भरथरी माने जाते हैं। इस प्रकार किंवदन्ती है कि ये मयनावती के भाई और उज्जैन के शासक थे। मयनावती का विवाह माणिकचन्द से हुआ था। इस आधार से ये ग्यारहवीं शताब्दी के हैं। नाथ सम्प्रदाय में इनका विशेष महत्व है। इनकी रानी का नाम पिंगला था, और अपने राज्य का परित्याग कर ये गोरखपंथ में दीक्षित हुए थे। इतिहास लेखकों की यह भी धारणा है कि ये संस्कृत ग्रन्थ 'वैराग्य शतक' के लेखक एवं वाक्यपदीय के रचनाकार थे। इत्सिंग (६७८-६९५ ई०) इनके ग्रन्थों से परिचित था। ह्वेनसांग ने इन्हें बौद्ध माना है। परन्तु इत्सिंग के उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि 'वाक्यपदीय' के लेखक नाथपंथ के गोरखनाथ से भिन्न व्यक्ति थे। इनके नाम से प्रचलित रचनाओं की भाषा सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व की नहीं है।

उदाहरण

अवधू पत्त बिन कँवल-कँवल बिन मधुकर
कोइल बोले कंठ बिना
फल बिन मृग, मृग बिन पारध
एक घर वेधे पंच जना।

× × ×

जोगी भरथरी भरमि न भूला
तजि घर डीबी ऊपरि करि चूल्हा।
दोइ दोइ लकड़ी जुगति करि बाली
जोगी भरथरी बीचें धूम बारी।

नागा अरजन्द (नागार्जुन) : नाथपन्थ के नागार्जुन सिद्ध सम्प्रदाय के नागार्जुन से भिन्न हैं। परन्तु इस मान्यता के लिए हमारे पास पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं। शाबरमाला के अनुसार ये शबरपाद और कृष्णाचार्य के समसामयिक थे। प्रबन्ध चिन्तामणि' में एक कथा नागार्जुन से सम्बन्धित मिलती है। इसके अनुसार ये पादलिप्तसूरि के शिष्य थे। नागनाथ नामक एक नाथ साधक की चर्चा ग्यारहवीं शताब्दी में भी मिलती है। परवर्ती काल में इन्हें ही नागार्जुन के रूप में प्रसिद्धि मिली। नागा अरजन्द का सम्बन्ध रसेश्वर सम्प्रदाय से भी था। गोरखपन्थ की पारसनाथी जैनशाखा के ये आदि आचार्य भी थे। इनके नाम से प्रचलित रचनाओं में से कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

दाक तैं दाप उतपनी,
दाप कभी नहीं जाई।
दाप दाक जब परचा भया।
दाप मैं दाक समाई॥

× × ×

आपा मेटिबा सतगुरु षोजिबा,
न करिबा जोग जुगति का टेका।
उनमन डोरी जब पैंचीबा
तब सहज जोति का मेला।

कणोरी : कणोरी नागनाथ (नागा अरजन्द ?) के शिष्य माने गये हैं। यह भी विश्वास किया जाता है कि सिद्ध कनूपा का ही दूसरा नाम कणोरी था। बहुत सम्भव है कण्हपा कान्हपा या कनूपा के लिए परवर्ती काल में कणोरी पाव नाम का प्रयोग हुआ हो। नाथपन्थ के अन्तर्गत एक बामारग पंथ भी है कणोरी

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। इस प्रकार इन्होंने नाथ साधना में वाममार्गी साधना के कतिपय तत्वों के योग से एक नवीन पन्थ चलाया। इनके नाम से प्रचलित एक दोहा-संकलन मिलता है। इनकी शिष्या मेखला ने 'मेखला' नाम से इसकी टीका संस्कृत में की थी। इनकी रचनाओं से कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं—

कहाँ उगे कहाँ अथवे
कहाँ मु रैणि विहाइ
पूछै कणेरी सुनि हो नागा अरजुन्द।
पिंड छूटे प्रान कहाँ समाई।

× × ×

मणवां मेरा बीज बिजोर्ण।
पवना बाड़ि लगाई
बैराग रावक पहरे बैठा
मृगा खेत न खाई।

घोड़ाचोली : 'हठयोग प्रदीपिका' में घोड़ाचोली का उल्लेख मिलता है। वहाँ इनकी चर्चा कायसिद्ध साधक के रूप में की गयी है। इस ग्रंथ के अनुसार इनका समय बारहवीं शताब्दी पूर्व पड़ता है। ये मत्स्येन्द्रनाथ की परम्परा के साधक थे। 'सोई सोई सास उसास बोलै घोड़ा चोली मठिर का वास। हिन्दी में इनकी जो रचनायें उपलब्ध हैं उनके आधार पर इनके व्यक्तित्व का ऐतिहासिक मूल्यांकन सम्भव नहीं है। इनकी रचनाओं से कतिपय अंश यहाँ दिए जा रहे हैं—

श्री गोरखनाथ पन्थ का भेव,
अनंत सिधां मिलि पायो भेव
पाया भेव भई प्रतीत
अनंत सिधां मैं गोरखनाथ अतीत।
बोलंत सिध घोड़ाचोली
हमैं पत्नी पेड़ का मूरा
गगन मण्डल में रहणि हमारी
बाजै अनहद तूरा।

परबत सिद्ध : परबत सिद्ध के विषय में हमें कुछ विशेष ज्ञात नहीं है। इनके नाम से 'भूगोल पुराण' नामक एक गद्य रचना उपलब्ध है उदाहरण-स्वरूप इस पुस्तक से एक अंश यहाँ प्रस्तुत है— प्रथिमी प्रमाण—सुमेर पर्वत ऊपरि सुवर्ण मई है। पारजात कलपव्रत्त गज बिराजत है। प्रमाण पढ़ते एक है। ऐते सुमेर पर्वत दखिन दिसा आगी जम्बू बिख है। तिसु दिख कालेता कु कु निधि विस्तार है।

इन नाथ साधकों के अतिरिक्त कतिपय अन्य नाथ साधकों की रचनायें 'नाथ सिद्धों की बानियों' में संकलित हैं। इनमें अजयपाल धूंधलीमल और दत्तजी प्रमुख हैं।

दर्शन और भावपक्ष

सिद्ध साहित्य के समान नाथपन्थी साहित्य की सर्जना भी साम्प्रदायिक चिन्तन धारा का प्रतिफलन है। अतः इस पन्थ के साहित्य में काव्यात्मक सम्भावनाओं की अपेक्षा दर्शन के उन्मेष की नैसर्गिकता ही सम्भव हो सकी है। नाथ सम्प्रदाय की चतना के अतिरिक्त इसने अपने पूर्ववर्ती एवं समकालीन साधनाधाराओं के प्रभावों को भी ग्रहण किया है। सिद्ध साहित्य के समान यहाँ भी बौद्धतंत्रका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। हिन्दू साधना के प्रभावों के अतिरिक्त नाथपंथी साहित्य में योगमूलक भावनायें भी मिलती हैं। कापालिक साधना के कतिपय तत्व भी यहाँ प्रतिबिम्बित हैं। आस्तरिकता की दृष्टि यह शैवधर्म से सम्बन्धित है। अतः शिव-शक्ति की आराधना से सम्बन्धित अंश यहाँ नैसर्गिक रूप में उपलब्ध हो जाते हैं। शिव-शक्ति के अभिन्नत्व की भावना यहाँ मिलती है। शक्ति के तीन स्वरूपों का उल्लेख यहाँ मिलता है—(१) चित्त शक्ति (२) माया शक्ति (३) जीव शक्ति। नाथ पन्थ में चित्त शक्ति और जीव शक्ति के स्वरूप विश्लेषण का उपक्रम मिलता है। इसी सन्दर्भ में शिवशक्ति के सम्मिलन से सृष्टि के सृजन का उल्लेख भी मिलता है उनके समत्व की कल्पना मिलती है। शिव विश्व का निर्विकार तत्व है। शक्ति जब चित्त रूप में अवस्थित रहती है उस समय 'सृजन' और 'रक्षा' प्रक्रिया क्रियात्मक रूप में रहती है। और इस सन्दर्भ में इच्छा को शक्तिरूपा कुमारी के रूप में कल्पित किया गया है। मनुष्य के शरीर में इस शिव-शक्ति के संयोग को परा ज्ञान, इच्छा क्रिया, कुण्डलिनी तथा मातृका-रूपों में ग्रहण किया

गया है। गोरखनाथ ने अपनी रचनाओं में शिव-शक्ति के इसी रूप की प्रस्तावना की है—

सक्ति रूपी रज आछै शिव रूपी ब्यंद।
बारह कला रव बाछै, सोलह कला चन्द ॥
चारि कला रवि की जे ससि घरि आवै।
तौ शिव-सक्ती संमि होवै अन्त कोई न पावै ॥
गोरखबानी पृ० १००।५।

अर्थात—रज शक्ति है और बिन्दु शिव है इनके समत्व से सृष्टि सम्भव है। इस सन्दर्भ में साधक ने चन्द्रमा और सूर्य के समत्व का भी उल्लेख किया है जो शिव शक्ति के समत्व के समान ही है। साधनात्मक प्रक्रिया से मन को अधिष्ठान चक्र में समाविष्ट करने से मन की स्थिति निश्चलपूर्ण हो जाती है। मन की समाधि अवस्था को उन्मनी अवस्था कहते हैं। शक्ति को माया-रूप भी माना गया है। शक्ति के साथ संयुक्त होने पर परमतत्व अभिव्यक्त होता है और पंच भूतात्मक शरीर की सृष्टि होती है। गोरखनाथ के निम्नलिखित पद में इसी तथ्य का वर्णन किया गया है —

यहु मन सकती यहु मन सीव यहु मन पाँच तत्त का जीव।
यहु मन ले जे उन मन रहै तौ तीन लोक की बातां कहै ॥
गोरखबानी पृ० १८।५०।

वायुनिरोध कर काया-साधना की प्रक्रिया हठयोगियों में मिलती है। रसेश्वर दर्शन में पारद के सहयोग से काया सिद्धि का उल्लेख निरन्तर मिलता है। बौद्ध सम्प्रदाय से प्रस्फुटित विभिन्न धाराओं में भी काया साधना की प्रथा प्रचलित थी। इस सन्दर्भ में काया साधना से सम्बन्धित अनेक धाराओं में खेचरी मुद्रा का भी उल्लेख मिलता है। इस क्रिया से परिचित साधक कालजयी होता है। वह चन्द्रमा के अमृत का पान करता है। जिसके शरीर में चन्द्रमा स्थित है उनके लिए काया-साधना अभिप्राय है। योगी नव द्वार अवरुद्ध करता है वायुनिरोध कर आत्मध्यान में लीन होता है। इस प्रकार नासायोनी वायु को बाँधना है और 'अमर वारुनी' का पान करना है। नाभि प्रदेश में अभिमय सूप है। इसकी स्थिति मूलाधार में भी मानी गयी है

रासु में अमृतात्मा चन्द्र है (इसकी स्थिति सहस्रार में भी मानी गई है)। अधोमुख होकर चन्द्रमा अमृत प्रवाहित करता है सूर्य ऊर्ध्वमुखी होकर उस अमृत का पान करता है। विपरीत साधना या उल्टी साधना द्वारा साधक अमृत रक्षा करता है। गोरखनाथ ने निम्नलिखित अंश में इस ओर ही संकेत किया है—

गगन मण्डल में ऊँधा कूवाँ तहाँ अमृत का वासा।
सुगुरा होइ सो भरि भरि पीवै निगुरा जाइ पियासा॥
गो॰ बा॰ ११२३।

या

उल्टंत नादं पलटंत ब्यंद, बाई के घर चीन्हसि ज्यंद।
सुनि मण्डल तहाँ नीझर झरिया चंद सुरज लई उनमन धरिया।
गोरख बानी २०।२५।

सूर्य नाड़ी में पवन तीव्रगामी होता है चन्द्र नाड़ी में उसकी गति स्थिर हो जाती है। जब स्वास बाहर निकलती है तब सूर्य नाड़ी चलती है।

अवधू ईड़ा मारग चन्द्र भणीजै प्यंगुला मारग भानं।
सुषुम्नां मारग बाणी बोलिये त्रिय मूल अस्थानं॥
गोरख बानी ११।१८

पवन को उलटकर गगन में समाविष्ठ करने से (सहस्र दल कमल) बाल रूप प्रकट होता है परम तत्व प्रकट होता है। उदय के घर अस्त करने से, चन्द्रमा के घर में पवन के संयोग से बंधा हुआ मन अपने घर में आ जाता है—

उलट्यां पवनां गगन समोइ तब बाल रूप परतषि होई।
उदै घरि अस्त हैम घरि पवन मेला बंधिलै हस्तियनिज साक मेला।
गोरख बानी ११।८६।

कायासाधना के अन्तर्गत सहजसमाधि या शून्यसमाधि का उल्लेख मिलता है। सिद्धों ने भी सहज समाधि या शून्य समाधि का उल्लेख किया है। सहज समाधि में शिव-शक्ति के संयोग की कल्पना की गई है। इसी समाधि की चर्चा गोरखनाथ ने प्रस्तुत अंश में की है—

त्रिपथि हमारी डीली पाऊँ अगनि बसै मुखतानं।
ऐसे हम जोगेस्वर त्रिपुरां प्रमथ्या पद निर्बानं।

बाफ न निकस बूंद न छलके सहज अंगीठी भरि भरि रांधै।
मिघ समाधि योग मभ्यासी तब गुरु परचै सांधै।
गोरख बानी २१८।४१ ४४।

नाभि का अधोभाग शक्ति का निवास है। यह क्रियाशील और परिवर्तन शील है। यह प्रवृत्ति मूलक है। ऊर्ध्वभाग शिव का स्थल है। यह निवृत्ति मूलक है। यह विश्राममय है। शक्ति सर्प के समान कुण्डल-रूप में है। महायाम मूलासंकार' में इसका प्रयोग परावृत्ति के लिए हुआ है। यहाँ इसकी चर्चा उलटी साधना के अर्थ में भी हुई है।

नाथपंथ में सहज समाधि के अन्तर्गत उलटी साधना का उल्लेख इन्हीं अर्थों में किया गया है। यहाँ हिन्दू-तंत्र भावना का प्रभाव भी ग्रहण किया गया है। उदा०

उलटिया पवनं षट चक्र बेधिया
तातै लोहे सोषिया पांणी।
चंद सूर दोऊ निज घरि राष्या
ऐसा अलष बिनांणी॥
गोरख बानी ३१।१०५।

सहज समाधि के सन्दर्भ में शरीर में चरम उरम अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः ये श्वास की दो सीमायें हैं जो मूलाधार चक्र और सहस्त्रार चक्र के रूप में व्यक्त हैं। इसी स्थिति का वर्णन करते हुए साधक ने कहा है —
अरधै जाता उरधै धरै काम दग्ध जे जोगी करै।
तजै अल्पंग्यन काटै माया, ताका विसनू पषारे पाया।
गोरख बानी ७।१७।

'योगिनी कौल ज्ञान निर्णय' में अध ऊर्ध्व में हंस-रमण का उल्लेख मिलता है। अध में बिन्दु जागृत कर ऊर्ध्व की ओर प्रेरित करने के कारण ही साधक को उर्ध्व रेतस कहा गया है अधोर्ध्व रमते हंसः शान्तान्ता रुर्ध्व पुनः।
अरध-उरधि बिचि धरी उठाई, मधि सुंनि मैं बैठा बाई।
मतवाला की संगति आई कथंत गोरषनाथ परमगति पाई।
गोरख बानी १८।३८।

श्वास को अरघ (मूलाधार) से उरघ (सहस्त्रार) में स्थापित करने से ही साधक त्रिकुटी में (मध्य) समाविस्ट होता है। इस स्थल पर ब्रह्मतत्व का सम्पर्क मिलता और परम गति की उपलब्धि होती है।

अरधंद कवल उरधंत मध्य प्रांण पुरिस का वासा।
द्रादस हंसा उकटि पलैगा तब ही जोति प्रकासा।
गो० बा० २९८।

अरघ-कमल से ऊपर उठकर प्राणवायु जब उरघ-कमल में समाहित हो जाती है तभी आत्मा ऊर्ध्व गामी होती है और परम ज्योति प्रकट होती है। नाथ पंथ मे मूलाधार (अरघ) में शक्ति कुण्डलिनी रूप में बतायी गई है। उर्ध्व में शिव का वास माना गया है। उसे कैलाश भी कहा गया है।

सहज समाधि के सम्बन्ध में समाधि पीठों की चर्चा मिलती है। सिद्धों में जालन्धर कामरूप ओडियान तथा श्रीहट्ट आदि तंत्र पीठो का उल्लेख मिलता है। इसकी चर्चा की जा चुकी है। नाथपंथ में इन पीठो को देहस्थ माना गया है। यहाँ उड्डियान पीठ की स्थिति स्वाधिष्ठान चक्र में मानी गई है। 'हठ योग प्रदीपिका' में उड्डियान बन्ध के द्वारा सुषुम्ना को जाग्रत करने का उल्लेख मिलता है। इस प्रसङ्ग में प्राण का उल्लेख महाखग के रूप में किया गया है। नाथ सम्प्रदाय में इस विशिष्ट विचारधारा का स्वरूप मिलता है।

नाथसाहित्य में शून्य-साधना की भावना अनेक रूपो में व्यक्त मिलती है। इस धारा में वज्रयान के शून्यतत्त्व शून्य वादियों की शून्यभावना को भी समाहित कर लिया गया है। शून्यता को नैरात्म देवी माना गया है। वज्रयानी प्रतीक में शून्यता और करुणा प्रज्ञा या उपाय अथवा पद्म व वज्र के रूप में प्रयुक्त हैं। यहाँ इनके युगल मिलन की भी कल्पना की गई है। इस मिलन प्रतीक को नाथ सम्प्रदाय में शिव-शक्ति के मिलन के रूप में ग्रहण किया गया है। इसे प्राण-अपान या ईड़ा पिंगला के समीकरण का रूप भी कहा गया है। सुषुम्ना का उल्लेख मध्य मार्ग के रूप में हुआ है। ईड़ा पिंगला के समीकरण से कुण्डलिनी जाग्रत होती है षट चक्र के भेदन के पश्चात् साधक की स्थिति आज्ञा चक्र के ऊपर हो जाती है। कुण्डलिनी सहस्रार में स्थित शिव के साथ

आसिगन मठ हो जाती है। इसे सहज दशा या महादशा कहा गया है। वायु के निरोध से मन भी निरुद्ध हो जाता है। मन के स्वभावत लय हो जाने को उन्मनी भाव कहा गया है। नाथपरम्परा में शून्य को इन्हीं रूपों में ग्रहण किया गया है। परन्तु शून्य का सम्बन्ध यहाँ 'नाद' से भी स्थापित किया गया है जिसकी मूल प्रेरणा हठयोग है। नाद से ही सृष्टि का प्रस्फुटन होता है इसीमें सृष्टि का लय हो जाता है। इस प्रकार के शून्य को परमतत्त्व परमब्रह्म और परमस्वभाव भी कहा गया है। उस परम तत्त्व का परिचय देते हुए साधक कहता है—

सुंनि न अस्थूल स्यंभ नहीं पूजा धुंनि बिनु अनहद गाजै।
बाड़ी बिनु पहुप पहुप बिन सागर पवन बिन भृ गा छाजै॥
गोरखबानी पृ० १०१।१।

वह न शून्य है न स्थूल है और न उसकी उपासना होती है और वह बिना ध्वनि के अनाहत नाद की गर्जना करता है। वह बिना वाटिका का पुष्प है और वह पुष्प के सौरभ का बिना पवन के प्रसार कर रहा है जिससे भ्रमर मड़रा रहे हैं। इसी प्रकार परम तत्त्व को शून्य का पर्यायवाची मानते हुए साधक कहता है—

बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिषर महिं बालक बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा॥
गोरख बानी पृ० १।१।

वह निरंजन शून्य है वह अपने में सम्पूर्ण है। सृष्टि के आविर्भाव और तिरोभाव का कारण शून्य है। वह अपना कारण स्वयं है—

सुंनि ज माई सुंनि ज बाप। सुंनि निरंजन आपै आप।
सुंनि कै परचा भया सथीर। निहचल जोगी गहर गंभीर।
गोरख बानी पृ० ७३।२११।

सिद्धों ने चार प्रकार के शून्य का उल्लेख किया है। हठयोग प्रदीपिका' में भी चार शून्य का उल्लेख मिलता है। प्रथम तीन को घट परिचय और निष्पत्ति के स्तरों के रूप में ग्रहण किया गया है जिसका उल्लेख गोरखनाथ की निम्न लिखित रचना में मिलता है—

अरधे सोर्गा उरधे सोर्गा मध्ये सोमम् सोर्गा।
तीनि सुन्य में रहनी बानें ता घटि पाप न पुर्गा॥

गोरख बानी पृ० १२।४।

इसके उपर सहजसुन्य की अवस्था है जिसे सहज समाधि का पर्यायवाची भी माना गया है। इस स्थिति का वर्णन नाथ साहित्य में तीन रूपों में हुआ है।

(१) शून्य की गगना के उल्लेख के रूप में।

(२) 'चन्द्र' और 'सूर्य' के समागम के वर्णन के रूप में।

(३) सहज समाधि के रूप में।

उदा० अमावस के घर झिल मिल चन्दा
पूनिम के घरि सूर।
नाद के घरि ब्यंद गरजै
बाजंत अनहद तूरं।
उर्ध्व'त नाद पश्चंत ब्यंद
बाई के घरि चीझुसि ब्यंद।
सुंनि मंडल तहाँ नीझर झरिया
चंद सुरजि लै उनमनि रहिया।

गोरख बानी पृ० २ ।५४ ५५।

'सहस्रार' में अमृत स्रावक चन्द्रमा है। अमृत के स्राव का मूलाधार स्थित रवि शोषण कर लेता है। अतः यह अमावस की स्थिति है। रवि की चार कला को प्राप्त कर लेने के पश्चात् रवि का प्रभाव शिथिल हो जाता है। चन्द्रमा-सूर्य प्रभावशाली हो जाता है। नाद बिन्दु का योग होता है। शून्य में अनाहत नाद ध्वनित होता है। रवि और चन्द्र के संयोग से उन्मनीअवस्था आती है। शून्य-मण्डल (ब्रह्मरंध्र) में अमृत का निर्झर झरता है। नाद स्पष्ट बाजता है। वह सृष्टि का निर्माता बन जाता है। नीचे जाता हुआ बिन्दु ऊर्ध्वगमन करता है। निम्नलिखित पंक्तियों में इसी सहज समाधि का वर्णन किया गया है—

त्रिपिन हमारी बीबी पार्क अपिनि बसै मुल्तानं।
ऐसे हम योगेस्वर निपनां प्रगट्या पर्म निर्बानं।

गोरख बानी २१८।४१।

नाथ न निकसै बूंद न झलकै, सहज अंमीठो भरि भरि राखै ।
सिध समाधि योग अभ्यासी तब गुरु परचै सापै ।

गोरख बानी॰

कायासाधना और सहजसमाधि के अन्तर्गत पीठों का भी वर्णन किया गया है । सिद्ध साहित्य की विशेषता में इसका उल्लेख किया जा चुका है । नाथ पन्थी साहित्य में इन पीठों को सिद्धों से भिन्न रूप में ग्रहण किया गया है । नाथ साधक इन्हें शरीर में ही अवस्थित मानता है ।

नाथपन्थ में कुंडलिनी को सर्प के रूप में ग्रहण किया गया है जिसका मुख दसवाँ द्वार है । यहीं निरंजन का वास है । इस दसवें द्वार को ब्रह्मरंध्र भी कहा गया है । इस द्वार पर साधक बारुणी ओलता है, शब्द बोलता है । गोरखनाथ ने इसी का उल्लेख करते हुए कहा है 'दसवाँ द्वार निरंजन उन्मन बासा सबदहि उलटि समाना । नाथ सम्प्रदाय के साधकों ने अपनी रचनाओं में सबद' का प्रयोग किया है । वस्तुतः इस शब्द का प्रयोग इन्होंने 'नाद' के अर्थ में किया है । इस शब्द' को 'सुरति' के पर्यायवाची-रूप में भी ग्रहण किया गया है । नाथयोगी शब्द को सुरतयोग के रूप में देखता है । इससे सहज समाधि मिलती है । अतः शब्द या नाद और सुरति की साधना अनिवार्य है । इसके माध्यम से निरालम्ब की अवस्था आती है । यह अनाहत नाद है । 'नाद' में प्रवर्तित चित्त अन्त में नाद में लीन हो जाता है । तब न नाद की स्थिति रहती है न बिन्दु की । यहाँ नाद शब्द या नाद को जागृत कर उसको अन्तर्मुखी करने की प्रक्रिया को 'ताला लगाने' की संज्ञा दी गई है । दसवें द्वार में नाद या पवन-अमर खोलने की क्रिया को 'ताला खोलने' की संज्ञा दी गई है—

सबदहि ताला सबदहि कूँची सबदहि सबद जगाया ।
सबदहि सबद सूं परचा हुआ सबदहि सबद समाया ॥

गोरखबानी ८।२१०

शब्द में परमतत्व निहित है । शब्द सृष्टिनिर्माण में सहयोगी है अतः मूल या अधिष्ठान तक पहुँचने के लिए शब्द अपेक्षित है । इसी शब्द या 'नाद' के रहस्य का उद्घाटन गुरु-वचनों से होता है । पद (शब्द) स्थूल है और नाद (शब्द) सूक्ष्म है ।

नाथ सम्प्रदाय निवृत्ति मूलक पंथ रहा, अतः यहाँ सहज संयम और इन्द्रिय निग्रह के प्रति प्रबल आग्रह मिलता है। गोरखनाथ तथा अन्य नाथ साधकों की रचनाओं में नारीत्याग की भावना तो मिलती ही है साथ ही साथ नारी के प्रति अति घृणा और उपेक्षा की भावना भी मिलती है। यहाँ नारी को 'सर्पिणी' बाघिनी' इत्यादि अशिष्ट और असामाजिक शब्दों से सम्बोधित किया गया है।

पुरुषी ऐसा काम न कीजै तामैं अमी महारस छीजै।
जिवसैं बाभीणि मनमोहै रात सरोवर सोषै॥
बागि बूझि रे मूरषि छोया भरि भरि बावनी पीवै।
नदी तीरे बिरषा नारी संगै पुरषा, अलप जीवन की आसा।
मनथैं उपज मेर षिसि पड़ई, तामैं कंद बिनासा॥
गोरखबानी पृ० १३७।

इस सम्प्रदाय में गुरु को विशेष महत्व दिया गया है। वह शून्य का स्वरूप जानता है उसके आचरणों के अनुसरण के प्रति विशेष आग्रह प्रकट किया गया है। जीवन में संयम और आचरण के प्रति निष्ठावान बनने का आग्रह प्रकट किया गया है।

काव्य तत्व और अभिव्यञ्जना प्रणाली

नाथपन्थ के साहित्य में काव्य की सरसता नहीं मिलती है। अपने सिद्धान्त के तत्वों के निरूपण की भावना ही इसमें प्रबल है। अतः रागात्मक वृत्तियों की दृष्टि से रसात्मक अनुभूतियों की दृष्टि से, इस वर्ग के साहित्य में भावनाओं का उत्कर्ष सम्भव नहीं हो सका है। साधना के सिद्धान्तों के प्रकटी करण या उसके स्वरूप-निरूपण और विश्लेषण के लिए यहाँ गोपन वाणी का आधार स्वीकार किया गया है। इस गोपन वाणी के सन्दर्भ में परिभाषिक या प्रतीकमूलक शब्दों का विशेष महत्व है। नाथपन्थ में वाणी के 'सून्न' और 'अस्थूल' रूपों का उल्लेख मिलता है। परा पश्यन्ती मध्यमा और बैखरी के समान ही यहाँ भी वाणी के चार रूपों का उल्लेख मिलता है —

चार वाणी बोलिए घर भीतर ते कौण कौण।
सहज, संयम सुपाइ, अतीत॥

वाणी सम्बन्धी 'बीजाक्षरों' तथा 'मंत्रों' की धारणा यहाँ भी विद्यमान है —ॐ, श्री ह्रं, ह्रौं रों ह्रीं क्लीं। इनसे मारण, मारण, वशीकरण उच्चाटन आकर्षण स्तम्भन और मोहन ये सात सिद्धियाँ मिलती हैं।

प्राकृतिक व्यापारों के अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत प्रकृति के विभिन्न अंगों को प्रतीक रूप में यहाँ चित्रित किया गया है। जमुना नदी त्रिवेणी घाट आदि के प्रयोगों में एक विशिष्ट अर्थ का नियोजन मिलता है। प्रस्तुत भावना या सिद्धान्त निरूपण के लिए वस्तु-सापेक्ष अप्रस्तुतों के प्रयोग की विधा यहाँ मिलती है। उदा०—

उतबेली को उतबेली को अवधू गोरखनाथ जाणी।
डाल न मूल पुहुप नहीं छाया बिरधि करै बिन पाणी॥
काया कुंजर तेरी बाड़ी अवधू सतगुरु बेल रूपांणी।
पुरिष पांपली करै भाणिपांणी मीठै बाको बरि बांणी॥

गोरखबानी पृ० १०६ १०७॥

इस अंश में साधक ने ज्ञान के विकास और प्रसार की भावना को व्यक्त करने के लिए 'बेलि' के अप्रस्तुत विधान का आयोजन किया है। और प्रकृति के विशिष्ट व्यापार के माध्यम से ज्ञान के प्रादुर्भाव और प्रस्तार की सूक्ष्म और अमूर्त भावना को स्थूल और मूर्त व्यापार विधान द्वारा सम्पादित किया है।

नाथ सम्प्रदाय में संयम और इन्द्रिय एवम् आत्मनिग्रह के प्रति प्रबल आग्रह व्यक्त किया है और इस सन्दर्भ में नारी के परित्याग और दाम्पत्य जीवन के प्रति उपेक्षा भाव व्यक्त किया गया है। परन्तु साधना-मूलक अनुभूतियों और इससे प्राप्त आत्मसुख को व्यक्त करने के लिए यहाँ दाम्पत्यजीवन-स्वरूप को आत्माभिव्यंजना के माध्यम के रूप में ग्रहण किया गया है। ऐसे सन्दर्भों में रति भावना और संयोग शृंगार के वर्णन भी मिलते हैं। उदा०—

एम सतगुरि मन्हे परिणाम्यां अबला बाल कुंवारी।
मछिन्द्र प्रसादि श्री गोरष बोल्या माया नां भी टारी॥

गोरख बानी पृ० १०६।१५ १६।

इस अंश में साधक ने बाल कुमारी से अपने परिणय का उल्लेख किया है। वस्तुतः साधक का यह कथन है कि बाल कुमारी (माया) से सद्गुरु ने परिणय

रा दिया। वह माया का पति हो गया। माया उसकी वशवर्तिनी हो गई।
रे सन्दर्भों में ज्ञान के विरामपूर्ण स्वरूप के प्रस्तावन के लिए अनुराग पूर्ण
नस्तुतों का प्रयोग इस काव्य-गरिमा का मध्यम बन जाता है। ज्ञान-अनु
ति में भी रसात्मकता होती है। और रसात्मक धरातल से प्रस्तावित
धम्य मधुर तत्वों से संस्पर्शित रहते हैं। नाथ साधकों की बानियों में स्वत
क पर इस प्रकार के सन्दर्भ मिल जाते हैं। उदा०—

स्यार्न गुरु दोऊ तूंबा अम्हारे, मनसा चेतनि डांडी।
उनमनी तांती बाजन लागी यहि विधि तृष्णां षांडी॥४॥

ज्ञान और गुरु ये मेरे दोनों तूंबे (तम्बूरे) हैं मनसा इस तँबूरे की डाँडी है।
पर उन्मनी अवस्था के तार लगे हैं, जो बज रहे हैं। तारों की ध्वनि से तृष्णा
षेत हो गई। इस अंश में उन्मनी अवस्था का वर्णन है। परन्तु संगीत
बन्धी अप्रस्तुतों का विधान यहाँ व्यापार-साम्य की अपेक्षा प्रभाव साम्य की
ष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। संगीत में भावों के शोधन की शक्ति होती है।
मनी अवस्था में अनाहत नाद से साधक के भावकल्प का शोधन हो जाता है।
ज समाधि में वारुणी खींचने का उल्लेख सिद्धों में मिलता है। और इस
दर्भ में वारुणी बनाने की क्रिया को रूपक में अंकित किया गया है। नाथ
प्रदाय में भी अमृत को वारुणी कहा गया है। और वारुणी बनाने तथा पान
रने के सापेक्ष्य व्यापार के माध्यम से अमूर्त व्यापार को मूर्त रूप देकर उसके
धारणी करण का प्रयास किया गया है—

ईलीच महुआ भाठी मिमावें पीवत सबा मतिवाल
मनसा कलाविनि भरि भरि देवै ग्यान भाग्या मद नां प्यालं।
अमृत दाषी भाठी भरिया, ता मधें गुरु एकोत्या।
मन महुआ तन बाहुआ बनासपती अठारे मोत्यां॥१॥
भ्रमर गुफा मैं मन धरि ध्यावें बेस्या आसण बासी।
चेतनि रावल यहु भरि आयया, पुष जुग जाओ तासी॥२॥

इस सन्दर्भ में इक्कीस ब्रह्माण्ड में भट्टी चुआने का उल्लेख किया गया है।
(अमृत नाद) पीकर योगी मतवाला रहता है। नैरात्म को यहाँ कलालिनी
रूप चित्रित किया गया। मन 'महुआ' के रूप में तथा तन 'भट्ठी' के रूप में

अंकित है। ब्रह्मरन्ध्र (भ्रमर गुफा) में आसन लगाकर योगी अचल अविचल भाव से इस मदिरा का पान कर रहा है।

प्रकृति के विशिष्ट व्यापारों के अप्रस्तुत प्रयोग के अनेक अंश इस धारा के साहित्य में मिलते हैं। ज्ञान के अंकुरित होने के अमूर्त व्यापार को निरूपित करने के लिए यहाँ वर्षा और कृषि के संश्लिष्ट व्यापार-विधान का प्रयोग मिलता है। उदाहरण—

> उत्तर देस मैं मेंहु मड़क्या दखिण औचल छाया।
> पूरब देस की पाणिग बिछूटी पछिम खेत मैं पाया ॥१॥
> मन पवना धोरी को हबो सरणां सांठीड़ा समभाबो।
> दया धर्म नां बीज मधाबो इसी परि येते जाबो।

त्रिकुटी या ब्रह्मरंध्र के लिए यहाँ उत्तर देश स्वाधिष्ठान के लिए दक्षिण दिशा इड़ा पिंगला के लिए पूर्व देश और सुषुम्ना के लिए पश्चिम क्षेत्र का प्रयोग किया गया है।

नाथ साधकों ने अपनी साधनाधारा की श्रेष्ठता के समर्थन में अन्य धर्मों तथा साधना प्रणालियों की कटु आलोचना भी की है। गोरखनाथ एक स्थल पर बलरूप पुण्य की उपलब्धि की चर्चा करते हुए सत्ययुग त्रेता द्वापर और कलियुग में समानता या अभिन्नता देखते हैं। त्रेता में राम ने रामायण की घटनाओं की रचना की जिसमें अज्ञानी के समान नर और बन्दर संघर्ष कर के समाप्त हो गए। द्वापर में कौरव और पाण्डवों ने संघर्ष किया। कलियुग में यह संघर्ष पूर्ववत् वैमत्यिक रूप धारण कर गया अतः ध्यान के माध्यम से निरालम्ब अवस्था का आधार ही सर्व युगों में सवश्रेष्ठ है (देखिए—गोरख बाणी—२१।१२१)। इस पन्थ में अहिंसा तत्त्व की श्रेष्ठता के प्रति प्रबल आग्रह मिलता है। गोरखनाथ ने एक स्थल पर कहा है—

> जीव सीव ना संगै बासा ना बधि खाइबा रे राम मासा।
> पाव न पातिवा हंस गीर्व, बदंत गोरषनाथ निहारि पौर्व ॥१२६॥

जीव में शिव का वास है जीव का मांस खाना शिव के मांस खाने के समान है।

करा दिया। वह माया का पति हो गया। माया उसकी अनुवर्तिनी हो गई। ऐसे सन्दर्भों में ज्ञान के विरामपूर्ण स्वरूप के प्रस्तावन के लिए अनुराग पूर्ण अप्रस्तुतों का प्रयोग इस काव्य-गरिमा का माध्यम बन जाता है। ज्ञान-अनुभूति में भी रसात्मकता होती है। और रसात्मक धरातल से प्रस्तावित वक्तव्य मधुर तत्वों से संस्पर्शित रहते हैं। नाथ साधकों की वाणियों में स्थल-स्थल पर इस प्रकार के सन्दर्भ मिल जाते हैं। उदा०—

ग्यान गुरु दोऊ तूंबा अम्हारे, मनसा चेतनि डांडी।
उनमनी तांती बाजन लागी यहि बिधि तृष्णां षांडी ॥४॥

ज्ञान और गुरु ये मेरे दोनो तूंबे (तम्बूरे) हैं मनसा इस तँबूरे की डांडी है। इस पर उन्मनी अवस्था के तार लगे हैं जो बज रहे हैं। तारों की ध्वनि से तृष्णा खण्डित हो गई। *इस अंश में उन्मनी अवस्था का वर्णन है।* परन्तु *संगीत* सम्बन्धी अप्रस्तुतों का विधान यहाँ व्यापार-साम्य की अपेक्षा प्रभाव साम्य की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। संगीत में भावों के शोधन की शक्ति होती है। उनमनी अवस्था में अनाहत नाद से साधक के भावकल्प का शोधन हो जाता है। सहज समाधि में वारुणी बाँधने का उल्लेख सिद्धों में मिलता है। और इस सन्दर्भ में वारुणी बनाने की क्रिया को रूपक में अंकित किया गया है। नाथ सम्प्रदाय में भी अमृत को वारुणी कहा गया है। और वारुणी बनाने तथा पान करने के सापेक्ष्य व्यापार के माध्यम से अमूर्त व्यापार को मूर्त रूप देकर उसके साधारणी करण का प्रयास किया गया है—

इकीस ब्रह्मंड भाठी चिमाले पीवत सदा मतिवाले
मनसा कलालिनि भरि भरि देवै वाका वाका मन मां प्यालं।
अमृत वापी भाठी भरिया, ता मधे गुरु मकोल्या।
मन महुआ तन भाडुवा बनासपती बठारे मोल्यां ॥१॥
भ्रमर गुफा मैं मन भरि ल्यावें बैस्या आसण वाली।
चेतनि रावल मह भरि आल्या, घुम घुम लागो ताली ॥२॥

इस सन्दर्भ में इक्कीस ब्रह्मांड में भट्टी घुमाने का उल्लेख किया गया है। इसे (अमृत पान) पीकर योगी मतवाला रहता है। नैरात्म को यहाँ कलालिनी के रूप चित्रित किया गया। मन 'महुआ' के रूप में तथा तन 'भट्टी' के रूप में

संचित है। ब्रह्मरन्ध्र (भ्रमर गुफा) में आसन लगाकर योगी अचल, अविचल भाव से इस मदिरा का पान कर रहा है।

प्रकृति के विशिष्ट व्यापारों के अप्रस्तुत प्रयोग के अनेक अंश इस धारा के साहित्य में मिलते हैं। ज्ञान के अंकुरित होने के अमूर्त व्यापार को निरूपित करने के लिए यहाँ वर्षा और कृषि के संश्लिष्ट व्यापार विधान का प्रयोग मिलता है। उदाहरण—

उत्तर देस मै मेंह बरस्या दक्षिण मांचल छाया।
पूरब देस की पाणिम त्रिकुटी, पश्चिम खेत मै पाया ॥१॥
मन पवना धोरी जो लगा, सहनी सोतीका समधायो।
दया धर्म मो बीज जमायो, इसी परि पेमे बायो।

त्रिकुटी या ब्रह्मरंध्र के लिए यहाँ उत्तर देश, स्वाधिष्ठान के लिए दक्षिण दिशा, इडा पिंगला के लिए पूर्व देश और सुषुम्ना के लिए पश्चिम खेत का प्रयोग किया गया है।

नाथ साधकों ने अपनी साधनाधारा की श्रेष्ठता के समर्थन में अन्य धर्मों तथा साधना प्रणालियों की कटु आलोचना भी की है। गोरखनाथ एक स्थल पर अलक्ष्य पुरुष की उपलब्धि की चर्चा करते हुए सत्ययुग, त्रेता द्वापर और कलियुग में समानता या अभिन्नता देखते हैं। त्रेता में राम ने रामायण की घटनाओं की रचना की जिसमें अज्ञानी के समान नर और बन्दर संघर्ष कर के समाप्त हो गए। द्वापर में कौरव और पाण्डवों ने संघर्ष किया। कलियुग में यह संघर्ष पूर्वोक्त वैयक्तिक रूप धारण कर गया, अतः ध्यान के माध्यम से निरालम्ब अवस्था का आधार ही सर्व युगों में सर्वश्रेष्ठ है (देखिए—गोरख बानी—२६।१२३)। इस पन्थ में अहिंसा तत्व की आस्था के प्रति प्रबल आग्रह मिलता है। गोरखनाथ ने एक स्थल पर कहा है—

जीव सीव का संगै बासा बधि न खाइबा रे रुध मासा।
हाव न पाखिबा हंस घोर्त, बदंत गोरखनाथ निहारि पौर्त ॥१२३॥

जीव में शिव का वास है जीव का मांस खाना शिव के मांस खाने के समान है।

विरोध मूलक अलंकार के द्वारा उलटबासियों की विधा सिद्धों की रचनाओं में विशेष आकर्षण है। नाथ साहित्य में भी उलटबासियों का व्यापक प्रयोग मिलता है। इस विधा में विरोधी धर्म-उपमानों का प्रयोग किया गया है। इसके साथ-साथ विरोधी धर्म के आरोपण प्रणाली के द्वारा भी उलट बासियों की रचना की गई है—

गोरखनाथ ने इसे उलटी 'चरचा' कहा है।

नाथ बोले अमृत बाँणी बरिषैगी कंबली भीजैगा पाँणी। टेक।
गाड़ि पड़रवा बाँधिले षूंटा चलै दमामा बजिलै ऊँटा। १।
कऊवा की डाली पीपल बासै मूसा के सबद बिलइया नासै। २।
चले बटावा थाकी बाट सोवै डुकरिया ठौरे षाट। ३।
डुकिले कुकर भूकिले चोर, काढ़ै धणी पुकारै ढोर।
ऊजड़ खेड़ा नगर मझारी तलि गागरि ऊपर पनिहारी।
मगरी परि चूल्हा धूँधाइ पोवन हारा को रोटी खाइ। ६।
कामिनी जलै अंगीठी तापै बिचि बैसंदर थर थर काँपै। ७।
एक जु रढ़िया रढ़ती आई, बहू बियाई सासू आई। ८।
नगरी को पाणी कूई आवै उलटी चरचा गोरख गावै —

बानी पृ० १४१ १४२

'नाथ अमृत-पूर्ण बाणी बोलता है। कंबली वर्षा करती है, जल भीग रहा है। पाड़ा पड़ा है खूंटा उसमें बंधा है, दमामा चलता है ऊँट बजता है कौवे की डाल पर पीपल निवास करता है चूहे के शब्द से बिल्ली का नाश हो रहा है, बटोही चल रहा है परन्तु मार्ग थक गया है डुकरिया पर खाट सो रही है कुत्ता चोरी के लिये घुसा है चोर भूँकता है। लकड़ी पड़ी है चूल्हा धुँआँ दे रहा है, गगरी नीचे है पनिहारी ऊपर है, कामिनी जल रही है अंगीठी ताप रही है। बनानेवाली को रोटी खा रही है बहू सास को जन्म देती है। नगरी का पानी कूओं में आता है, गोरखनाथ उलटी चर्चा गाते हैं। इस पद में विरोध मूलक संदर्भों का नियोजन है परन्तु इसमें भावों की आन्तरिक एकता है। यह एकता ही इन उलट बासियों का मुख्य सौन्दर्य है। कंबली मानसिकता की ज्ञान की वर्षा कर रही है। पड़वा अविवेकी मन है। यह माया का बाल का

पुष है। सामान्य अवस्था में अचेतन मन माया के खूँटे में बंधा रहता है परन्तु ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् माया चेतन मन के अधीन हो जाती है। (यही खूँटा का पकड़ना में बंधना है) ऊँट अचेतन मन है। जिसपर नगारा अर्थात् अनाहत नाद का आघात पड़ रहा है। कौआ शुद्ध मन का प्रतीक है। ज्ञान उपलब्धि के पश्चात् ब्रह्मानुभव (पीयूष) का निवास बन जाता है। ज्ञान-उपलब्धि के पश्चात् मन (मूषा) के डर से माया (बिल्ली) का नाश हो गया। बटोही थकता है (ज्ञान का साधक), और ज्ञान की उपलब्धि के पश्चात् मार्ग का अन्त हो जाता है, जिसे मार्ग के थक जाने की संज्ञा दी गई है। भवताप में जलने वाला मन (भवरी) ज्ञान की उपलब्धि के बाद शान्त हो गया है, माया (चूल्हा) अब स्वयं जल रही है।

आत्मा पनिहारिन है। कुण्डलिनी वह गागर है जो ब्रह्मरंध्र में ऊपर आ गयी है। ब्रह्मसाक्षात्कार के पश्चात् माया (कामिनी) जल रही है और जीवात्मा (अंगीठी) ताप रही है।

रूपक के माध्यम से साधना की विविध क्रियाओं का प्रकाशन इस धारा के साहित्य की अभिव्यंजना प्रणाली का एक अन्य गुण है। काया-साधना के अन्तर्गत शरीर की व्याख्या नगर के रूपक द्वारा की गई है। जहाँ शरीर को नगर माना गया है। चेतन मन कोतवाल है। काया का कोट ३६० पत्थरों से (हड्डियों से) निर्मित है। अनहद नाद की घटिका है जिसे चेतन मन रूपी घड़ियाल बजाता है जहाँ परम ज्योति के दो दीपक जलते हैं। (देखिए गोरखबानी —पृष्ट १२० १२१)।

सिद्ध साहित्य के सन्दर्भ में सन्ध्या भाषा की चर्चा की जा चुकी है। सन्ध्या भाषा के प्रयोग की विधा नाथ सम्प्रदाय से सम्बन्धित साहित्य में भी पूर्णत विकसित मिलती है। इसमें अभिधामूलक अर्थ की अपेक्षा प्रतीकात्मक या लक्षणा मूलक अर्थ का ही विशेष महत्व है। नीचे नाथ साहित्य में प्रयुक्त सन्ध्या भाषा से सम्बन्धित कतिपय शब्दों का स्पष्टीकरण किया जा रहा है—

शब्द	सामान्य अर्थ	सन्ध्या अर्थ
पाप	माम	ब्रह्म,नैरात्मा

यथा०—आकाश की धेन बाछा जाया धेन दुहावत रैन बिहाय।
गिगनि मंडल में गाय बियाई कागद दही जमाया।

गो० बा० १८६।

मृग   मृग   भ्रम में आसक्त मन।

भणत गोरखनाथ मछिंद्रनां पूता मार्‌यो मृग भया अवधूता।

गो० बा० ११९ १२०।

जीव दया हतिये रे प्यंड मारी। मारिबे पंच मू मृगला।

गो० बा० पृष्ठ ७३।

भुवंगम   भुवंगम   कुण्डलिनी का स्वामी साधक

यथा० ऐसा भुवंगम जोगी करे, धरती छोड़ें अम्बर फरे।

सर्पिणी नागिनि   सर्पिणी नागिनि   माया।

कहाँ निरंजन नाथा कहाँ कहाँ काली नागिनी मींडक भखी गो० बा० १६६।

मारी स्वीपनी निरमल जल पैठी
मारी मारी स्वपनी डसी त्रिसि धावे

गो० बानी पृ० ११९,१४०

भुवंगम   भुवंगम   वायु

ज्यूं ज्यूं भुवंगम जाय जाई सुषी कोटि महि पवन रहाई। गो० बा० ६१।

अहेरी, पारधी   अहेरी पारधी   आत्मा साधक।

बाईसी भील पारधी हाथ नहीं ज्यंमुकी गुण बांध न काहीं।

गो० बा० १११।

मेघ   मेघ   कल्पना, गुण।

उत्तर देश में मेंह बरस्या दखिन औघड़ छाया।

हंस   हंस   आत्मा प्राण वायु।

गंग जमुन मोरी पावड़ी रे हंसा मकन दुवारे जो।
हंस पवन ज फूलन पैठा गोरी भयी पनिहारी। २।

गोरखबानी ६१।

मीन मीन वायु आत्मा ।

एक अप सोंगमि मन अप बार्न । बेध्या मीन गगन अस्थानं ।

४२ १२७ ।

कोमल मोरो भौंरो बास्यौ, गगन मछन्दी बगलो ग्रास्यौ ।

१५६ २ ।

सिंह सिंह मायाग्रसित मन ।

गर्मा बपड़ी सिंह ने घेरे । मृतक बसू सुहृद उबरे ।

गो० ब० १५२ ।

आपण ही स्यंघ बाघ आपण ही गाई । गो ब० १६६ ।

बाघिनी बाघिनी माया ।

बाघनी जनामा बाघनी मिलामा बाघिनी पाली काया । गो० ब० १४४ ।

छन्द

नाथ सम्प्रदाय की रचनायें 'सबदी 'पद' 'दोहा' 'सोरठा' और 'चौपाई' में रचित हैं । गोरखनाथ ने 'पटपदी' में भी रचनायें की हैं इसका उल्लेख गोरखनाथ ने स्वयं किया है —

आदिनाथ नाती मछिन्द्रनाथ पूता, पटपदी भणीसै गोरख अवधूता । ८८ ।

परमतत्व के स्वरूप की व्याख्या करते हुए भी गोरखनाथ ने 'साषी' और 'सबद' का उल्लेख किया है ।

ॐ कार निराकार सुक्षिम न अस्थूल पेड़ न पत्र फल नहिं फूल ।
डाल न मूल न धूप न छाया, साषी न सब्द गुरु नहीं चेला ।२।

गोरख बानी ।

इस प्रकार 'साखी' और सबदी' इस काव्यधारा के अति प्रिय छन्द हैं । 'गोरखबानी' में गोरखनाथ की रचनाओं का विभाजन 'सबदी' और पद इत्यादि के आधार पर हुआ है । 'नाथ सिद्धों की बानियों' में संकलित रचनायें भी 'सबदी' और 'पद' में वर्गीकृत हैं । उदाहरण०—

गगन मंडल मैं ऊँधा कूवाँ तहाँ अमृत का बासा ।
सगुरा होई सु भरि भरि पीवै निगुरा जाई पियासा ॥

गोरखबानी पृ० ८।२१

काया तरवर माकड़ चित डालें पातै मरनै मित लित।
कर्म्यं कम्में यह विधि भाइ तिस कारण कोई थिर नवाई।२।

नाथ सिद्धों की बानियाँ

चरपट नाथ जी की सबदी पृ० २५।

यहाँ समचतुष्पदियों के साथ दोहे के प्रयोग की एक विशेष विधा मिलती है। प्रश्नोत्तरी के सन्दर्भ में दोहा और चौपाई का प्रयोग किया गया है। आलोच्य सन्दर्भ की रचनाओं का एक व्यापक अंश पदों में रचित है, और इनमें राग रागिनियों का भी निर्देशन मिलता है। 'गोरख बानी' के पद 'राग रामश्री' 'राग असावरी' 'राग रामसरी' आदि शीर्षकों में विभक्त हैं। (देखिए गोरखबानी पृ० ८३—११८) । 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' के पद भी 'राग गुंड' 'राग रामश्री' 'राग कल्लंगड़ो' 'राग धनासी' 'राग रावेगरी' आदि के अनुसार वर्गीकृत हैं। कतिपय सन्दर्भों में श्लोक का प्रयोग भी मिलता है। यथा०—

मंत्री उवाच—अहो म्यांनी महा मुंनी।
अग अंग मस्म लेप्यं॥
क्रिम धरन कंठ माला।
कूंण ध्यान हो तपेस्वरी।।१।।३७।

नाथ सिद्धों की बानीयाँ मछींद्री का श्लोक १०५।

पादाकुलक से विकसित पयार छन्द का प्रयोग भी गोरखनाथ तथा अन्य नाथों की रचनाओं में मिलता है—

भरै न पारा बाजै नाद, ससिहर सूर न वाद विवाद ।१।
पवन गोटिका रहणि अकास महियल अंतरि गगन कविलास ।२।
पायलनी शीवी मुनि कराई कथंत गोरखनाथ मछींद्र बताई॥

गोरखनाथ बानी पृ० १६ ११६॥

भाषा

हिन्दी में नाथसम्प्रदाय की रचनायें 'गोरखबानी' और 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' में संगृहीत हैं। इन रचनाओं की भाषा किसी विशेष युग की प्रतिनिधि भाषा नहीं है। इनमें किसी विशेष अंचल की भाषा का स्वरूप-बोध भी

नहीं होता है। इन रचनाओं की भाषा अधिक विकासशील स्वरूप में है। अत इनसे भाषा के प्राचीन स्वरूप का बोध नहीं हो पाता है और आधुनिक भारतीय आर्य भाषा के पूर्वी तथा पश्चिमी, इन दोनों मण्डलों के भाषा-रूपों के उदाहरण इन रचनाओं में मिल जाते हैं। अपने वर्तमान रूप में इस सम्प्रदाय का साहित्य गोरखनाथ तथा अन्य नाथ साधकों की मूल रचना नहीं है। लोक जीवन में इसका विकास मौखिक परम्परा में होता रहा है। इसके लिपि-बद्ध करने का प्रयास सत्रहवीं शताब्दी में किया गया। देश के भिन्न भिन्न भागों में मौखिक रूप में विकसित होने के कारण इसमें भाषा की विविधरूपता नैसर्गिक रूप में विद्यमान है। इन रचनाओं में भाषा की प्राचीनता के प्रति आग्रह नहीं किया जा सकता है। अनेक विद्वानों की यह धारणा है ये रचनायें पूर्वी अञ्चल (मागधी से प्रस्फुटित) की भाषा में रचित हैं, परन्तु इस सम्बन्ध में इस प्रकार का निश्चयात्मक निर्णय नहीं किया जा सकता है। आलोच्य भाषा की निम्नलिखित महत्वपूर्ण विशेषतायें हैं।

(१) पद के आदि में आए हुए संयुक्त व्यञ्जनों के सरलीकरण की प्रक्रिया—उदा० थापना < स्थापना थरूटी थापना आपी गो बा, थिति < स्थिति थिर विहूणा मूठा जोगी० गो० बा० १६ १०६।

(२) (i) अक्षर-संकोच और (ii) अक्षर-संप्रसारण (Syllabic contraction and Syllabic expansion) के उदाहरण इन रचनाओं की भाषा में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं—उदा० अभ्यंगन < आलिंगन तजै अभ्यंगन काटै माया गो० बा० ७ १७। कंद्रप < कन्दर्प काम क्रोध आदी पूर्ण कीया कंद्रप कीया कपूरे गो० बा० (iii) अभिअन्तर < अभ्यन्तर ठसि अभिअन्तर पर निर्मोप गो० बा० बिराधि < वृद्धि : पुहुप मधि बिराधि गो० बा० १६।

(३) इस भाषा-मैं-डा-ड़ी, प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है। ये प्रत्यय शौरसेनी अपभ्रंश और अवहट्ट में भी प्रयुक्त हुए हैं। प्राचीन व आधुनिक राजस्थानी के ये विशेष प्रचलित प्रत्यय हैं—उदा० गोरख आमुड़ा बोलै अमृत बाणी रे सामुड़ी पाल्हाई बड़ी हिडोलै पवन मध्यन्ड़ी बागलै प्रासली इत्यादि।

काया तरवर माकड़ चित्त डालै पानै भरमै नित्त नित्त।
कर्म्म कर्म्म वह रिधि भाइ, जिस कारन कोई सिध मयाई।२।

नाथ सिद्धों की बानियाँ

चरपट नाथ जी की सबदी पृ० २५।

यहाँ समचतुष्पदियों के साथ दोहे के प्रयोग की एक विशेष विधा मिलती है। प्रश्नोत्तरी के सन्दर्भ में दोहा और चौपाई का प्रयोग किया गया है। आलोच्य सन्दर्भ की रचनाओं का एक व्यापक अंश पदों में रचित है, और इनमें राग रागनियों का भी निर्देश मिलता है। 'गोरख बानी' के पद 'राग रामश्री' राग असावरी' 'राग रामगरी' आदि शीर्षकों में विभक्त हैं। (देखिए गोरखबानी पृ० ८१—१२८)। 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' के पद भी 'राग गुंड 'राग रामश्री 'राग कल्याणड़ी' 'राग धनासी ' राम रावंगरी' आदि के अनुसार वर्गीकृत हैं। कतिपय सबदों में श्लोक का प्रयोग भी मिलता है। उदा०—

मंत्री उवाच—अहो ग्यानी महा मुनी।
अंग धम भस्म लेपनं॥
किम अरथ कंठ माला।
कूंन ध्यान हो जपेसरी।१।६३७।

नाथ सिद्धों की बानियाँ भर्थरी का श्लोक १०५।

पारम्परिक से विकसित पमार छन्द का प्रयोग भी गोरखनाथ तथा अन्य नाथों की रचनाओं में मिलता है—

झरै न पारा बाजै नाद, ससिहर सूर न बाद बिवाद। १।
पवन गोटिका रहणि अकास महियल अ तरि गगन कविलास।२।
पायलमी डीबी सुंनि भई चल्यो कर्षत गोरषनाथ मछींद्र बताई॥

गोरखनाथ बानी पृ० ३६ १३६।

भाषा

हिन्दी में नाथसम्प्रदाय की रचनायें 'गोरखबानी' और 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' में संगृहीत हैं। इन रचनाओं की भाषा किसी विशेष युग की प्रतिनिधि भाषा नहीं है। इनमें किसी विशेष अंचल की भाषा का स्वरूप-बोध भी

नहीं होता है। इन रचनाओं की भाषा अधिक विकासशील अवस्था में है। अतः इनसे भाषा के प्राचीन स्वरूप का बोध नहीं हो पाता है और आधुनिक [illegible] आर्य-भाषा के पूर्वी तथा पश्चिमी, इन दोनों भाषाओं के [illegible] के उदाहरण इन रचनाओं में मिल जाते हैं। अपने वर्तमान रूप में इन [illegible] का [illegible] गोरखनाथ तथा अन्य नाथ साधकों की मूल रचना नहीं है। [illegible] में इसका विकास मौखिक परम्परा में होता रहा है। इसके लिपि-बद्ध करने का [illegible] सत्रहवीं शताब्दी में किया गया। देश के भिन्न भिन्न भागों में मौखिक रूप में विकसित होने के कारण इसमें भाषा की विविधरूपता नैसर्गिक रूप में विद्यमान है। इन रचनाओं में भाषा की प्राचीनता के प्रति आग्रह नहीं किया जा सकता है। अनेक विद्वानों की यह धारणा है ये रचनायें पूर्वी प्राकृत (मागधी से प्रसूत) की भाषा में रचित हैं, परन्तु इस सम्बन्ध में इस प्रकार का निश्चयात्मक निर्णय नहीं किया जा सकता है। आलोच्य भाषा की निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण विशेषतायें हैं।

(१) शब्द के आदि में आए हुए संयुक्त व्यञ्जनों के सरलीकरण की प्रक्रिया—उदा० थापना < स्थापना घटी थापना थापी गो० बा०, थिति < स्थिति थित बिहूणा मूठा जोगी० गो० बा० १६ १०६।

(२) (i) अक्षर-संकोच और (ii) अक्षर-संप्रसारण (Syllabic contraction and Syllabic expansion) के उदाहरण इन रचनाओं की भाषा में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं—उदा० अस्थंभन < आस्तम्भन - [illegible] अस्थंगन काढ़ें माया गो० बा० ७ १७। कंद्रप < कन्दर्प काम [illegible] [illegible] कंद्रप कीया कपूर गो० बा० (iii) अभिअन्तर < अभ्यन्तर, [illegible] अभिअन्तर पर निर्मोघ गो० बा० विरापि < [illegible] [illegible] गो० बा० १६।

(३) इस भाषा-में-का-की प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है। [illegible] शौरसेनी अपभ्रंश और अवहट्ठ में भी प्रयुक्त हुए हैं। प्राचीन [illegible] राजस्थानी के ये विशेष प्रचलित प्रत्यय हैं—उदा० गोरख [illegible] बाणी रे सामुही पाखणी महुड़ी हिलोमे गगन [illegible] इत्यादि।

(४) बहुवचन के लिए नियमित रूप ऐ-आँ प्रत्यय का प्रयोग आलोच्य भाषा में मिलता है। इस का प्रयोग दक्खिनी हिन्दी तथा पूर्वी पंजाबी में भी मिलता है। उदाहरण—चीटियाँ परबत ढोला रे अवधू, गायाँ बाघ बिडारया जी, मुसर्के समदाँ लहरि मनाई मूर्षा चीता मारया जी, गौरष कहै गुर कै सबदाँ तू ही नहर्ग हारजी। गो० बा० १५४,

(५) संज्ञाओं के मूल तथा विकृत रूपों में सविभक्तिक या संयोगात्मक रूप भी यहाँ मिलते हैं, परन्तु ये प्रयोग अति अल्प और सीमित मात्रा में हुए हैं। इन प्रयोगों में भाषा के कतिपय प्राचीन रूप देखने को मिल जाते हैं। उदा०—बेदे न सास्त्रे, कतेबे न कुराणे पुस्तके न बच्या जाई गो० बा० पृ० १०। (यहाँ-ए अधिकरण कारक का सविभक्तिक प्रयोग है)। सबदे मिलाई ऐसा गुरुमुख पीरं (एं करण कारक का सविभक्ति प्रयोग है)। घरबै जाता छरबै भरे (सम्प्रदान अधिकरण), इकोतर सै पुरिषा नरकहि जाई। —(हि सम्प्रदान का सविभक्तिक प्रयोग है)।

(६) संज्ञा के परसर्गीय प्रयोगों में चा परसर्ग विशेष महत्त्व का है। यह परसर्ग मराठी का है। और यहाँ इसका प्रयोग सम्बन्ध कारक के लिए होता है। उदा० पाषाण ची देवी, पाषाण चा देवता। १११। नाम बंधि सोइबा अमरा मोषिबा गो० बा० ६६। सम्बन्ध के लिए नाँ परसर्ग का प्रयोग मिलता है। अपने मूल रूप में यह गुजराती का परसर्ग है। उदा० अनेक जनम नाँ पातिग छूटै जपंत गोरष चवाजी। गो० बा १०१। जपत गोरषनाथ मछिंद्र नाँ पूता गो० बा० १२० चन्द्र सूर नी मुद्रा कीन्हीं। गो० बा० ११०।

(७) सर्वनाम रूपों के अन्तर्गत अम्हे माँहरा अम्हार, तुम्हें आदि प्राचीन रूप हैं। उदा० तुपहट हाट अम्हे पषिवरा, १०५ माँहरा जोगी १०५ ध्यान गुरु दोऊ पूँषा अम्हारे सतगुर अम्हे परिणाम्याँ अवधू बाल कुँवारी १०६। अंजनि मूला निरंजन भूला तुम्हें कौजो याकिम काजीरे १५२। मा तप जार न पारं, ९५। तास विचारत निगुण तुम्हें १। छूंन—छूंप हलवूँ भाव मुलावै कौन पचासै पाई।

(८) संख्यावाचक विशेषणों में निम्नलिखित रूप विशेष उल्लेखनीय हैं—चवदे, बारा, इक्वीस एकादसि चारि, उदा० चमपो पापा जउमान पंचमें

रणा असनान ७१ २१८, बारा कला सोखै सोला कला पोपे, इक्वीस सईस पटसौ वाइ, पवन पुरिष जपमाली ११।१ । नव पंड पृथी इक्वीस मां ही, एका वसि एक वारी । १७ । चारि महावर बारह वेसा । ११३ । मुकड़ी घुम ब्यारि दे बाई । अठ्यासी सहस्त्र रषीसर कंप्रप ब्याप्या असाधि विषनु की माया ।

(९) क्रिया रूपों के अन्तर्गत-ब भविष्य का प्रयोग यहाँ नियमित रूप में हुआ है । इसी प्रकार भूतकाल के लिए-ल रूप का प्रयोग भी आलोच्य भाषा की एक प्रमुखता है । इन दो दृष्टियों से इस संदर्भ की भाषा पूर्वी भाषाओं के निकट की है । उदा०-ब भविष्य, हँसिबा खेलिबा रहिबा रंग काम क्रोध न करिबा संग । हँसिबा, खेलिबा गाइबा गीत, दिढ़ करि राखा अपना चीत । पंच दिन चलिबा, अमिलमिल बलिबा ।१८। हबकि न बोलिबा ठबकि न चलिबा धीरे धरिबा पाव । ११ २७ । भूतकाल के लिए-ला प्रत्यय का प्रयोग चन्द सुरज दोउ सनमुख राषिला रस कुस बहिमरिला रहि गईला सारं । ८८।५ चंद सुरज दोऊ गगन विधूला, गईला भोर अंधारं । पृ० ९९ ४ । कामाक्ष भीलिले गोरख अवधूता । ११४ ४ १९ ।

आरम्भ में इस प्रत्यय का प्रयोग केवल भूतकाल के लिए होता रहा परन्तु काल-क्रम से इसका प्रयोग वर्तमान के अर्थ में होने लगा था । गोरखबानी' और 'नाथ सिद्धों की बानियों' में इस प्रत्यय का प्रयोग भूतकाल और वर्तमानकाल इन दोनों के लिए मिलता है ।

(१०) पश्चिमी अपभ्रंश में प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के स्य भविष्य से विकसित-सी रूप का प्रयोग (भविष्य के अर्थ में) होता है । पूर्वी पञ्जाबी दक्खिनी हिन्दी तथा प्राचीन राजस्थानी में इस रूप से विकसित-स भविष्य का प्रयोग मिलता है । इस दृष्टि से आलोच्य भाषा पश्चिमी प्रभाव से संस्पर्शित है । उदा० सिंहिपर चंद सूर नहिं उगै तिहि घरि होसी बजियारा गुरु मुनि बिना न मावसी पे दून्यो बड़ रोग । ७४।२१५ । मिथ्या नारी नौ संग करेस्यो तौ रौम रोम नरक पड़ी स्यौ री । गो० बा० १२१ ।

(११) सहायक क्रिया के रूप में अछ का प्रयोग भी इस भाषा में मिलता है । उदा० हिन्दू आखैं अलख कौं तहाँ राम अछे न पुराई । ९ २५ ६९ । गगन सिषर आछै, अंबर पानी मरंता मडो लोको मरम न जाणी । ८१।१।

शक्ति रूपी एक आद्ये, शिव रूपी व्यंद, बारहकला एक आते सोलह कला भव १००।२१।

(१२) प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के कर्म वाच्य का विकास हिन्दी तथा अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं में कर्तृवाच्य के रूप में हुआ है। आलोच्य साहित्य की भाषा में यह विधा सम्पूर्ण रूप से विकसित मिलती है। उदा० *अवधू ईस्वर हमारे चेला भमीचे मर्छीद्र बोलिए नाती।*

विद्यापति

आदि कालीन साहित्य में विद्यापति के काव्य का विशप महत्व है। एक शृ गार कवि के रूप में इनकी ख्याति लोक-मानस और साहित्य के विद्यार्थियों को आकर्षित करती रही है। इन्हें 'मैथिल कोकिल' और 'अभिनव जयदेव' की उपाधियों से आज भी सम्मानित किया जाता है। विद्यापति की रचनायें संस्कृत में हैं अवहट्ठ में है और देस्य भाषा (मैथिली) में हैं। मैथिली की रच नायें शृ गार मूलक हैं और इन पर 'गीत गोविन्द' 'गाहा सत्तसई' तथा 'अमरु शतक' का यथेष्ट प्रभाव मिलता है। गौड़ीय वैष्णव भक्ति से सम्बन्धित साहि त्यिक रचनाओं के भाव-पक्ष के रूप विधान में विद्यापति के पदों ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। 'कृष्ण कर्णामृत' और गीतगोविन्द' के पदों के समान विद्यापति के पदों ने चैतन्य की भक्तिभावना का उन्मेष किया है। विद्यापति के पदों की भाषा मैथिली है परन्तु कृष्ण-साहित्य के अध्ययन के ऐतिहासिक संदर्भ में विद्यापति के पदों की उपेक्षा अनुचित है। कृष्ण-साहित्य की परम्परा और उसके क्रमिक विकास के संदर्भ में हिन्दी के अन्तर्गत इनका अध्ययन अपेक्षित है।

विद्यापति के नाम से प्रचलित पदों की संख्या अति व्यापक है। अपने वर्त मान रूप में ये पद किसी एक कवि की रचनायें नहीं हैं। अनेक कवियों के भाव योग से ये वर्तमान आकार धारण कर सके हैं। विद्यापति नामक कवि का प्रथम उल्लेख 'सदुक्ति कर्णामृत' नामक ग्रन्थ में मिलता है। इस ग्रन्थ में विद्यापति रचित पाँच श्लोक मिलते हैं। जिस विद्यापति की चर्चा हम कर रहे हैं वे कर्ण देव के समकालीन थे। कर्णदेव पश्चिमी बंगाल और वीरभूमि के अधिपति थे।

इसके पश्चात् अनक कवियों ने विद्यापति का उपनाम ग्रहण कर रचनायें की हैं। इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं कि परवर्ती काल में 'पदकार' या 'गीतकार' के लिये विद्यापति की उपाधि का प्रयोग होने लगा था। इस प्रकार विद्यापति के नाम से जो पद उपलब्ध होते हैं उनमें मैथिली कवियों के अतिरिक्त बंगाली तथा नेपाली परवर्तीओं के पद भी सम्मिलित हैं। अठारहवीं शताब्दी के मध्य बंगाली विद्यापति नामक एक कवि ने 'पाँचाली काव्य की रचना की थी। ग्रियर्सन ने विद्यापति के पदों का जो संग्रह किया है उसमें कवि विद्यापति जयराम के अनेक पद संग्रहीत हैं। इस प्रकार विद्यापति के नाम से उपलब्ध पदों में 'नव जयदेव' 'अभिनव जयदेव' आदि नामों का भी उल्लेख मिलता है—उदा० 'कान्हू रूप सिरि सिंह सिंह भाएल कवि अभिनवजय देवा' नं० ७७ १२

अथवा

'राजा शिव सिंह भूप नरायन कवि अभिनव जयदेव।' नं० १८।

कतिपय पदों में 'कविसर', और नव कवि शेखर' आदि नामों का उल्लेख भी मिलता है—यथा

भनइ विद्यापति नव कवि शेखर
पहुवी दोसर कहाँ
साह हुसेन भ्रम सम नागर
मालति सैनिक पहाँ।

ऐसे ही अन्य पदों में 'रायशेखर 'कवि बल्लभ' आदि नामों का भी उल्लेख मिलता है।

जिस 'मैथिल कोकिल विद्यापति' की चर्चा हम कर रहे हैं वे 'सदुक्ति कर्णामृत' के विद्यापति से भिन्न थे। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उन्हें हम विद्यापति द्वितीय की संज्ञा देते हैं। विद्यापति का जन्म बिहार के दरभंगा जिले के अन्तर्गत बेनीपट्टी के बिसपी ग्राम में हुआ था। विद्यापति का सम्पर्क अपने समय के अनेक राजाओं से था। इन सब के सम्बन्ध में विद्यापति ने वर्णन किया है। परंतु अपने विषय में वे मौन हैं। सन् १८०१ में Indian Antuquary में जॉन बीम्स ने विद्यापति पर एक लेख लिखा। इस लेख में इन्होंने यह प्रस्तावना

की कि विद्यापति का मूल नाम बसन्त राय था। और उनके पिता का नाम भवानन्द राय था। वे जाति के ब्राह्मण और यशोहर जिले के कर्ण बेरके निवासी थे। राम कृष्ण मुखोपाध्याय ने १८७५ में 'बंग दर्शन' में बीम्स की स्थापना का खण्डन करते हुए यह कहा कि विद्यापति मिथिला निवासी थे और राजा शिव सिंह के समासद थे। अपने निर्णय में परिवर्तन करते हुए बीम्स ने इस निबन्ध का अङ्गरेजी रूपान्तर १८७५ के Indian Antiquary में प्रकाशित किया। सन् १८८१ में ग्रियर्सन ने Maithili Chrestomathy नामक ग्रन्थ में विद्यापति की पदावली का प्रकाशन किया। नेपाल दरबार में हलायुध मिश्र के 'ब्राह्मण सर्वस्व' की एक प्रतिलिपि प्राप्त हुई है। इससे विदित होता है कि ई० सन् १४१० में इस ग्रंथ के लिपिकार श्री रूपधर ने 'सप्रक्रिय सदुपाध्याय मिश्र व कुल कुमुदिनी के चन्द्र स्वरूप प्रतिपक्ष के निकट सिंह स्वरूप सच्चरित्र एवं पवित्र श्री विद्यापति महाशय के पास अध्ययन किया।

विद्यापति के पिता गणपति ठाकुर राय गणेश्वर के सभा पण्डित थे। परन्तु विद्यापति की जन्मतिथि और जन्म संवत् के विषय में ज्ञान प्राप्त करने का हमारे पास निश्चयात्मक साधन नहीं है। विद्यापति ने अपने एक पद में देवसिंह की मृत्यु और शिवसिंह के राज्याभिषेक का उल्लेख किया है। यथा—

अनल रंध्र कर लक्खन नरवइ
सक समुद्द कर अगिनि ससी।
चैत कारि छठि जेठा मिलियो
वार बेहप्पइ जाइ लसी।
देव सिंह जं पुहुमी छड्डिअ
अद्धासन सुर राय सरू।
दुहु सुर तान निन्दे अब सोअउ
तपन हीन जग तिमिर भरू।
× × × ×

१ विष्णुनाथ— हराविस—कमीश्विस— देवाविस धीरेश्वर— जयदत्त— गणपति हरपति— रविधर— रघु— विश्वनाथ— पीताम्बर— दीम बापि— तुला— एकनाथ— मैया— कमीलास— बटी नाथ।

भिआवइ कइबर एहु गावए
मानव-मन आनन्द भओ।
सिंहासन सिवसिंह बइट्ठो
उच्छवे बैरस बिसरि गओ।

'पुरुष परीक्षा' का चन्द्र कवि कृत मैथिली अनुवाद'।

इस अंश में यह संकेत मिलता है कि लक्ष्मण संवत् २९३ शाके १३२४ १४०२ में देव सिंह की मृत्यु हुई, और शिवसिंह गद्दी पर बैठ। ऐसी धारणा है कि शिवसिंह उस समय ५० वर्ष के थे। विद्यापति शिवसिंह से दो वर्ष बड़े थे। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि विद्यापति का जन्म सन १३५० ई० में हुआ था।

विद्यापति का सम्बन्ध ओइनवार वंश के राजाओं के साथ था। इनमें कीर्ति सिंह और शिवसिंह के साथ विद्यापति का विशेष स्नेह था। कीर्तिसिंह काव्य और कला प्रेमी थे। कवि ने इसका उल्लेख कीर्तिलता' में किया है। यथा—

गेहे गेहे कलौ काव्यं श्रोता तस्य पुरे-पुरे।
देशे-देशे रस ज्ञाता दाता जगत दुर्लभ॥
श्रोतुर्ज्ञात बदान्यस्य कीर्तिसिंह महीपते।
करोतु कवितु काव्य भव्यं विद्यापति कवि॥

'कलियुग में घर-घर कवि हैं काव्य के श्रोता नगर-नगर हैं। रसज्ञाता देश-देश में हैं, (परन्तु) जगत में दाता दुर्लभ हैं। कीर्तिसिंह काव्य के श्रोता रसमर्मज्ञ और दानशील हैं काव्य रचना में समर्थ हैं। विद्यापति उनके लिए काव्य-रचना करते हैं।' 'कीर्तिलता' की रचना तिथि के समय विद्यापति की आयु क्या थी, इसका संकेत नहीं मिलता है। कीर्तिसिंह के पिता राय गणेश्वर की मृत्यु तिथि का उल्लेख कीर्तिलता' में मिलता है।

लक्खन सेन नरेस लिहिअ जबे पक्ख पंचवे।
तं महुमासहि पढम पक्ख पञ्चमी कहिअजे।
रज्जलुद्ध असलान बुद्धि विक्कम बले हारल।
पास बइसि बिसवासि राए गएनेसर मारल।

'जब लक्ष्मण सेन संवत् का २५२'वाँ वर्ष लिखा गया उसी वर्ष मधुमास के प्रथम पक्ष की पञ्चमी को यवन-फ़ौजी असलान ने बुद्धि, बल और विक्रम में राजा गणेस्वर से पराजित होकर, उनके निकट बैठ विश्वासघात कर उनकी हत्या करदी'। इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट है कि ल० सं० २५२ या ई० सन १३७१ को गणेस्वर का वध हुआ। गणेस्वर की मृत्यु के पश्चात् ही कीर्तिसिंह ने अधिकार भार ग्रहण किया। इस घटना के समय विद्यापति की आयु ग्यारह वर्ष की रही होगी। इस आयु में *'कीर्तिलता' ऐसी रचना के प्रणयन की सम्भावना* ही नहीं हो सकती है। यदि विद्यापति के जन्म की प्रस्तावित तिथि को हम स्वीकार करते हैं तो यह निश्चय होता है कि कवि ने 'कीर्तिलता' की रचना बहुत बाद में की होगी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि कीर्तिलता' की रचना के समय विद्यापति की आयु पचीस वर्ष की रही होगी। इसके लिए प्रस्तुत आधार दिए गए हैं। (क) प्रथमतः उन्होंने अपने को खेलन कवि कहा है—

एवं संगर साहस प्रमथन प्रालब्ध लब्धोदयां
पुष्णाति श्रियमाशशांकं तरणी कीर्तिसिंहो नृपः।
माधुर्य प्रसवस्थली गुरुयशो विस्तार शिक्षा सखी
यावद्विश्वमिदञ्च खेलन कवेर्विद्यापते।

विद्यापति ने इस अंश में अपने को 'खेलन कवि' कहा है। आलोचकों की यह धारणा है कि सम्भवतः उनके खेल-कूद की आयु समाप्त न होने के कारण उन्हें

---

१ श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त ने विद्यापति के पद में उल्लिखित लक्ष्मणाब्द और शकाब्द को पृथक कर समन्वित किए बिना ही लिखा है 'ल० सं० २९१ अथवा १४१२ में शिव सिंह गद्दी पर बैठे'। *'विद्यापति पदावली भूमिका* पृ० २।

महामहोपाध्याय उमेश मिश्र ने उनका जन्म २४१ ल० सं० (१३६०) मृत्यु ल० सं० १२७ ल० सं० १२७ (१४४६) के पश्चात् माना है। विद्यापति ठाकुर पृ० ४८।

देसिल कवि कहते थे। परन्तु इस प्रकार के स्पष्टीकरण से वस्तु स्थिति का निदान सम्भव नहीं है। (२) द्वितीयतः तरुण सुलभ दम्भ प्रकाश करके उन्होंने इस काव्य की सूचना में कहा है—बालचन्द और विद्यापति की भाषा—इन दोनों को दुर्जनों का उपहास नहीं लगता। वह बाल चन्द्र परमेश्वर शिव के सिर पर शोभायमान होता है यह विद्यापति की भाषा निश्चय ही विदग्ध जनों को मोहित करती है। इस सन्दर्भ में यह कहा गया है कि तरुण-सुलभ दम्भ प्रकाशन हेतु ही इस प्रकार की उक्ति कवि ने की है। परन्तु यह निष्कर्ष बहुत वैज्ञानिक और मूल्यवान नहीं है। यदि हम समन्वित सन्दर्भ के अनुकूल इस अंश पर विचार करें तो स्थिति अधिक स्पष्ट होगी। विद्यापति संस्कृत के आचार्य थे। संस्कृत में इनकी अनेक रचनायें उपलब्ध हैं। लोक-जीवन के काव्य के लिए लोक भाषा ही अधिक उपयोगी होती है इस सत्य से वे परिचित थे। उस समय लोक भाषा में रचना करना विशेष साहस का काम था। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि 'राम चरित मानस' की रचना के समय गोस्वामी तुलसीदास के सम्मुख भाषाविषयक यही द्वन्द्वात्मक स्थिति थी। 'कीर्तिलता' की रचना के समय विद्यापति के सम्मुख सामान्य जनजीवन था। यही कारण है कि विद्यापति के लिए यह अपेक्षित हो गया कि लोक-भाषा में रचना करने के कारण का स्पष्ट उल्लेख करें। इस उल्लेख में उनकी विनम्रता आत्मविश्वास और लोकभाषा की अनिवार्यता के स्वर मुखरित हैं।—यथा,—

बालचन्द बिज्जावइ भासा।
दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा॥
ओ परमेसर हर सिर सोहइ।
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ॥
का परबोधओं कमण मणाबओं।
किमि नीरस मन रस लए लाबओं॥
जइ सुरसा होसइ मझु भाषा।
जो बुज्झिअ सो करहि पसंसा॥
महुअर बुज्झइ कुसुम रस कब्ब कलाउ छइल्ल।
सज्जन पर उँअआर मन दुज्जन नाम मइल्ल।

एकभ्म बाणी बुहअन भावइ
पाउअ रस को मम्म न पावइ।२०।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा
तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा।

कीर्तिलता पल्लव १।

इस प्रकार यह प्रौढ़ आयु की रचना है। अपने पिता गणेश्वर की हत्या के प्रतिशोध के लिए कीर्तिसिंह को जौनपुर के सुल्तान इब्राहीम शाह की सहायता लेनी पड़ी। यह १४०१ १४४० के मध्य जौनपुर का शासक था। अतः कीर्तिसिंह ने इसी अवधि में इब्राहीमशाह की सहायता प्राप्त की होगी। यदि इतिहास इसे प्रमाणित करता है, तो 'कीर्तिलता' की रचना विद्यापति ने ५०-५१ वर्ष की आयु में की थी।

'कीर्तिलता' में वर्णित 'पञ्च पञ्चमे' के स्पष्टान्त ल० सं० २५२ को जायसवाल ने अस्वीकार किया है। उनका कहना है कि यदि इसका अर्थ ल० सं० २५२ लिया जाय तो गणेश्वर की मृत्यु सन् १३७१ में हुई।

गणेश्वर की मृत्यु के पश्चात् कीर्तिसिंह ने असलान के विपरीत इब्राहीमशाह से सैनिक सहायता प्राप्त की थी। यह घटना सन् १४११ की है। जौनपुर की स्थापना सन् १३६४ ई० में हुई। इब्राहीम शाह सन ई० १४०१ १४४० तक जौनपुर का शासक था। गणेश्वर का वध इसी अवधि में हुआ होगा। परन्तु 'कीर्तिलता' के अनुसार यह घटना १३७० ई० सन की है। अतः जायसवाल का यह संकेत है कि समस्त संदर्भ पर विचार करने से तिथियों में संगति नहीं बैठती है।

इस समस्या पर एक अन्य दृष्टि से विचार किया गया है। इसका उल्लेख इस प्रसंग में आवश्यक है। कीर्तिलता में जोनपुर का जो वर्णन उपलब्ध है वह इस प्रकार है—

तं जने पेक्खिअ नअर सो जोनापुर तसु नाम
लोअन केरा वल्लहा लच्छी के विसराम।

छप्प

पेक्खिअउ पट्टन चारु मेखल जजोन नीर पखारिआ
पासान कुट्टिम भीति भीतर चूह उप्पर ढारिआ।

(जौनापुर) की मेखला को यमुना का पानी प्रक्षालित कर रहा था अथवा नगर जो यमुना के जल से प्रक्षालित था, सुन्दर मेखला के समान लग रहा था। इस संदर्भ में आया हुआ नगर जौनपुर नहीं अपितु दिल्ली है। 'कीर्तिसिंह' जौनपुर के सुल्तान इब्राहीम शाह के निकट नहीं अपितु दिल्लीके शासक फिरोज शाह तुगलक के निकट सहायता के लिए गये थ। 'कीर्तिलता' में 'इब्राहिम शाह' 'इब्राहिम शाहि' इमराहिमसाह' 'इमराहिममो' आदि रूपान्तरों का प्रयोग मिलता है। यह व्यक्ति विशेष की अपेक्षा एक सम्प्रदाय विशेष की संज्ञा है। प्राचीन सन्दर्भों से भी इसकी पुष्टि होती है।

अस्ति कलियुगे राजा शकेन्द्रो वसुधाधिप
योगिनी पुरमास्थाय यो भुङ्क्ते सकलां महीम्
सर्व सागर पर्यन्तां वशी चक्रे नराधिपान्
महमूद सुर त्राणो नाम्ना शूरो'भिनन्दतु।

अथवा

भादों मास पाप उजियारा, तिथि नौमी औ मंगल वारा ।
नखत अस्विनी मेपक चन्दा । पंच जना जो सम्न अनन्दा ।
जोगिनिपुर दिल्ली बड़ थाना । शाह सिकन्दर बड़ सुलताना।

ईस्वर दास 'सत्यवती कथा'। ११।१८।

इस प्रकार कीर्तिसिंह तुगलक की सहायता के लिए दिल्ली गये थे। इतिहास से यह सूचित मिलता है कि ई० सन् १३०२ में तुगलक मिथिला आया भी था। उस समय कीर्तिसिंह कुमारावस्था में थे। इसका उल्लेख 'कीर्तिलता' में स्पष्ट मिलता है।

पाम्रे चलि कुमरो कुमार
हरि हरि सबे गुमर ।१०।

बाजी छन्द (भष महका)।

ततो बे कुमारो पट्टठ बजारी
जहि लप्प बौरा नर्जा इ राजी।

कीर्तिलता द्वितीयपल्लव।

इस प्रकार की धारणा प्रचलित है कि शिवसिंह की अनुप्रेरणा से विद्यापति ने 'पुरुष परीक्षा', 'गोरक्ष विजय' और 'कीर्ति पताका' आदि कृतियों का प्रणयन किया। शिवसिंह के पिता देवी सिंह की मृत्यु लक्ष्मण संवत् २९३ शक सं० १३२४ (चैत्र कृष्ण षष्ठी) को हुई, और उसी दिन शिवसिंह ने राज्य-भार ग्रहण किया। शिवसिंह ने साढ़े तीन वर्ष (या तीन वर्ष ९ महीने) तक शासन किया। सन् १४०६ के लगभग मिथिला पर जौनपुर तथा बंगाल के मुसलमानों के आक्रमण हुए। पराजय की सम्भावना देखकर शिवसिंह युद्धभूमि से पलायन कर गए। इस प्रकार की अनुश्रुति मिथिला में प्रचलित है कि शिव सिंह के पलायन के बत्तीस वर्षों पश्चात् विद्यापति ने शिवसिंह को स्वप्न में देखा। यथा—

सपन देखल हम शिवसिंह भूप
बतिस बरस पर सामर रूप
बहुत देखल गुरुजन प्राचीन
आब भेलहुँ हम आयु विहीन
समुट समुट निज लोचन नीर
ककरहु काल न राखथि धीर
विद्यापति सुगतिक प्रस्ताव
त्याग के करुणा रसक स्वभाव।

इस प्रकार विद्यापति अपनी मृत्यु निकट देखने लगे। इसके अनुसार विद्यापति सन् १४३७ तक जीवित थे। परन्तु इसके पश्चात् भी विद्यापति के जीवित रहने के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं। नेपाल दरबार पुस्तकालय में ब्राह्मण सर्वस्व नामक कृति की हस्तलिखित प्रतिलिपि सुरक्षित है। इसके मूल लेखक हलायुध मिश्र हैं। विद्यापति के एक छात्र रूपधर ने इसकी प्रतिलिपि की थी। सोमेश्वर ने मूल कृति से इसकी तुलना करके इसका पाठ-शोधन किया था। रूपधर ने अपने आचार्य विद्यापति के लिये 'श्री' शब्द का प्रयोग किया है। प्राचीन काल में केवल जीवित व्यक्ति के लिए 'श्री' शब्द के प्रयोग की प्रथा थी। रूपधर ल० स० ३४० सन् १४६० में विद्यापति से शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। उस समय उनकी आयु ८० वर्ष से अधिक थी।

डॉ॰ शहीदुल्ला ने सन १४६० तक विद्यापति का जीवन-काल स्वीकार किया है। डॉ॰ सुभद्र झा सन १४६१ ई॰ तक विद्यापति को जीवित रहना स्वीकार करते हैं। 'विद्यापति-पदावली' (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्) के सम्पादकों ने सन १४५० तक विद्यापति को जीवित रहना स्वीकार किया है। उन्होंने अपना निष्कर्ष देते हुए कहा है, 'ब्राह्मण सर्वस्व' के अन्त-उद्धरण के आधार पर निश्चित रूप से यह प्रमाणित होता है कि महाकवि विद्यापति ल॰ सं॰ ३४१ तक जीवित थे। परन्तु यहाँ भी विद्वानों ने ल॰ सं॰ को ईसवी संवत् में परिवर्तित करने में भूल की है। कारण पहले कहा जा चुका है कि विद्यापति ने 'अनल रन्ध्र कर लक्खन णरवए सक समुद्द कर अगिनि ससी' लिखकर लक्ष्मणाब्द और शकाब्द को एक सूत्र में पिरो दिया है, तथा अपने समय के लिए लक्ष्मणाब्द का विचार समाप्त कर दिया है। परन्तु उपर्युक्त विद्वानों का ध्यान इस ओर नहीं गया। अतएव किसी ने ल॰ सं॰ ३४१ को १४६० किसी ने १४६१ स्वीकार किया जो सर्वथा असंगत है। वास्तव में विद्यापति के अनुसार शक संवत् के साथ मिलाकर गणना करने से ल॰ सं॰ ३४१ में १५२० ई॰ होती है। (विद्यापति पदावली भूमिका पृ॰ ३३)। अतः इसके अनुसार विद्यापति का जीवन काल १५२० ई॰ में समाप्त होता है।

विद्यापति ने अनेक पदों में नसरतशाह का उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि विद्यापति का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में नसरतशाह से था। परन्तु जिस नसरतशाह का उल्लेख विद्यापति ने अपने पदों में किया है उसके विषय में हमारे पास कोई स्पष्ट सूचना नहीं है। यथा—

आनन लोचन वचने बोलए हसि
अमिअ बरसि जनि सरद पुनिम ससि
अपरुब रूप रमनिमा।
आजने देखलि गजराज गमनि मा।
कामेर रंजित बयस नयन वर
अमर मिलल जनि अरुन कमल दल।
भाग भेल मोहि मौक रमनि जनि
दुअ गिरि कनक भरें भांगि जाएनि जनि।

कवि पेखर मन बपस्य रूप देखि

राव नसरत साहु मजसि कमल मुखि।

नसरत शाह सन १५२१ १५२८ तक बंगाल के शासक थे। अतः यदि इस पद को हम विद्यापति की रचना मानते हैं तो विद्यापति का जीवन काल सन १३५० १५२१ तक मानना पड़ेगा। इस प्रकार विद्यापति की आयु १७१ वर्ष की होगी। यह सम्भव नहीं लगता है। अतः यह पद आलोच्य विद्यापति की रचना नहीं लगता। यह पद 'रागतरंगिणी' में संकलित है और इसकी समाप्ति 'इति विद्यापतेः' से हुई है। एक अन्य पद 'भन कवि शखर' के नाम से मिलता है। यह पद भी नसरत शाह से सम्बन्धित है। अतः इस पद से भी विद्यापति की जीवनी के किसी अंश का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता है। इसे आलोच्य विद्यापति की रचना स्वीकार करने में संकोच होता है।

इस पद को सम्मुख रखकर विद्यापति की जीवनी पर एक अन्य दृष्टि से विचार किया गया है जो अधिक तर्कसंगत और वैज्ञानिक लगता है। सन १३८८ में फिरोज शाह का पौत्र एवं फतेह खाँ का पुत्र गयासुद्दीन तुगलक (द्वितीय) गद्दी पर बैठा। पारस्परिक विग्रह होने के कारण उसने शिवसिंह को बन्दी बनाया। शिवसिंह के पिता देवसिंह ने उन्हें मुक्त कराने के लिए विद्यापति को दिल्ली भेजा। यह घटना १३१४ ९५ की है। उस समय गयासुद्दीन का भाई नासीरुद्दीन या नसरत शाह गद्दी पर था। विद्यापति ने नसरत को प्रभावित

शिवसिंह ने विद्यापति के संरक्षण में अपने परिवार को नेपाल की तराई में सप्तरी के राजा पुरादित्य 'गिरिनारायण' के पास राजबनौली भेज दिया। पुरादित्य के आग्रह पर विद्यापति ने लिखनावली की रचना की—सर्वादित्य तनूजस्य द्रोणवार महीपतेः। गिरिनारायणस्याज्ञां पुरादित्यस्य पाणडायम। अल्प श्रुतोपदेशाय कौतुकाय बहुश्रुताम्। विद्यापतिस्सतांप्रीत्यै करोति। लिखनावली।—लिखनावली, श्लोक १ २।

विद्यापति ने 'लिखनावली' की रचना सन १४०८ में तथा 'श्रीमद्भागवत' की प्रतिलिपि सन १४१८ में की थी। इस प्रकार लगभग बारह वर्षों तक विद्यापति राजबनौली रहे। मिथिला का शासन वहीं से शिवसिंह की पत्नी लखिमा देवी करती रहीं।

किया । नसरत ने शिवसिंह को मुक्त किया । बादशाह नसरत ने विद्यापति को 'कवि शेखर' की उपाधि दी । यही कारण है कि नसरत से सम्बन्धित पदों में विद्यापति ने 'कवि शेखर' का प्रयोग किया है ।

विद्यापति की आयु के निर्णय में नरसिंह देव के कमदाहा शिलालेख का भी उल्लेख किया जाता है । इसकी स्थापना 'भवादित्य' नाम से सूर्य की प्रतिष्ठा हेतु हुई थी । इस शिलालेख का निम्नलिखित अंश ध्यान देने योग्य है ।

पृथ्वी पति शिवपरो नव (सिंह-आ)-सी
दासी विपेन्द्र मधुराक्षम कीर्ति राशि
× × × ×
ज्येष्ठ मासे पक्षाश्चे शराक्षमनगाङ्किते मिरा
मूर्त भास्करीय चक्र कृत वापीतामिपधानि ।

संख्या वाम गति के अनुसार 'शराक्षमनगाङ्किते' का यह अर्थ हुआ— शर=५, अक्ष=७, नगज=११ अर्थात् ११०५ शकाब्द या १४२१ ई० । नरसिंह देव के साथ विद्यापति का घनिष्ट सम्बन्ध था । उनकी धर्मपत्नी धीरमती के लिए विद्यापति ने 'दान वाक्यावली' की रचना की । अतः इस अवधि में विद्यापति के जीवित रहने में सन्देह नहीं होता है ।

भिन्न भिन्न विचारकों के अनुसार इन पृष्ठों में जो विवेचनायें हुई हैं उनसे हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने में असमर्थ हैं । अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से विभिन्न विचारकों के मत का संक्षेप यहाँ प्रस्तुत है ।

महामहोपाध्याय उमेश मिश्र विद्यापति का जन्म ल० सं० २४१ अर्थात् १३६० ई० के लगभग मानते हैं । अपनी स्थापना के लिए वे निम्नलिखित कारण देते हैं—

(क) विद्यापति के पिता गणपति ठाकुर महाराज गणेश्वर सिंह के सभासद थे । उनकी सभा में वे अपने पुत्र को ले जाया करते थे । महाराजा गणेश्वर की मृत्यु २५२ लक्ष्मण संवत् में हुई थी । विद्यापति की आयु उस समय कम से कम १०-११ वर्ष की अवश्य रही होगी । परन्तु इस प्रकार के निर्णय के लिए मिश्रजी कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं देते ।

(ख)

राजगद्दी।

की कारण

(ग)

की तिथि

मत मह

(देखिए-

भी

२१२ व

विद्यार्थ

वर्ष की

की छा

हुई। र

हुई थी

अनुमान

हुआ है

ड

सं० २

।

१३२१

आदेश

राज्य

को।

पर्वों

६ १४१८ में द्रोणवार के अधिपति पुरादित्य के आश्रम में राजबनौली में इन्होंने 'लिखनावलि' की रचना की।

७ १४२८ में 'भागवत्' की अनुलिपि की।

८ १४३०-४० के बीच पद्म सिंह और विश्वास देवी के नाम से एक पद और 'शैव सर्वस्वसार' तथ 'गंगा वाक्यावली' की रचना की।

९ १४४०-६० ई० के मध्य 'विभाग सागर 'दान वाक्यावली और 'दुर्गाभक्ति तरंगिणी' की रचना की।

१० सन् १४६० ई० में स्मृति के अध्यापक के रूप में व्याड़ीसर्वस्व का अध्यापन किया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में विद्यापति के समय का निर्धारण करते हुए यह कहा है कि विद्यापति शिवसिंह के अति निकट सम्पर्क में थे। शिवसिंह का राज्याभिषेक सन् १४०३ के लगभग हुआ। अत विद्यापति की जन्म तिथि १३५० ई१ के मध्य निर्धारित होती है।

विद्यापति की रचनायें

(क) कीर्तिलता —इस कृति की भाषा अवहट्ट' है जिसे विद्यापति ने 'देसिल बयना' कहा है।[1] असलान ने कीर्तिसिंह के पिता राय गणेश्वर की हत्या कर मिथिला पर अधिकार कर लिया। कीर्तिसिंह और वीरसिंह ने जौनपुर के सुल्तान की सहायता से असलान से सिंहासन का प्रतिशोध लिया तथा मिथिला का उद्धार किया। यही इस कृति की कथा है। काव्य-रूप की दृष्टि से यह प्राकृत-अपभ्रंश के चरित काव्यों की परम्परा की कृति है।[2] विद्यापति ने इसे 'पुरुष कहानी' कहा है—

---

१ सक्कअ वाणी बुहअन भावइ।
पाउअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा।
तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा।
कीर्तिलता प्रथम पल्लव।

२ 'इस प्रबंध में ध्यान देने की बात यह है कि विद्यापति की कीर्तिलता में उस समय के देश्य भाषा साहित्य के गुणानुवाद मूलक चरित-काव्यों के अनेक लक्षण मिलते हैं यह पुस्तक उस युग के गुणानुवाद मूलक चरित काव्यों में सब से अधिक प्रामाणिक है। हिन्दी साहित्य का आदिकाल। पृ० ६४।

(ख) विद्यापति के प्रधान आश्रयदाता शिवसिंह ५० वर्ष की अवस्था में राजगद्दी पर बैठे। अतः उनका जन्म २४३ लक्ष्मण संवत् में हुआ। यह भी लोगों की धारणा है कि कवि विद्यापति उनसे दो वर्ष बड़े थे।

(ग) 'कीर्तिलता' में विद्यापति ने अपने को 'खेलन कवि' कहा है। अतः वे कीर्तिसिंह और वीरसिंह की बाल्यावस्था के साथी (खेलने के योग्य) रहे होंगे। अतः यह अनुमान होता है कि विद्यापति २५२ लक्ष्मण संवत् में १० वर्ष के थे। (देखिए—विद्यापति ठाकुर पृष्ठ—४६ ४७)।

श्री नगेन्द्रनाथ और शिवनन्दन ठाकुर के अनुसार विद्यापति का जन्म काल २१२ लक्ष्मण संवत् या १३५१ ई० है। उनकी प्रस्तावना है 'किंवदन्ती है कि विद्यापति शिवसिंह से दो बरस बड़े थे। राज्याभिषेक के समय उनकी आयु ५० वर्ष की थी। इस किंवदन्ती के अनुसार २९३ लक्ष्मण संवत् में विद्यापति की उम्र ५२ वर्ष की थी और उनकी मृत्यु ९० वर्ष की उम्र में हुई। उनकी प्रथम पुस्तक 'कीर्तिलता' की रचना २५२ लक्ष्मण संवत् के लगभग हुई थी। इस समय विद्यापति कम से कम बीस वर्ष के रहे होंगे। इस प्रकार अनुमान से मालूम पड़ता है कि विद्यापति का जन्म लगभग २१२ लक्ष्मणाब्द में हुआ होगा। (देखिए—महाकवि विद्यापति पृष्ठ १८ १९)।

डॉ० विमानबिहारी मजूमदार के अनुसार विद्यापति का जन्म-समय ल० सं० २९१ (१३८०ई०) है। अपने निर्णय के लिए वे निम्नलिखित कारण देते हैं —

१ ग्यासुद्दीन और नसरत शाह-सम्बन्धित पदों की रचना विद्यापति ने १३९५ ९६ के मध्य की थी।

२ सन् १४०० ई० के लगभग विद्यापति ने नैमिषारण्य निवासी देवीसिंह के आदेश से 'भू परिक्रमा' की रचना की।

३ १४०२ १४०४ ई० के मध्य इब्राहीम ने कीर्तिसिंह को मिथिला का राज्य दिया उसी समय विद्यापति ने 'कीर्तिलता' की रचना की।

४ १४१० ई० में विद्यापति के आदेश से 'काव्य-प्रकाश विवेक' की टीका की गई।

५ १४१० १४१४ ई० के मध्य शिवसिंह के राज्यकाल में इन्होंने दो सौ पदों की रचना की।

६ १४१८ में द्रोणवार के अधिपति पुरादित्य के आश्रय में राजबनौली में इन्होंने 'लिखनावली' की रचना की।

७ १४२८ में 'भागवत' की अनुलिपि की।

८ १४३०-४० के बीच पद्म सिंह और विश्वास देवी के नाम से एक पद और 'शैव सर्वस्वसार' तथ 'गंगा वाक्यावली' की रचना की।

९ १४४०-६० ई० के मध्य 'विभाग सागर', दान वाक्यावली और 'दुर्गाभक्ति तरंगिणी' की रचना की।

१० सन् १४६० ई० में स्मृति के अध्यापक के रूप में ब्राह्मणसर्वस्व का अध्यापन किया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में विद्यापति के समय का निर्धारण करते हुए यह कहा है कि विद्यापति शिवसिंह के अति निकट सम्पर्क में थे। शिवसिंह का राज्याभिषेक सन् १४०१ के लगभग हुआ। अतः विद्यापति की जन्म तिथि १३५०-६१ के मध्य निर्धारित होती है।

विद्यापति की रचनायें

(क) कीर्तिलता —इस कृति की भाषा 'अवहट्ठ' है जिसे विद्यापति ने 'देसिल बअना' कहा है।[1] असलान ने कीर्तिसिंह के पिता राय गणेश्वर की हत्या कर मिथिला पर अधिकार कर लिया। कीर्तिसिंह और वीरसिंह ने जौनपुर के सुल्तान की सहायता से असलान से पितृवध का प्रतिशोध लिया तथा मिथिला का उद्धार किया। यही इस कृति की कथा है। काव्य-रूप की दृष्टि से यह प्राकृत-अपभ्रंश के चरित काव्यों की परम्परा की कृति है।[2] विद्यापति ने इसे 'पुरुष कहानी' कहा है—

---

१ सक्कय वाणी बुहअन भावइ।
पाउँअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा।
तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा।
कीर्तिलता प्रथम पल्लव।

२ 'इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि विद्यापति की कीर्तिलता में उस समय के देश भाषा साहित्य के युगानुसार पुरुष चरित-काव्यों के अनेक लक्षण मिलते हैं, यह पुस्तक उस युग के युगानुरूप पुरुष चरित काव्यों में सब से अधिक प्रामाणिक है।' हिन्दी साहित्य का आदिकाल। पृ० ६४।

पुरुष कहाणी हौं कहउँ जसु पत्थावे पुन्न।
पुरुस सुभोजन सुभवअन दिअहा आइ सुपुन्न।—कीर्तिलता—प्रथम पल्लव।

इस प्रकार 'कीर्तिलता' एक ऐतिहासिक चरितकाव्य है। अपभ्रंश चरित काव्यों के कतिपय तत्व इस कृति में उपलब्ध हो जाते हैं। श्रोता-वक्ता के माध्यम से कथा कहने की परम्परा अपभ्रंश चरित-काव्यों की प्रमुख विधा है। इसका उल्लेख पिछले पृष्ठों में हो चुका है। 'कीर्तिलता' में भी कथा श्रोता वक्ता की बातों के माध्यम से प्रस्तावित और विकसित है। भृंगी प्रश्न करती है और उत्तर में भृंग कथा कहता है। यथा

'भृंगी पुच्छइ भिंग सुन की संसारहि सार'।

भृंग उत्तर देता है—'मानिनि जीवन मानसओ वीर पुरुस अवतार' अर्थात् 'मानिनि! मान के साथ जीवित रहना और वीर पुरुष का जन्म लेना।' भृंगी पुनः जिज्ञासा करती है—'वीर पुरुस कइ सम्भिवइ ताहु न जम्पइ नाम, जइ एँ च्छाहे पुर कहहि हओ आकण्णइ काम'—नाथ यदि कहीं वीर पुरुष जन्मा हो तो आप नाम क्यों नहीं लेते? यदि उत्साह पूर्वक कहें तो मैं सुनकर तृप्त होऊँ।' भृंग पुनः उत्तर में कहता है—

पुरुस हुअउँ बलिराजे जासु कर कम्म पसीअ
पुरिस हुअउँ रघुतनअ जेन बले रावण मारिअ।
पुरिस भगीरथ हुअउँ जेन्ने निअ कुल उद्धरिअउँ,
परसुराम अइ पुरिस जेन्ने खत्तिअ कुल करिअउँ।
अइ पुरुस पसंसओ राय गुरु किर्त्तिसिंह गअनेसमुअ
जे सत्तु समर सम्महि पलवप्प वैर उद्धरिअ धुअ।

'पुरुष राजा बलि हुए, जिनके आगे विष्णु ने हाथ फैलाया। पुरुष रामचन्द्र हुए, जिन्होंने शक्ति से रावण का वध किया। पुरुष राजा भगीरथ हुए जिन्होंने अपने कुल का उद्धार किया। परशुराम पुरुष थे जिन्होंने क्षत्रियों का नाश किया। और पुरुष राजश्रेष्ठ गणेश्वर के पुत्र कीर्तिसिंह हैं जिन्होंने शत्रुओं का मानमर्दन कर युद्धभूमि में अपने पिता का प्रतिशोध किया। इसके पश्चात् कथाक्रम से चलती है। द्वितीय तृतीय और चतुर्थ पल्लवों में क्रमशः इसी क्रम में भृंगी प्रश्न करती

है, तथा उत्तर में भृंग कथा कहता है। इसके पश्चात् कवि सज्जन प्रशंसा और दुर्जन निन्दा करता है।

हे भौंरि भवम्मो किव्वहि कए महुसमो कव्व
बाल खेला सुन बुज्झिहइ सुअण पसंसइ सव्व

× × ×

अवसओ चिन्तइ चित्त भमइ अमिअ बिन्दुक्का चन्द
सज्जन चिन्तइ मनहि मने चित्त करिअ सब कोए
जेम महुअर गुंजइ कइ कुसुम बैरि न होए।

'यदि मेरा साधारण काव्य ख्याति प्राप्त करेगा तो यह मेरा सौभाग्य है। बाल इसे क्रीड़ा-कौतुक की वस्तु समझ कर इसकी निन्दा करेंगे। सुजन इसकी प्रशंसा करेंगे। चिन्ता बिना उत्कण्ठित करता है। चन्द्रमा अमृत वर्षा करता है। सज्जन सब को मित्र समझ कर सब की शुभकामना करता है। मेरी कृति का अनुवादन करने वाला दुर्जन मेरा शत्रु नहीं है।'

'कीर्तिलता' में गद्य के अतिरिक्त पद्य का प्रयोग भी किया गया है। अतः इसे संस्कृत के चम्पू काव्य के सन्दर्भ की कृति भी कह सकते हैं। अपभ्रंश के दोहा, रड्डा, छप्पय छन्दों के अतिरिक्त इसमें गीतिका, भुजंग प्रयात, आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। इस कृति में संस्कृत और प्राकृत के अंश भी मिलते हैं। इन दृष्टियों से यह आदिकालीन साहित्य की प्रतिनिधि रचना है।

अपनी परम्परा के अन्य चरित काव्यों की अपेक्षा 'कीर्तिलता' पूर्णरूप से इतिहाससापेक्ष कृति है। युग का सामान्य जीवन इस कृति में प्रतिबिम्बित है। राजा गणेश्वर की मृत्यु के पश्चात् मिथिला में अराजकता आ गई। इसका उल्लेख इस अंश में मिलता है —

ठक्कुर ठक भए गेल्ला चोरें चप्परि घर लिज्झिअ।
दास गोसाञनि गहिअ धम्म गए धन्ध निमज्जिअ।
अक्खर रस बुज्झनिहार नहि कइ कुल भमि भिक्खारि भउ।
तिरहुति तिरोहिअ सब्ब गुणे रा गणेस जबे सग्ग गउ॥

गणेश्वर की हत्या के पश्चात् असलान को परिताप हुआ। उसने गणेश्वर का राज्य उसके पुत्रों को देना चाहा। परन्तु शत्रु की कृपा से अपनी प्रतिष्ठा नहीं मानते थे। माता मंत्री तथा अन्य गुरुजनों ने राज्य को स्वीकार करने का उपदेश दिया, परन्तु राजकुमारों के सम्मुख एक आदर्श था—

माता भणइ ममत्तवइ मन्ती रज्जइ नीति।
मज्झु पियारी एक्क पइ वीर पुरिस को रीति।
मान बिहूना भोअना सत्तुक देअल राज।
सरण पइट्ठे जीअना तिनिउ कायर काज।

'कीर्तिलता' आदिकालीन साहित्य में वीर काव्य-धारा की प्रतिनिधि रचना है। विद्वानोंने इसे विद्यापति की प्रथम रचना के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु काव्य-रूप, अभिव्यञ्जना प्रणाली और भाषा के आधार पर यह कवि की प्रौढ़ कृति है।

(ख) कीर्तिपताका कीर्तिलता के समान यह कृति भी अवहट्ठ की रचना है। इसकी एक खण्डित प्रति नेपाल दरबार पुस्तकालय में सुरक्षित है। अतः इसके सम्पूर्णरूप पर विचार करना सम्भव नहीं लगता। इस कृति का मुख्य उद्देश्य शिवसिंह का कीर्तिवर्णन लगता है। संस्कृत श्लोक के अतिरिक्त इसमें गद्य के अंश भी मिलते हैं। शिव तथा गणेश की वन्दना के पश्चात् कृति आरम्भ होती है—

पञ्चिम मधपाक्षि बड़पुषे मीयम कीर महेन।
वाणी मधुर मधुप्प रस विमउ सुमन सवक्षेम।

कवि ने शिव सिंह का युद्धवर्णन जिन पंक्तियों में किया है उनमें एक अंश यहाँ दिया जाता है—'कम्म देखी व्यवहार लोक नहि, मरइ पर भेद। छत्रकों पर उत्साह पकडि धनि कम्पिय। बाहर बाजे दलइ। दारिद् लग्नोपरि पडी लम्बिअ।

" इस रचना में शृंगार कतिपय पद आकर्षक हैं। युद्धवर्णन के पश्चात् निम्नलिखित अंश है—

एवं श्रीशिवसिंह देव नृपते सम्राज्यमार्त यशो
मायन्ति प्रतिपत्तनं प्रतिदिशं प्रत्येयणं सुभ्रुवः।

(ग) गोरक्षविजय: यह एक अंक की नाटक कृति है। इसके कथोपकथन संस्कृत और प्राकृत में हैं। गीत मैथिली में हैं। इस ग्रन्थ की मूल भाव भूमि गोरक्ष-मत्स्येन्द्र

कता है। अर्धनारी नटेश्वर की वन्दना से नाटक का आरम्भ होता है। इसकी एक मात्र खण्डित प्रति नेपाल-दरबार-पुस्तकालय में सुरक्षित है। बारह पन्नों में यह कृति लिखित है। उसमें १-७ संख्या के पत्र नहीं हैं। ८,९ ११ १२ पन्नों में एक-एक पंक्ति ही है। (देखिए विद्यापति पदावली, पृ० ७४)।

'भूपरिक्रमा' 'पुरुष परीक्षा' 'लिखनावली', 'शैवसर्वस्वसार' 'गंगावाक्यावली' 'दुर्गा भक्ति तरंगिणी', 'गयापत्तलक' 'वर्षकृत्य' 'मणिमञ्जरी' आदि विद्यापति की संस्कृत की रचनायें हैं। 'भूपरिक्रमा' की रचना देवसिंह की आज्ञा से नैमिषारण्य में हुई। 'पुरुष परीक्षा' 'पञ्चतंत्र' और 'हितोपदेश' आदि के सन्दर्भ की रचना है। इस ग्रन्थ का प्रणयन शिवसिंह की प्रेरणा से हुआ था। 'लिखनावली' में पत्र-लेखन परिपाटी का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। 'शैव सर्वस्वसार' की रचना पद्मसिंह की पत्नी विश्वासदेवी की अभिलाषा से हुई। 'गंगा वाक्यावली' में गंगा के स्मरण-कीर्तन से सम्बन्धित रचनायें हैं। 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' में दुर्गोत्सव सम्बन्धी रचनायें हैं। 'वर्षकृत्य' में पर्वों का विधान है। 'मणिमञ्जरी' एक नाटिका है।

(५) पदावली —विद्यापति के पद लोकजीवन में प्रचलित हैं। परवर्ती काल में विद्यापति की भाषा-शैली के अनुकरण पर अनेक पदों की रचना हुई है। अतः इन पदों में से विद्यापति के पदों को पृथक कर लेना सरल नहीं है। विद्यापति के पद प्रायः लोककण्ठ से संगृहीत हैं। नेपाल और मिथिला से जो प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं उनका अनुलेखन विद्यापति के अनेक वर्षों पश्चात् हुआ है। अतः इन पदों की भाषा और उनके स्वरूप में अनेकरूपता मिलती है। परन्तु कतिपय हस्तलिखित प्रतियाँ प्राचीन हैं, तथा इनके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि इनके लिपि-बद्ध करने की योजना विद्यापति के निकट-परवर्ती काल में हुई होगी। इन पदों में भाषा का प्राचीन रूप भी उपलब्ध हो जाता है। नीचे महत्वपूर्ण प्रतियों और सम्पादनों का उल्लेख किया जाता है।

(क) नेपाल पदावली —यह पदावली नेपाल दरबार पुस्तकालय में सुरक्षित है। इसकी लिपि प्राचीन मैथिली है। इसमें विद्यापति के अतिरिक्त अन्य कवियों के पद भी संकलित हैं। अनेक पदों में किसी कवि के नाम का उल्लेख नहीं मिलता है। श्री सुभद्र झा ने इसके आधार पर 'विद्यापति गीति संग्रह'

(Or The Songs of Vidyapati Motilal Banarasi Da. १९५४), का सम्पादन किया है। इसके पूर्व नगेन्द्रनाथ गुप्त और खगेन्द्र मित्र तथा विमानबिहारी मजूमदार ने भी विद्यापति-पदावली का सम्पादन किया है। (ख) विद्यापति के पदों का एक संकलन 'रामभद्र-पदावली' के नाम से विख्यात है। रामभद्रपुर (दरभंगा) से प्राप्त होने के कारण यह प्रति इस नाम से विख्यात है। यह प्रति खण्डित है। पत्र संख्या १० के पूर्व का अंश उपलब्ध नहीं है। अन्तिम पत्र की संख्या १२१, और अन्तिम पद संख्या ४१८ है। (ग) विद्यापति के पदों का एक संग्रह 'तरौनी-पदावली' के नाम से विख्यात है। नगेन्द्रनाथ गुप्त ने अपने सम्पादन में इसका प्रयोग किया है। मैथिली कवि लोचन कृत 'रागतरंगिणी' में विद्यापति के ५१ पद संकलित हैं। 'विद्यापति-पदावली' के प्रथम सम्पादक नगेन्द्रनाथ गुप्त ने अपने संस्करण में इन पदों का प्रयोग किया है।

महाप्रभु चैतन्य के अनुगामियों ने कीर्तन के रूप में विद्यापति के पदों को विस्तार दिया है। वैष्णव पदावलियों में विद्यापति के पदों के कुछ न कुछ अंश उपलब्ध हो जाते हैं। 'पदामृत समुद्र' 'पदकल्पतरु', 'संकीर्तनामृत' तथा 'कीर्तनानन्द' आदि संग्रहों में विद्यापति के पद उपलब्ध हो जाते हैं। परन्तु वैष्णव पदावलियों में उपलब्ध विद्यापति के पद नेपाल या मिथिला की प्राचीन पांडुलिपियों में नहीं मिलते हैं।

विद्यापति के पदों का भावपक्ष

विद्यापति के पदों की मुख्य संवेदना शृङ्गार-मूलक' है जिसमें कृष्ण राधिका लौकिक आलम्बन के रूप में ही गृहीत हैं। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में कृष्ण-काव्य में एक नवीन भावधारा की उद्भावना जयदेव द्वारा हुई। जयदेव के गीतगोविन्द' में राधा-कृष्ण की प्रेमलीलायें लौकिक धरातल पर प्रस्तुत हुई हैं। इन पदों की परम्परा संस्कृत में नहीं मिलती है। यह अपभ्रंश-अवहट्ठ काल में विकसित लोककाव्य-रूप है। जयदेव ने संस्कृत में इस लोक-काव्य-शैली का अभिनव प्रयोग किया है। अतः रीति शिल्प की दृष्टि से जयदेव समस्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के साहित्य के आदि कवि हैं। जयदेव[1] की राधा-कृष्ण विषयक

---

[1] जयदेव बारहवीं शताब्दी उत्तरार्ध में हुए थे। ये बंगाल के सेन वंश के अन्तिम राजा लक्ष्मण सेन के राजकवि थे।

गीति कविता का अवलम्ब ग्रहण कर हिन्दी, बंगला, मैथिली तथा अन्य भारतीय भाषाओं में राधा-कृष्ण सम्बन्धी गीति कविता-धारा प्रस्फुटित हुई।

इस दृष्टि से विद्यापति के काव्य में राधा-कृष्ण सम्बन्धी भावना का जो स्वरूप मिलता है उसकी एक पूर्व परम्परा है। इनके पदों में कृष्ण-राधिका के अलौकिक स्वरूप का अंकन है इस प्रकार की निश्चयात्मक धारणा बनाने में हम असमर्थ हैं। परन्तु हम इतना विश्वास के साथ कह सकते हैं कि विद्यापति का काव्य एक पूर्व परम्परा का विकसित रूप है जिसका धरातल सर्वथा लौकिक है। वैष्णव धर्म, दर्शन और साहित्य में भी राधा-कृष्ण की प्रेमलीलाओं के वर्णन का एक निश्चित रूप मिलता है। आलवार भक्तों के गीतों में भी कृष्ण राधिका की प्रणय संवेदना का भाव मिलता है। साथ-ही-साथ हाल के संकलन 'गाहा सत्तसई' में राधा-कृष्ण की प्रेमलीलाओं से सम्बन्धित अंश मिलते हैं। 'कवीन्द्र वचन समुच्चय' में राधा-कृष्ण विषयक कतिपय पद संगृहीत हैं। इन पदों में व्यञ्जित भाव, रस और अभिव्यञ्जना विधा के दर्शन हम परवर्ती काल में केवल विद्यापति में ही नहीं अपितु उनके पश्चात् के अन्यान्य कवियों में भी पाते हैं—उदा०

> कोऽयं द्वारि हरिः प्रयाह्युपवनं शाखामृगेणात्र किं
> कृष्णोऽहं दयिते बिभेमि सुतरां कृष्णः कथं वानरः।
> मुग्धेऽहं मधुसूदनो व्रज लतां तामेव पुष्पासवाम्—
> मित्थं निर्वचनीकृतो दयितया ह्रीणो हरिः पातु वः।

अर्थात्—'द्वार पर कौन है 'हरि' (कृष्ण, बन्दर)। 'उपवन में जाओ शाखा मृग की यहाँ क्या आवश्यकता है ? 'हे दयिते! मैं कृष्ण हूँ। अतः और भय लग रहा है, कपि कृष्ण वर्ण कैसे हो सकता है ?' 'हे मुग्धे, मैं मधुसूदन हूँ (मधुकर हूँ) 'तब पुष्पित लता के पास जाओ'। प्रिया के पास इस प्रकार निर्वचनी हत होकर लज्जित हरि हमारी रक्षा करें। इसके अतिरिक्त अनेक सुभाषितों में राधिका-कृष्ण की प्रणयलीलाओं से सम्बन्धित पदों में पार्थिव शृङ्गार का रसात्मक स्वरूप उपलब्ध होता है।

> मया अन्विष्टो धूर्तः स सखि निखिलामेव रजनीम्
> इह स्यादत्र स्यादिति निपुण मया आमभिमृशत्।

न द्रष्टो माधवीरे तटभुवि न गोवर्धनगिरे
र्न कालिन्दया (कूले) न च निभृत कुंजे मुररिपु ।

अर्थात् सखि मैंने सम्पूर्ण निशा उस धूर्त की खोज की—वह इस स्थान पर हो सकता है उस स्थान पर हो सकता है। निःसन्देह उसने अन्य गोपी के साथ अभिसार किया है। मुररिपु को मैंने वट वृक्ष के नीचे नहीं देखा कालिन्दी के कूल पर भी नहीं देखा वेतस कुंज में भी नहीं देखा।' इस प्रकार लीलाशुक बिल्वमंगल ठाकुर की कृति 'कृष्णकर्णामृत' नामक ग्रन्थ में राधा-कृष्ण की प्रणय लीलाओं का वर्णन लौकिक धरातल पर मिलता है। बारहवीं शताब्दी में श्रीधरदास की कृति 'सदुक्तिकर्णामृत' में कृष्ण-राधा की प्रणय सम्बन्धी रचनायें हैं। विद्यापति पर इन दोनों ग्रन्थों का प्रभाव परिलक्षित है। इसके अतिरिक्त जयदेव के काव्य में कृष्ण नायक और राधिका नायिका के रूप में प्रतिस्थापित हैं। यही नहीं, जयदेव के समकालीन अन्य कवियों में भी इसी प्रकार की भाव भूमि मिलती है। उमापतिधर शरण गोवर्धनाचार्य आदि समकालीन कवियों में एक ही प्रकार की भावधारा मिलती है। उदाहरण के लिये उमापतिधर से एक अंश यहाँ प्रस्तुत किया जा सकता है—

भ्रूवल्लीचलनैः कयापि नयनोन्मेषैः कयापि स्मित—
ज्योत्स्नाविच्छुरितैः कयापि निभृतं सम्भावितस्याध्वनि ।
गर्वोद्‌भेदकृतावहेलविनयश्रीभाजि राधानने
सातङ्कानुनयं जयन्ति पतिताः कंसद्विषो दृष्टयः ।

कतिपय गोपी भौंहों से, कतिपय गोपी नयनों से कतिपय गोपी मुस्कान की चन्द्रिका प्रसारित कर कृष्ण का स्वागत कर रही है। 'कवीन्द्र वचन समुच्चय' में और 'सदुक्तिकर्णामृत' में अनेक सन्दर्भ मिलते हैं, जिनमें राधा-कृष्ण की प्रणय लीलाओं के सन्दर्भ में वचन-भंगिमा के उदाहरण हैं।

कस्त्वं भो निशि केशवः शिरसिजैः किं नाम गर्वायसे
भद्रे शौरिरहं गुणैः पितृगतैः पुत्रस्य किं स्यादिह ।
चक्री चन्द्रमुखी प्रयच्छसि न मे कुण्डीं घटीं दोह्निनीं—
मित्थं गोप वधूहृतोत्तरतया दुःस्थो हरिः पातु वः ।

अर्थात्, 'इस तिमिर निशा में तुम कौन (आए) हो' ? उत्तर, 'मैं केशव हूँ' '(केश युक्त) केशों के हेतु अभिमान क्या ? 'मुग्धे मैं शौरि हूँ' । (श्लेष—शूर का पुत्र) 'यहाँ पिता के गुण नाम से पुत्र का क्या हित, 'हे चन्द्रमुखी मैं चक्री हूँ (श्लेष-कुम्भ कार) 'सुन्दर तुम मुझे घट दुग्ध-पात्र क्यों नहीं देते ?' गोप-वधुओं के उत्तर से विस्मित कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें । इस प्रकार आळवाँ शताब्दी तक प्रेममूलक और शृंगार प्रधान कविताओं में राधाकृष्ण लौकिक आलम्बन के रूप में ही ग्रहण किये गये । विद्यापति के पदों में इसी मूल भावना को ग्रहण किया गया है । इस प्रकार की वचन भंगिमा विद्यापति के पदों में भी मिलती है ।

जिस परम्परा की चर्चा हम कर रहे हैं उसमें राधाकृष्ण सम्बन्धी पदों में अध्यात्म का स्वर ही प्रधान है, इस प्रकार के निर्णय में संकोच होता है । 'कृष्ण कर्णामृत' में धर्म भावना के दर्शन यत्र-तत्र मिल जाते हैं परन्तु जयदेव के 'गीत गोविन्द' में इस प्रकार की भावना नहीं मिलती है । अपने काव्य के प्रारम्भ में जयदेव ने कहा भी है —

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो
यदि विलास कलासु कुतूहलम् ।
मधुर कोमल कान्त पदावलीं
शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम् ।

'यदि हरि-स्मरण से मन रस-युक्त रखना चाहते हैं, तथा यदि विलास-कलाओं के प्रति उत्सुकता हो तो जयदेव की भारती की कोमलकान्त पदावली सुनें ।' तात्पर्य यह कि जयदेव में 'विलास-कलासु-कुतूहलम्' की भावना ही अति प्रेम धाम है । विद्यापति के काव्य में भी विलास-कुतूहल' की भावना की प्रबलता है ।

अतः अपनी पूर्व परम्परा के अनुसरण में ही विद्यापति की भावनाओं ने पूर्ण रूप धारण किया है । इस प्रकार विद्यापति के काव्य में राधा-कृष्ण के प्रेम की भावना का विकास जयदेव के माध्यम से ही हुआ लगता है । इसमें आध्यात्मिक या अलौकिक व्यक्तित्व के विपरीत लोक जीवन में शृंगार लीलाओं को मानवीय धरातल की संस्थापना मिलती है । राधाकृष्ण की शृंगार-लीलाओं के माध्यम से साधारण व्यक्ति की प्रणय एवं शृंगार भावना के अंकन की प्रवृत्ति 'अमरुशतक' और 'गाहा सत्तसई' में प्रतिबिम्बित मिलती है । अतः संस्कृत

और प्राकृत वाङ्मय की समग्रता को आत्मसात करते हुए विद्यापति ने राधा कृष्ण से सम्बन्धित पदों की रचना की है। शृंगार भावना की दृष्टि से विद्यापति के पदों को तीन वर्गों में विभक्त करते हैं।

(१) प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वे पद आते हैं जिनमें परकीया प्रेम निरूपण की चेष्टा मिलती है। राधा इन पदों में परकीया के रूप में गृहीत है।

(२) द्वितीय वर्ग में नागरिक प्रेम सम्बन्धित पद आते हैं। आलोचकों की यह धारणा है कि विद्यापति के काव्य की मूल भावना इन्हीं पदों में व्यक्त है।

(३) तृतीय वर्ग उन पदों का है जिनमें आध्यात्मिक प्रेम का वर्णन है। इस सन्दर्भ में विद्यापति को भक्त कवि के रूप में ही देखा गया है। ग्रियर्सन ने[1] विद्यापति की विवेचना एक भक्तकवि के रूप में ही की है। विद्यापति के काव्य की विवेचना के सन्दर्भ में नगेन्द्रनाथ गुप्त ने विद्यापति के पदों में राधा और कृष्ण को जीवात्मा और परमात्मा का प्रतीक माना है। विद्यापति के निम्नलिखित पद की व्याख्या के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

रजनि काजर बम भीम भुजंगम
कुलिश पड़ए दुरबार।
गरज तरज मन रोस बरिस घन
संसय पड़ अभिसार।
चरन बेरल फनि, हित कय मानल धनि
नेपुर न करए रोल।
सुमुखि पुछौ तोहि, सरूप कहसि मोहि
सिनेह कतए दुर ओल ?

इस अंश में वर्णित पथ की बाधाओं को आलोचक ने आत्मा के सम्मुख उपस्थित सांसारिक बाधाओं का प्रतीक माना है। परन्तु इस प्रकार के विवेचन

---

1 But his (Vidyaptus) chief glory consists in his matchless sound (Padas) in the Mathili dialect dealing allegori cally with the relation of soul to god under the form of love whith Radha bore to Krishna—Modern Vernacular Literature of Hindusthan ppo 910

से वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है। वस्तुतः यह अभिसारिका का वर्णन है। इस प्रकार के वर्णन में अभ्यास के दौरान की भावना आरोपित वस्तु होगी। अभिसारिका वर्णन के सन्दर्भों में प्राचीन कवियों में निरन्तर इस प्रकार की भाव योजना मिलती है। ऐसे अनेक सन्दर्भ मिलते हैं, जिनमें अभिसार के लिये उत्सुक राधा (नायिका) अनेक विघ्न-बाधाओं का अतिक्रमण करती हैं। यथा—

मार्गे पंकिनि तोयदान्धतमसे निःशब्द संचारकं
गन्तव्या दयितस्य मेऽद्य वसतिर्मुग्धे चेति कृत्वा मतिम्।
आजानूद्धृतनूपुरा करतलेनाच्छाद्य नेत्रे भृशं
कृच्छ्राल्लब्धपदस्थिति स्वभवने पन्थानमभ्यस्यति।

कवीन्द्र वचन समुच्चय

नायिका सोचती है—पंकिल पथ पर मेघ की कालिमा के आवरण से निःशब्द चरण करते प्रिय के यहाँ जाना होगा इस प्रकार मुग्धा नूपुर को घुटनों तक उठाकर नयनों को हाथों से छिपा कर, कष्ट से पदों को नियन्त्रित कर मार्ग चलने का अभ्यास कर रही है। इस प्रकार अभिसार से सम्बन्धित पदों की एक निश्चित परम्परा मिलती है। अनेक पदों में गहन तम के मध्य राधिका दुर्गम पथ की चिन्ता न करते हुए भी अभिसार के लिये जाती हैं। इस प्रकार के सन्दर्भ को ग्रहण करते हुए विद्यापति अभिसार की ओर अग्रसर होनेवाली नायिका राधा) का रूप वर्णन करते हैं और उसके मनोभावों का अंकन करते हैं। अभिसारिका के लिये पथ की गोपनीयता अपेक्षित है। विद्यापति की नायिका अपने को गोपन रखने की चेष्टा में विशेष प्रकार के प्रसाधनों को धारण करती है। वह नूपुरों का परित्याग कर देती है, पीत वसन धारण कर लेती है, तथा अभिसार को जाती है—

नूपुर रसना परिहर देह
पीत वसन है युवति विधि लेह
छिटिका छिलमे हाएत हास
नहि पए होएत काम्हूक वास
गमन करह सनि वल्लभ गेह
अभिमत होएत सति इथि न सन्देह।

कवि अभिसारिका के मनोभावों और आन्तरिक व्यापारों का अङ्कन करता है। अभिसार भावों से परिपूर्ण नायिका के लास्यपूर्ण हृदय-गत भावों का अङ्कन विद्यापति ने नैसर्गिक रूप से किया है। अनुराग से प्रेरित और मदन से आकर्षित नायिका का चित्रण प्रस्तुत अंश में देखिए—

गुरुजन नयन पगारि परम जमों
सुन्दरि सत्तरि चललि
अम्बर सकल विभूषन सुन्दर
मन्थर तिमिर सामरी
केहु कतहीं पथ जबहिं न पारिअ
चलि मसि बुड़लि भमरी।

अभिसार के लिये उत्सुक नायिका मानसिक चिन्ता में है। वह देखती है कि यदि नभ में आ गया है। उसके मन की अभिसार-भावना जाग्रित होने लगती है। अभिसार भावना से उत्सुक होकर नायरी अङ्गराग से अपना रूप कर रही है। उत्सुकता से पश्चिम दिशा की ओर रह-रह कर देख रही है। मार्ग में उसकी गोपनीयता भंग न हो इस हेतु वह नुपुरों को पटों में ढक कर रही है। वह कृष्णवर्णी आवरण धारण कर रही है। यथा—

चरण नुपुर उपर सारी
मुखर मेखल करे निवारी
अम्बरे सामर देह झपाई
चलहि तिमिर-पथ समाई।

१६४।२११

अभिसार में विलम्ब होने पर सखी जिज्ञासा करती है—

चरि तोरा नहिं कम नहिं अवकाश
परेक जतन कते देह विसवास।

उत्तर में नायिका कहती है—

करजोरि पैंया परि कहमि विनती
बिसरि न हलबिए पुरुब निरिती।
प्रथम पहर राति रमसै गहला
दोसर पहर परिजन निन्द भेला
निन्द निरपतात भेल अधिरात
तावत उमत चन्दा परम कुवाति।

अभिसार के सन्दर्भ में सखियाँ दूती की भूमिका धारण करती हैं। प्रेममूलक काव्य में दूती प्रसंग का अविरल प्रयोग सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में किसी न किसी रूप में सन्नेष होता रहा है। ऐसे अनेक सन्दर्भ मिलते हैं जिनमें नायिका की ओर से दूती नायक के निकट जाकर नायिका की व्यग्र अवस्था का वर्णन कर, उसे नायिका की ओर आकर्षित करती है। 'गाहा सत्तसई' तथा इस संदर्भ की अन्य कृतियों से इस प्रकार के अनेक सन्दर्भ प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यथा०—

ण मुअन्ति दीहसासं ण रुअन्ति चिरं ण होन्ति किसिआओ।
धण्णाओ ताओं जाणं बहु वल्लहो ण तुमम् ॥

अर्थात् (जो) दीर्घ निःश्वास नहीं लेती है, विलम्ब तक नहीं रोती हैं जिन की काया विरह में (क्षीण) नहीं होती वे भाग्यवती है—ऐसी नारियों के तुम्हें तुम वल्लभ नहीं हो। इस प्रकार दूती प्रसंग से प्रणय-अनुनयन और विरह निवेदन की प्रणाली की एक सुनिश्चित परम्परा मिलती है। अपने पदों में विद्या पति इसी परम्परा के कवि हैं। विद्यापति की एक दूती नायक के सम्मुख नायिका की अवस्था का वर्णन कर के उसमें रति भाव जाग्रत करती है 'वर्षा की रात्रि है और (वह) कोमल कामिनी है। अन्धकार भय उत्पन्न कर रहा है। मार्ग निशाचरों से पूर्ण है, वर्षा अनवरत हो रही है। हे माधव वह प्रथम परि चय से डरती है। अतः स्वयं जाकर उसे देखिए, और अनुकूल व्यवहार करिए। बीच में अथाह रूप धारण कर यमुना नदी प्रवाहित है। वह किस प्रकार उसे पार कर आ सकती है? सुरत रस और सुखेलन बहुत—ये सभी उसके लिए सराहनीय हैं। मन में ये सारी बातें समझ कर भी तुम मुग्धी से विमुख हो रहे हो? तुम्हारे मन में लज्जा नहीं आ रही है? मधु को स्वयं मधुकर के समीप जाते देखा है'?

यामिनि कामिनि कोमल कामिनि
दारुण अति अन्धकार
पथ निशाचर सहजे सुसचर,
घन घर जल धार ॥ध्रु० ॥
माधव प्रथम नेहे से भीती

गए अपनीहि से अवलोकिअ
करिअ तैसनि रीति।
अति मयामुनि आदर अनुनि
ऐसे कए अउति पार
सुरत रस सुषेदन बासमु
ता पति संब असार
एत गुनि मेन विमुख सुमुखि
तोह भने नहि काज
कवए देपल मधु अपने
आ मधु कर समाज ॥
भने विद्यापती त्यादि १२।२।

इस सन्दर्भ के अनेक पदों में नायक की दूती नायिका में नायक के प्रति आकर्षण और रतिभाव जाग्रत करती है। एक सन्दर्भ में दूती कहती है 'अन्य कलावती युवतियाँ हैं, परन्तु वह तुम्हें ही दूसरे प्राण की तरह मानता है। तुम्हारे दर्शन के बिना वह क्षण-मात्र भी जीवित नहीं रह सकता है। वह कितनी दारुण मदन-व्यथा सहन करेगा? अरी गुणवती और पुण्यवती रमणी सुनो! विलम्ब मत करो बसन्त ऋतु की रात छोटी होती है। नील परि धान, तुम्हारे शरीरका वर्ण अन्धकार में चन्द्रमा या विद्युत तरंग हो। तुम्हारा मुख पूर्ण चन्द्रमा के समान है। इससे हुए चन्द्रमा का अमृत पान चकोर करेगा।

कत अम युवति कलामति जाने
तोहि मानए अनि दोसरि पराने।
तुअ दरसन बिनु तिलओ न जिवए
दारुन मदन वेदन कत सहए। ध्रु०।
सुन सुन गुनमति पुनमति रमनी
न कर बिलम्ब छोटि मधुक रजनी।
सामर अम्बर तनुक रङ्गा
तिमिर मिलओ ससि तुलित तरंगा॥
सपुन सुधाकर आनन तोरा॥

विरत अभिम हृदि चन्द अजोग।
भनहि विद्यापति इत्यादि ।।६।१५।

इस प्रकार की अनेक उक्तियाँ संस्कृत और प्राकृत काव्यों में उपलब्ध हैं। विद्यापति इन उक्तियों से भली भाँति परिचित थे। अपने पदों में इनका प्रयोग इन्होंने अति सूक्ष्म स्वरूप में किया है। अतः अभिसार तथा दूती प्रसंग में विद्यापति पूर्णतः लौकिक धरातल पर अवस्थित हैं। 'सदुक्तिकर्णामृत' में 'दिवसाभिसार' 'तिमीराभिसार' 'ज्योत्स्नाभिसार' आदि से सम्बन्धित श्लोक मिलते हैं। विद्यापति इन सन्दर्भों से संस्पर्शित हैं। उनकी नायिका अलौकिक राधिका नहीं है। अतः इस प्रकार के वर्णनों पर भक्ति भावना के आरोपण से विद्यापति के काव्य की मूल चेतना का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के निष्कर्ष से हम विद्यापति को उन सन्दर्भों से वंचित कर देते हैं जिनका उल्लेख विद्यापति के ऐतिहासिक मूल्यांकन की दृष्टि से इन पृष्ठों में किया गया है।

विद्यापति शृंगार के कवि हैं। 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' 'सुभाषितावली' 'सदुक्ति-कर्णामृत' 'सूक्ति मुक्तावली' और 'शार्ङ्गधर पद्धति' के श्लोकों में वर्णित भावों के अनुकूल विद्यापति के पदों में नारी-सौन्दर्य और शृंगार की भाव योजना मिलती है।

'गाहा सतसई', 'कविवचन समुच्चय' 'सुभाषितावली' 'सूक्तिमुक्तावली तथा 'शार्ङ्गधर पद्धति' में नायिका की वयःसन्धि के अनेक वर्णन मिलते हैं। विद्यापति के पदों में वय सन्धि के चित्र इन रचनाओं में उपलब्ध वयःसन्धि के चित्रों से भिन्न नहीं हैं। तुलना के लिए यह श्लोक देखें—

यते वास्येवेत कुसुमधनुषा सायकत्वं
अवाङ्गीक्येवास्या स्तनमुपगमुन्मिलिन्द्रियमितु।
तपस्या भ्रूलती चलति चपलं कर्णकुहरं
दृशं कामं मुग्धा वलितलनितं योगितवान। शतानन्द।

इसी सन्दर्भ में विद्यापति के कतिपय पदों को उपस्थित किया जा सकता है।

सेसव धापु बहीरि फेवायस
यौबने गहुक पास
जेश्रो बिधु धनि विरह बोलए
से सेश्रो सुधासम भास ॥
जौवन सेसव खेदए कागस
छाडि बेहे मोर ठाम
एत दिन रस तोहे बिरसल
अवहु नहि विराम ॥
मने विद्यापति इत्यादि ४१६।

सद्यस्नाता के वर्णन में विद्यापति स्वरूप वर्णन के माध्यम से स्नाता का संश्लिष्ट चित्रांकन करते हैं। इस वर्णन में स्थूलता और मांसलता हो सर्वदृष्टियों से प्रमुखता धारण कर गई है।

कामिनि करए सनाने
हेरइते हृदय हरए पचबाने।
चिकुर गलए जलधारा
मुख ससि डरे जनि रोअए अंधारा। प्र०।
तितलबसन तनु लागू
मुनिहुक मानस मनमथ जागू। इत्यादि। ११८।२७२
इस पद के साथ निम्नलिखित पंक्तियाँ तुलनीय हैं—
पत्तनिअम्बफुंसा ण्हाणुत्तिण्णाए सामलंगीए।
जलबिन्दुएहिं चिहुरा रुअन्ति बन्धस्स व भएण ॥६।५५।
गाहासत्तसई।

विद्यापति के पदों में यौवना मुग्धा प्रगल्भा नवोढा खंडिता वासक सज्जा विप्रलब्धा मानिनी आदि से सम्बन्धित वर्णन मिलते हैं। इन्हीं के प्रेम बाहुल्य के वर्णन में पार्थिवता है। इस विरहजन्य आकुलता और चंचलता के अनेक वर्णन इनके पदों में मिलजाते हैं। विदेश गए प्रियतम के लौटने के दिनों की गणना नायिका करती है। गणना की सुविधा के लिए वह भित्ति को चिह्नित करती है—

कातिक मवधि करिय पिय मेल।
सिखाउत काकि मीति मरिगेल ॥

नायिका संकेत पाकर निश्चित स्थान पर आती है। परन्तु स्थान को सूना पाकर वह म्लान हो जाती है। वह कोकिल का शब्द सुनकर और चन्द्रमा के भय से नयनों को भर कर रुदन करती है। अस्त-व्यस्त वसना होकर दिशाओं में उन्मत्त घूमती है। आम्र वृक्ष खिले हैं सौरभ फैल रहा है। नवीन मञ्जरियाँ प्रस्फुटित हैं। कोयल पंचम राग अलाप रही है। इस प्रसंग में प्रोषितभर्तृका समय की गणना कर रही है। भ्रमर मकरन्द पान कर रहे हैं और वर्णन पक्षियों को प्रेम-नाद में मग्न कर रहा है। प्रिया का प्रिय दूर देश में है, प्रिया का मन आतुर है। नायिका दूसरे के माध्यम से सन्देश भेजने का विचार करती है परन्तु वह सोचती है कि पथिक के द्वारा सन्देश भेजना उचित नहीं, कारण वह सन्देश को भूल सकता है। इस प्रकार के मनोभावों को व्यक्त करने वाले अनेक पद हैं। इनमें प्रकृति का वर्णन उद्दीपन रूप में हुआ है। कोकिल-समूह कलरव कर रहा है। काहल बज रहा है। मंजरियों पर भ्रमर गुञ्जार कर रहे हैं। कुञ्जों का वातावरण रसात्मक हो गया है। नायिका का मन म्लान है। प्राण निश्चित के पार प्रिय के समीप हैं परन्तु लज्जा का प्रतिबन्ध है। विरहिणी के मरण निमित्त ऋतुराज प्रकट हो गया है। एक पद में वसन्त की रात का वर्णन है। कामदेव प्रभावात्मकरूप धारण कर रहा है। हंसगामिनी प्रतिदिन क्षिण रहती है। दक्षिण पवन उसे पराजित करता है। भ्रमर-गुञ्जार विषाद बढ़ा रहा है, और अमृत के समान कान्तिवाली मृत्यु के निकट पहुँच रही है। विरहिणी मार्ग देख रही है। प्रिय अवधि भूल गये। उसके नयन-चकोर संचारहीन हो गए। निष्ठुर पुरुष की प्रीति युवती प्राण देकर पार करती है। कामिनी प्रिय की विरहिणी हो गई प्रिया केवल प्रिय की कहानी रह गई। एक पद में विदेश गमनहेतु आतुर प्रिय से आग्रह करती हुई प्रिया कहती है पावस से भयभीत हूँ। मेरी की वाणी में निमग्न अवलम्ब ग्रहण करूँगी। मेरे सुन्दर सुपहु! जिसके आधार पर अवनी पर मैं रहती हैं वह कैसे विदेश जाय!

इस प्रकार विद्यापति के पदों में शृंगार की धारा अनेक रूपों में प्रवाहित है। शृंगार कभी संयोग के सन्दर्भों में और कभी विप्रलम्भ के सन्दर्भों में अपनी अभिव्यक्ति पा जाता है।

कतिपय पदों में नायिका वचन-चतुरा का आकार ग्रहण कर रति आकर्षण और स्नेह आमंत्रण करती है। एक पद में नायक को आकर्षित करने की भावना से नायिका कहती है 'मैं अकेली हूँ, स्वामी गाँव में नहीं है। यहाँ स्थान देने में मुझे संशय हो रहा है। पड़ोसिन के निकट रहने पर अन्यत्र स्थान दिला देती। हे पथिक। अपने मार्ग जाओ। नगर में अन्यत्र स्थान खोज लो। बीच में प्रान्तर है। सन्ध्या का समय है। परदेश में भविष्य को देखकर रहना चाहिए। नभ में मेघ हैं रात का रहस्य है जो करना है उसका निर्णय कर लो।' यथा—

हमें एकसरि पिअतम नहि गाम
तें तरतम कहइते एहि ठाम।
अनतहु जतहु करैतहु वास
दोसर न देखिअ पड़उसिआओ पास। इत्यादि।

१६८।२२७।

आलम्बन की चेष्टाओं के वर्णन तथा मिलन चेष्टाओं के वर्णन-सन्दर्भ में विद्यापति संयोग वर्णन के अन्तर्गत नायक-नायिका के रूप का चित्रण करते हैं। वे आलम्बन की चेष्टाओं के प्रति सजीव रूप का मूर्त विधान करते हैं। इस प्रसंग में वे नायिका का नख शिख वर्णन भी करते हैं। परम्परागत उपमानों द्वारा वे संश्लिष्ट रूप विधान करते हैं। एक अंग के वर्णन के लिए कवि अनेक उपमानों का प्रयोग करते हैं। परन्तु इनके उपमान परम्परा से प्राप्त उपमान ही हैं। इस क्षेत्र में नवीन उद्भावनायें नहीं मिलती हैं। मुख के सौन्दर्य वर्णन के लिए चन्द्रमा, मुकुर कनक अधर के लिए बिम्बफल प्रवाल विद्रुम-पल्लव नेत्रों के लिए दाड़िम फल सारंग कुरंगिनी नलिनी, खञ्जन, कुन्तलों के लिए सारंग भ्रमर, जलधर, आदि परम्परा-गृहीत उपमान ही सम्मुख आए हैं। विप्रलम्भ के अन्तर्गत पूर्व राग मान प्रवास के सन्दर्भ विद्यापति के पदों में पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। पूर्व राग में नायिका स्वप्न में नायक को देखती है उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होती है। उसको रोमांच हो जाता है। स्वप्न में ही वह संयोग सुख का अनुभव करती है।

सपने देपए हरि उपजल रंगे
पुलके पुरल तनु जाघु अनंगे
नयन मीरुए अधर रस रंगा
मिहि अवकास कान्ह कहा मेला गम्०॥
का कहि गौन्द माउनि विहि मोरा
न भेले सुरत सुख कापक गौरा । २१८।३१५

मान-भजन के पदों में नायिका के रूठने का वर्णन है। नायक विरह में दुखी हो जाता है। सखियाँ नायिका से नायक के दुखों का वर्णन करती हैं। साथ ही साथ नायक भी रूठता है। सखियाँ नायिका के दुख का निवेदन करती हैं। यथा—

तोहे कुलमति रति कुलमति नारि
काहु दरसने मुरुछ मुरारि ।
उचितहु बोलइते भले अवधान
संसय मेलअहु तन्हिक परान ॥ध्रु०॥
सुन्दरि की कहब कहइते लाज
तोर नामे पहु तजो काज । १४७।१८२ ॥

नायक से नायिका की अवस्था का वर्णन करते हुए सखी कहती है—

प्रथमहि हृदय प्रेम उपजाए ।
प्रेमक अङ्कुर गनाहु बढ़ाए ॥
× × ×
माधव तके बिसरलि वर नारि ।
बड़ परिहर पुन दोष विचारि ॥
× × ×
काजरे रातु नयन जिन्ह काम ।
विन मनमथ गुरु अभ्यास राहु ॥ इत्यादि । १८६।२२३।

प्रवास-वर्णन में विद्यापति की भावनायें अधिक गतिशील बनी हैं। इस सन्दर्भ में कवि नायिका की मनोभावनाओं की कोमलतम अनुभूतियों को अभिव्यक्त कर सके हैं। नारी के अन्तर्मन व्यापारों के संश्लिष्ट वर्णन द्वारा कवि

करण की सम्भावना को व्यापक बनाते हैं। एक पद में इस प्रकार का वर्णन है कि नायिका को यह विश्वास था कि प्रिय उससे कह कर विदेश जायगा। परन्तु नायक उसे निद्रित ही छोड़कर चला गया, नायिका इस असम्भावित से विक्षुब्ध है।

सुनि भरमे राहि पिआमे जाएब कहि
कोप कइए नीन्द नेबी।
जागि उठिअ बनि देखि सेज सुनि
हरि बोलहते निन्द पेबी। मि०।१२८।२११

विद्यापति प्रकृति के कवि नहीं हैं। प्रकृति चित्रण कवि का उद्देश्य भी नहीं है। कवि अपने पदों में प्रकृति का अंकन उद्दीपन रूप में ही प्राय: करते हैं। नायिका के विरह-वर्णन के सन्दर्भ में प्रकृति के विविध व्यापार उसकी अनुभूतियों और विरह संवेदना को तीव्र करते हैं। नायिका में अभिसार भाव जाग्रत करने के लिए सखी बसन्त के रसयुक्त वातावरण का वर्णन करती है। नायिका से मान-परित्याग कर संयोग सुख के प्रलोभन को जाग्रत करती है। यथा—

कोकिल कुल कलरव
काहल बाहर बाजे
मन्जरिकुल मधुकर गुंजरए
स सुन कुन्ज रंगाज।
× × ×
विरहिनि जन मरन कारण तउ
बकल मउ रितुराज ॥१३।१६।

बसन्त की रजनी में प्रियकी स्मृति आती है। प्रिय बसन्त रजनी में संयोग का वचन देकर गया था। परन्तु वह नहीं आया। कोकिल पंचम स्वर में गा रही है। दिशाओं में सहकार खिल गये हैं चन्द्रमा से रात्रि धवल हो उठी है। तरु पर अलि गुंजित है। इस सन्दर्भ में नायिका का मन विरह के आवेग से उद्वेलित हो उठता है। यथा—

बसन्ती रजनि रङ्गे पलटि यपलि संङ्ग
परस रभस पिआ गय कही।

कोकिल पञ्चम गाव दैवको न सुबन्ध काव
अतिम वचन व्यभिचर नहीं । ध ।

× × ×

मो पथि पथिसि सुर उगि मेसा ॥
साहर मकर दिसा चकि उगिर मिसा
विद्यापति भन इत्यादि ।४१।६२

विद्यापति की नायिका घने अन्धकार में अभिसार करती है। अनवरत जलधार दे रहा है रात अन्धकार प्रसारित कर रही है विद्युत प्रकाश से तो कभी कभी मार्ग क्षण भर के लिए आलोकित हो जाता है और कामदेव के इस मोहक प्रस्ताव का नायिका स्वागत करती है। इस प्रकार शृंगार के संयोग और वियोग इन पक्षों के अन्तर्गत विद्यापति ने प्रकृति के उद्दीपन स्वरूप को ही ग्रहण किया है। अनुभूति और भावना की तीव्रता के लिए इस प्रकार के वर्णनों का विशेष महत्व है। अतः विद्यापति के पदों में बिम्बविधान और प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र नहीं मिलते। नायक और नायिका को आलम्बन तथा आश्रय रूप में ग्रहण कर उन्होंने नख शिख का वर्णन प्रकृति के उपमानों द्वारा किया है। यथा—

हरि रिपु रिपु प्रभु तनय है घरिनी
सुमना रूप रमनी ।
विद्युवाहन सम वचन सोहाओन
गमनागमन सम गमनी ॥५०।

× × ×

बदन कमल मुख देखिअ दैसम भुम
चञ्चल नयन चकोरा ।
केतकि कुसुम हरि मन लए चेलि
हर रिपु वाहन मोरा ॥
उरपि दसन मुख सिन्दुर सोहाओन
हामि देखि रस कामी । इत्यादि ११६।२०७।

दृश्य के अन्य विषय में भी कवि ऐसे ही उपमानों का प्रयोग करता है।

ए सखि पेखलि एक अपरूप
सुनइत मानबि सपन सरूप।
कमल जुगल पर चाँदक माल।
तापर उपजल तरुन तमाल।
× × ×
तापर चंचल खंजन से जोर
ऊपर साँपिनि झाँपल गोर।

अपने काव्य के संप्रेषण में विद्यापति ने अप्रस्तुत विधान का प्रयोग किया है। नायक और नायिका के रूप चित्रण और उनकी सूक्ष्म भावनाओं को मूर्तरूप प्रदान करने के लिए कवि ने वस्तु-सापेक्ष और वस्तु, निरपेक्ष इन दोनों प्रकार के अप्रस्तुतों का प्रयोग किया है। विद्यापति के पदों में रूप चित्रण, भाव-वर्णन और परिस्थिति-अंकन इन समग्र सन्दर्भों में शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का विस्तृत प्रयोग मिलता है। अलंकारों का प्रयोग प्राय वस्तुनिष्ठ ही है। शब्दालंकारों में अनुप्रास यमक और श्लेष के प्रति कवि विशेष आग्रहशील है। अनुप्रास के माध्यम से कवि अपने पदों में लयात्मकता और संगीतात्मकता की सृष्टि करता है। अर्थालंकारों में उपमा उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति, विरोधाभास यथासंख्य व्यतिरेक पर्यायोक्ति, एकावली असंगति तद्गुण आदि विशेष रूप से दर्शनीय हैं। वाग्वैदग्ध्य और उक्ति वैचित्र्य की दृष्टियों से विद्यापति के कतिपय पद अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। वाग्वैदग्ध्य के अन्तर्गत वचन-भंगिमा के माध्यम से दूती नायिका और नायक के मनोभावों को समझने का प्रयास करती है और फिर एक दूसरे को सन्देश देकर उनके संयोग की भूमिका निर्मित करती है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित पद की व्यञ्जनाप्रणाली ध्यान देने योग्य है—

सुरत सिन्दुर बिन्दु चान्दने निहुए इन्दु।
सिंथि कहि गेल तिलके।
विपरित अभिसार अमिअ भरए भार
अद्भुत कएल अलके ॥ध्रु०॥
माधव भेटलि पताहल बेरी।
आदर हरलक पुछिओ न पुछलक

मधुर सखीजन मेली ॥
केतकि दल कए चम्पक दल कए
कजरी बोएलक आनी ।
चन्दने कुङ्कुमे मधुकवि कएलक
समय निवेदन सयानी ॥

भनइ विद्यापति इत्यादि ।२४१।१४०।

अर्थात् नायक ने सिन्दूर बिन्दु से सूर्य और चन्दन से चन्द्रमा का अंकन किया। इस के माध्यम से अपने आने की तिथि का संकेत किया। (सूर्य और चन्द्रमा अमावस्या में एक राशि पर आते हैं)। नायिका ने अंकुश की मुद्रा से नायक को आमन्त्रित किया। (तंत्र में अंकुश की मुद्रा से आवाहन किया जाता है)। केवड़ा के पत्र में चम्पा का पुष्प संयुक्त कर नायिका ने वेश-सज्जा की। (केवड़े के पत्र में कण्टक होते हैं। चम्पा के निकट भ्रमर नहीं जाता)। इस प्रकार नायिका ने नायक को सूचित किया कि परिस्थिति प्रतिकूल है। कुंकुम-कस्तूरी से अंगराग रचकर पुन नायक को अमावस्या को आने का संकेत किया।

इस प्रकार विद्यापति की व्यञ्जना प्रणाली में भावों की अभिव्यक्ति विविध रूपों में हुई है। इसमें भावपक्ष और कलापक्ष का समन्वित रूप मिलता है। इनकी भाषा में चित्रमयता और संगीतात्मकता के तत्व पूर्णतः नियोजित है। उक्ति-युक्तियों में वर्णापार्थ बोधक पदों के अनेक रूप इनके काव्य में उपलब्ध होते हैं।

विद्यापति आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य में पद-परम्परा के प्रतिस्थापक कवि हैं। इनके पद गेय हैं और इनमें गीति-तत्व की समग्रता मिलती है। स्वर संगीत और शब्द-संगीत ये दोनों तत्व इनके पदों के विशय अभव हैं। स्वर-संगीत और भाव-संगीत के समन्वित स्वरूप में ही इनके भाव वैशिष्ट्य अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं। इनका संगीत भावोद्रेक में सहयोगी है। विद्यापति के गीतों में वैयक्तिक भावों की तीव्रता है। प्रत्येक पद में नायिका या नायक के मनोभावों की सम्पूर्णता की अभिव्यक्ति मिलती है। गीतिकाव्य में रागात्मक अनुभूति और भाव प्रवणता प्राण रूप में विद्यमान रहती है। विद्यापति के गीत पद को रागात्मक अनुभूतियों की अनुप्रेरणा है। शास्त्रीय तत्वों के साथ-साथ विद्यापति ने लोकगीतों

की व्यञ्जना विधा का प्रयोग भी अपने पदों में किया है। कथात्मक गीतों की शिल्पविधि के साथ-साथ लोक-गीतों की सरलता स्वाभाविकता, भावमयता और स्वच्छन्दता इनके पदों में सहज शृंगार के रूप में विद्यमान है। इस दृष्टि से वे जयदेव की गीति-कला से विशेष प्रभावित हैं।

विद्यापति ने शिव पार्वती-सम्बन्धित पदों की भी रचना की है। उनके पदों की ऐसी धारणा है कि इन पदों में विद्यापति की शैवभावना व्यञ्जित है। परन्तु इन पदों की विवेचना के लिए इनकी पूर्व-परम्परा और इनके ऐतिहासिक स्वरूप का उल्लेख अपेक्षित होगा। भारतीय साहित्य में आठवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी के मध्य जितनी शृ गारात्मक कवितायें लिखी गईं उनमें राधाकृष्ण की प्रेम-लीलाओं से सम्बन्धित भावधारा की प्रधानता रही है। साथ-ही-साथ लक्ष्मीनारायण को आलम्बन रूप में ग्रहण कर शृ गार मूलक रचनायें भी हुईं। राधा कृष्ण की प्रेमलीला के समान हर-गौरी की प्रेम लीला से सम्बन्धित शृ गार कविताओं की एक निश्चित परम्परा मिलती है। कालिदास ने इस सन्दर्भ की रचनायें की हैं। जयदेव के युग में शिव-गौरी को अवलम्ब बनाकर शृ गार प्रधान रचनायें की गई हैं। यह परम्परा विद्यापति के पदों में भी संरक्षित मिलती है। विद्यापति के पदों में कृष्ण राधिका या नायक-नायिका के शृ गार वर्णन में काव्य की एक परम्परा का विकसित रूप मिलता है। भक्ति-तत्त्व की संस्थापना की अपेक्षा इन पदों की भाव-संवेदना का परम्परा के सन्दर्भ में मूल्यांकन साहित्य के इतिहास में अपेक्षित है। यही स्थिति शिव-पार्वती-सम्बन्धित पदों की भी है। इन पदों की अन्तश्चेतना का स्वरूप विकास ऐतिहासिक परम्परा पर अवलम्बित है। यथा—

> आजे अकामिक आएल भेषधारी
> भीमि मुकुति कए पविलि कुमारी ॥ध्रु ॥
> भिखिआ न लेइ बजावए रिंगि
> बदन निहारए बिहुसी हँसी।
> ए उमा यति संङ्गे निकहि बसली
> मोहि जोगिया देखि मुरछि पलली।
> दूर कर गुनपन अरे भेषधारी
> कौं डिठिआयोलए राजकुमारी।

केओ कोछ वेदए देहे वनु काहु
केओ बोल बोस्रा मानि (न) चाहु ॥
केओ बोल बोगि माहि देहे पु मानी
हुनुकिओ मए बर मिकओ भवानी।
भनइ विद्यापति अभिमत सेवा
चन्द्रसेमि पति केवल देवा।

॥२१४।३१२८॥

अतिथि योगीवेशधारी आकस्मिक आ गया। कुमारी गौरी भिक्षा देने चली। गौरी पूर्ण रूप से स्वस्थ थी परन्तु योगी को देखकर मूर्छित हो गई। सखियाँ कहती हैं कि गौरी को योगी को समर्पित करदो सम्भवतः इससे वह चेतना पा जाय।

विद्यापति की भाषा

विद्यापति की पदावली की भाषा में तेरहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी पूर्वार्ध तक की मैथिली का रूप उपलब्ध है। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा में विकसित नवीन संयुक्त स्वर यहाँ सुरक्षित हैं। (१) उदा० अइसन तइसन पुरुख पउ तिमि तखन इत्यादि।

(२) प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की शब्दमध्य-क-ध्वनि विद्यापति की भाषा में -र में परिवर्तित मिलती है। उदा० भार (सं० भख) भार (भाल)।

(३) प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की आदि य-ध्वनि यहाँ ज-में परिवर्तित होती मिलती है। उदा० जउबन (यौवन) जुग (युग) जमना (यमुना)।

(४) संज्ञाओं के कारकीय प्रयोग के तीन रूप मिलते हैं। (क) सविभक्तिक (ख) परसर्गीय (ग) निर्विभक्तिक। उदा०—नियाएँ देल काम (कर्ता) बिनुएँ सहज विरह गन भोरा (करण), पल्लहि रागल कुसुमि ताम।

निर्विभक्तिक प्रयोग—भ्रमर भमरा, मनम मनिक बम (कर्म) न सुन वचन (अधिकरण)।

(५) सम्बन्ध कारक के लिए एरि के का केग, केर, आदि परसर्ग प्रयुक्त हुए हैं। उदा० पर महोदेवर केरा मानरि जन केर बहुत बिलास। सर्वनाम रूपों के साथ भी कि रूपों का प्रयोग होता है। स्वार्थ प्रत्यय-क-का प्रयोग सम्बन्ध

के अतिरिक्त अन्य कारकों में होता है। उदा० नामक वसले बोलिम गमार, मामक बोलिम मोप गमार, इत्यादि।

(६) मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष के भविष्य आज्ञार्थ हेतु इहिसि, इहइ, तथा इइ का प्रयोग मिलता है, उदा० रहिहिसि बोइइ, बुमिइ, होइइ। भूतकाल-अ से निर्मित होता है। भविष्य के लिए अ का प्रयोग होता है। उदा० अनुनय मोरि बुमाउबि, राखबि पुबो काज।

(७) सहायक क्रिया के रूप में अछ और बच रूप प्रयुक्त हैं। उदा—गेल अछि अछमिहुँ, अछिक, इत्यादि।

अमीर खुसरो —अमीर खुसरो हिन्दवी के कवि माने गये हैं। इनका नाम अबुल हसन था।

हिन्दी-इतिहास-लेखन के सन्दर्भ में इन्हें खड़ीबोली का आदि कवि या प्रथम कवि कहा गया है। इनका समय सन् १२५३ १३२५ ई० माना गया है। ये निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे। इनका सम्बन्ध दिल्ली के गुलाम खिलजी और तुगलक इन तीनों वंशों से रहा है। ये अरबी-फारसी के पण्डित थे साथ ही-साथ हिन्दी के रचनाकार भी थे। एक स्थल पर इन्होंने कहा है—

तुर्क हिन्दुस्तानियम मन हिन्दवी गोयम जवाब
चु मन तुतिए हिन्दम अर रास्त पुर्सी
जे मन हिन्दवी पुर्स ता नग्ज गोयम।[1]

खुसरो की एक स्वीकारोक्ति मिलती है—

---

१ अमीर खुसरो हिन्दवी को स्नेह से देखते थे। एक स्थल पर उन्होंने कहा है 'मैं भूल पर था। अच्छी तरह सोचने पर हिन्दी (हिन्दवी) भाषा फारसी से कम नहीं ज्ञात हुई। सिवाय अरबी के जो प्रत्येक भाषा की मीर और सबों में मुख्य है, रई और रूम की प्रचलित भाषायें समझने पर हिन्दी से कम मालूम हुई। अरबी अपने में दूसरी भाषा को नहीं मिलने देती -- हिन्दी भाषा भी अरबी के समान है, क्योंकि उसमें भी मिलावट के लिए स्थान नहीं । मसनवी किरानुस्सादैन—हिन्दी साहित्य भाग २—पृ० २२१ से उद्धत।

'मुझसे चंद मगर्में हिन्दी नमारें दोस्तां करदां गुदा मस्त। इस सन्दर्भ में प्रयुक्त हिन्दी' शब्द के अर्थ को अति व्यापक रूप में ग्रहण करना होगा। हिन्दी के वर्तमान प्रयोग से भिन्न अर्थ में खुसरो द्वारा यह शब्द प्रयुक्त है। निश्चय ही खुसरो ने इसका प्रयोग 'जबाने हिन्द (जिससे वह परिचित था) के अर्थ में किया है। खुसरो के नाम स जो रचनायें उपलब्ध हैं उनमें 'खालिकबारी' अरबी फारसी हिन्दवी कोश) पहेलियाँ मुकरियाँ, दो सुखने तथा गजलें प्रचलित हैं। खालिकबारी' की कतिपय पंक्तियां देखिए—

खालिक बारी सिरजन हार
वाहिद एक बदा करतार
रसूल पैगम्बर जान बसीठ
यारी दोस्त बोली जो ईठ।

× × ×

बया बिरादर आव रे भाई
बन शाम मादर बैठ री माई
मुश्क काफूर अस्त कस्तूरी कपूर
हिन्दवी आनन्द शादी और सरूर
मूश चूहा गुर्बे बिल्ली मार नार
सो जनो रिश्ता बहिन्दी।

'खालिकबारी की एक भी प्रति सोलहवीं शताब्दी के पूर्व की नहीं प्राप्त है। प्रतियों में उपलब्ध भाषा-रूप तेरहवीं शताब्दी का नहीं है। इस प्रकार की सम्भावना भी की गई है कि 'खालिक बारी' प्रसिद्ध अमीर खुसरो की कृति नहीं है। जहाँगीर के समय (१६ १७ शती ई०) एक अन्य अमीर खुसरो का उल्लेख मिलता है। ये संगीतकार, गायक और विद्वान थे। इन दोनों व्यक्तियों को एक व्यक्ति के रूप में इतिहास लेखकों ने ग्रहण किया है। देखिये पंजाब में उर्दू पृ० १०४ शेरानी। जहाँगीर कालीन अमीर खुसरो के पश्चात् भी या तो अन्य अमीर खुसरो हुए हैं या अमीर खुसरो के नाम से पर्याप्त रचनायें हुई हैं। अपने कथन के प्रमाण हेतु अमीर खुसरो के नाम से प्रचलित रचनाओं के विभिन्न रूपों को प्रस्तुत कर रहा हूँ —

पहेलियां—

तरवर से एक तिरिया उतरी, उसने बहुत रिझाया
बाप का उसने नाम जो पूछा आधा नाम बताया।
आधा नामपिता पर प्यारा, बूझ पहेली मोरी।
'अमीर खुसरो' यों कहे अपने नाम न बोली।
निबोरी।

सखुने—
अनार क्यों न चखा—
वजीर क्यों न रखा—दाना न था।
पण्डित क्यों पियासा गदहा क्यों उदासा—लोटा न था।

इन छंदों की भाषा आधुनिक है। इन्हें हम तेरहवीं शताब्दी के अमीर खुसरो की रचनायें नहीं कह सकते हैं। खुसरो के नाम से प्रचलित छन्दों में अनेक छन्द ऐसे मिलते हैं जिनमें फारसी और हिन्दी की पंक्तियों का मिश्रण है। यथा—

जे हाल मिसकीं मकुन तग़ाफ़ुल दुराय नैनां बनाय बतियाँ॥
कि ताबे हिजरां न दारमे ऐ जाँ! न लेहु काहे लगाय छतियाँ॥
शबाने हिजरां दराज़ चूं ज़ुल्फ़ व रोज़े वसलत चु उम्र कोतह।
सखी पिया को जो मैं न देखूं तो कैसे काटू अंधेरी रतियाँ।

वीर काव्य

अपभ्रंश और अवहट्ठ में वीर-काव्य उपलब्ध होते हैं। 'रासक काव्य' और 'चरित काव्यों' में शृंगार और शान्त रसों के साथ-साथ वीर रस से समन्वित सन्दर्भ भी मिलते हैं। स्वयंभू के 'रिट्ठनेमि चरिउ' (रिष्टनेमि चरित या 'हरिवंशपुराण') में वीर भावना का स्वरूप अनेक सन्दर्भों में मिलता है। पुष्पदन्त के 'महापुराण' या 'तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार' में शृंगार और शान्त के अतिरिक्त वीर रस की सचेतनता पर अनेक उत्साहपूर्ण वर्णन मिलते हैं। जैन धर्म से सम्बद्ध रचनाओं में वासुदेवों तथा प्रतिवासुदेवों के युद्ध-संदर्भों में वीर रस का व्यापक स्वरूप मिलता है। धनपाल के 'भविसयत्त कहा' के द्वितीय खण्ड की रचना वीर रस की भावभूमि पर हुई है। धवल कवि की कृति, 'हरिवंश पुराण' में शान्त और करुण के साथ-साथ वीर रस के पर्याप्त प्रसंग मिलते हैं। अपभ्रंश खण्डकाव्यों में मुख्यतः

'जसहर चरिउ' (पुष्पदन्त) 'सकलविधि निधान काव्य (नयनन्दी) 'करकण्ड चरिउ (मुनिकनकामर) इत्यादि रचनाओं में वीर रसात्मक सौन्दर्यपूर्ण स्थल पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। परन्तु इन रचनाओं में वीर रस का समाहार शान्त में होता है।

अपभ्रंश मुक्तकों, व्याकरण और छन्द-ग्रन्थों में उपलब्ध उदाहरणों में विभिन्न भावों के साथ-साथ वीर भावात्मक सन्दर्भ मिलते हैं। हेमचन्द्रकृत 'शब्दानुशासन' तथा 'छन्दानुशासन' व प्राकृतपैंगलम् आदि कृतियाँ उदाहरण के लिए प्रस्तुत की जा सकती हैं। प्रबन्ध चिन्तामणि' में ऐतिहासिक पुरुषों से सम्बन्धित प्रबन्धों में भी इस प्रकार के पर्याप्त स्थल मिलते हैं। इस प्रकार हिन्दी में वीरकाव्य का स्वरूप अपभ्रंश के वीर काव्यों के अनुकूल ही है। इस प्रकार का विश्लेषण किया जाता है कि संस्कृत काल से विकसित वीर काव्य धारा का परम्परागत विकास हिन्दी में हुआ है। इसका सम्यक् क्रम 'डिंगल और 'पिंगल' इन दोनों ही प्रकार की काव्य-धाराओं में हुआ है।

वीर काव्य धारा के अन्तर्गत 'प्रबन्ध' और 'मुक्तक' इन दोनों धाराओं का विकास हुआ है। प्रबन्ध-रचना में 'महाकाव्य और 'खण्ड काव्य दोनों स्वरूप उपलब्ध होते हैं। आदिकाल के अन्तर्गत वीरकाव्य-धारा से सम्बन्धित जिन कवियों और उनके काव्यों का उल्लेख किया जाता है उनकी चर्चा 'रासक काव्य' की विवेचना के अन्तर्गत हो चुकी है। इनमें सर्वप्रथम भट्टकेदार (११६८ई०) का स्मरण किया जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इन्होंने 'जयचन्द्र प्रकाश नामक ग्रन्थ की रचना की थी जिसमें जयचन्द्र की वीरगाथाओं का वर्णन किया गया है। यह कृति उपलब्ध नहीं है। सिंघायच दयालदास नामक चारण की कृति, 'राठौड़ा री ख्यात' में इसका उल्लेख मिलता है।

इस परम्परा के दूसरे कवि जगनिक हैं। इनका समय ११७३ ई० माना गया है। इनकी रचना 'परमाल रासो' या 'आल्ह खण्ड' है। इस कृति की विवेचना रासो काव्य' के सन्दर्भ में की जा चुकी है। देखिये पृष्ठ १०१।

मधुकर—(११८३ ई०) ऐसा विश्वास प्रकट किया जाता है कि जयचन्द्र की कीर्ति-वर्णन की अनुप्रेरणा से इन्होंने 'जय मयंक जस चन्द्रिका' की रचना की है। परन्तु यह ग्रंथ अभी तक प्राप्त नहीं है।

विद्याधर (विज्जाहर)—ये जयचन्द्र राठौर के मन्त्री थे। राष्ट्रकूटों के इतिहास से इनके विषय में कुछ संकेत मिलता है। 'प्राकृत पैंगलम्' में इनके नाम से कतिपय छन्द मिलते हैं। वीर रस के सन्दर्भ में इनकी पंक्तियों का महत्व है। यथा—

भअ भज्जिअ बंगा भंगु कलिंगा तेलंगा रण मुक्कि चले।
मरहट्ठाधिट्ठा लग्गिअ कट्ठा सोरट्ठा भअ पाअ पले॥
चंपारण कंपा पव्वअ झंपा ओत्था ओत्थी जीव हरे।
कासीसर राणा किअउ पआणा विज्जाहर भण मंतिवरे।

प्राकृत पैंगलम् पृ० १२६।
डॉ० भोलाशंकर व्यास।

शार्ङ्गधर—(१३६३ ई०) —ये हम्मीर के समासद राघवदेव के पुत्र थे। ऐसी मान्यता है कि शार्ङ्गधर ने 'हम्मीर रासो' के अतिरिक्त 'हम्मीर काव्य' नामक ग्रन्थ की भी रचना की थी। 'प्राकृत पैंगलम्' में इनकी कतिपय रचनायें उपलब्ध हैं। 'शार्ङ्गधर पद्धति' नाम से इनका एक सुभाषित संग्रह है। इसमें शाबर मन्त्र हैं। देशी भाषा मिश्रित संस्कृत श्लोक भी यहाँ मिलते हैं। उदा०—

मूर्न बारल छाइ थेह पसरी निश्वाण एक्क बट।
खर्म्ग पाडि लुटाकि तोडि हुलितौ एवं भवस्सुदृमटा
कूठे गर्व भरा भवाक्कि सहसा रे कंत मेरे कहे।
कंठे पाग निवेस जाह सरणं श्री मल्लदेवं विभुम्।

वीर काव्य मुख्यतः वीर प्रशस्ति मूलक रहे हैं। इनका विकास प्रबन्धकाव्य और वीरगीतों के माध्यम से हुआ है। वीर गीतों का विकास मौखिक परम्पराओं में होता रहा है। प्रबन्धों और वीर गीतों में युद्ध के सन्दर्भ में प्रेम की श्रृंगार मूलक अनुचेतना निरन्तर विद्यमान रही है। नायिका के रूप-सौन्दर्य का आकर्षण युद्ध की अनुप्रेरणा देता रहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस ओर संकेत किया है। 'रासो' को 'वीर गाथात्मक काव्यविधा' के रूप में जो स्वीकृति मिली थी वह अवैज्ञानिक है इस ओर संकेत किया जा चुका है। यह धारणा भी ठीक नहीं कि 'रासो' के रचयिता भाट और चारण थे। वीर काव्य की भाषा विषयक समस्या की ओर संकेत करते हुए यह भी कहा गया है कि वीर काव्यों की रचनायें 'डिंगल' और 'पिंगल' में हुई हैं। डिंगल

की कविता राजस्थानी लोक-भाषा थी पिंगल ब्रज मिश्रित राजस्थानी। परन्तु इस प्रकार की धारणा में भी परिवर्तन करना होगा।

आदिकालीन साहित्यिक विधाओं में भाव-संवेदना की दृष्टि से ही वीर काव्यों के आधार पर एक स्वतन्त्र काव्य धारा का वर्गीकरण हो सकता है। परन्तु काव्यरूपों की दृष्टि से इनका समावर्तन कथा-काव्य और चरित-काव्य के अन्तर्गत ही हो जाता है। अतः इसके लिए स्वतन्त्र वर्गीकरण का सिद्धान्त विशेष उपयोगी नहीं होगा। 'भक्ति काव्य' तथा 'रीति काव्य' के सन्दर्भ में भी वीर काव्यों की रचनायें व्यापक स्तर पर हुई हैं। उदाहरण स्वरूप—केशव की 'रतनबावनी' 'वीरसिंह चरित' 'जहाँगीर जस चन्द्रिका' मतिराम की 'ललितललाम' कुलपति मिश्र की 'संग्राम सार' भूषण की 'शिवराज भूषण' 'भूषण हजारा' 'भूषण उल्लास' आदि कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके काव्य-स्वरूप और भाव-योजना पर आगे के पृष्ठों में विवेचना की गई है।

मुल्ला दाऊद कृत चन्दायन (चंदावत)

मुल्ला दाऊद कृत 'चंदायन' प्रेम-कथा-मूलक कृति है। इस कृति का ऐतिहासिक महत्व है। यह कुतुबन मंझन और जायसी के प्रेमाख्यानक काव्यों की पूर्ववर्ती रचना है। मुल्ला दाऊद अलाउद्दीन खिलजी के समकालीन थे। 'चंदायन' की रचना इन्होंने सन् १३७० में की थी। प्रेम-कथा-काव्य-परम्परा की इस आरम्भिक कृति का मूल्यांकन आदि कालीन साहित्य में विशेष महत्व का विषय है।

मुल्ला दाऊद के विषय में मिश्रबन्धुओं ने लिखा है 'मुल्ला दाऊद' अमीर खुसरो का समकालीन था। उसका कविता-काल संवत् १३८५ के लगभग था। उसने नूरक और चन्दा की प्रेम-कथा हिन्दी में रची। यह ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों को मुल्ला दाऊद और उनके ग्रन्थ 'चंदायन' का परिचय था। परन्तु किसी को यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सका था। अब्दुल हक ने अकबर के समय 'अखबार उल-अखयार' नामक इतिहास ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ से यह ज्ञात होता है कि दाऊद के गुरु शेख जैनुद्दीन चिराग दिल्ली थे। ये प्रसिद्ध चिश्ती सन्त हजरत नसीरुद्दीन अवधी के

बड़ी बहन के पुत्र थे। अतः दाऊद का सम्बन्ध चिश्ती-संत-परम्परा की दिल्ली शाखा से था।

अवध गजेटियर से यह ज्ञात होता है कि ७११ हिजरी में मुल्लादाऊद ने 'चन्दैनी' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ की रचना फिरोजशाह के समय (हिजरी ७५२-७९०) में हुई थी। इसका उल्लेख मुल्ला दाऊद ने 'चन्दायन' में किया है। 'चन्दायन' में जिस रूप में उन्होंने अपना परिचय दिया है उसके अनुसार वे डलमऊ के निवासी थे। यह नगर गंगा के किनारे बसा था। अवध के प्रादेशिक गजेटियर तथा रायबरेली-गजेटियर में इस नगर की चर्चा की गई है। इससे यह विदित होता है कि दिल्ली के सुल्तान इल्तुतमिश के शासन काल में यह नगर उन्नतिशील था। उसके समय वहाँ मखदूम अरसलान रहा करते थे। फिरोजशाह तुगलक के समय यह इस्लाम धर्म का केन्द्र था। दाऊद ने आरम्भ में परिचयात्मक रूप में जो कुछ कहा है वह इस प्रकार है—

साहि फिरोज दिल्ली सुल्तानू। जौना साहि वजीर बखानू॥
डलमउ नगर बसै नवरंगा। ऊपर कोट तले बहि गंगा॥
धरमी लोग बसहिं भगवन्ता। गुन गाहक नागर जसवन्ता॥
मलिक बयाँ पूत उधरन मीरू। मलिक मुबारिक तहाँ के मीरू॥

इस प्रकार मुल्लादाऊद मलिक बयाँ के पुत्र मलिक मुबारिक के पुत्र थे। 'चन्दायन' के रचना-काल का उल्लेख करते हुए दाऊद ने लिखा है—

बरिस सात सै होई इक्यासी। तिहि जाह कवि सरसेउ भाखी॥

एक अन्य प्रति में यह उल्लेख इस रूप में मिलता है—

बरस सात सै हते उन्यासी। तहिया यह कवि सरस अभासी।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि इस ग्रन्थ का प्रणयन हिजरी ७७९ ७८१ (सन् १३५० १३७०) के मध्य हुआ था।

'चन्दायन' की कथा की मूल संवेदना है चन्दा और लोरिक की प्रणय-कथा। कथा-प्रस्तावना की दृष्टि से तथा वर्णन प्रणाली की दृष्टि से यह सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों के अनुरूप की कृति है। परन्तु इसकी कथा लौकिक है। जायसी अथवा अन्य सूफी कवियों के प्रेमाख्यानक काव्यों के समान इसकी लौकिक कथा पर अलौकिक तत्वों का आरोपण नहीं है। काव्य रूप की दृष्टि

से यह कड़वक शैली की रचना है। जोवर महर और पटरानी फूलरानी की कन्या चाँद का विवाह बारह वर्ष की अवस्था में बावन नामक बालक से हुआ। उसकी आयु लगभग चार या पाँच वर्ष की थी। चाँद के लिए इस प्रकार के पति संयोग का कोई अर्थ नहीं था। वह अपनी विरह-व्यथा जब अपने परिजनों में व्यक्त करती है तो उसे निर्वासित मिलता है। उसकी माँ उसे शरण देती है। एक बाजिर चाँद का रूप देखकर मूर्छित होता है। वह नगर-नगर चाँद के विरह-गीत गाता भ्रमण करता है। उसके गीत के माध्यम से राजा रूपचन्द चाँद के रूप-सौन्दर्य का संश्लिष्ट प्रभाव प्राप्त करता है। रूपचन्द चाँद को प्राप्त करने हेतु राय महर पर आक्रमण करता है। अपनी पराजय सम्मुख देखकर राय महर लोरिक से सहायता की याचना करते हैं। लोरिक रूपचन्द को पराजित करता है। चाँद लोरिक पर मुग्ध होती है। इसके पश्चात् कवि चन्दा-लोरिक की प्रणय-कथा विविध रूपों में प्रस्तुत करता है। चन्दायन की जितनी प्रतियाँ उपलब्ध हैं वे सभी खण्डित हैं। अत इसकी कथा की समाप्ति विधि पर कुछ कहने में हम असमर्थ हैं।

'चन्दायन' का आरम्भ कवि ने हिन्दी में उपलब्ध विभिन्न प्रेमाख्यानक काव्य के समान ही किया है। यथा—

पहिले गाइउँ सिरजनहारा। जिन सिरजा यह देस अपारा।
सिरजसि धरती और अकासू। सिरजसि मेरु औ कबिलासू।
सिरजसि चाँद सुरुज उजियारा। सिरजसि सरग नखत का भारा।
सिरजसि छाँह सीत औ धूपा। सिरजसि किरतम और सरूपा।
सिरजसि मेघ पवन अंधकारा। सिरजसि बीजु कर चमकारा।
आकर सबै गिरिस्ती कहेउ एक सो पाइ।६।
हिय सबरे मन हुलसहिं दूसर चित न समाइ।७।

कवि मुल्ला दाऊद की वर्णन प्रणाली अति मोहक है। रूप चित्रण के सन्दर्भ में कवि संश्लिष्ट चित्र विधान करता है। प्रस्तुत छंद में कवि ने चाँद का वर्णन किया है, देखिए—

इस दैवस दुम दुआरा आवा। चमक चमक धनि बाट उगावा।
झलक झलक भी धरती भरा। चमक चमक जनु सुमति भरा।

बड़ी बहन के पुत्र थे। अतः दाऊद का सम्बन्ध चिश्ती-संत-परम्परा की दिल्ली शाखा से था।

अवध गजेटियर से यह ज्ञात होता है कि ७११ हिजरी में मुल्लादाऊद ने 'चन्दैनी' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ की रचना फ़िरोज़शाह के समय (हिजरी ७५२ ७९०) में हुई थी। इसका उल्लेख मुल्ला दाऊद ने 'चन्दायन' में किया है। 'चन्दायन' में जिस रूप में उन्होंने अपना परिचय दिया है उसके अनुसार ये डलमई के निवासी थे। यह नगर गंगा के किनारे बसा था। अवध के प्रादेशिक गजेटियर तथा रायबरेली-गजेटियर में इस नगर की चर्चा की गई है। इससे यह विदित होता है कि दिल्ली के सुल्तान इल्तुतिमिश के शासन काल में यह नगर उन्नतिशील था। उसके समय वहाँ मखदूम बदरुद्दीन रहा करते थे। फ़िरोज़शाह तुगलक के समय यह इस्लाम धर्म का केन्द्र था। दाऊद ने आरम्भ में परिचयात्मक रूप में जो कुछ कहा है वह इस प्रकार है—

साहि फिरोज दिल्ली सुल्तानू। जौना साहि वजीर बखानू॥
डलमउ नगर बसै नवरंगा। ऊपर कोट तले बहि गंगा॥
धरमी लोग बसहि भगवन्ता। गुन गाहक नागर जसवन्ता॥
मलिक बयाँ पूत उधरन धीरू। मलिक मुबारिक तहाँ के मीरू॥

इस प्रकार मुल्लादाऊद मलिक बयाँ के पुत्र मलिक मुबारिक के पुत्र थे। 'चन्दायन' के रचना-काल का उल्लेख करते हुए दाऊद ने लिखा है—

बरिस सात सै होई इक्यासी। तिहि जाह कवि सरसेउ भासी॥

एक अन्य प्रति में यह उल्लेख इस रूप में मिलता है—

बरस सात सै हुते उन्यासी। तहिया यह कवि सरस अभासी।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि इस ग्रन्थ का प्रणयन हिजरी ७७९ ७८१ (सन् १३२० १३७०) के मध्य हुआ था।

'चन्दायन' की कथा की मूल संवेदना है चन्दा और लोरिक की प्रणय-कथा। कथा प्रस्तावना की दृष्टि से तथा वर्णन प्रणाली की दृष्टि से यह सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों के अनुरूप की कृति है। परन्तु इसकी कथा लौकिक है। जायसी अथवा अन्य सूफी कवियों के प्रेमाख्यानक काव्यों के समान इसकी लौकिक कथा पर अलौकिक तत्वों का आरोपण नहीं है। काव्य-रूप की दृष्टि

से यह अवधक शैली की रचना है। सोमर महर और पटरानी फुलरानी की कन्या चाँद का विवाह बारह वर्ष की अवस्था में बावन नामक बालक से हुआ। उसकी आयु लगभग चार या पाँच वर्ष की थी। चाँद के लिए इस प्रकार के पति संयोग का कोई अर्थ नहीं था। वह अपनी विरह-व्यथा जब अपने परिजनों में व्यक्त करती है तो उसे निर्वासन मिलता है। उसकी माँ उसे शरण देती है। एक बाजिर चाँद का रूप देखकर मूर्छित होता है। वह नगर-नगर चाँद के विरह-गीत गाता भ्रमण करता है। उसके गीत के माध्यम से राजा रूपचन्द चाँद के रूप-सौन्दर्य का संश्लिष्ट प्रभाव प्राप्त करता है। रूपचन्द चाँद को प्राप्त करने हेतु राव महर पर आक्रमण करता है। अपनी पराजय सम्मुख देखकर राव महर लोरिक से सहायता की याचना करते हैं। लोरिक रूपचन्द को पराजित करता है। चाँद लोरिक पर मुग्ध होती है। इसके पश्चात् कवि चन्दा-लोरिक की प्रणय-कथा विविध रूपों में प्रस्तुत करता है। चन्दायन की जितनी प्रतियाँ उपलब्ध हैं वे सभी खण्डित हैं। अतः इसकी कथा की समाप्ति विधि पर कुछ कहने में हम असमर्थ हैं।

'चन्दायन' का आरम्भ कवि ने हिन्दी में उपलब्ध विभिन्न प्रेमाख्यानक काव्य के समान ही किया है। यथा—

पहिले गावऊँ सिरजनहारा। जिन सिरजा यह देस बयारा।
सिरजसि धरती और अकासू। सिरजसि मैंदर औ कबिलासू।
सिरजसि चाँद सुरुज उजियारा। सिरजसि सरग नखत का भारा।
सिरजसि छाँह सीत औ धूपा। सिरजसि किरतम और सरूपा।
सिरजसि मेघ पवन अँधकारा। सिरजसि बीजु करै चमकारा।
आकर सबै निरमिनी कहँउ एक सो नाह ।६।
हिय पसरै मन हुलसै दूसर चित न समाइ ।७।

कवि मुल्ला दाऊद की वर्णन प्रणाली अति मोहक है। रूप चित्रण के सन्दर्भ में कवि संश्लिष्ट चित्र विधान करता है। प्रस्तुत अंश में कवि ने चाँद का वर्णन किया है, देखिए—

हँस मैमत दुम दुमरत आवइ। चमक चमर चलि आउ उठावइ।
झमक झमक पौ धरती धरा। चमक चमक जनु गुपुति भरा।

धन मरहान सो चाँदा आवइ। नामों की नरि बेसु बजावइ।
सर भुईं परस चाँद परि पाऊ। नान छुवै न काढेउ नाऊ।
पागे पूर मैन भरि आँखी। मीज काढि दुइ तरवा राँखी।
चलत चाँद चित लागा मन हुत उतर न काउ।
पाँयहि हाथ न पहुँचे हँस-हस रोवइ राउ।

ऊपर यह उल्लेख किया गया है कि चन्दायन 'कड़वक शैली' का काव्य है। प्रत्येक कड़वक में पाँच यमक हैं। प्रत्येक कड़वक का समापन एक घत्ता से होता है। यमक में मात्राओं का क्रम १६ १५ है। घत्ता में मात्रा-क्रम में भिन्नता है। किसी में ११ ११ मात्राओं का क्रम है किसी में ११,१२ और किसी में १२,११ मात्राओं का क्रम है।

चन्दायन' की जितनी प्रतियाँ उपलब्ध हैं वे सभी खण्डित हैं। इस रचना की उपलब्ध प्रतियों का विवरण इस प्रकार है—

(१) रीलैण्डस की प्रति—यह मैनचेस्टर के रीलैण्ड्स पुस्तकालय में सुरक्षित है।

(२) बम्बई प्रति—प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजियम में सुरक्षित है।

(३) पंजाब प्रति—यह प्रति इस समय लाहौर विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

(४) बीकानेर प्रति—यह प्रति बीकानेर में रावत सारस्वत के पास सुरक्षित है।

(५) काशी प्रति—

: २ :

भक्ति (काव्य) काल

[क] सन्त साहित्य

सन्त साहित्य का स्वरूप विश्लेषण

निर्गुण भावधारा पर अवलम्बित जो काव्य-धारा हिन्दी में प्रस्फुटित हुई उसका विभाजन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ज्ञान मार्गी तथा प्रेम मार्गी इन दो वर्गों में किया है। ज्ञानमार्गी शाखा के कवियों को 'सन्त', तथा उनके साहित्य को 'सन्त साहित्य' की संज्ञा मिली है। प्रेम-मार्गी शाखा के अन्तर्गत मंझन, कुतुबन जायसी आदि सूफ़ी कवियों की रचनायें आती हैं। इस वर्ग के साहित्य-स्वरूप पर आगे विचार किया गया है। सन्त साहित्य भक्ति-युग के पूर्वार्द्ध का साहित्य है, तथा दक्षिण भारत और उत्तर भारत की धार्मिक, सामाजिक सांस्कृतिक तथा किसी अंश तक राजनैतिक अनुप्रेरणाओं को समन्वित कर इस धारा का साहित्य संश्लिष्ट रूप धारण कर सका है। ऐतिहासिक स्थूलता की दृष्टि से इस सम्प्रदाय के सम्बद्ध साहित्य का स्वरूप निर्माण पन्द्रहवीं शताब्दी में होता है और इसके प्रवर्तक सन्त कबीर माने जाते हैं। सन्त कबीर का जन्म सन् १३९८ (संवत् १४५५) में माना गया है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम सन्त कबीर के साथ ही इस धारा के साहित्य के अभ्युदय को सम्बद्ध कर देते हैं। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि सन्त साहित्य की अनुप्रेरणा कबीर के अनेक वर्षों पूर्व ही सृजनात्मक रूप धारण कर चुकी थी। क्रिया प्रतिक्रिया के संघर्षों में युग-जीवन की विविध परिवर्तित रेखाओं ने इस काव्य-धारा में एक संश्लिष्ट रूप धारण किया। सिद्धसाहित्य की परम्परा का प्रस्फुटन क्रियात्मक और प्रतिक्रियात्मक इन दोनों रूपों में नाथ साहित्य में हुआ। इस परम्परा का विकास परवर्ती काल में संत साहित्य के रूप में हुआ। आगे जो विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत है, उससे इस वक्तव्य का स्पष्टीकरण हो जायेगा।

साधारणतः 'सन्त' का शाब्दिक अर्थ होता है बुद्धिमान पवित्रात्मा अथवा परोपकारी व्यक्ति। भक्त साधु और महात्मा के अर्थों में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है। इस प्रकार की धारणा भी प्रचलित है कि ब्रह्मानन्द-सम्पन्न व्यक्ति

ही सन्त है 'शुद्धं ब्रह्मानन्दात्मकं विचते वस्तु'। धम्मपद में 'शांत' के लिए इस शब्द का प्रयोग मिलता है। यह संस्कृत 'सत्' का बहुवचन है, जिसका प्रयोग हिन्दी में एक वचन के लिए होता है। इसका प्रयोग परम तत्व के लिए भी होता है, जो नित्य है। 'पाहुड़ दोहा' में 'सन्त' का परिचय इन शब्दों में दिया गया है, 'संतु णिरंजणु सेवि सिउ तहि किज्जइ अणुराउ। एक साखी में कबीर ने संत का परिचय इस प्रकार दिया है —

निरवैरी निहकामता साईं सेती नेह।
बिषियाँ सूं न्यारा रहै सन्तन के अंग एह।
कबीर ग्रंथावली।

गोस्वामी तुलसी दास ने भी सन्त के लक्षणों की चर्चा करते हुए कहा है—
सबकै ममता ताग बटोरी ममपद मनहिं बांध बर डोरी।

ऊपर इस ओर संकेत किया गया है कि हिन्दी में निर्गुण भक्ति-परम्परा के अन्तर्गत कबीर और उनके अनुयायियों को निर्गुणपन्थी और उनके काव्य को 'निर्गुण साहित्य' की संज्ञा मिली है। इनके लिए ही 'सन्त' शब्द का प्रयोग किया जाता है। हिन्दी के पूर्व सन्तकाव्य की एक स्पष्ट परम्परा मराठी साहित्य में उपलब्ध होती है। मराठी में 'विठ्ठल' या 'वारकरी' सम्प्रदाय के साधकों के लिए 'सन्त' संज्ञा का व्यवहार किया जाता है। इस सम्प्रदाय में 'निर्गुण' के प्रति विशेष आस्था प्रकट मिलती है। इस परम्परा में ज्ञानदेव नामदेव, तुकाराम आदि संतों का विशेष स्मरण किया जाता है। कबीर और उनके अनुयायियों के लिए 'सन्त' की संज्ञा सम्भवतः मराठी-परम्परा से ही ग्रहण की गई है। कबीर रामानन्द के शिष्य थे। रामानन्द ने निर्गुण ब्रह्म की जो कल्पना की है उसमें वह जरा-मरण से मुक्त है। उन्होंने जिस निर्गुण की कल्पना की है वह द्वैत-अद्वैत इन दोनों तत्वों से परिपूर्ण है। वह यौगिक ब्रह्म है। इस प्रकार रामानन्द का ब्रह्म यौगिक साधना और वैदान्तिक विचार धारा के अनुकूल है। हिन्दी के सन्त साधकों ने इन्हीं विचारों का अवलम्ब ग्रहण कर अपनी चिन्तनधारा और अपने भावबोध का निर्माण किया है। साथ-साथ इनमें ज्ञान भक्ति और वैराग्य इन तीनों के प्रति समन्वयात्मक दृष्टि भी मिलती है। यहाँ द्वैताद्वैत अलखनिरंजन निर्गुण ब्रह्म की उपासना स्वीकार की गई है। बौद्धदर्शन, बौद्ध क्षणिकवाद, शून्यवाद विज्ञान

बाद धैव दर्शन तथा प्रतिक्रिया दर्शन इस भावधारा की साधना और इससे सम्बन्धि
साहित्य में उपलब्ध हो जाते हैं। डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने सन्तों के म
को 'निर्गुण पंथ' और सन्तों को 'निरगुनिया' कहा है। परन्तु परशुराम चतुर्वे
इस पर आपत्ति करते हुए यह संकेत करते हैं कि बड़थ्वाल के निर्णय स
संकेत मिलता है कि इसके अनुयायी परम तत्व को केवल निर्गुण ही मानने
परन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है। कबीर इत्यादि सन्तों ने निर्गुण और सगुण से
किसी अनिर्वचनीय व अलेख किन्तु अनुभवगम्य को परम तत्व माना है। यथा

जाके मुख माथा नहीं नाही न रूप कुरूप।
पुहुप बास ते पातरा ऐसा तत्त अनूप॥

जिसके मुख नहीं है माथा नहीं है वह पुष्प की सुगन्धि से भी सूक्ष्म
केवल अनुभव में ही परिबद्ध हो सकता है संचरण कर सकता है। यही का
है कि कबीर को कहना पड़ा—

भारी कहौं त बहु डरौं, हलका कहूँ तौ झूठ।
मैं का जाणौं राम कूं, नैनन कबहुँ न दीठ।

इस प्रकार का विश्वास प्रकट किया जाता है कि महायान मंत्र
वज्रयान तथा यौगिक बौद्ध साधना के आधार पर जो साधनात्मक और साहि
धारायें विकसित हुईं उनके विपरीत प्रतिक्रियात्मक रूप में नाथपन्थ और स
साहित्य का विकास हुआ। नाथपन्थ की परवर्ती शृंखला ही संतमत
परन्तु वस्तु-स्थिति को अति व्यापक रूप में देखना होगा। नाथ-सन्त मत में
के उदात्त तत्वों के प्रति आग्रह है, जो सम्भवतः सिद्धों में नहीं है।
इस प्रकार निर्णय से ही स्थिति का समाधान नहीं हो पाता है। बौद्ध
के विघटन के समय ही हीनयान महायान, मंत्रयान और सहज यान के सम
नार एक सम्प्रदाय के अस्तित्व का संकेत मिलता है जिसे ध्यानसम्प्रदा
नाम से ख्याति मिली थी। इस सम्प्रदाय में मंत्रयान तंत्रयान, सहजयान
प्रभावित जीवन-स्वरूप के विपरीत शुद्ध, सात्विक जीवन-मान्यताओं के
आग्रह प्रकट किया गया है। मुझे ऐसा लगता है कि 'नाथपंथ' और 'संत
इसी भावधारा के परवर्ती रूप हैं। ध्यान सम्प्रदाय में विषय-वासनाओं से
बचने का आग्रह मिलता है।

ही सन्त है, 'शुद्ध ब्रह्मानन्दात्मके विरते मस्य'। धम्मपद में 'शांत' के लिए इस शब्द का प्रयोग मिलता है। यह संस्कृत 'सत्' का बहुवचन है, जिसका प्रयोग हिन्दी में एक वचन के लिए होता है। इसका प्रयोग परम तत्त्व के लिए भी होता है, जो नित्य है। 'पाहुड़ दोहा' में सन्त' का परिचय इन शब्दों में दिया गया है, 'संतु निरंजणु सेवि सिउ तहि किज्जइ अणुराउ। एक साखी में कबीर ने संत का परिचय इस प्रकार दिया है —

निरवैरी निहकामता साईं सेती नेह।
बिषियों सूं न्यारा रहै सन्तन के अंग एह।
कबीर ग्रंथावली।

गोस्वामी तुलसी दास ने भी सन्त के लक्षणों की चर्चा करते हुए कहा है—
सबकै ममता ताग बटोरी ममपद मनहिं बांध बर डोरी।

ऊपर इस ओर संकेत किया गया है कि हिन्दी में निर्गुण भक्ति-परम्परा के अन्तर्गत कबीर और उनके अनुयायियों को निर्गुणपन्थी औरउनके काव्य को निर्गुण साहित्य की संज्ञा मिली है। इनके लिए ही 'सन्त' शब्द का प्रयोग किया जाता है। हिन्दी के पूर्व सन्तकाव्य की एक स्पष्ट परम्परा मराठी साहित्य में उपलब्ध होती है। मराठी में 'विठ्ठल' या 'वारकरी' सम्प्रदाय के साधकों के लिए 'सन्त' संज्ञा का व्यवहार किया जाता है। इस सम्प्रदाय में निर्गुण' के प्रति विशेष आस्था प्रकट मिलती है। इस परम्परा में ज्ञानदेव नामदेव तुकाराम आदि संतों का विशेष स्मरण किया जाता है। कबीर और उनके अनुयायियों के लिए 'सन्त' की संज्ञा सम्भवतः मराठी-परम्परा से ही ग्रहण की गई है। कबीर रामानन्द के शिष्य थे। रामानन्द ने निर्गुण ब्रह्म की जो कल्पना की है उसमें यह जरा-मरण से मुक्त है। उन्होंने जिस निर्गुण की कल्पना की है वह द्वैत-अद्वैत इन दोनों तत्वों से परिपूर्ण है। वह यौगिक ब्रह्म है। इस प्रकार रामानन्द का ब्रह्म यौगिक साधना और वेदान्तिक विचार धारा के अनुकूल है। हिन्दी के सन्त साधकों ने इन्हीं विचारों का अवलम्ब ग्रहण कर अपनी चिन्तनधारा और अपने भावबोध का नियमन किया है। साथ-साथ इनमें ज्ञान भक्ति और वैराग्य इन तीनों के प्रति समन्वयात्मक दृष्टि भी मिलती है। यहां द्वताद्वैत बकसनिरंजन निर्गुण ब्रह्म की उपासना स्वीकार की गई है। बौद्धदर्शन, बौद्ध क्षणिकवाद, शून्यवाद विज्ञान

वाद, शैव दर्शन तथा प्रतिक्रिया दर्शन इस भावधारा की साधना और इससे सम्बन्धित साहित्य में उपलब्ध हो जाते हैं। डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने सन्तों के मार्ग को 'निर्गुण पंथ' और सन्तों को 'निरगुनिया' कहा है। परन्तु परशुराम चतुर्वेदी इस पर आपत्ति करते हुए यह संकेत करते हैं कि बड़थ्वाल के निर्णय से यह संकेत मिलता है कि इसके अनुयायी परम तत्व को केवल निर्गुण ही मानते थे। परन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है। कबीर इत्यादि सन्तों ने निर्गुण और सगुण से पर किसी अनिर्वचनीय व अज्ञेय किन्तु अनुभवगम्य को परम तत्व माना है। यथा—

जाके मुख माथा नहीं नाहीं न रूप कुरूप।
पुहुप बास ते पातरा ऐसा तत्त अनूप॥

जिसके मुख नहीं है माथा नहीं है वह पुष्प की सुगन्धि से भी सूक्ष्म है केवल अनुभव में ही परिबद्ध हो सकता है संचरण कर सकता है। यही कारण है कि कबीर को कहना पड़ा—

भारी कहौं त बहु डरौं हलका कहूँ तौ झूठ।
मैं का जाणौं राम कूँ, नैनन कबहुँ न दीठ।

इस प्रकार का विश्वास प्रकट किया जाता है कि महायान [illegible] मन्त्रयान तथा तांत्रिक बौद्ध साधना के आधार पर जो साधनात्मक और [illegible] धारायें विकसित हुईं उनके विपरीत प्रतिक्रियात्मक रूप में [illegible] और [illegible] साहित्य का विकास हुआ। भावपन्थ की परवर्ती [illegible] है परन्तु वस्तु स्थिति को अति व्यापक रूप में देखना होगा। [illegible] के उदात्त तत्वों के प्रति आग्रह है जो सम्भवतः [illegible] है [illegible] इस प्रकार निर्णय से ही स्थिति का समाधान नहीं [illegible] है [illegible] के विघटन के समय ही हीनयान महायान मंत्रयान और [illegible] के [illegible] बाद एक सम्प्रदाय के अस्तित्व का संकेत मिलता है [illegible] नाम से ख्याति मिली थी। इस सम्प्रदाय में [illegible] प्रभावित जीवन-स्वरूप के विपरीत [illegible] आग्रह प्रकट किया गया है। अतः ऐसा [illegible] है कि [illegible] इसी भावधारा के परवर्ती रूप हैं। [illegible] करने का आग्रह मिलता है।

ध्यान सम्प्रदाय में दैनिक जीवन की सापेक्षता और जीवन के गार्हस्थिक स्वरूप के प्रति विशेष विश्वास प्रकट किया गया है। नाथसाधकों में गार्हस्थिक जीवन की अवहेलना मिलती है, परन्तु सन्तों ने इसके प्रति विश्वास प्रकट किया है। कबीर ने अति स्पष्ट शब्दों में कहा है 'जपिए नाम जपिए अन्नु' अर्थात् नाम का जाप करिए और अन्न का जाप करिए। ध्यान सम्प्रदाय में स्वानुभूति-परक ज्ञान को ही विशेष प्रश्रय मिला है। 'लंकावतार सूत्र' में 'स्वयं संवेद्य ज्ञान' की चर्चा की गई है। 'ध्यान सम्प्रदाय' ने इस 'स्वयं संवेद्य ज्ञान' सिद्धान्त को ग्रहण किया है। कबीर तथा अन्य निर्गुण सन्तों में भी 'स्वयं संवेद्य ज्ञान' की चर्चा मिलती है। कबीर ने इसी सन्दर्भ में कहा है 'पाछे लागा जाइ था लोक वेद के साथि आगे तें सतगुरु मिला दीपक दीया हाथ।' साधना की अनुभूतिपूर्ण भावयोजना के अनेक सन्दर्भों का जो स्वरूप सन्तों में उपलब्ध है, उसकी पूर्व रूप-योजना ध्यान सम्प्रदाय की अभिव्यंजना प्रणाली में अवस्थित मिलती है। कबीर ने मन की दो स्थितियों अथवा अवस्थाओं का उल्लेख किया है, 'इन मन' और 'उन मन'। ध्यान सम्प्रदाय में इस प्रकार की धारणा प्रचलित है कि सापेक्ष व्यक्तिगत मन ही निरपेक्ष और समष्टिगत मन हो जाता है। साधना की उच्च भूमि पर सापेक्ष मन निरपेक्ष हो जाता है। व्यक्तिगत मन को अनन्त निरपेक्ष मन में मिलाने की प्रक्रिया को 'उन्मनी अवस्था' कहते हैं। सन्तों ने इस प्रकार की उन्मनी अवस्था की व्यवस्था की है। कबीर ने इसी क्रिया को व्यक्त करते हुए कहा है—

मन लागा उन मन्न सौं गगन पहुँचा जाइ।
मन लागा उन मन सौं उनमन मनहि विलग्ग।
लूण विलग्गा पाणियाँ पाणी लूण विलग्ग।

अथवा

मन दीया मन पाइये मन बिनु मन नहिं होय।
मन उनमन उस अंड ज्यूँ अनल अकासाँ जोई।
उठत बैठत कबहूँ न बिसरे, ऐसी तारी लागी।
कहै कबीर यह उनमन रहनी, सो परगट कर गाई।

इस प्रकार शान्त चेतना को अनन्त चेतना में मिलाने की प्रक्रिया को ध्यान सम्प्रदाय में उन्मनी स्थिति कहा गया है। कबीर इत्यादि ने इसी उन्मनी अवस्था

की चर्चा की है। ध्यान सम्प्रदाय में इसके प्रकट और अप्रकट इन दोनों रूपों की परिकल्पना की गई है। कबीर ने इस भाव-संवेदना को ग्रहण करते हुए कहा है कि 'उन्मन' अवस्था अप्रकट है, परन्तु सहज समाधि में वह प्रकट हो जाती है। यथा—

संतो सहज समाधि भली
जहँ जहँ डोलौं सोइ परिकरमा जो कुछ करौं सो सेवा
× × × ×
कहै कबीर यह उनमन रहनी यह परगट कर गाई।

कबीर तथा अन्य सन्तों की रचनायें अंगों में वर्गीकृत मिलती हैं जैसे 'गुरुदेव को अंग' 'सुमिरन को अंग' 'विरह को अंग' 'परचा को अंग' 'रस को अंग', इत्यादि। बुद्धघोष ने इस शब्द का प्रयोग 'कारण' के अर्थ में किया है। इस सन्दर्भ में 'विसुद्धि मग्ग' की ओर संकेत विशेष महत्वपूर्ण होगा। इस ग्रन्थ के द्वितीय परिच्छेद में 'अंगानि कारणं वुत्तानि' की चर्चा मिलती है। 'पालितिपिटक' में ऐसे अनेक सन्दर्भ मिलते हैं, जिनमें अङ्गों से साखी देने की विधा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इस प्रकार के अति स्पष्ट प्रयोग ध्यान सम्प्रदाय में मिलते हैं और इस सन्दर्भ में यह संकेत किया जा सकता है कि कबीर इत्यादि की रचनाओं में यह प्रयोग इस पूर्व परम्परा से ही उपलब्ध हुआ लगता है। उदाहरण—

निरवैरी निहकामता साईं सेती नेह।
विषियां सूं न्यारा रहै सन्तनि का अंग एह॥

मन रक्षा के लिए तथागत ने 'स्मृति' का उपदेश दिया था। ऐसे सन्दर्भ मिलते हैं जिनमें वे अपनी 'स्मृति' और 'अविस्मृति' अवस्थाओं का उल्लेख करते हैं। सन्तों ने सुरति का प्रयोग स्मृति के पर्यायवाची रूप में किया है। 'प्रज्ञापारमिता' की अनुभावना का विकास सन्तों में मिलता है जिसके अन्तर्गत 'शून्य' के प्रति विशेष आकर्षण भाव प्रकट किया गया है। सिद्धों और नाथों में इसका प्रयोग मिलता है। इसकी चर्चा हो चुकी है। 'प्रज्ञा' को 'शून्य' का पर्याय माना गया है। यह ज्ञान-धार के समान अज्ञान को खण्डित करती है। मध्यकालीन सन्तों में इसका प्रयोग मिलता है और वहाँ 'राम' को 'प्रज्ञा' या 'शून्य' का पर्यायवाची माना गया है, यथा—

सतगुरु साँचा सूरिवाँ सबद जु बाह्या एक।
लागत ही मैं मिल गया पड़्या कलेजे छेक।
सतगुरु मारा बाण भर बरि करि सूधी मूठि।
अंग उघाड़े लागिया गई दवा सूं फूटि।

सन्तों की भाव धारा और अभिव्यंजना प्रणाली सिद्धों और नाथों की रचनाओं से अविशिष्ट रूप में सम्बन्धित है। भाव भाषा, प्रतीक विधान और अन्य विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों की दृष्टि से हम सिद्धो-नाथों और सन्तों में एक शृंखला का विकास देखते हैं। इसके साथ-साथ रामानन्द के उद्बोधों से उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति की जो रूप-योजना प्रस्फुटित हुई, उसका यथेष्ट प्रभाव सन्त-मत के स्वरूप संगठन पर पड़ा है। इस प्रकार मूल रूप में हम यह स्पष्ट देखते हैं कि उत्तर भारत में सन्त सम्प्रदाय की पीठिका निर्मित करने में अनेक मतवादों ने योगदान किया है। वज्रयानी साधकों की विचारधाराओं की प्रतिक्रिया में प्रस्फुटित नाथपंथ की अनुचेतना का योग यहाँ स्पष्ट मिलता है। महाराष्ट्र में प्रचलित विट्ठल सम्प्रदाय की प्रेमासक्ति भावना का संस्पर्श भी यहाँ उपलब्ध हो जाता है। रामानन्द द्वारा प्रतिपादित और उनके प्रभाव से जाग्रत अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद की चिन्तन धारा का भी आंशिक समावेश यहाँ मिलता है। सूफी साधना धारा की रहस्यवादी विभूति भी यहाँ गृहीत है। इस प्रकार संतमत ने बौद्धदर्शन के अन्तर्गत उपलब्ध क्षणिकवाद शून्यवाद, विज्ञानवाद तथा षड्दर्शन और प्रतिभिज्ञा दर्शन के विभिन्न तत्वों को आत्मसात् किया है। कापालिक और रसेश्वर साधना-धाराओं से भी यह मत प्रभावित है। साधना सम्बन्धी शब्दों के अन्तर्गत 'नाद' बिन्दु' उन्मनी' आदि का अतिव्यापक प्रयोग सिद्धों और नाथों के समान सन्तों ने भी किया है। तंत्र-मन्त्र-साधना एवं दर्शन से सन्त विशेष प्रभावित थे। इतना होते हुए भी सन्तों की साधना और उनके काव्य का स्वरूप सिद्धों और नाथों से भिन्न था। उदाहरण स्वरूप राम को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने उन्हें 'दसरथ सुत' से भिन्न माना है—

दसरथ सुत तिहुं लोक बखाना, राम नाम का मरम न जाना।

इसी दृष्टि से सन्तों ने पूर्व-परम्परा से प्राप्त 'शून्य' 'सहज समाधि'

'साधना' आदि रूपों का अवस्थान अपने अनुरूप किया है। इस संदर्भ में कबीर से सम्बन्धित सन्त दादू के एक दोहे का उल्लेख यहाँ अपेक्षित लगता है—

निर्गुण ब्रह्म को कियो समापु, तब ही चले कबीरा साधु।
दुर्बकी राह सौंप सब छाड़ी हिन्दू के करनीते पूनि न्यारी। दादू।

(देखिए—हिन्दी साहित्य की भूमिका प्र० सं० ३७)। इस प्रकार कबीर साधना की उस भाव भूमि की प्रस्तावना करते हैं जहाँ धर्म-जाति और वर्ग भावना की सम्भावना समाप्त हो जाती है। इस प्रकार की अनुचेतना सन्तधारा की समग्रता के निर्माण में निरन्तर क्रियाशील रही है।

हिन्दीसाहित्य में सन्त-मत का जो स्वरूप विकसित हुआ है उसके स्वरूप गठन का मौलिक श्रेय रामानन्द को है। रामानन्द से प्रदीप्त होकर ही कबीर ने निर्गुण सन्त-पंथ का स्वरूप-विधान किया। भक्ति के इस स्वरूप का इन्होंने विस्तार किया। इस प्रकार की मान्यता भी मिलती है कि भक्ति का प्रादुर्भाव दक्षिण में हुआ, रामानन्द द्वारा उत्तर भारत में उसका संस्थापन हुआ सप्तद्वीप-नवखण्डों में उसका प्रसार कबीर द्वारा हुआ।

भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सप्त दीप नव खण्ड।

रामानन्द की शिष्य परम्परा में रैदास कबीर, धन्ना, सेना पीपा भवानन्द, सुखानन्द, भावानन्द, सुरसुरानन्द, परमानन्द, महानन्द और श्री आनन्द की चर्चा की जाती है।

सन्तों की परम्परा

संत-परम्परा के इतिहास-विश्लेषण के सन्दर्भ में 'गीत गोविन्दकार' जयदेव का नाम आदि सन्त के रूप में प्रस्तावित किया जाता है। इस प्रकार की मान्यता मिलती है कि जयदेव सहजयान से प्रभावित थे। 'आदि ग्रन्थ' में जयदेव के नाम से जो दो पद मिलते हैं उनमें से प्रथम में रामनाम का उल्लेख है। नाम स्मरण के साथ-साथ मन-वचन-कर्म से की जाने वाली भक्ति का भी उल्लेख इसमें है। दूसरे पद की भाव भूमि इस प्रकार है कि भक्ति का स्वरूप दास और राम

से श्रेष्ठ है। कतिपय सन्दर्भों में यह संकेत मिलता है कि इनके 'गीतगोविन्द' में वर्णित राधा-कृष्ण सहजयानियों की साधना में उपलब्ध 'प्रज्ञा' और उपाय' के पर्यायवाची हैं। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। कतिपय विचारकों ने इन्हें निम्बार्क सम्प्रदाय का अनुयायी माना है। वास्तविकता यह है कि जयदेव सन्त परम्परा के अन्तर्गत नहीं आते हैं। जिस जयदेव के पदों का संकलन आदि ग्रन्थ' में मिलता है वे *'गीतगोविन्दकार'* से भिन्न थे। इसका निर्णय जयदेव के नाम से प्रचलित निम्नलिखित पद की भाषा से हो जाता है —

चंद सत भेदिया, नाद सत पूरिआ सूरसत षोड़सादतु कीआ।
अबल बल तोड़िआ अचल चलु थापिआ अघड़ घड़िआ तहा अपिउ पीआ।
मन आदिगुण आदिवखरीआ। तेरी दुविधा द्रसटि संमानिआ (रहाउ १)।
अरधि कउ अरधिआ सरधि कउ सरधिआ। सलल कउ सललि संमनि आइआ।
बदति जैदेउ जैदेउ कउ रमिआ ब्रहमु निरबाणु लिव लीण पाइआ।
[गुरुग्रन्थ साहिब पृ० ११०६, ११११, अमृतसर।]

इस प्रकार हम हिन्दी-सन्तपरम्परा के सन्दर्भ में हिन्दी के पूर्व मराठी में उपलब्ध सन्तपरम्परा और हिन्दी सन्त-परम्परा के परवर्ती पंजाबी सन्तों की परम्परा का उल्लेख आवश्यक समझते हैं। इस दृष्टि से ही मराठी और पंजाबी परम्परा के साधकों और कवियों की चर्चा यहाँ की जा रही है। महाराष्ट्र में नाथ सम्प्रदाय की विविध धाराओं से समन्वित साधना-परम्पराओं का उल्लेख मिलता है। नाथ सम्प्रदाय के समानान्तर यहाँ 'महानुभाव सम्प्रदाय' का अभ्युदय होता है। मराठी में सन्तमत की परम्परा यहीं से आरम्भ होती है। हिन्दी में उपलब्ध सन्त मत का पूर्व रूप भी यहाँ उपलब्ध हो जाता है। इसके प्रवर्तक चक्रधर थे। इनका समय सन् १२११ ई० के निकट पड़ता है। इनकी रचनाओं में प्रस्तावित भाव पक्ष का स्वरूप कतिपय अंशों में हिन्दी-सन्तों की रचनाओं के भाव-पक्ष के समान ही है। उदा०—

मूल स्वामी भिउ बन्ध बोधो हो कोई ना कारा कलाई।
गुरु बचने उमियामा दृढ़ बन्धाई के बीना चंचल माही।

गुरी बंधी स्थिर होई बैसे सहजी पाई।
सो परी मोरो बैरी आपनां काई।

× × ×

पचि पंचायत पारैं वन हो बावरी बाप आप स्वामी।
प्रथम पूरो हो मनिस्थिर करो हो चन्द्र में सींवा माने।
आवा गमन हुई न वारो बुद्धि राखो अपन पे।
मारिए बार्वा मिवारो मिवारो हो मिहे न पायो पाई।
बौसे निरंजन सोझो करी हो भाव-अभाव दोन्हौ नाहीं।

—हिन्दी को मराठी सन्तों की देन।

महाराष्ट्रीय सन्त-परम्परा में सन्त सजना का नाम विशेष आदर के साथ लिया जाता है। नामदेव ने अपनी रचनाओं में इनका उल्लेख किया है। परन्तु इनकी जीवनी, इनकी रचना-प्रणाली और साधना प्रणाली के विषय में सामग्री उपलब्ध नहीं है। सजना या सदना नामक एक अन्य साधक की चर्चा मिलती है परन्तु वे सिन्ध के निवासी थे तथा वे नामदेव के समकालीन थे।[1]

इस सन्दर्भ में बारकरी[2] सम्प्रदाय का उल्लेख अपेक्षित है। इसके प्रवर्तक संत पुंडलिक थे। इनका समय सन् ११२८ के लगभग आता है। इस पंथ को भागवतधर्म भी कहते हैं। इसके विकास का इतिहास पाँच कालों में इस रूप में विभक्त किया जाता है—(क) भक्त पुंडलिक से संत ज्ञानेश्वर तक (ख) संत ज्ञानेश्वर और नामदेव (१२७० १३५०) तक। (ग) संत भानुदास और संत एकनाथ (१३५० १५८८) तक। भक्त शिरोमणि तुकाराम और संत निळोबाराम (१५८८

---

१ नामदेव से इनका परिचय एकोरा की कन्दरा में हुआ था। यहीं से सन्त-परम्परा में दीक्षित हुए थे—देखिए उत्तर भारत की सन्त परम्परा।

पृ०—१०० ।

२ बारकरी का शब्दार्थ है बारी (यात्रा) करी (करनेवाला), परन्तु महाराष्ट्र में धार्मिक दृष्टि से उसे बारकरी कहते हैं जो पंढरपुर स्थित श्रीविट्ठल मूर्ति का उपासक है और जो आषाढ़ तथा एकादशी को पंढरपुर की नियमित यात्रा करता है।

१७२०)। तक संत महीपति और उनके पश्चात् (१७६०) तक। यह सम्प्रदाय अद्वैतवाद को मानता है। व्यापक निर्गुण और निराकार के प्रति आस्थावान होते हुए भी उसके सगुण रूप पर भी यहाँ विश्वास मिलता है।

संत ज्ञानेश्वर: संत ज्ञानेश्वर का जन्म सन् १२७१ (शके ११९७ श्रावण बद ८ को) पैठण से चार कोस पर गोदावरी के उत्तर किनारे आपे गाँव में हुआ था। संत ज्ञानेश्वर और नामदेव इन दोनों ने एक साथ उत्तर भारत की यात्रा की थी। इसका उल्लेख नामदेव रचित 'तीर्थावलि' के ५९ अभंगों में है। इनकी मृत्यु अवधि सन् १२९६ है। इन्होंने 'भावार्थ दीपिका' (ज्ञानेश्वरी) अमृतानुभव' 'हरिपाठ के अभंग' इत्यादि रचनायें की हैं। 'ज्ञानेश्वरी' श्रीमद्भगवद्गीता' की टीका है। ऐसा विश्वास प्रकट किया जाता है कि उत्तर भारत में भ्रमण करते समय इन्होंने हिन्दी में भी कतिपय पदों की रचना की थी। यथा—

सब घट देखो मानिक मौला,
कैसे कहूँ मैं काला धवला।
× × ×
निर्गुण ब्रह्म गुणन से न्यारा।
पोथी पुस्तक भए अपारा।
कोरा कागद पढ़कर जाय।
ऐसा एक और देखा होय।
× × ×
निर्गुण दाता कर्ता हर्ता।
सब घुम बन में आप छिता।
सदा सर्वदा मङ्गल होय।
ऐसा एक न देखा होय।

एक अन्य उदाहरण —

सोई कच्चा वे नहीं गुरु का बच्चा
दुनिया तजकर खाक रमाई, जाकर बैठा बन माँ।
खेचरि मुद्रा वज्रासन माँ ध्यान धरत है मन माँ।
तीरथ करके उम्मर खोई जागे जुगति मो-धारी।

हुकुम निवृत्तिका ज्ञानेश्वर को तिनके ऊपर आमा।
सद्गुरु की कृपा भई तब आपहि आप छिपाना।

ये रचनायें (किसी भी रूप में) नामदेव की नहीं हो सकती हैं। इनका प्रणयन नामदेव के नाम से बहुत बाद को हुआ लगता है। इनकी भाषा अठारवीं शताब्दी के पश्चात् की है।

संत नाम देव (१२७० १३५०) —संत नामदेव वारकरी सम्प्रदाय के प्रथम प्रचारक थे। उत्तर भारत में कबीर का जो स्थान है वही स्थान महाराष्ट्र में संत नामदेव का है। इनका जन्म सन् १२७० में नरसी ब्राह्मणी नामक ग्राम में एक दर्जी कुल में हुआ था। विट्ठल-भक्ति इनके परिवार की विशेष भक्ति-निष्ठा थी। ज्ञानेश्वर के साथ इन्होंने उत्तर भारत की यात्रा की थी। पंढरपुर के मन्दिर के महाद्वार पर ८० वर्ष की आयु में इन्होंने समाधि ली थी। गुरु नानक तथा नरसी मेहता ने इनकी भक्ति की महत्ता स्वीकार की है और इनके व्यक्तित्व-उद्घाटन में अनेक पदों की रचना की है। यथा—

पूर्वे पंढरपुर नोमकार। ब्राह्मण बाणी मर्तक गाय।
दई धौंपी सुरुतान सभाय॥
नामदेव नाय संजीवन करे। तो तुलसी माला कंठ धर।
ते नामदेव नी छिपाडी गाय। एवा समरथ वैकुण्ठ राय॥
—नरसी मेहता।

इस प्रकार की किंवदन्ती है कि संत नामदेव ने लगभग १००० 'अभंगों' की रचना की है। ये अभंग 'नामदेव की गाथा' नामक ग्रंथ में संग्रहीत हैं। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में नामदेव के ६१ पद संकलित हैं। 'गुरु ग्रंथ साहिब' का संकलन नामदेव के समाधिस्थ होने के लगभग ढाई सौ वर्ष पश्चात् हुआ है। अतः इस संकलन के पदों को नामदेव के मूल पदों के रूप में हम नहीं स्वीकार कर सकते। इन पर पंजाबी का यथेष्ट प्रभाव मिलता है। खड़ी बोली ब्रजभाषा तथा अन्य पूर्वी बोलियों के अंश इनमें उपलब्ध हो जाते हैं। संत नामदेव संत ज्ञानेश्वर के शिष्य विसोबा खेचर से दीक्षित हुए थे। और दीक्षा के पश्चात् वे योग-मार्ग की ओर आकर्षित हुए। नामदेव के नाम से प्रसिद्ध रचनाओं में से कुछ अंश यहाँ

प्रस्तुत हैं। वस्तु-पक्ष और अभिव्यंजना प्रणाली, इन दोनों ही दृष्टियों से ये रचनायें हिन्दी-संत-रचनाओं के अनुकूल हैं—

> अवचु मच्छु निराकार महि अनहद बेनु बजाऊ गो।
> इडा पिंगला अरुरु सुखमना पउनै बंधि रहाउगो ॥
> चंद्र सुरज दुई सम करि राखउ ब्रह्म ज्योति मिलि जाउँगो ॥

अथवा —

> जब अनहद घुर उचारा, तह दीपक बले संसारा।
> गुरपर सावी चानिआ अनुमामा सहज समानिआ।

अथवा राग भैरव—

> मैं बउरी मेरा रामु भतारु।
> रचि रचि ताकउ करउ सिंगारु ॥
> भले निंदउ भले निंदउ भले निंदउ लोगु।
> तनु मनु राम पिआरे जोगु ॥

इसकी तुलना कबीर-रचित 'हरि मेरो पिउ मैं राम की बहुरिया' अथवा 'दुलहिन गावहु मंगलचार, हम घर आए राजा राम भतार' शीर्षक पदों से की जा सकती है। नामदेव 'नाम स्मरण' के प्रति आग्रह व्यक्त करते हैं। अपनी वाणियों में गुरु की महिमा का वर्णन करते हैं। 'उन्मनी अवस्था' में उपलब्ध 'ब्रह्म-भोग' का वर्णन करते हैं। उन्मनी अवस्था' और 'अनहद नाद' का विस्तार कबीर और अन्य सन्त साधकों में उपलब्ध होता है उसका स्वरूप नामदेव की रचनाओं में मिल जाता है। पंढरपुर की विट्ठल प्रतिमा को नामदेव ब्रह्म के व्यापक स्वरूप के रूप में सम्मान देते थे। कबीर ने इनकी परम्परा के अनुरूप ही अपने अनेक दोहों में 'बिठुला' का प्रयोग व्यापक ब्रह्म के लिए किया है—

> गोकुल नाइक बिठुला मेरो मन लागो तोहि रे।
> बहुतक दिन बिछुरे भए, तेरी औसरि आवै मोहिरे ॥
> मन के मोहन बीठुला यहुमन लागहु तोहि रे।
> चरन कमल मन मानिया, और न भावे मोहि रे ॥
>
> —कबीर

संत एकनाथ (सन् १५३३-१५९९) संत एकनाथ का जन्म दक्षिण काशी पैठन में संत भानुदास के कुल में सन् १५३३ में हुआ था। ये भानुदास के पौत्र थे। इनके पिता सूर्यनारायण थे, और उनकी माता का नाम रुक्मिणी था। इनका जन्म मूल नक्षत्र में हुआ था। इसका उल्लेख एकनाथ ने इस प्रकार किया है, 'मूल की मूल में ही एकनाथ ने जन्म धारण किया। यह मूल नक्षत्र ऐसा आ पड़ा कि मैंने दोनों को निर्मूल कर दिया। उन्होंने नक्षत्र की शान्ति की तो वे स्वयं ही शान्त हो गए।'[1] इनकी प्रमुख रचनायें हैं—'चतुःश्लोकी भागवत', हस्तामलक' 'आनन्द लहरी नामभागवत' 'ज्ञानेश्वरी का संशोधित पाठ' 'भावार्थ रामायण' इत्यादि। एकनाथ के नाम से सम्बन्धित कतिपय हिन्दी रचनायें भी उपलब्ध हुई हैं।

हिन्दी में सन्त-परम्परा

कबीर —हिन्दीसाहित्य में सन्त-काव्य धारा का स्पष्ट और स्वतन्त्र स्वरूप कबीर द्वारा संस्थापित होता है। कबीर युग चिन्तक युग-उन्नायक और भक्त इन विभिन्न भूमिकाओं में अपने व्यक्तित्व का प्रसार करते हैं। अपने एक दोहे में उन्होंने कहा है—

तुम्ह जिन जानों गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार
केवल कहि समुझाइया आतम साधन सार रे।[2]

अर्थात्, इन गीतों में भावात्मकता की अपेक्षा ब्रह्म-सम्बन्धी कबीर की अपनी भावनायें व्यक्त हैं, जो आत्मानुभूति द्वारा ही उपलब्ध हैं। कबीर ने एक व्यापक मानवतावादी आदर्श की सम्भावना को अपने सम्मुख रखा है। इस आदर्श में इन्होंने जीवन के सत्यात्मक सौन्दर्य को परिबद्ध किया है। इसमें 'बहुजन हिताय' और 'बहुजन सुखाय' की भावना नैसर्गिक रूप में समाहित हो उठी है। इसका परिचय इस अंश से मिल जाता है।

हरिजी यहै विचारिया साखी कहै कबीर।
भौ सागर में जीव हैं जे कोई पकड़े तीर।[3]

सम्भवतः उनकी साखियों से भवसागर में पड़े व्यक्तियों को जीवन का तट मिल सके यह विश्वास उनकी आस्था का मेरु-दण्ड है।

---

१ देखिए—मराठी का भक्ति साहित्य पृ० १२०।
२ कबीर ग्रन्थावली पृ० ८०-पद १।
३ कबीर ग्रंथावली पृ० ४६ उपदेश को अंग।

कबीर का व्यक्तित्व मध्यकालीन साधकों में अनेक दृष्टियों से आकर्षणपूर्ण रहा है। नाभादास ने कबीरदास का जो परिचय दिया है उससे उनके मानसिक गठन का परिचय मिल जाता है—

कबीर कानि राखि नहीं वर्णाश्रम षटदरसनी।
भक्ति विमुख जो धर्म सुसब अधरम करि गायो।
योग यज्ञ व्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो।
हिन्दु तुरक प्रमाण रमैनी सबदी साखी।
पक्षपात नहिं वचन सबही के हित की भाखी॥
आरूढ़ दशा ह्वै जगत पर मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षटदरसनी॥६०॥(१५४)॥[1]

कबीर ने विरोधों के बीच जन्म लिया और विरोधों के मध्य ही वे विकसित हुए। ऐसा विश्वास किया जाता है कि कबीर का जन्म विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था, और उनका पालन-पोषण मुसलमान जुलाहे नीरू के यहाँ हुआ था। इस जन प्रचलित भावना में कितना सत्य है इसका निर्णय करना सरल नहीं और यह आवश्यक भी नहीं है। परन्तु इससे यह संकेत अवश्य मिलता है कि उनके व्यक्तित्व का निर्माण विरोधी तत्वों और संस्कारों से हुआ था। वे विरोधी परिस्थितियों के मिलन-बिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे। मुसलमान उन्हें मुसलमान नहीं मानते थे हिन्दू उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। समग्रता की दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि उनके व्यक्तित्व का विकास ऐसे वातावरण में हुआ, जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों में प्रतिस्पर्धा की भावना उग्र रूप धारण करती जा रही थी। पण्डितों की रूढ़िवादी दृष्टि, ज्ञान की गरिमा से मण्डित उनका व्यक्तित्व और विग्रह की भावना की चरम सीमा उनके सम्मुख थी। दूसरी ओर सामाजिक स्तर पर परिव्याप्त अशिक्षा का भयावह रूप था। योग-भावना के समानान्तर भक्ति-भावना प्रचलित थी। सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति इन दोनों का प्रभावपूर्ण अस्तित्व था। इस प्रकार अपने युग में प्रचलित समस्त मान्यताओं की

---

१ भक्तमाल :—प्रकाशक नवलकिशोर प्रेस लखनऊ सन् १९३७।

प्रतिबिम्बिता स्वीकार करते हुए कबीर ने अपने पथ का निर्माण किया और अपने अनुभूत सत्य पर उन्होंने सदैव विश्वास किया ।

कबीर जीवन में आस्था रखने वाले साधक थे । उनकी साधना और भक्ति का अंकुरण इसी आस्था का प्रतिफलन था । यही कारण है कि उनमें भक्ति, ज्ञान अनुराग विराग आत्मार्पण और विकर्षण इन समस्त तत्त्वों के समन्वय की महती चेष्टा विद्यमान है । योग की साधनात्मक प्रक्रियाओं से प्राप्त प्रसाद जीवन की सापेक्षता में ही उपलब्ध हो सकता है इसका विश्वासपूर्ण प्रस्तावन इस पद में मिल जाता है —

संतो सहज सहज समाधि भली ।
सांई ते मिलन भयो जा दिन तें सुरत न अन्त चली ।
आँख न मूँदूँ कान न रूँधूँ काया कष्ट न धारूँ ।
खुले नैन मैं हँस-हँस देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ ।
कहूँ सो नाम सुनूँ सो सुमिरन जो कछु करूँ सो पूजा ।
गिरह उद्यान एक सम देखूँ भाव मिटाऊँ दूजा ।
जहँ-जहँ जाऊँ सोई परिकरमा जो कछु करूँ सो सेवा ।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत पूजूँ और न देवा ।
शब्द निरन्तर मनुआँ राता मलिन वचन का त्यागी ।
ऊठत बैठत कबहूँ न बिसरे ऐसी तारी लागी ।
कहै कबीर यह उन्मन रहनी सोई परगट कर गाई ।
सुख-दुख के इक परे परम सुख तेहि में रहा समाई ।

कबीर : हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २४५ ।

संत कबीर की जीवनी का निर्धारण अनुभूतियों के आधार पर ही होता रहा है । अत उनकी प्रामाणिक जीवनी अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है । कबीर पन्थी उन्हें सत्यपुरुष मानते हैं । उनकी यह धारणा है कि सत्यपुरुष का तेज काशी के लहर तालाब में संवत् १४५५, विक्रमी जेठ सुदी सोमवार को अवतरित हुआ था । नीरू जुलाहे की स्त्री को पुरइन के पत्र पर पौढ़ा हुआ बालक मिला था । (देखिए —'कबीर चरित्र बोध' पृ० ९ श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई संवत् १९११)। कबीर का परिचय 'प्रसंग पारिजात' नामक ग्रन्थ से भी प्राप्त होता है।

पीपा, सेन रैदास, के साथ कबीर का भी उल्लेख इस ग्रन्थ में मिलता है। यहाँ इन्हें रामानन्द का शिष्य कहा गया है। इस ग्रन्थ में मीरा और नीमा का भी उल्लेख मिलता है। अपने आचार्य रमानन्द के साथ कबीर ने उत्तर भारत का व्यापक भ्रमण किया था, इसकी चर्चा भी यहाँ मिलती है। (देखिए स्वामी रामानन्द और प्रसंग पारिजात :—शंकर दयालु श्रीवास्तव हिन्दुस्तानी १९३२)। कबीर पंथियों में इनके जन्म से सम्बन्धित निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है।

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी प्रकट भए।

अनन्तदास ने अपनी रचना 'कबीर साहब की परचई' में कबीर का विस्तृत उल्लेख किया है। इनका समय पन्द्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। इनका आविर्भाव सन्त रैदास के पश्चात् हुआ था। इस ग्रन्थ में कबीर की जीवन-तिथि का उल्लेख नहीं है परन्तु इससे कबीर के जीवन के कतिपय पक्षों पर प्रकाश पड़ता है —

१ वे काशी के जुलाहा थे।

काशी बसै जुलाहा एक हरि भगतनि की पकड़ी टेक।

२ वे गुरु रामानन्द के शिष्य थे।

भृगम भगति कबीर की चीन्ही परवा बोल्या बचूना दीन्हीं॥
भाग बड़े रामानन्द गुरु पाया। जा मन मरण का भरम गमाया।

३ सिकन्दर शाह काशी में आया था। उसने कबीरदास पर अत्याचार किया था।

स्याह सिकन्दर कासी आया। काजी मुलाँ के मनि भाया।
कहै सिकन्दर ऐसी बाता। तूँ तोहि देपू दोजिग जाता।
पाकड़ संक स मौने मोरी। अब देपूं साँची करामति तोरी।
बाँध्यौ पग मेल्ह्यो जंजीर। ले बोरयो गंगा के नीर।

४ कबीर ने १२० वर्ष की आयु पाई थी।

बाल पर्नौ खोया मैं भयो। बीस बरस तै चेतन भयो।
बीस सऊ कम कीनी भगती। ता पीछे पाई है मुक्ती।

इस रचना से यह स्पष्ट होता है कि बीस वर्ष की अवस्था में इन्हें धर्म-ज्ञान मिला था। दो वर्ष तक इन्होंने भक्ति का प्रचार किया इसके पश्चात् इनकी मृत्यु हो गई।[1]

अबुलफ़ज़ल ने 'आईन-ए-अकबरी' (संवत् १६५५) में कबीर का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ के अनुसार कबीर मुवाहिद (एकेश्वरवादी) थे। इस ग्रन्थ में इसका उल्लेख मिलता है कि सूबा अवध के अन्तर्गत रतनपुर में इनके दो मजार हैं। मृत्यु के पश्चात् मुसलमानों द्वारा इनके शव को दफनाने और हिन्दुओं द्वारा जलाने का उल्लेख मिलता है। पर आलोच्य ग्रन्थ से कबीर के आविर्भाव काल का परिचय नहीं मिलता है। संत कबीर की जीवनी के निर्धारण-हेतु 'गुरु ग्रन्थ साहिब' का सन्दर्भ लिया जाता है। सिखधर्म के पाँचवें गुरु श्री अर्जुनदेव ने इसका सम्पादन किया था। इस ग्रन्थ में कबीर के 'राग' और 'सलोक' संगृहीत हैं। परन्तु इनसे कबीर के जन्म या उनके आविर्भाव काल का परिचय नहीं मिलता। कतिपय सन्दर्भों में अनेक सन्तों ने कबीर का उल्लेख किया है।

यथा —

१ नामा छीपा कबीरु जुलाहा पूरे गुरते पाई। (नानक सिरी राग)।

२ नामदेव कबीरु तिलोचनु सधना सैनु तरे।
कहि रविदासु सुनहु रे संतहु हरिजीउ ते सभै सरे।
(भगत रविदासजी रागु मारू)।

इस सन्दर्भ में यह विश्वास भी प्रकट किया गया है कि कबीर नानक के समकालीन थे। कबीर के रागु गौड़ (४) तथा रागु भैरउ (१८) संख्या के ६

---

१ इस ग्रन्थ का उल्लेख हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों के संक्षिप्त विवरण के पृष्ठ ८७ पर किया गया है। हस्तलिखित ग्रन्थ का नम्बर १२८ है। इसका संवत् १६५७ (१६००) है। इसके दो भाग हैं जिनमें पीपा और रैदास की जीवनियाँ हैं। इसके साथ ही कबीर की जीवनचरणी है। अतः इस ग्रन्थ में प्रस्तावित कबीर का जीवन-परिचय भी अनुश्रुतियों पर आधारित है। डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने जिस प्रति का उल्लेख किया है उसका प्रतिलिपि काल है संवत् १८४२ (सन् १७८५)। 'यह बानी हजार मों' के गुटिका का एक अंश है। देखिए हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास द्वितीय संस्करण पृ॰ २२९ २३०।

भी प्रमाण स्वरूप दिए जाते हैं। प्रोफेसर बी०बी० राय ने अपने 'सम्प्रदाय' शीर्षक ग्रंथ में इसका उल्लेख करते हुए कहा है 'गुरु नानक को कबीर के बाद भी मौजूद था और जिसने बहुत सी तालीमी बातें अपने आदि ग्रन्थ में इस्तिबास की, सन् १४६० ई० (१५४७) में अपनी तालीम ऐसी गुरु की तो कबीर का उससे थोड़ी मुद्दत मौजूद होना भी मुमकीन है।" इस वक्तव्य से आलोच्य विषय का स्पष्टीकरण नहीं होता है। कारण यह कहा जा चुका है कि 'आदि ग्रन्थ' एक संग्रह ग्रंथ है, जिसका संकलन गुरु अर्जुनदेव ने संवत् १६६१ में किया था। नानक ने कबीर का साक्षात्कार किया था इसका विश्वासपूर्वक समर्थन नहीं किया जा सकता। इस ओर संकेत करते हुए परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है 'आदि ग्रंथ केवल गुरु नानक की ही रचना न होकर एक संग्रह ग्रन्थ है, जिसमें गुरु नानक कबीर आदि के अतिरिक्त उन सिख गुरुओं की भी रचनायें संगृहीत हैं जो गुरु नानक के पीछे हुए थे और जिसका संग्रह काल वास्तव में पाँचवें गुरु अर्जुनदेव (१६२० १६६३) के समय सं० १६६१ में बतलाया जाता है। गुरु नानकदेव १५ १६ साल की अवस्था में अपने पिता की आज्ञा से भाई बाला के साथ व्यापार करने निकले थे। उस समय लाहौर के मार्ग में जो भूखे साधुओं का अखाड़ा था ओरकाना के पास मिला था वह कबीर पन्थियों का ही रहा होगा तथा वे लोग अपने मत के प्रचारार्थ दूर-दूर तक फैल गए होंगे और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से कबीर साहेब के सिद्धान्तों द्वारा उनका प्रभावित हो जाना कोई असम्भव बात नहीं। देखिए—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—पृ० ७१४।

नाभादास के ग्रन्थ 'भक्तमाल की टीका' का अवलम्ब ग्रहण कर कबीर की जीवनी के निर्धारण का प्रयत्न किया जाता है। 'भक्तमाल की टीका' संवत् १७०२ में लिखी गई। यहाँ दो तथ्यों की ओर संकेत किया गया है —(१) कबीर सिकन्दर लोदी के समकालीन थे। सिकन्दर लोदी ने उन पर अत्याचार किया था। (२) कबीर रामानन्द के शिष्य थे। यदि इन दोनों तथ्यों का काल-निर्धारण हो सका तो कबीर के आविर्भावकाल का कुछ परिचय हमें मिल सकता है।

प्राय समस्त इतिहासकार कबीर और सिकन्दर लोदी को समकालीन मानते हैं। परन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है सिकन्दर लोदी और कबीर से सम्बन्धित घटना का सर्वप्रथम उल्लेख अनन्तदास कृत 'कबीर साहब की परिचई' में मिलता

है। हरिदास (सं० १६६६) और रज्जबजी ने (१६६०) भी इसका उल्लेख अपनी रचनाओं में किया है—

कासी माहि सिकन्दर दमस्यो गल मैं डारि जंजीर का।
जिनको आय मिले परमेसुर बन्धन काटि कबीर का।
रज्जबजी की बाणी पृ० १४८ जयपुर।

गगनिग आगे अगिन मांहि डूबे झड़ि झड़ि पड़ै जंजीर।
जन हरिदास गोविन्द मनि निरभै भये कबीर।
मारि मारि काजी करै कुंजर बंधे पाइं।
जन हरिदास कबीर कूं जमैं न लागी बाइ।
श्री हरिपुरुषजी की बाणी पृ० ४०१।

ऐसा लगता है कि अनन्तदास के समय तक इस प्रकार की अनुभूति लोक जीवन में विश्वास पा चुकी थी। अनन्तदास और उनके परवर्ती लेखकों ने बहुत सम्भव है, इस अनुभूति को ही विश्वास के साथ ग्रहण किया है। इतिहास-ग्रन्थों में और इससे सम्बन्धित अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों में इस प्रकार की किसी घटना का उल्लेख नहीं मिलता है। 'मअसाल' 'मखजाने अखियार', 'फरिश्ता' में इस घटना का उल्लेख नहीं मिलता है। 'मखजनउपुरतकी' 'तारीखदाऊदी' 'तारीख खाँ जहान लोदी' 'तारीख फिरिश्ता' आदि में इस घटना का उल्लेख नहीं मिलता है। कबीर और सिकन्दर लोदी को समकालीन मानने वाले इतिहासकारों ने इनकी जो तिथियाँ दी हैं, वे इस प्रकार हैं (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ २१४-१५)

इतिहासकार	ग्रन्थ	कबीर का समय	सिकन्दर लोदी का समय
१ बील	ओरियण्टल बायोग्राफिकल डिक्शनरी	जन्म १४९० संवत (१५४७)	वही समय
२ फर्कुहर	Outline of the Religious literature of India	समय १४०० १५१८ संवत् (१४५७-१५७५)	१४८८ १५१७
३ हण्टर	Indian Empire	सन् १३०० १४२० (संवत १३५७-१४७७)	

भी प्रमाण स्वरूप दिए जाते हैं। प्रोफेसर बी०बी० राय ने अपने 'सम्प्रदाय' शीर्षक ग्रंथ में इसका उल्लेख करते हुए कहा है 'गुरु नानक जो कबीर के बाद भी मौजूद था और जिसने बहुत सी तालीमी बातें अपने आदि ग्रन्थ में इंदिराज की, सन् १४६० ई० (१५४७) में अपनी तालीम सैमी शुरू की सो कबीर का उससे थोड़ी मुद्दत मौजूद होना भी मुमकीन है। इस वक्तव्य से आलोच्य विषय का स्पष्टीकरण नहीं होता है। कारण यह कहा जा चुका है कि 'आदि ग्रन्थ' एक संग्रह ग्रंथ है जिसका संकलन गुरु अर्जुनदेव ने संवत् १६६१ में किया था। नानक ने कबीर का साक्षात्कार किया था इसका विश्वासपूर्वक समर्थन नहीं किया जा सकता। इस ओर संकेत करते हुए परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है 'आदि ग्रंथ केवल गुरु नानक की ही रचना न होकर एक संग्रह ग्रन्थ है, जिसमें गुरु नानक कबीर, आदि के अतिरिक्त उन सिक्ख गुरुओं की भी रचनायें संग्रहीत हैं जो गुरु नानक के पीछे हुए थे और जिसका संग्रह काल वास्तव में पांचवें गुरु अर्जुनदेव (१६२० १६६३) के समय सं० १६६१ में बतलाया जाता है। गुरु नानकदेव १५ १६ साल की अवस्था में अपने पिता की आज्ञा से भाई बाला के साथ व्यापार करने निकले थे। उस समय लाहौर के मार्ग में जो भूले साधुओं का अखाड़ा था चोरकाना के पास मिला था, वह कबीर पन्थियों का ही रहा होगा तथा वे लोग अपने मत के प्रचारार्थ दूर-दूर तक फैल गए होंगे और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से कबीर साहेब के सिद्धान्तों द्वारा उनका प्रभावित हो जाना कोई असम्भव बात नहीं। देखिए—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—पृ० ७१४।

नाभादास के ग्रन्थ 'भक्तमाल की टीका' का अवलम्ब ग्रहण कर कबीर की जीवनी के निर्धारण का प्रयत्न किया जाता है। 'भक्तमाल की टीका' संवत् १७०२ में लिखी गई। यहाँ दो तथ्यों की ओर संकेत किया गया है —(१) कबीर सिकन्दर लोदी के तत्कालीन थे। सिकन्दर लोदी ने उन पर अत्याचार किया था। (२) कबीर रामानन्द के शिष्य थे। यदि इन दोनों तथ्यों का काल निर्धारण हो सका तो कबीर के आविर्भावकाल का कुछ परिचय हमें मिल सकता है।

प्रायः समस्त इतिहासकार कबीर और सिकन्दर लोदी को समकालीन मानते हैं। परन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है सिकन्दर लोदी और कबीर से सम्बन्धित घटना का सर्वप्रथम उल्लेख अनन्तदास कृत कबीर साहब की परिचई' में मिलता

४ स्मिथ—	History of the Rise of the Mohamden Power in India		सन् १४८८ १५१७ (संवत १५४५ १५७४)
५ मेकालिफ	Sikha Religion	सन् १४९८ १५१८ (संवत् १५५५ १५७५	सिंहासनासीन सन् १४८८ (संवत १५४५)
६ वेसकट—	Kavir and the Kavir Pantha	सन् १४४० १५१८ (संवत् १४९७ १५७५)	सन् १४९९ संवत् १५५६ जौनपुर गमन
७ स्मिथ—	Oxford History of India	१४४०-१५१८ (संवत १४९७ १५७५)	सन् १४८९ १५१७ (संवत १५४६-१५७४)
८ भण्डारकर	*Vaisnavism, Saivism and minor Religious System*	सन् १४९८ १५१८ (संवत् १५५५ १५७५)	सन् १४८८ १५१७ (संवत् १५४५ १५७४)
९ ईश्वरीप्रसाद	New History of India	ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी	सन् १४८९ १५१७ (संवत् १५४६ १५७४)

इस प्रकार प्रमुख इतिहासकारों के अनुसार सिकन्दर लोदी का समय सन् १४८८ ८९ से सन् १५१७ (संवत् १५४५ ४६ से १५७५) तक माना गया है। और इस सन्दर्भ के अनुसार कबीर का समय भी यही रहा होगा। (देखिए— हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृ० २११)। परन्तु इस सन्दर्भ में एक अन्य सत्य की ओर हमारा ध्यान जाता है। बस्ती जिले के मगहर नामक स्थान पर आमी नदी के तट पर बिजली खाँ ने कबीर की समाधि बनवाई थी। यह घटना सन् १४५० (संवत् १५०७) की है। इस प्रकार कबीर की निधन तिथि इस सन् या संवत् को मानना चाहिए। सिकन्दर लोदी का समय कबीर के निर्धारित समय के अड़तीस वर्ष पश्चात् पड़ता है। अतः इन समस्त सन्दर्भों से वस्तु स्थिति का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसके

समाधान हेतु एक प्रस्ताव किया है। उनकी मान्यता है कि सन् १५५० में स्थापित समाधि कबीर का मरणचिह्न नहीं है। इसके विपरीत यह उनका स्मृति चिह्न है। बिजली खाँ ने कबीर के जीवनकाल में ही इसका निर्माण किया था। फिदाई खाँ ने १२७ वर्ष पश्चात् इस स्मृति चिह्न का उद्धार किया और जन जीवन में यह कबीर की समाधि के रूप में प्रचार पा गया। (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० २५७)। डॉ० वर्मा के निष्कर्ष का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। कबीर और सिकन्दर लोदी को समकालीन सिद्ध करने के लिए ही विद्वान लेखक ने इस प्रकार की कल्पना की है। आज भी कबीरपन्थियों में एक विशेष प्रथा मिलती है। साधक अपने जीवनकाल में ही अपनी समाधि की व्यवस्था कर लेते हैं, और आयु व्यतीत कर उस भूमि में शरीर-त्याग करते हैं। अथवा शरीर छूटने पर उन्हें उसमें समाविष्ट कर दिया जाता है। बहुत सम्भव है कि अपने जीवनकाल में ही अपनी जन्मभूमि मगहर में कबीर ने अपनी समाधि की व्यवस्था कर ली हो। और जीवन का सम्पूर्णत्व प्राप्त कर लेने के पश्चात् उसमें समाधि ले ली हो। परन्तु स्थूल समाधि के निर्माण के १२७ वर्षों पश्चात् कबीर अपनी समाधि में समाविष्ट हुए, इसके लिए हमारे पास प्रमाण नहीं है। लोक-जीवन में प्रचलित अनुश्रुतियों और इतिहास की असम्बद्धताओं से इस समस्या का निदान सम्भव नहीं है।

मेरी धारणा की ऐतिहासिक प्रामाणिकता कबीर के निर्वाण-सम्बन्धी लोक-जीवन में प्रचलित मान्यता में मिल जाती है। 'कबीर कसौटी' नामक ग्रन्थ (रचना काल संवत् १९४२, लिखक लहनासिंह कबीर पंथी) में कबीर की मृत्यु से सम्बन्धी एक दोहा उपलब्ध होता है 'संवत् पन्द्रह से पचहत्तर किया मगहर को गौन। माघसुदी एकादशी, रलो पवन में पवन' (कबीर कसौटी भूमिका पृ० १४)।[1] इस रचना में इसका भी उल्लेख किया गया है कि, 'श्री कबीरजी काशी में एक सौ बीस बरस रहकर मगहर गए।' काशी से माघ सुदी एकादशी दिन बुधवार, सं० १५७५ को उन्होंने मगहर के लिए प्रस्थान किया था और उसी दिन वहाँ से चलकर काशी से मगहर तक की 'दस मंजिल' की दूरी तय की वहाँ पहुँचकर

१—श्री परशुराम चतुर्वेदी-उत्तरी भारत की संत परम्परा से यह सूचना ग्रहण की गई है। देखिए पृ० ७१०-७११

किसी संत की एक छोटी कोठरी में जो वर्तमान आमी नदी के किनारे थी लेटकर चादर ओढ़ ली बाहर से ताला बन्द कर दिया और एक अलौकिक ध्वनि के साथ सत्य लोक सिधार गए।' यदि हम इस कथन की प्रामाणिकता सिद्ध कर सकें तो कबीर का जन्म या आविर्भावकाल संवत् १४५५ या सन् १३९८ होगा। तासी ने भी अपनी कृति 'इस्त्वार द-ला लितेरात्यूर ऐंदुई ऐंदुस्तानी' (सं० १८३९) में इस दोहे की ओर संकेत किया है। और परवर्तीकाल में इस विषय पर विचार करने वाले आलोचकों ने इसे प्रामाणिक मान लिया है।[1]

कबीर की मृत्यु तिथि को प्रस्तावित करने वाले आचार्यों में आचार्य क्षितिमोहन सेन और डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल का उल्लेख आवश्यक है।

इनके अनुसार कबीर का मृत्यु संवत् १५०५-७ (सन् १४४८ ई०) है। इनका जन्म-संवत् १४५५ (सन् १३९८) है। इस प्रकार इनकी धारणा है कि बिजली खाँ ने इनकी मृत्यु-समाधि निर्मित की थी। अतः इस सन्दर्भ में प्रस्तुत दो विचार धारायें सम्मुख आईं।

(क) प्रथम धारा इनका जन्म काल संवत् १४५५ (सन् १३९८) मानती है। इसके अनुसार इनका मृत्यु-काल संवत् १५७५ (सन् १५१८) है। ५२ वर्ष की अवस्था में इनकी समाधि निर्मित की गई (सन्तों की परम्परा के अनुसार)। समाधि निर्माण के ७८ वर्ष पश्चात् कबीर समाधिस्थ हुए।

(ख) द्वितीय धारा (प्रथम धारा के अनुसार) इनका जन्मकाल संवत् १४५५ (सन् १३९८) में मानती है परन्तु मृत्यु तिथि के रूप में १५०५-७(सन् १४४८ ई०) स्वीकार करती है। इसके अनुसार कबीर की मृत्यु ५१ वर्ष की आयु में हुई। परन्तु बिजली खाँ कबीर के अनुयायी थे अथवा उन्होंने कबीर की समाधि बनवाई इसकी पुष्टि किसी ऐतिहासिक आधार से नहीं होती है। पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल इनका जन्मकाल संवत् १४२७ में मानते हैं और इनके अनुसार इनकी

१—वेस्टकाट मिकालिफ, बालम्बर प्रसाद मन्मरहिम डॉ० भंडारकर, फर्कुहर, श्यामसुन्दर दास रामचन्द्र शुक्ल इसे ही ग्रहण करते हैं। भण्डारकर श्यामसुन्दर दास इनकी आयु १२० वर्ष मानते हैं। वेस्टकाट और मंडरहिम, फर्कुहर इनका जन्म काल सं० १४९७ मानते हैं।

आयु ७८ वर्ष की थी। इस प्रकार इनके अनुसार कबीर की मृत्यु सम्वत् १५०५ में हुई थी। परन्तु विद्वान लेखक ने अपने निर्धारण का कोई कारण नहीं दिया है।

इस प्रकार कबीर की जन्मतिथि या उनके आविर्भाव-काल का निर्णय हम नहीं कर सकते। विभिन्न अनुश्रुतियों और ऐतिहासिक सन्दर्भों से यह संकेत मिलता है कि कबीर का जन्म संवत् १४५५ या १४५६ में हुआ था। श्री परशुराम चतुर्वेदी डॉ॰ बड़थ्वाल के अनुसार ही सोचते हुए जाते हैं। अति सांकेतिक रूप में वे संवत् १४२५ को कबीर का जन्म संवत् मानते हुए कहते हैं 'यदि अनन्त दास की परचई प्रामाणिक मान ली जाय और उसके लेखक का एतत्सम्बन्धी कथन भी सत्य निकल आवे तो इस विषय में 'बीस बरस तें चेतन भयो' के सहारे हम उनके जन्मकाल के लिए संवत् १४५५ ई॰ १४२५ दे सकेंगे और वैसा हुआ तो कबीर साहब मैथिल कवि विद्यापति (सं॰ १४१७-१५०५) के समसामयिक हो जायेंगे। ऐसी दशा में इस जनश्रुति की भी पुष्टि होती हुई दीख पड़ेगी कि आसाम के प्रसिद्ध भक्त कवि शंकर देव (सं॰ १५०६ १६२५) ने अपनी उत्तरी भारत की द्वादश वर्षीया तीर्थ यात्रा (सं॰ १५४० १५५२) के अवसर पर कबीर साहब की समाधि के भी दर्शन किए थे। देखिये—'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा', पृष्ठ ७३१। कबीर के व्यक्तित्व का प्रभाव उनके पश्चात् भी दृढ़ रहा। अतः परवर्तीकाल में उनकी जीवनी के साथ अनेक अलौकिक घटनायें भी सम्बद्ध होती रही हैं। सिकन्दर लोदी का प्रसंग, कबीर के शेख तकी के शिष्य होने की कथा, उनके शव के स्थान पर कमल-फूल की प्राप्ति, इसी सन्दर्भ की घटनायें हैं। कबीर रामानन्द के शिष्य थे। रामानन्द की निधन तिथि है संवत् १४०७। ऐसी भी कल्पना की जाती है कि रामानन्द की मृत्यु के समय कबीर लगभग २० वर्ष की आयु के थे। ऐसी स्थिति में कबीर का आविर्भाव संवत् १३८७ में हुआ होगा। पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने रामानन्द की निधन तिथि के लिए संवत् १४६७ की सम्भावना की है। इसके अनुसार भी कबीर का आविर्भावकाल संवत् १४२७ है।

कबीर की *निधन तिथि*

कबीर के आविर्भाव काल के समान ही उनके तिरोधानकाल का निर्णय भी आसान नहीं हो पाया है। विविध प्रकार की किंवदन्तियों और लोक-जीवनमें

प्रचलित अनुश्रुतियों का आधार ग्रहण कर विद्वानों ने उनकी निधन तिथि के निर्धारण का प्रयास किया है।

निम्नलिखित दोहों में कबीर की मृत्यु तिथि का संकेत मिलता है—

(क) संवत् पन्द्रहसौ पांच मौं मगहर कियो गौन।
 अगहन सुदी एकादशी, मिलो पौन में पौन॥

(ख) संवत पन्द्रसौ पचत्तरा कियो मगहर को गौन।
 माघ सुदी एकादसी, रलो पौन में पौन। (कबीर-जनश्रुति)।

(ग) संवत् पन्द्रसौ उनहत्तरा हाई।
 सतगुरु चले उठ हंसा ज्याई। (धर्मदास-धावख पंथ)।

(घ) पन्द्रह सौ उनचास में मगहर कीनो गौन।
 अगहन सुदी एकादसी मिलो पौन में पौन। (भक्त माल की टीका)।

प्रथम दोहे के अनुसार कबीर की मृत्यु संवत् १५०५ में द्वितीय के अनुसार संवत् १५७५ में, तृतीय के अनुसार १५६९ में और चतुर्थ के अनुसार १५४९ में हुई। इन विभिन्न संवतों में संवत् १५७५ के प्रति विद्वान अधिक आकर्षित हैं। परन्तु उनके इस आकर्षण के लिए इतिहास-सम्मत तथ्य सम्मुख नहीं आ सके हैं इस ओर संकेत किया जा चुका है। इसके पश्चात् संवत १५०५ को इनका मृत्यु काल मानने वालों का तर्क अधिक वज्ञानिक लगता है। परन्तु यथेष्ट प्रमाण न मिलने पर इस सम्बन्ध में भी निश्चयात्मक निर्णय नहीं किया जा सकता है। डॉ॰ रामकुमार वर्मा सन्त कबीर का जन्म काल संवत् १४५५ (१३९८) और निधन-संवत् १५५१ (सन् १४९४) मानते हैं।[१] इसप्रकार वे कबीर की आयु ९६ वर्ष मानते हैं। परन्तु अपनी मान्यता के समर्थन में वे प्रमाण नहीं प्रस्तुत करते हैं।

जन्म-स्थान

सन्त कबीर के जन्म-स्थान का निर्णय भी अभी तक सम्भव नहीं हो सका है। इस सम्बन्ध में दो विचारधारायें प्रमुख रूप में सम्मुख आई हैं। प्रथम के अनुसार कबीर का जन्म बस्ती जिले के अन्तर्गत मगहर नामक स्थान में हुआ था। अपना जीवन समाप्त कर मगहर में ही कबीर ने समाधि ली थी। दूसरी

---

१ देखिये—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, द्वि॰सं॰पृ० २४८।

के अनुसार कबीर का जन्म काशी में हुआ था। अपनी जीवनलीला समाप्त कर इन्होंने मगहर में समाधि ली थी। एक अन्य मत के अनुसार कबीर का जन्म आज़मगढ़ के बेलहर या बेलहरा पोखर नामक ग्राम में हुआ था। इधर एक अन्य प्रकार की धारणा विकसित हो रही है। इसके अनुसार संत कबीर का जन्म बिहार के किसी स्थान में हुआ था। कबीरदास ने अपने कतिपय पदों में मगहर का उल्लेख किया है। इनके आधार पर यह निश्चित होता है कि इनका जन्म मगहर में हुआ था। 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में कबीर के नाम से संकलित एक पद में इसका उल्लेख मिलता है—

तोरे भरोसे मगहर बसिओ मेरे तन की तपन बुझाई।
पहिले दरसन मगहर पाइओ पुनि काशी बसे आई।

इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट होता है कि कबीर का जन्म मगहर में हुआ था और काशी में वे बाद को आये थे। काशी उनकी साधना भूमि थी। परन्तु विद्वानों ने इस सम्बन्ध में आपत्ति प्रकट की है। इनके अनुसार 'दरसनु पाइओ' का अर्थ जन्म लेना नहीं अपितु ज्ञान-दर्शन प्राप्त करना है।[1] इनके अनुसार कबीर का जन्म काशी में हुआ था। काशी से ज्ञान प्राप्त करने हेतु वे मगहर आए और ज्ञान प्राप्त कर वे पुनः काशी लौट गए। इसके पश्चात् जीवन-अवधि की समाप्ति-बेला पर वे पुनः मगहर आ गए थे। इस प्रकार की प्रस्तावना सम्भावित नहीं लगती है। मगहर किसी भी समय धार्मिक या सांस्कृतिक केन्द्र नहीं रहा है। ऐसी स्थिति में कबीर ने मगहर आकर ज्ञान प्राप्त किया होगा, यह भावना उचित नहीं लगती है। वास्तविकता यह है कि कबीर मगहर में जन्मे थे। काशी उनकी साधना भूमि रही है। कबीर के नाम से प्रचलित निम्नलिखित दोहे में इसी सत्य का उल्लेख मिलता है—

तोरे भरोसे मगहर बसिओ मोरे तन की तपन बुझाई।
पहिले दरसनु मगहर पाइओ पुनि काशी बसे आई।

इस मत के विपरीत ऐसे भी सन्दर्भ मिलते हैं, जिनमें काशी का उल्लेख कबीर के जन्म-स्थान के रूप में मिलता है। यथा, 'काशी में हम प्रगट भए हैं

---

1 देखिए—उत्तर भारत की सन्त परम्परा पृ० १४५।

रामानन्द चिढ़ाए। वास्तविकता यह है कि इस सन्दर्भ में प्रस्तुत दोनों उद्धरण कबीर के नहीं हैं। कबीर के पश्चात् इस प्रकार की अनेक किंवदन्तियों का विकास हुआ है, जिनमें से अधिकांश कबीर के नाम से सम्बद्ध हो चुकी हैं। कबीर के पश्चात् दो मतों का विकास मिलता है। प्रथम मत उन्हें मगहर का मानता है, द्वितीय मत उन्हें काशी का। अतः समस्त समस्यायें एक दूसरे में इस प्रकार गुम्फित हो चुकी हैं कि उनमें से वास्तविकता का निर्धारण सम्भव नहीं लगता है। हमारे पास इतिहास-सम्मत वक्तव्य नहीं हैं जिनके आधार पर हम स्पष्ट निर्णय ले सकें। परन्तु किंवदन्तियों और अनुश्रुतियों की आन्तरिक अनुचेतना में इतिहास की सापेक्षता अति क्षीण रूप में विद्यमान रहती है जिसका आधार ग्रहण कर हम वास्तविकता के कुछ निकट पहुँच सकते हैं। उपलब्ध तथ्यों के आधार पर मैं इस विचार की ओर आकर्षित होता हूँ कि कबीर का जन्म बस्ती जनपद के अन्तर्गत मगहर नामक स्थान में हुआ था अथवा उनके जीवन का आरम्भिक काल मगहर में ही व्यतीत हुआ था। सम्पूर्ण बस्ती जनपद का विकास मुसलमान-काल में हुआ है। मगहर मुसलमानों की मुख्यतः जुलाहों की बस्ती है—लगभग चार सौ वर्ष प्राचीन। ये जुलाहे हिन्दू धर्म से परिवर्तित लगते हैं और ऐसी स्थिति में कबीर का मगहर में जन्म लेना असम्भव नहीं लगता है। परन्तु काशी से सम्बन्धित विचार धारा का समाधान किस प्रकार हो? बहुत सम्भव है नीरू और नीमा समव्यवसायजीवियों के साथ काशी से मगहर आये हों। उनके मगहर आने के पूर्व ही काशी में उनके पुत्र कबीर का जन्म हो चुका था। इसके विपरीत यह भी सम्भव है कि नीरू और नीमा मगहर से व्यवसाय के सम्बन्ध में काशी आए हों और कबीर उनके साथ आए हों। तत्पश्चात् नीरू और नीमा काशी-वासी हो गए हों।

डाक्टर गोविन्द त्रिगुणायत मगहर को ही कबीर का जन्म-स्थान मानते हैं। परन्तु बस्ती स्थित मगहर के विपरीत वे काशी स्थित मगहर की कल्पना करते हैं। इस प्रकार वे काशी और मगहर के भेद को समाप्त करने का प्रयास करते हैं। परन्तु अभी तक काशी के अन्तर्गत किसी मगहर के अस्तित्व की सूचना हमें उपलब्ध नहीं है। अतः इस प्रकार की प्रस्तावना का कोई अर्थ नहीं है। त्रिगुणायत के अनुसार 'मगहर में मुसलमानों की बस्ती अधिक है कोई आश्चर्य

नहीं कि कबीर इन्हीं जुलाहों के घर उत्पन्न हुए हों।' इस निष्कर्ष से किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। परन्तु इस निष्कर्ष पर डा० सरनाम सिंह आपत्ति करते हैं। उन्होंने कतिपय जिज्ञासायें की हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) उनके यह निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है कि उक्त स्थान का मगहर नाम कबीर का समकालीन है? (२) वहाँ कबीर के जन्म के पहले से ही मुसलमान रहते थे? (३) कबीर का जन्म किसी मुसलमान के घर में हुआ था? (४) यह इसी स्थान का जुलाहा था। हो सकता है यह मगहर कोई नई बस्ती हो और कबीर के बाद जुलाहे लोग यहाँ आकर बसे हों और अपने स्थान को महत्व देने के लिए कबीर से सम्बन्धित मगहर के पीछे मगहर नाम रख लिया हो।[1] विद्वान डॉक्टर महोदय का विनम्र प्रणाम करते हुए मेरी एक जिज्ञासा है। उनके पास क्या ऐसे प्रमाण हैं जिनके आधार पर वे अपनी आपत्तियों का समर्थन कर सकें? उनके पास इस प्रकार का एक भी आधार नहीं जिसके अवलम्ब से वे यह सिद्ध कर सकें कि वर्तमान मगहर कबीर का समकालीन नहीं था। कबीर के पहले वहाँ जुलाहे नहीं रहते थे इस विषय का भी आधार उनके पास नहीं है। जहाँ तक उनके जुलाहा होने का प्रश्न है इस विश्वास का खण्डन नहीं किया जा सकता। जन्म से अथवा संस्कार से किसी न किसी रूप में कबीर का सम्बन्ध जुलाहा जाति से रहा है। लोगों की यह धारणा है कि कबीर मगहर के प्रति इसलिए आकर्षित नहीं थे कि यह स्थान उनकी जन्मभूमि थी अपितु एक उदात्त मानवीय संवेदनशीलता उन्हें जीवन में व्यापक धरातल प्रदान कर रही थी। इस भावना के कारण ही कबीर ने मगहर का स्तवन किया है। कुछ इसी प्रकार की अनुभूति से प्रेरित होकर विद्वान डॉक्टर ने दोषपूर्ण निष्कर्ष प्रदान करते हुए लिखा है 'मैं समझता हूँ कबीरदास ने अपनी रचनाओं में मगहर की चर्चा इसलिए नहीं की है कि वह स्थान उनका जन्म-स्थान था, परन्तु इसलिए कि मगहर पर थोपे हुए निर्मूल कलंक को अन्ध विश्वास के सिर मढ़ना चाहते हैं। इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचना अनुचित नहीं कि कबीर द्वारा की गई चर्चा में श्रद्धा भावना की उत्कटता न होकर वहाँ एक अन्धविश्वास की उन्मूलन कारिणी प्रवृत्ति की अभिव्यंजना मात्र है।' इस सन्दर्भ में एक जिज्ञासा है। मगहर के समान अनेक ऐसे स्थान हैं जो अकारण

1—कबीर-एक विवेचन पृष्ठ ११

ही कर्मकित माने जाते है। कबीर ने इन स्थानों के उद्धार का प्रयास क्यों नहीं किया ? मगह (मगध) बौद्धों का केन्द्र रहा है। सामान्य जन-जीवन में उसे अपवित्र माना गया है। बौद्धों का केन्द्र होने के कारण यह हीन-भावना से उपेक्षित रहा है। परवर्ती काल में मगह और मगहर को एक ही मान लेने की भ्रान्ति व्याप्त हुई, और मगह की अपवित्रता का आरोपण मगहर पर हुआ— यह आरोपण नैसर्गिक भी है।[1]

कबीर का जन्म जुलाहा जाति में हुआ था। उनकी बानियों में ऐसे भी सन्दर्भ मिलते हैं, जिनमें इन्होंने अपने को 'कोरी' भी कहा है। यथा —

(क) जाति जुलाहा मति को धीर हरषि हरषि गुन रमै कबीर।

क० ग्र० पद २७०।

(ख) परिहर काम राम कहु बौरे, सुन सिख बन्धू मोरी।
हरि को नाम अभै पद दाता कहै कबीरा कोरी॥

क० ग्र पद १४६।

तथा 'हम घरि सूत तनहिं नित ताना' आदि संकेतों से यही निष्कर्ष निकलता है कि कबीर जाति से या व्यवसाय से जुलाहा थे। कबीर के समकालीन रैदास धन्ना आदि उन्हें जुलाहा मानते हैं। गुरु अमरदास अनन्तदास रज्जब तुकाराम की रचनाओं से यह स्पष्ट होता है कि कबीर जुलाहा जाति के थे। 'खजीनतुल असफिया' 'दबिस्तान ए-मजहिब' अनुराग सागर', कबीर कसौटी' आदि रचनाओं से भी इस विश्वास को पोषण मिलता है कि कबीर जुलाहा-जाति से सम्बन्धित थे। रैदास ने एक अंश में कहा है कि कबीर के कुल में ईद का त्यौहार मनाया जाता था। उनके कुल में शेख शहीद तथा पीरों का सम्मान था। गोवध भी इनके परिवार में होता रहता था।

१—कबीर के जन्म-स्थान की ओर संकेत करने वाले अंशों में निम्नलिखित अंश विशेष प्रचलित हैं—

पहले दरसन मगहर पायो पुनि कासी बसे आई।

या

पहले दरसन कासी पायो पुनि मगहर बसे आई।

जाके ईदि बकरीदि नित गऊ कर, मानिये सेख सहीद पीरा।
बाप वैसी करी पूत ऐसी धरी तीन लोक परसिध कबीरा।

सर्वंगी—भजन प्रताप, पद २२।

इस प्रकार के अनेक सन्दर्भ मिलते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि कबीर का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में मुसलमानी संस्कार से अवश्य था।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर की जाति का विश्लेषण इतिहास के सन्दर्भ में किया है। वे उनकी जाति का सम्बन्ध प्राचीन 'जुगी' या 'जोगी' जाति से स्थापित करते हैं। अपना निष्कर्ष देते हुए वे कहते हैं 'यदि यह अनुमान सत्य है तो दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि कबीर दास जिस जुलाहा जाति में पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले के जोगी जैसी किसी आश्रम-भ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह में थी। देखिए कबीर पृ० ११।

ऊपर यह संकेत किया गया है कि कतिपय सन्दर्भों में कबीर ने अपने को 'कोरी' भी कहा है 'कहै कबीर कोरी' या 'सूनै सून मिलाये कोरी'। यह अनुमान लगाया गया है कि कबीर प्राचीन कोरी जाति के थे। यह जाति कालान्तर से जुलाहा जाति में रूपान्तरित हो गई थी। मुसलमान होने के पू० यह जाति योगियों की अनुयायिनी थी[1]। इस मत का समर्थन हजारी प्रसाद द्विवेदी भी करते हैं। 'ऐसा जान पड़ता है कि यद्यपि कबीर दास के युग में जुलाहों ने मुसलमानी धर्म ग्रहण कर लिया था पर साधारण जनता में तब भी कोरी नाम से परिचित थे। कबीर दास ने जुलाहे के लड़को और उत्तराधिकारियों में कई जगह जुलाहा के स्थान पर कोरी नाम लिया है[2]। कबीर जिस जाति के थे उसका आदिम नाम जोगी अथवा जुगी नाम से प्रसिद्ध था। इस प्रकार का विश्वास किया जाता है कि ये जोगी पहले नाथ पन्थी थे जो मूलतः बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। वर्ण-व्यवस्था में इनका विश्वास नहीं था। इनकी जीविका का साधन कपड़ा बुनना था। मरने के पश्चात् ये शव संस्कार जलाकर और गाड़कर इन दोनों क्रियाओं से करते थे। कबीर के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि उनकी मृत्यु के

१ देखिए पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल योग प्रवाह पृ० १२६।
२ कबीर हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० ५।

पश्चात् कुछ फूल बच रहे थे जिनमें आधे को हिन्दुओं ने जलाया और आधे को मुसलमानों ने गाड़ दिया। योगियों में प्रचलित शव-संस्कार की प्रथा और कबीर के शव-संस्कार की विधा में साम्य मिलता है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि कबीर का सम्बन्ध प्राचीन युगी जाति से था[१]।

कबीर के व्यक्तित्व में परस्पर विरोधी संस्कारों (हिन्दू-मुसलमानों) का समन्वय मिलता है। इस प्रकार के संस्कार कबीर को किसी निश्चित परम्परा से प्राप्त हुए लगते हैं। अपने विश्लेषणों में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने इन्हीं भिन्न भिन्न परम्पराओं की ओर संकेत किया है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इस सम्भावना की ओर संकेत करते हुए कहा है 'बहुत सम्भव है युगी कहलानेवाली जाति पहले नाथ मत की अनुयायिनी रही होगी और ऐसी अनेक जातियों ने मुसलमानी प्रभाव में आकर कहीं-कहीं सामूहिक रूप में धर्मान्तर ग्रहण किया होगा। हम तो यहाँ तक कहेंगे कि काशी एवं मगहर के साथ विशेष सम्बन्ध रखने वाले कबीर साहब का कुल यदि क्रमशः सार नाथ एवं कुशी नगर जैसे बौद्ध तीर्थों के आस-पास निवास करने वाला बौद्धों या उनके द्वारा प्रभावित हिन्दुओं में से ही किसी का मुसलमानी रूप रहा हो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। हो सकता है कि उसमें सूत कातने व बुनने की जीविका भी पूर्व समय से वैसी ही चली आ रही हो[२]।

इन निष्कर्षों की वैज्ञानिकता पर सन्देह नहीं किया जा सकता है। कबीर की रचनाओं की अन्तश्चेतना का विश्लेषण इस प्रकार के निर्णय का समर्थन करता है। कबीर के व्यक्तित्व विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उनमें एक विशिष्ट

---

१ बंगाल में योगियों को कहीं समाधि दी जाती है और कहीं कहीं इनका अग्नि-संस्कार भी किया जाता है। मेरा अनुमान है कि सचमुच कबीर दास को (त्रिपुरा जिले के वर्तमान योगियों की भाँति) समाधि भी दी गई होगी और अग्नि-संस्कार भी किया गया होगा। कबीर पृ ११। अग्नि-संस्कार के पश्चात् बचे हुए भस्म को वो फूल कहते हैं। बहुत सम्भव है कि योगियों में प्रचलित इस प्रथा के अनुसार कबीर का अग्नि-संस्कार हुआ होगा और उनके बचे 'फूल' का विभाजन हुआ होगा, जिस पर मगहर में मन्दिर और मस्जिद का निर्माण हुआ होगा।

२ उत्तर भारत की सन्त परम्परा, पृ० १५०।

संस्कार और शिक्षा का संयोग था। उनकी चिन्तनधारा परम्परापूर्ण है। इस परम्परायुक्त शिक्षा को आत्मसात करने के पश्चात् उन्होंने इसका प्रयोग जीवन के संदर्भ में किया था। कबीर साक्षात् या परोक्ष रूप में रामानन्द के शिष्य थे। रामानन्द से उन्हें राम की भावना मिली थी। परन्तु रामानन्द की वैष्णव भावना का प्रयोग कबीर ने एक विशिष्ट अर्थ में किया। ऊपर के विश्लेषण से यह संकेत मिलता है कि कबीर का प्रादुर्भाव जिस जाति में हुआ था उसपर बौद्ध प्रभाव किसी न किसी रूप में विद्यमान था। कबीर में भी ये संस्कार मिलते हैं। अतः कबीर ने राम के साथ अपने पूर्व प्रभावों को समन्वित कर एक विशिष्ट प्रकार की साधना भूमि और चिन्तन-धारा तथा भक्ति-स्वरूप का अंकन किया। इस प्रकार कबीर वैष्णव मार्ग पर संचरण करते हैं, परंतु उनका गन्तव्य है बौद्धों का निर्वाण। अतः उनका साधन वैष्णव है परंतु साध्य बौद्ध है। गोरखनाथ की दृष्टि भी यही रही है। नागार्जुन ने 'माध्यमिक कारिका' में कहा है 'न सत् ना असत् न सदसत् न चाप्यनुभयात्मकम्'। गोरखनाथ ने इसे अपनी साधना का आधार मानते हुए कहा है 'बसतीन सुन्यं सुन्य न बसती अगम अगोचर ऐसा गगन सिषर पर बालक बोला ताका नाम धरोगे कैसा'। इस प्रकार गोरखनाथ ने शून्य को एक व्यक्तित्व प्रदान किया। गोरखनाथ ने 'ताका नाम धरोगे कैसा' के माध्यम से उसके नामकरण का प्रश्न उठाया। कबीर ने उसका नामकरण किया 'राम'। अतः कबीर की शिक्षा परंपरागत और संस्कार-पूर्ण थी। और इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि कबीर जिस जाति में अवतरित हुए थे वह विभिन्न साधना प्रभावों से मुख्यतः बौद्ध साधना के परिवर्तित रूपों से संसर्गित थी। ऐसी स्थिति में डॉक्टर राम कुमार वर्मा के निष्कर्ष को भी असम्भावित नहीं माना जा सकता, "कबीर के पिता ऐसी जुलाहा जाति के होंगे जो मुसलमान होते हुए भी जोगियों के संस्कारों से सम्पन्न थे तथा दसनामी सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण गोसाईं कहलाते थे। इन गोसाइयों पर नाथ पंथ का विशेष प्रभाव था"[1]।

---

१ सन्त कबीर, पृ० ११। डॉ० वर्मा की यह धारणा एम.ए. शेरिंग पर आधारित लगती है जिनका कथन यह है कि गोसाईं दसनामी भेद से कहीं कहीं शैव और कहीं वैष्णव होते हैं—देखिए Castes and Tribes as Represented at Banaras-87

डॉक्टर सरनाम सिंह ने अपनी कृति 'कबीर एक विवेचन' में कबीर की जाति विषयक समस्या का निदान करना चाहा है। परन्तु वे अपने गन्तव्य तक पहुँचने में असमर्थ रहे हैं। वस्तु की संस्थापना की अपेक्षा आचार्य द्विवेदी की संस्थापना के खण्डन में ही विद्वान लेखक संलग्न हैं।

कबीर की जाति पर विचार करनेवाले विद्वानों को सरनाम सिंह चार मतों में विभक्त करते हैं। [क] डॉक्टर श्याम सुन्दर दास का मत [ख] डॉक्टर बड़थ्वाल का मत [ग] डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत जिससे डॉक्टर राम कुमार वर्मा अधिकांश सहमत प्रतीत होते हैं। [घ] डॉक्टर त्रिगुणायत का मत जिसको परशुराम चतुर्वेदी का समर्थन प्राप्त है। इसके पश्चात् इनका खोजात्मक निर्णय सम्मुख आता है। इनमें से डॉक्टर श्यामसुन्दरदास का मत कोरी किंवदन्ती पर आश्रित है, अतएव प्रमाणों के अभाव में उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है। दूसरा निष्कर्ष डॉ० बड़थ्वाल का है जिनके निष्कर्ष में अधिक तर्क-संगत प्रयास है। डॉ० बड़थ्वाल से त्रिगुणायत डॉ० राम कुमार वर्मा और श्री परशु राम चतुर्वेदी सहमत हैं। किन्तु डॉक्टर द्विवेदी ने कबीर की जाति के सम्बन्ध में मायाविद की भाँति बड़े कौशल से काम किया है। परन्तु उनकी इस गवेषणात्मक विवेचना से कबीर की जाति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। कबीर दास को 'ना हिन्दू ना मुसलमान' वाली उक्ति ने तो केवल हिन्दू और मुसलमान जातियों से बहिष्कृत किया था किन्तु हजारी प्रसाद द्विवेदी के पाश्रित शब्द के प्रयोग ने तो बिचारे कबीर को योगी या जुगी जाति का भी नहीं रहने दिया। उन्होंने अपने एक भी वाक्य में प्रकट नहीं होने दिया कि कबीर अमुक जाति में उत्पन्न हुए थे। बार-बार पढ़ने पर उनके यही शब्द मिल सके।

१ कबीर दास जिस जुलाहे वंश में पाश्रित हुए थे, वह इसी प्रकार के नाथ मतावलम्बी गृहस्थ योगियों का मुसलमानी रूप था।

२. कबीर दास जिस जुलाहे जाति में पाश्रित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले की योगी जैसी किसी भ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह में थी।

३ कबीर दास इन्हीं नव धर्मान्तरित लोगों में पाश्रित हुए थे।

इस प्रकार की विवेचना से समस्या का समाधान नहीं हो सकता । डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की विवेचना और उनके विश्लेषणों के ऐतिहासिक स्वरूप को डॉ॰ सरनाम सिंह ग्रहण नहीं कर सके हैं। कबीर जुलाहा थे इसका विरोध किसी विचारक ने नहीं किया है। परन्तु कबीर का जुलाहा होना हमारे लिए उतना आवश्यक नहीं है जितना कि भारतीय धर्म-साधना में उनका स्थान निर्धारण। कबीर मध्यकालीन धर्मसाधना के समन्वित रूप थे। बौद्ध तथा हिन्दू संस्कारों से संस्पर्शित अनेक जातियों और उपजातियों का प्रादुर्भाव काल-क्रम से मिलता है। समय पाकर इनमें से कतिपय जातियाँ इस्लाम-धर्म ग्रहण करती हुई मिलती हैं। कबीर इसी प्रकार की एक जाति में उत्पन्न हुए थे। इस सत्य की ओर ही आचार्य द्विवेदी ने संकेत किया है। इस प्रकार कबीर की साधना सम्पूर्ण रूप से भारतीय है। इस प्रकार द्विवेदीजी का निष्कर्ष अधिक व्यापक इतिहास सम्मत और व्यापक सम्भावनाओं से परिपूर्ण है। 'पोषित' शब्द के कारण डॉ॰ सरनाम सिंह को भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। द्विवेदी जी की यह स्पष्ट धारणा है कि कबीर का जन्म जुलाहा या मुसलमान परिवार में हुआ था। यह परिवार अपने मूल रूप में भारतीय है। भारतीय धर्म-साधना के विविध तत्वों का संरक्षण उसमें मिलता है। इन्हीं तत्वों के मध्य कबीर के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ था। कबीर के विचारों की पावन भूमि की दृष्टि से उनकी जाति का निर्धारण भी आवश्यक हुआ है। अपने खण्डन-मण्डन के पश्चात् डॉ॰ सरनाम सिंह डॉ॰ द्विवेदी की मान्यता के साथ स्वर मिलाकर कहते हैं इसमें हमारा मत यह है कि कबीर जुलाहा जाति में उत्पन्न हुए थे उनके कुल का सम्बन्ध कोरी जाति से जिस पर नाथपंथ का प्रभाव था, अवश्य रहा था। इसलिए उनके मन पर पूर्व भारतीय संस्कार बने हुए थे, जिसकी अभिव्यक्ति कबीर के व्यक्तित्व से प्रमाणित है, उनका जिसके पोषण में रामानन्द का प्रभाव सहायक था।[1]

कबीर की जाति के सम्बन्ध में डॉ॰ गोविन्द त्रिगुणायत का विचार यहाँ विचारणीय है।—

१ कबीर दास किसी ऐसी वर्णी गृही जाति से सम्बन्धित रहे थे।

---

१ कबीर एक विवेचना पृष्ठ ४८।

२ कबीर का कोरियों से कोई सम्बन्ध नहीं न था। कबीरदास की यह प्रवृत्ति थी कि वे जिस वर्ग और जाति के लोगों के सामने जाते थे प्राय उसी व्यक्ति की भाषा में विचारों को अभिव्यक्त करते थे। कबीर ने कोरी शब्द का प्रयोग इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर किया है। जुलाहा का समानान्तर कोरी ही हो सकता है। कोरी जाति का सूचक न होकर केवल व्यवसाय का सूचक है।

३ किन्हीं पुष्ट प्रमाणों के अभाव में कबीर का सम्बन्ध गुसाईं जाति से भी स्थिर नहीं किया जा सकता है।

४ कबीर जुलाहा जाति के ही रत्न थे। कबीर की हिन्दू विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए रामानन्द का शिष्यत्व पर्याप्त है।

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने विचारकों की मान्यताओं को अस्वीकार किया है परन्तु वे अपनी मान्यता के लिए स्पष्ट या अस्पष्ट प्रमाण नहीं देते हैं। अत: उनकी मान्यता विवेचना की अपेक्षा नहीं रखती हैं। एक सन्दर्भ में कबीर ने अपने पिता को 'बडु गुसाईं' कहा है —

> जाति जुलाहा मेरो कीन्हा। सेव गुलाकी मुक्ति अभिनु दीन्हा।
> तिमु बापु कउ मनहु बिसारी। बापे बस्ता न बाली हारी।
> बलि तिमु बापै बिमि हउ बाइया। पंचाते मेरा संगु चुकाइया।
> पिता हमारो बडु गोसाईं। तिमु पिता पहि हउ किउ जाईं।
> सति गुरु मिले तो मारग दिखाइया। जगत पिता मेरे मन भाईं।
> गुरु ग्रन्थ साहिब राग आसा ३।

इससे यह विदित होता है कि पिता ने कबीर को अमृत का दान किया। उनकी कृपा से कबीर पञ्चेन्द्रियों से मुक्त हुए। इस सन्दर्भ को ग्रहण करते हुए भी परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं परन्तु कबीर साहब के अपने पिता के लिए प्रयुक्त उक्त 'बडु गोसाईं' शब्द से यह भी सूचित होता है कि वे बहुत बड़े जितेन्द्रिय या अतीत रहे होंगे और उनका प्रभाव अपने पुत्र पर एक साधारण पिता का सा ही न होकर इन्हें सांसारिक प्रपंचों से अलग कर इन्हें भगवान् के प्रति उन्मुख कर देने का भी रहा होगा'[२] वस्तुस्थिति यह है कि इस सन्दर्भ में कबीर ने अपने अध्यात्म पिता की ओर संकेत किया है। अन्तिम पंक्ति से इसका स्पष्टीकरण हो

२ उत्तरी भारत की सन्त परम्परा।

जाता है। 'सत गुरु के मार्ग-प्रदर्शन से परम् पिता की उपलब्धि हुई। अतः 'पिता हमारा बड़ गोसाईं' और 'परम् पिता' इन दोनों में भेद नहीं है। 'बड़ गोसाईं' के आधार पर कबीर की जाति का निर्धारण भी सम्भव नहीं है। परम तत्व को या शून्य को 'पिता-माता' के रूप में नाथ साधकों ने भी स्वीकार किया है।

'सुनि ज माई सुनि ज बाप सुनि निरंजन आपै आप।
सुनि के परचे भया सथीर निहचल जोगी गहिर गंभीर॥

गोरखबानी २३१/७१।

कबीर ने अपने पिता के विषय में कहीं उल्लेख नहीं किया है। इसी प्रकार अपनी माता के विषय में भी वे मौन हैं। परन्तु कबीर के नाम से प्रचलित कतिपय रचनाओं में इनकी माता की चर्चा मिलती है। कबीर अपनी जीविका के प्रति उदासीन रहते थे; कबीर चिन्तन में विश्राम करते रहते थे। यह उनके परिवार के लिए चिन्ता का विषय था। कबीर और उनकी माता के मध्य जो धार्मिक मत भेद था उसका उल्लेख नीचे लिखे सन्दर्भ में मिलता है —

नित उठि कोरी गागरि आनै, लीपत जीउ गयो,
ताना बाना कछू न सूझै हरि हरि रस लपट्यो।
हमारे कुल कउने राम कह्यो जब की माला लई निपूते
तब ते सुख न भयो।

गुरु ग्रन्थ साहिब राग बिलावलु। ४१।

इस प्रकार का विश्वास किया जाता है कि कबीर के गुरु रामानन्द थे। रामानन्द अपने युग के सर्वश्रेष्ठ धार्मिक नेता सुधारक और धार्मिक गुरु थे। काशी में उन्होंने अपना सम्प्रदाय-संस्थापन भी किया था। परन्तु कबीर ने रामानन्द के शिष्यत्व का कहीं उल्लेख नहीं किया है। कबीर पंथियों के दो वर्ग मिलते हैं। प्रथम हिन्दू कबीर पन्थी इसके अनुसार कबीर रामानन्द के शिष्य थे। द्वितीय मुसलमान कबीर पन्थी, जिनके अनुसार कबीर शेख तकी के मुरीद थे। डॉ० भण्डारकर तथा डॉ० मोहन सिंह के अनुसार रामानन्द कबीर के गुरु नहीं थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर को रामानन्द का शिष्य माना है। अन्य विचारकों की भी यही धारणा है। अपने मत के समर्थन के लिए वे भिन्न भिन्न उदाहरण देते हैं —

काशी में हम प्रकट भये हैं रामानन्द चेताय।
समरथ का परवाना लाये हंस उबारन आए।

यह अंश कबीर का है इसका समर्थन नहीं किया जा सकता। कबीर ने अपनी साधना के लिए वैष्णव भूमि को ग्रहण किया है। वैष्णवों के प्रति उन्होंने अपनी आस्था भी प्रकट की है—

मेरे संगी दोइ जणा एक वैष्णव एक रामं।
वो है दाता मुकति का वो सुमिरावै नामं।

अत कबीर का सम्बन्ध रामानन्द से किसी न किसी रूप में रहा है, इस पर अविश्वास नहीं किया जा सकता है।

प्रसिद्ध इतिहास कार डॉ॰ रामप्रसाद त्रिपाठी और वेस्टकट ने 'खजीनत असुल असफिया' का आधार ग्रहण करते हुए इस मत का प्रतिपादन किया है कि कबीर शेख तकी के शिष्य थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है—

मानिक पुरहिं कबीर बसेरी। मदहति सुनी शेख तकि केरी।
ऊजी सुनी जौन पुर थामा। झूँसी सुनि पीरन के नामा।
रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी-साहित्य का इतिहास तेरहवाँ मुद्रण। पृ ७८।

'खजीनत असुल असफिया में लिखा है शेख कबीर जोलाहा शेख तकी के उत्तराधिकारी और चेले थे—उनकी मृत्यु सन् १५९४ में हुई। उनके पीर शेख तकी सन् १५७५ में मरे थे सब तकी नाम के दो सूफी पीर प्रसिद्ध हैं। एक का सम्बन्ध कड़ा मानिकपुर से था और दूसरे का सम्बन्ध झूसी से था। प्रथम का सम्बन्ध सूफियों के चिश्तिया सम्प्रदाय से था। वे कबीर के समकालीन नहीं थे। अतः कबीर का इनके साथ किसी प्रकार के सम्पर्क की सम्भावना नहीं हो सकती। बीजक की आठवी रमैनी में किसी शेख तकी का उल्लेख मिलता है।

नाना नाच नचाय के नाचे नर के भेख।
घट घट अविनाशी अहै, सुनहु तकी तुम शेख।

इस उदाहरण की शब्दावली में गुरु शिष्य का भाव व्यञ्जित नहीं होता। इसमें वाद-विवाद की भावना मिलती है। परन्तु इस सन्दर्भ का आधार ग्रहण कर कुछ भी निर्णय नहीं लिया जा सकता है। झूँसी के शेख तकी का सम्बन्ध सूफियों

के सुहरावर्दी सम्प्रदाय से था। उनका मृत्युकाल सन् ११२० बतलाया जाता है। अतः कबीर का इनके शिष्यत्व का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता।

'गुरु ग्रन्थ साहिब' में संकलित एक पद के अनुसार कबीर गोमती-तीर निवासी किसी पीताम्बर पीर के प्रति आस्थावान थे। वहाँ की यात्रा उनके लिए हज यात्रा के समान पवित्र थी।

हज हमारी गोमती तीर।
जहाँ बसहि पीताम्बर पीर॥
वाहु वाहु किया खूबु गावता है।
हरि का नाम मेरे मन भावता है॥
नारद सारद करहि खवासी।
पासि बैठी बीबी कवला दासी॥
कंठे माला जिहुवा रामु।
सहंस नामु लै लै करउ सलामु॥
कहत कबीर राम गुन गावउ।
हिंदू तुरक दोउ समझावउ॥

गुरु ग्रन्थ साहिब जी राग आसा पद १६।

इस अंश का आधार ग्रहण कर कुछ विचारक यह कहना चाहते हैं कि बहुत सम्भव है कबीर पीताम्बर पीर से दीक्षित हुए हों। परन्तु यह अंश कितना प्रामाणिक है, इसका निर्णय कर लेने के पश्चात् ही इस सम्भावना पर विचार किया जा सकता है। अपनी रचनाओं में अनेक स्थलों में कबीर अपने गुरु को नमन करते हैं। परन्तु वे गुरु के रूप में किसी विशेष व्यक्ति का उल्लेख नहीं करते हैं।

बलिहारी गुर आपणैं द्यौं हाड़ी कै बार।
जिनि मानुष तैं देवता करत न लागी बार।

कबीर ग्रन्थावली साखी २।

अपने ज्ञान विवेक द्वारा अथवा राम को ब्रह्म के स्वरूप मानते हुए कभी कभी यह कहते हैं—

कहु कबीर मैं सो गुरु पाइया
जाका नाउ बिबेक ४।

गुरु ग्रन्थसाहिब; राग गूजरी, पद ५।

कबीर के काव्य का दर्शन और भावपक्ष

सन्त कबीर की आलोचना सन्त भक्त और धार्मिक नेता के रूप में हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में होती रही है। कबीर भक्त थे विचारक थे और चिन्तक थे। उनके काव्य में उनका जीवन-दर्शन उनकी चिन्तन विधि और उनकी साधना विधि प्रतिबिम्बित है। भावनाओं की दृष्टि से उनके काव्य को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथमवर्ग में उनकी साधना विधि की आन्तरिकता का अंकन मिलता है। उनकी भक्ति-विधा के मूल स्वरूप के दर्शन इस वर्ग की रचनाओं में मिल जाते हैं। इस सन्दर्भ के अन्तर्गत साधना विधा की विशिष्ट प्रणाली का परिचय मिलता है। पारिभाषिक शब्दावली और अभिव्यञ्जना विधा की विशिष्ट प्रणालियों के विविधस्वरूप यहाँ उपलब्ध हो जाते हैं। इस वर्ग की रचनाओं में उनके चिन्तन के वैयक्तिक स्वरूप के दर्शन होते हैं। इस सन्दर्भ में वे 'राम' की चर्चा करते हैं ऐसे राम की प्रस्तावना करते हैं, जो पुष्प की सुगन्धि से भी सूक्ष्म है। जिसके मुख नहीं है माया नहीं है जो न रूपवान है और न कुरूपवान है। वह मन-वाणी से अगम और अगोचर है वह केवल अनुभूति में ही आ सकता है। उसके स्थूल रूप की कोई कल्पना सम्भव नहीं है। उसके स्वरूप-वर्णन में कबीर अपनी असमर्थता का परिचय देते हुए कहते हैं—

भारी कहौं त बहु डरौं हलका कहूँ तो झूठ।
मैं का जाणू राम कूं नैनू कबहूँ न दीठ।

स्थूल नेत्रों से उसके स्वरूप की कोई कल्पना नहीं की जा सकती है। वह तो गूँगे का गुड़ है जिसका स्वाद गूँगा प्राप्त करता है परन्तु जिसके गुण की वह व्यञ्जना नहीं कर सकता है—

अकथ कहाँणी प्रेम की, कछू कही न जाई
गूँगे केरी सरकरा बैठे मुसकाई ॥टेक॥१६॥१२।

वह अलख निरंजन है। वह अभय पद का दाता है। यथा—

परिहर कार्म रार्म कह बौरे सुन सिख बन्धू मोरी।
हरि को नार्म अभै पद दाता कहै कबीरा कोरी॥

इस प्रकार कबीर के परम आराध्य हैं राम। राम की वन्दना वे अनेक रूपों में करते हैं। उन्होंने रामनाम के स्मरण के प्रति विशेष आस्था भाव की व्यञ्जना की है। नाम-स्मरण ही उनकी भक्ति का मेरुदण्ड लगता है और कबीर इस

सन्दर्भ में वैष्णव भक्ति के तट को संस्थापित करते हुए चलते हैं। वे नारदी भक्ति का उल्लेख भी करते हैं—'भगति नारदी रिदै न आई' अथवा

भगति नारदी मगन सरीरा
इहि बिधि भवतिरहि कहै कबीरा। १८१।२७८।

अपने राम का सम्बन्ध वे निर्गुण और निराकार से भी स्थापित करते हैं। अल्लाह के रूप को वे अपने राम में समाहित कर लेते हैं। उनका राम उनका अल्लाह है जो पिण्ड और ब्रह्माण्ड में एक समान है। अतः नाम-स्मरण पर अति आस्था प्रकट करते हुए वे कहते हैं—

मेरा मन सुमिरै राम कूं मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रहा सीस नवावौं काहि।

कबीर के अनुसार राम का नाम त्रिलोक का सार है। उसके साथ तादात्म्य स्थापित करलेने के पश्चात् व्यक्ति जीवन में रहते हुए भी जीवन-मुक्त हो जाता है। राम को वे रसायन का पर्याय मानते हैं। इस रसायन का पान साधारण काम नहीं है। इसके लिए सर्व-बलिदान की आवश्यकता पड़ती है।

राम रसाइन प्रेम रस पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है मांगै सीस कलाल। 'रस को अंग'।

वह राम सर्व व्यापी है। मृग की कस्तूरी नाभि में रहती है, परन्तु अपने शरीर में ही कस्तूरी के अस्तित्व का बोध मृग को नहीं होता। ऐसे ही राम घट घट में व्याप्त है परन्तु उसके अस्तित्व का बोध व्यक्ति को नहीं होता[1]। नैनों में जिस प्रकार पुतली है उसी प्रकार घट में खालिक है। हम पुतली के अस्तित्व का अनुभव करते हैं इसी प्रकार 'खालिक' के अस्तित्व की अनुभूति भी हम कर सकते हैं परन्तु उसे देख नहीं सकते हैं।[2] राम से मिलन की बलवती अभिलाषा के कारण वो कबीर संवरण नहीं कर पाते। राम के दर्शन

---

१ कस्तूरी कुंडलि बसै मृग ढूंढै बन माहि।
ऐसे घटि घटि राम हैं दुनिया देखै नाहि।

२ ज्यूं नैनूं मैं पूतली त्यूं खालिक घट माहि।
मूरिख लोग न जाणहीं बाहिर ढूंढण जाहि।

के लिए कबीर की अवस्था विरहिणी के समान है। मृत्यु के पश्चात् उनके दर्शन का महत्व ही क्या ?[१] राम के पास पत्र लिखने की बलवती अभिलाषा उनमें व्याप्त होती है। अपने शरीर को जलाकर क्षार करके मसि बनाना कर, करंक की लेखनी बनाकर राम का नाम लिखकर वे राम के पास भेजने के लिये उत्सुक हैं आकांक्षित हैं।[२] राम के दर्शन के लिए साधना के समस्त अंगों की आवश्यकता है। उसका निवास-स्थान अति सूक्ष्म है। वहाँ चींटी का प्रवेश नहीं हो सकता राई के रखने के लिए वहाँ स्थान नहीं है उस स्थान पर केवल पवन का अवलम्ब ग्रहण कर पहुँचा जा सकता है। ऐसे धरातल पर पहुँचकर राम की अनुभूति हो सकती है।[३]

कबीर राम को गुणातीत मानते हैं। वे सत रज और तम से परे हैं। कबीर की धारणा है कि वह गुण और निर्गुण दोनों के अस्तित्व की सम्भावना से विभूषित है। वह गुण में ही निर्गुण है, निर्गुण में सगुण है। यद्यपि उसे अजर और अमर कहा गया है परन्तु इस परिभाषा से उसके अस्तित्व का, उसके गुणों का बोध नहीं हो पाता है। उसकी उचित परिभाषा यह हो सकती है कि वह अलख और अगम्य है। वह पिण्ड और ब्रह्माण्ड में समाहित है पर पिण्ड और ब्रह्माण्ड से परे है। वह काल की अवधि में परिबद्ध नहीं है। उसका न आदि है न अन्त। वह अगुण और सगुण से परे है। अजर और अमर, ऐसे विशेषण उसके लिए उपयुक्त नहीं हैं—

संतो धोखा कासूं कहिए।
गुण में निरगुण निरगुण मैं गुण है
बाट छाँड़ि क्यों बहिये ॥ टेक ॥

---

१ बिरहिन ऊठै भी पड़े दरसन कारनि राम।
मूंवा पीछै देहुगे, सो दरसन किहि काम ॥
२ यहु तन जालौं मसि करौं लिखौं राम का नाउँ
लेखणि करूँ करंक की लिखि लिखि राम पठाउँ। १२।७
३ जहाँ न चींटी चढ़ि सकै राई ना ठहराइ
मन पवन का गम नहीं तहाँ पहुंचे जाय।

अवरण अमर रूप सब कोई, अलख न कथ्यो जाई।
नास्ति सरूप वरण नहि जाके, घटि घटि रह्यो समाई॥
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, बाकै आदि अरु अन्त न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छाड़ि जे कथिए, कहै कबीर हरि सोई॥ १८०॥

वह अलख निरंजन है। उसे कोई देख नहीं सकता है। वह निर्भय और निराकार है। वह न सूक्ष्म है न स्थूल है न उसके रूप है, न रेखा है। वह दृष्टि और अदृष्टि दोनों के परे है। उसका कोई वर्ण नहीं है वह अवर्ण है, इस पर हम अपना मन्तव्य नहीं दे सकते। उसका न आदि है, न अन्त है न मध्य है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह अकथ्य है। उस अपरम्पार का न जन्म होता है, न उसका विनाश होता है। उसके वर्णन की कोई युक्ति हमारे पास नहीं है। यदि उसका वर्णन करें तो उसकी सम्पूर्णता वर्णन में नहीं आ पाती। वह स्वयं ही उपमेय है और स्वयं ही उपमान है। उसके गुणों के कथन और श्रवण से सुख मिलता है और परमार्थ होता है।[1]

---

१ अलख निरंजन लखै न कोई।
निरभै निराकार है सोई॥
सुंनि असथूल, रूप नहीं रेखा।
द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यो नहि पेखा।
बरन अबरन कथ्यो नहीं जाई।
सकल अतीत घट रह्यो समाई॥
आदि अन्त ताहि नहीं मधे
कथ्यो न जाई आहि अकथे।
अपरम्पार उपजै नहि बिनसै
जुगति न जानियै कथिये कैसे।
जस कथिए तस होत नहीं, जस है तैसा सोइ
कहत सुनत सुख ऊपजै अरु परमारथ होइ।
। रमैणी, १९८ ।

कबीर ने अपने राम के लिए गोविन्द केशव और माधव आदि नामों का प्रयोग भी किया है। परन्तु उनका राम निरंजन है। वह रूप रेख में परिबद्ध नहीं है। जगत् की स्थूलता जिन तत्वों से रचित है, वह उन सबसे परे है। वह समुद्र की गम्भिरता से भी अधिक गम्भीर है और पर्वत की उच्चता से भी उच्च है। वस्तुतः उसका अस्तित्व समुद्र, शिखर, गगन और धरती के अस्तित्व के पूर्व का है। रवि शशि अस्तित्व में नहीं आये थे पवन का संचार नहीं हुआ था नाद और बिन्दु का प्रस्फुटन नहीं हुआ था काल और काया का अस्तित्व नहीं हुआ था इनके पूर्व से ही 'रामराय' का अस्तित्व है। उस राम के चिह्न नहीं है। क्षुधा और पिपा उसके गुण नहीं हैं ऐसा राम घट घट में परिव्याप्त है। वह भेष विवर्जित है वेद विवर्जित है पाप-पुण्य विवर्जित है, ज्ञान-ध्यान विवर्जित है स्थूल-सूक्ष्म विवर्जित है—उनका राम ऐसा अनुपम तत्व है।[1] उनका राम उनका रहिमान उनके हृदय में है।

पूरब दिसा हरी का बासा पछिम अलह मुकामां।
दिल की खोजि दिलै दिल भीतरि इहां राम रहिमानां॥

कबीर के राम परम तत्व हैं। उनका राम 'अमृत तत्व' का पर्यायवाची है। उससे अमरत्व की प्राप्ति होती है। संसार मर्त्य है पर वह परम तत्व चिरजीवी है और कबीर जी चिरजीवी है। कारण वे राम को अमरता के अंश

---

१ गोब्यंदे तू निरंजन तू निरंजन तू निरंजन राया
तेरे रूप नाहीं रेख नाहीं मुद्रा नहीं माया ॥टेक॥
समद नाहीं सिषर नाहीं धरती नाहीं गगनां।
रवि ससि दोउ एकै नाहीं बहत नाहीं पवनां।
नाद नाहीं ब्यंद नाहीं काल नाहीं काया।
जब तैं जल ब्यंब न होते तब तूंही राम राया॥
जप नांही तप नांही जोग ध्यांन नहीं पूजा।
सिव नांहीं सकती नांहीं देव नहीं दूजा॥
रूग न जुग न स्यांम अथरबन बेद नहीं ब्याकरनां।
तेरी गति तूंही जांनै कबिरा तो सरनां। २११।१३१।

है। शाक्त मर्त्य हैं सन्त अमर्त्य हैं कारण सन्त 'रामरसायन' का पान करते है। सन्त की मृत्यु तो तभी होगी जब राम की मृत्यु होगी।

हम न मरैं मरिहैं संसारा हंम कूं मिल्या जियावनहारा ॥टेक॥
अब न मरौ मरनै मन मांना तेई मूए जिनि रांम न जांनां।
साकत मरै सन्त जन जीवैं भरि भरि रांम रसाइन पीवैं।
हरि मरिहैं तो हमहूं मरिहैं हरि न मरै हंम काहे कूं मरि हैं।
कहै कबीर मन मनहि मिलावा अमर भए सुख सागर पावा।

पदावली ४३०।१६१।

साधना की परमभूमि पर पहुँच कर कबीर अपने को राममय देखते हैं। इस भूमि पर पहुँच कर कबीर अनुभव करते हैं कि मैं समष्टि में हूँ, समष्टि मुझ मे है, 'मैं सबनि मैं औरनि में हूँ सब मेरी बिलगि बिलगि बिलगाइ हो।' यह स्थिति महा समाधि की स्थिति है। इस स्थिति में कबीर त्रिगुणों से ऊपर उठ जाते हैं, वे राम-पद की प्राप्ति करते हैं 'त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल तब हमरो नाउ राम राइ हो।' राम की अनुभूति 'महारस' के समान है। इस रस का पान करने वाला योगी है। यह महारस अमृत-तत्व है। इससे संसार की तृष्णा खण्डित होती है। उनका राम शून्य का पर्यायवाची है जिसकी उपलब्धि गगन-मण्डल में ही सम्भव है—

अवधू गगन मण्डल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै बंक नालि रस पीजै ॥टेक॥
× × ×
मनवा जाइ दरीबै बैठा मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाहीं सबद अनाहद बागा। १७।३०।

राम की अनुभूति वारुणी पान की अनुभूति के समान है। राम-रस-पान में कबीर का मन मतवाला है। यह उन्मनी अवस्था में ही हो सकती है। उस स्थिति में गगन-मण्डल में कबीर राम के महारस का पान करते हैं। कबीर ने राम-नाम से सम्बन्धित पदों में राम के अनेक रूपों और सम्बन्धों की चर्चा की है। राम-नाम की महिमा और उसकी महिमा का परिचय देते हुए कबीर ने एक पद में कहा है—

अब गहि रामनाम अबिनासी । हरि तजि जिनरा कतहूँ के जासी ।
जहाँ जाइ तहाँ होहु पतङ्गा अब जनि जरसि समझि विष सङ्गा ॥
राम नाम रूप लाय सुलीन्हा । भ्रिङ्गी कीट समझि मन दीन्हा ।

× × ×

इच्छा के भवसागरे बोहित राम अधार । कहै कबीर हरि सरन गहु,
गोबछ-खुर बिस्तार । बीजक रमैनी ।

इस सन्दर्भ में मुख्य प्रश्न यह है कि कबीर के राम का वास्तविक स्वरूप क्या है ? कतिपय आलोचकों की यह धारणा है कि निर्गुण और सगुण के प्रति परम्परा से प्राप्त विचारधारा के अनुकूल ही कबीर अपने राम की कल्पना करते हैं । पुराणों में सगुणवाद और निर्गुणवाद, इन दोनों रूपों पर समान रूप से चर्चा की गई है । सगुण-पथ के माध्यम से यहाँ निर्गुण के निकट पहुँचने की सम्भावना प्रस्तावित की गई है । कबीर तथा अन्य निर्गुणवादी सन्त पुराणों से अनुशासित हैं । (देखिए हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास पृ० २००) । परन्तु इस प्रकार का निष्कर्ष भ्रामक है । कबीर पुराणों की परम्परा में नहीं आते हैं । इसका स्पष्टीकरण आगे के विश्लेषण से हो जाता है । कबीर उपनिषद् के अनुयायी भी नहीं हैं । साथ ही साथ कबीर ने अति स्पष्ट शब्दों में कहा है कि उनके राम निर्गुण के सगुण अवतार नहीं थे । उन्होंने नर रूप धारण कर लीला नहीं की थी । दशरथ के घर जन्म लेकर उन्होंने रावण को पराजित नहीं किया था। उनके राम कृष्ण-रूप में भी अवतरित नहीं हुए थे । व्रज रक्षा हेतु उन्होंने गोवर्धन पर्वत भी धारण नहीं किया था । उन्होंने न तो वामन-रूप धारण कर बलि को छला था और न उन्होंने वाराह रूप धारण कर पृथ्वी को अपने दाँतों से उठाया था ।[१] इस प्रकार राम के निर्गुण और सगुण इन

---

१ ना साहिबकेक सापी साथा दुख-सुख मेटि रहौ अनाथा ॥
ना दसरथ धरि औतरि आवा ना लंका का राव संतावा ॥
देवै कूख न औतरि आवा । ना जसवै ले गोद खिलावा ।

× × ×

गाँवन होय नहीं बलि छलिया धरनी वेद लेन उधरिया ।

क० ग्र० पृ० २०८ ।

दोनों स्वरूपों की सम्भावना को कबीर अस्वीकार करते हैं। इसी प्रकार कबीर को अद्वैतवादी और एकेश्वरवादी सिद्ध करने का प्रयास भी किया जाता है। परन्तु कबीर अद्वैतवाद या एकेश्वरवाद की सीमा में परिबद्ध नहीं होते हैं। वास्तविकता यह है कि सत तम और रज इन तीनों गुणों से अतीत तत्व को वे निर्गुण मानते हैं। इस सत्य की ओर संकेत करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपना निष्कर्ष देते हुए कहते हैं 'इसी त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैत विलक्षण भावाभाव विनिर्मुक्त, अलख, अगोचर अगम्य प्रेम पारावार भगवान् को कबीर दास ने निर्गुण राम' कहकर सम्बोधन किया है। वह समस्त तत्वों से भिन्न है फिर भी सर्वमय है, वह अनुभवैक गम्य है,—केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है। इसी भाव को बताने के लिए कबीर ने बार-बार 'गूंगे का गुड़' कह कर उसे याद किया है'[1]

इन समस्त विवेचन विधाओं से वस्तु-स्थिति का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। कबीर की भावधारा का मूल्यांकन उनकी रचनाओं की ऐतिहासिक परम्परा में ही अधिक उपयोगी और वैज्ञानिक होगा।

यदि हम ध्यान दें तो यह स्पष्ट होता है कि कबीर ने जिस राम की कल्पना की है, वह बौद्धों का शून्य है। इस शून्य को सिद्धों ने और उनके पश्चात् नाथ साधकों ने अपनी चिन्तन-धारा के अनुसार प्रस्तावित किया है। यदि कबीर की रचनाओं को सूक्ष्मता से देखें तो इस कथन का स्पष्टीकरण हो सकेगा। कबीर 'राम' के विभिन्न रूपों की चर्चा करते हैं। परन्तु उनके शून्यत्व की ओर संकेत करना वे नहीं भूलते। विभिन्न सम्भावनाओं के पश्चात् वे इसी सन्दर्भ पर लौट कर आते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि लोक राम को दशरथ-सुत के रूप में देखता है परन्तु उसके वास्तविक स्वरूप से परिचित नहीं हो पाता है, वह 'रामनाम के मर्म को समझ नहीं पाता है। रामनाम का मर्म क्या है? वह शून्य है जिसकी उपलब्धि गगन-मण्डल में ही सम्भव हो सकती है। लोक-मानस में

---

१ कबीर १२९-१३०।

उनके राम के प्रति उसी प्रकार की जिज्ञासा भावना है जिस प्रकार की जिज्ञासा भावना भवानी के मन मे राम के प्रति थी —

राम को अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई।

× + × ×

जौ नृप तनय तो ब्रह्म किमि नारि बिरहँ मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि।

उत्तर में शिव कहते है—

राम सच्चिदानन्द दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लव लेसा॥
सहज प्रकासरुप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥

राम के सगुण-व्यापार की कथा के सन्दर्भ में गोस्वामीजी उनके निर्गुण स्वरुप और पूर्ण ब्रह्मत्व की ओर स्थल-स्थल पर संकेत करते चलते हैं। 'गुह' की जिज्ञासा को शांत करते हुए लक्ष्मण उसकी शंकाओं का समाधान करते हैं :—

सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयउ प्रेम बस हृदय बिषादू॥
तनु पुलकित जलु लोचन बहई। बचन सप्रेम लखन सन कहई॥

× × × ×

मातु पिता परिजन पुरबासी। सखा सुसील दास अरु दासी॥
जोगवहिं जिन्हहि प्रान की नाई। महि सोवत तेइ राम गोसाई।

लक्ष्मण उसकी शंकाओं का समाधान करते हुए कहते है—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥

रामचरित मानस अयोध्या काण्ड।

इस प्रकार गोस्वामी जी के राम निर्गुण निराकार हैं। यही उनके राम का वास्तविक स्वरूप है। इसी प्रकार कबीर ने भी राम के विविध रूपों के उल्लेख के पश्चात् स्थल-स्थल पर संकेत किया है कि उनका राम 'निरंजन' है, वह अमृत-रस है उसकी अनुभूति 'सहज समाधि' में ही होती है। इस प्रकार कबीर जिस राम की कल्पना करते हैं वह शून्य है। राम के साथ शून्य को सम्बद्ध कर कबीर ने भक्ति और योग का समन्वित रूप प्रस्तुत किया है। बौद्धों के शून्य को व्यक्तित्व प्रदान करने का श्रेय मानवी रूप धरने का श्रम, गोरख नाथ

की है। उन्होंने शून्य के मानवीकरण करने की भावना से एक जिज्ञासा प्रकट की :—

बसती न शून्यं शून्य न बसती अगम अगोचर ऐसा ॥
गगन सिषर पर बालक बोले ताका नाम धरौगे कैसा ।

कबीर ने 'गगन सिषर पर बोलने वाले बालक' के लिए 'राम' नाम की प्रस्तावना की। इस प्रकार कबीर ने शून्य का नामकरण किया।

कबीर ने अपने राम के स्वरूप प्रस्तावन के लिए भक्ति का अवलम्ब ग्रहण किया है। वैष्णव भक्ति निर्गुण भक्ति अथवा इस्लामी एकेश्वरवाद को कबीर ने साधन के रूप में ग्रहण किया है कबीर ने रामनाम का आधार ग्रहण किया है। परन्तु गोरखनाथ के समान कबीर का लक्ष्य या उनका साध्य शून्य है। राम को 'शून्य' से सम्बद्ध कर कबीर ने एक नवीन उद्भावना की है। कबीर ने अपने राम को अमृत-तत्व के रूप में देखा है। सहजसमाधि में सिद्ध और नाथ साधक अमृत पान करता है। परावृति या उल्टी साधना में कुण्डलिनी जागरण और प्राण-वायु के ऊर्ध्व-गमन से साधक दसवें द्वार को अवरुद्ध करता है वारुणी बौंधता है और उसका पान कर अजर अमर हो जाता है। सिद्ध और नाथ मत से सम्बन्धित साहित्य की विवेचना के सन्दर्भ में इसका उल्लेख किया जा चुका है। अस्तु, कबीर का राम इस अमर वारुणी का पर्यायवाची है। इसकी प्राप्ति वे सहज समाधि में करते हैं। कबीर के अनुसार रामनाम के रस का पान करने वाला साधक योगी है। इस रस को बनाने में 'चाँद' और 'सूर्य' को भट्ठी करना पड़ता है। सुषुम्ना को पात्र करना पड़ता है। इस अमृत-पान से तृष्णा शमित होती है। इस रस के पान के सुख का केवल अनुभव किया जा सकता है परन्तु इसका वर्णन सम्भव नहीं है। इस रस का पान केवल सहज-समाधि का अभ्यासी ही कर सकता।[1] एक अन्य पद में कबीर 'सहज शून्य' में राम-रस के पान करने की चर्चा करते हैं।

---

१ कोई पीवै रे रस राँम नाँम का जो पीवै सो जोगी रे।
संतो सेवा करौ राम की और न दूजा भोगी रे ॥टेक॥
यहु रस तौ सब फीका भया ब्रह्म अगनि परजारी रे।
ईसर गौरी पीवन लागे राँम तनीं मतिवारी रे।

'राम रस' का पान सिद्ध सनकादिक करते चले आ रहे हैं परन्तु इससे उनकी तृप्ति नहीं होती। इडा पिंगला को भट्टी में परिवर्तित कर ब्रह्मरंध्र में अग्नि प्रज्वलित करने का उल्लेख कबीर करते हैं। दसवें द्वार को 'ससिहर' और सूर' से बन्द करके उसमें तारी लगाने का उल्लेख करते हैं। गंगा में नीर के प्रत्यावर्तित होने से अमृतधार का प्रस्फुटन होता है। इस रस-पान की प्रक्रिया में सुप्त नागिनि (कुण्डलिनी) जाग्रत हो उठती है। परन्तु सतगुरु से ज्ञान प्राप्त कर ही सहज शून्य में इस रस का पान किया जा सकता है।[1] इस प्रकार कबीर ने जिस राम की कल्पना की है वह 'रसायन' और 'अमृत-स्राव' का पर्याय वाची है। सिद्धों और नाथों ने शून्य मण्डल' में जिस 'निर्झर' की कल्पना की है उस 'निर्झर' से कबीर का राम भिन्न नहीं है। 'अनहद' की किंगरी बज रही है। दीर्घनाद में भी ध्वनि है। गगन मण्डल में सींगी बज रही है। वहाँ त्रि-स्थान पर निराकार का क्रय विक्रय हो रहा है। वहाँ कनक-कलश से अमृत-रस का निर्झर प्रवाहित है। पवन-प्याला में साधक इस रस का पान कर रहा है। कबीर उस रसायन को 'राम रसायन' की संज्ञा देते हैं।[2] कबीर ने

चंद सूर दोइ भाठी कीन्हीं सुषमनि चिगवा लागी रे।
अमृत कूं पी सांचा पुरया मेरी त्रिषना भागी रे।
यहु रस पीवै गूंगा गहिला ताकी कोई न बूझै सार रे।
कहै कबीर महारस मंहगा, कोई पीवैगा पीवण हार रे।

१ बोलो भाई राम की दुहाई
इहि रस सिव सनकादिक माते, पीवत अजहूं न अघाई।
इला प्यंगुला भाठी कीन्हीं ब्रह्म अगिनि परिजारी।
ससिहर सूर द्वार दस मूंदे, लागी जोग जुग तारी।
मनि मति वाला पीवै राम रस दूजा कछू न सुहाई।
उलटी गंगा नीर बहि आया, अमृत धार चुवाई।
पंच जने सो संग करि लीन्हें चलत खुमारी लागी।
प्रेम पियाले पीवन लागे सोवत नागिन जागी।
सहज सुंनि में जिनि रस चाख्या सत गुर थैं सुधि पाई।
दास कबिरा इहि रस माता कबहूं उछकि न जाई।

स्पष्ट शब्दों में कहा है कि राम-गुन की बेलि है इस सत्य को इस तत्व को गोरखनाथ भली भाँति जानते हैं। इस बेलि का कोई स्वरूप नहीं है इसकी कोई शाखा नहीं है। बिना सिंचन के ही यह गगन तक प्रसरित है। यह बेलि सहज की बेलि है यह पुष्पित होने लगी¹। सहज के स्वरूप को समझाने वाला योगी ही रामबेलि के रहस्य को समझता है। इस राम की गति अगाध है। अतः उसके रूप का कथन सम्भव नहीं है। कबीर स्वीकार करते हैं कि निरंजन राम जहाँ निवास करते हैं वहाँ शून्य है अथवा वह स्थान शून्य है इसका ज्ञान उन्हें स्वयं नहीं है कहै कबीर जहाँ बसहु निरंजन तहाँ कुछ आहि की सून्यं।

इस प्रकार हम स्पष्ट देखते हैं कि कबीर वैष्णव विचारधारा के साथ बौद्ध भावना को सम्बद्ध करते हैं। शून्य को साकार रूप देकर उसे अधिक सहज बोधगम्य और मानवीय बनाते हैं। भारतीय चिन्तन-धारा में अद्वैत भावना की दो स्वतन्त्र विधायें मिलती हैं प्रथम वेदान्त-सम्मत अद्वैतवाद द्वितीय बौद्ध अद्वैतवाद या 'शून्यवाद'। कबीर इस द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार कबीर ने ब्रह्माद्वैतवाद के साथ बौद्धाद्वैतवाद को समन्वित किया है। ब्रह्माद्वैतवाद को परम उपलब्धि में उनकी साधना मुखर नहीं है। अपनी साधना के परम रहस्य को स्पष्ट करते हुए कबीर ने कहा है—

---

२ अवधू गुरु अनहद कीगरी बाज तहाँ दीरघ नाद ल्यौ लागै।
मि अस्थानं अन्तर मूप छाला गगन मण्डल सींगी बाज।
तहुआँ एक दुकान रच्यो है निराकार व्रत साजै।
गगन की भाठी सींची करि चूँगी कनक कलस एक पाया।
तहँवाँ चुवै अमृत रस नीझर रस ही में रस चुवाया।
अब तो एक अनूपम बात भई, पवन पियाला साजा।
तीनि भवन में एकै जोगी कहौ कहा बसै राजा।
बिनर जानि परणउ परसोतम कहि कबीर रंगि राता।
यहु दुनियाँ कांन भ्रमि भुलानी मैं राम रसाइन माता।

१ देखिए—कबीर ग्रन्थावली—प १५१। १५१। कबीर ग्रन्थावली।

अवधू गगन मण्डल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै बंकनालि रस पीजै ।।टेक।।
मूल बांधि सर गगन समानां सुषमन यों तन लागी।
काम क्रोध दोउ भया पलीता तहां जोगणी जागी।।
मनवां जाइ दरीबै बैठा मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नांहीं सबद अनाहद बागा।

पद ७०।१७।

अतः कबीर का राम 'शून्य' है, उनका राम 'निर्वाण' है जिसको उन्होंने *वैष्णव भक्ति के आलम्बन के साथ सम्बद्ध किया है। परन्तु उद्देश्य उनका शून्य है* वैष्णव भक्ति नहीं। इसके सम्भावित कारणों पर सन्त साहित्य के समष्टिगत मूल्यांकन के अन्तर्गत विचार किया गया है। वास्तविकता यह है कि कबीर ने 'शून्य मण्डल' में निवास करने वाले पुरुष का ध्यान किया है। बौद्धों ने निर्वाण को शीतल कहा है। उनका यह विश्वास है कि संसार ज्वलित है और निर्वाण वस्तुतः इस ज्वलन का दूसरा पक्ष है उसका शीतल होना ही निर्वाण है। कबीर की भक्ति इस निर्वाण से भिन्न नहीं है। उन्होंने अपनी भक्ति के शीतल स्वरूप की कल्पना की है कबीर इस भक्ति के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहते हैं कि शून्य में स्नान करने से तन की तपन समाप्त हुई और तन शीतल हुआ— 'तपनि गई सीतल भया जब यह किया सुनि असनान। इस प्रकार कबीर की भक्ति का साम्य है सहज समता जिसे कबीर राम का पर्याय मानते हैं। यह एक मानसिक स्थिति है, अनुभूति है जिसमें सापेक्ष व्यक्तिगत मन निरपेक्ष और समष्टिगत हो जाता है। इसे मन की द्वन्द्वातीत अवस्था कहते हैं। नाथ सम्प्रदाय ने इस प्रकार की अवस्था की कल्पना की है—'पुरुष्या मेंटि सहज मैं रहै ऐसा विचार मछिन्द्र कहै। कबीर ने इसी के अनुरूप कहा है—

सहज सहज सब कोई कहै सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजै हरिजी मिलै, सहज कहीजे सोई।
सहजै सहजै सब गये सुत बित कामिनी काम।
एकमेक है मिलि रह्या दास कबीरा राम।

कबीर ग्रन्थावली, साखी ४ ३ पृ० ४२।

कबीर ने अपने चिन्तन की प्रस्तावना के लिए भक्ति का आधार ग्रहण किया है। भक्ति के विविध रूपों को कबीर ने समता के धरातल पर ग्रहण किया है। कारण कबीर में अपने समाज को संगठित और समन्वित करने की बलवती प्रेरणा थी। सिद्धों में समाज-उन्नयन की भावना नहीं थी। व्यष्टि और समष्टि के रागात्मक अनुबन्धों में तादात्म्य-संस्थापन की क्षमता उनमें नहीं थी। यह उनका उद्देश्य भी नहीं था। सामाजिक स्तर पर उतर कर जीवन को संगठित करने का आग्रह उनका उद्देश्य नहीं था। उनके युग का व्यक्ति अपनी विकास भावना में अपनी आस्था का प्रतिबिम्ब उनकी रचनाओं में नहीं पाता था। नाथपंथ ने नवीन सम्भावनाओं की आधार भूमि प्रदान करना चाहा। परन्तु पूर्णतः निवृत्ति मार्गी होने के कारण उसमें सिद्धधारा के विपरीत प्रतिक्रियात्मक स्वर प्रधान हो गया। आध्यात्मिक मूल्यों की अवहेलना के कारण इस धारा को समाज की सापेक्षता में स्थान न मिल सका। समाज-संघटन तथा युग-बोध को समन्वित करने की क्षमता उसमें नहीं थी। कबीर सृष्टा और द्रष्टा थे। अपनी पूर्ववर्ती चिन्तनधाराओं में निहित जीवन के निषेधात्मक तत्वों के दर्शन वे कर चुके थे। अतः जीवन के साथ सम्बद्ध जीवन की समष्टि में जीवित रहने वाली भक्ति जिसका आधार ही उनकी चिन्तन धारा का माध्यम बन सकेगी उसके द्वारा ही वे युग-जीवन को अपने निकट ला सके, इसमें वे सफल हुए थे।

वैष्णव भक्ति का अवलम्ब कबीर ने इसी विश्वास के साथ अपनाया था। रामानन्द अपने युग के एक समर्थ व्यक्ति थे। वैष्णव भक्ति की अवतारणा उन्होंने सामान्य मानव के लिए की थी। रामानन्द के इस महान् और उदार व्यक्तित्व के कारण ही कबीर उनकी ओर आकर्षित हुए थे। कबीर ने वैष्णवों के प्रति सम्मान भाव व्यक्त किया है।[1] यह कहा गया है कि कबीर ने 'नारदी भक्ति' को भी

---

१ (i) मेरे संगी दोइ जणा, एक वैष्णव एक राम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम। साखी ४।

(ii) वैष्णव की छपरी भली, ना साकत का बड़ गाउं। ग्रन्थावली २३।

(iii) साकत, बाम्हन मति मिलै, वैसनो मिलै चंडाल।
अंक माल दे भेटिये, मानो मिले गोपाल। ग्रन्थावली २३।

चर्चा की है। नारदी भक्ति में ग्यारह प्रकार की आसक्तियों की चर्चा की गई है। इनमें कान्ता आसक्ति का भी वर्णन मिलता है। कबीर की रचनाओं में प्रेमासक्ति-भावना को व्यक्त करने वाली रचनायें हैं। रामानन्द की एक रचना है 'वैष्णव मताब्ज भास्कर'। इस ग्रन्थ में ईश्वर और जीव के सम्बन्धों को पति-पत्नी (भार्या भर्तृत्व) के सम्बन्धों के रूप में व्यक्त किया गया है। कबीर की रचनाओं में इस भाव-योजना से सम्बन्धित कतिपय पद मिलते हैं—

दुलहिनि गावहु मंगल चार
हम घर आए हो राजा राम भरतार। टेक।
तन रति करि मैं मन रति करि हूँ पंचतत बराती।
राम देव मोहि ब्याहन आए मैं जोबन मद माती।
सरीर सरोवर बेदी करि हूँ, ब्रह्मा बेद उचार।
रामदेव संगि भाँवरी लैहूँ, धनि-धनि भाग हमार।
सुर तेंतीसूं कौतिग आए, मुनिवर सहस अठ्यासी।
कहै कबीर हंम ब्याहि चले हैं पुरिष एक अबिनासी[1]। पद १।

एक अन्य पद में इस प्रकार की भावना मिलती है कि व्यापक अवधि के पश्चात् प्रिय के दर्शन होते हैं। प्रिया से मिलने प्रिय (राम) स्वयं आए हैं। मंगलाचरण के पश्चात् प्रिया ने राम रसायन से अपनी रसना पवित्र की। अभिसार फल स्नेह, मिलन और परिरम्भ से आलोकित हुआ। प्रिया को संयोग-सुख मिला। प्रिया को इसका गौरव है कि प्रिय (राम) ने उसे सुहाग का अनुदान दिया।[2] एक अन्य पद में इस प्रकार के भाव व्यक्त हैं कि हरि मेरे प्रिय हैं मैं

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर को वैष्णवों की अहिंसा और प्रपत्तिवाद से प्रभावित माना है—हिन्दी साहित्य का इतिहास। भण्डारकर कबीर को वैष्णव भक्ति परम्परा में मानते हैं। Vaisanavism and Saivism-95 'रामानन्द के प्रधान उपदेश अनन्य भक्ति को कबीर ने शिरसा स्वीकार कर लिया था। बाकी तत्त्व ज्ञान को उन्होंने अपने संस्कारों रुचि और शिक्षा के अनुसार एक नवीन रूप दिया था। कबीर ६८। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

२ बहुत दिनन में प्रीतम पाये।
भाग बड़े घरि बैठे आये।
मंगल चार मांहि मन राखौं राम रसायण रसना चाषौं।
मन्दिर माहि भया उजियारा ले सूती अपना पीव पियारा।
मैं रनि रासी जे निधि पाई हमहिं कहा यहु तुमहिं बड़ाई।
कहै कबीर मैं कछु न कीन्हां, सखी सोहाग राम मोहि दीन्हां। पद २।

उसकी बहुरिया हूँ। हरि बिना मेरा जी एक पल के लिए भी विश्राम नहीं पाता।[1] इन सन्दर्भों के आधार पर यह निर्णय किया जाता है कि कबीर 'नारदी भक्ति' या रामानन्द की भक्ति पद्धति के अन्तर्गत आते हैं।

विरह निवेदन की इस तीव्रता के आधार पर कबीर के अधिकांश आलोचक यह निष्कर्ष देते हुए मिलते हैं कि कबीर ने विरह भावना और उसकी व्यञ्जना प्रणाली सूफियों से प्राप्त की है। कबीर में माधुर्य भाव के तत्व मिलते हैं, विरह निवेदन की तीव्रता सूफियों की पद्धति के अनुसार ही लगती है। भारत में कबीर के पूर्व सूफी सम्प्रदाय प्रचलित हो चुका था। इस आधार को ग्रहण करते हुए डॉक्टर रामकुमार वर्मा ने अति विश्वास के साथ कबीर पर सूफीमत के प्रभाव को स्वीकार किया है।[2] परन्तु कबीर सूफी-साधना से प्रभावित थे यह एक विचारणीय प्रश्न है। वास्तविकता जो भी हो, परन्तु इतना स्पष्ट है कि सूफी साधना कबीर का साध्य नहीं है वैसे ही जैसे वैष्णव भक्ति। सूफी तत्व या व्याध भक्ति कबीर का अप्रस्तुत है प्रस्तुत है कबीर का राम, कबीर का शून्य।

सिद्ध साहित्य की विवेचना में कहा गया है कि बोधिचित्त की प्राप्ति के लिए 'करुणा' और 'शून्यता' के संयोग की कल्पना की गई है। महायान में 'करुणा' को 'उपाय' और 'शून्यता' को 'प्रज्ञा' कहा गया है। 'महायानसूत्रालंकार' में शून्यता को रमणी के रूप में गृहीत है। बोधिचित्त इसमें प्रगाढ़ आलिंगन में परिबद्ध रहते हैं। 'अद्वयवज्र संग्रह' में शून्यता को पत्नी और करुणा को पति रूप में स्वीकार किया गया है। इनके मिलन का वर्णन दाम्पत्य-युग्म-संयोग के

---

१ हरि मेरा पीव माई हरि मेरा पीव
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव ।टेक।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया
राम बड़ मैं छुटक लहुरिया
किया स्यंगार मिलन कै ताईं।
काहे न मिलो राजा राम गुसाईं।
अबकी बेर मिलन जो पाऊँ
कहै कबीर भौ जलि नहिं आऊँ। ११७।

२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० 37

माध्यम से किया गया है। इस मिलन को समरस-अवस्था भी कहा गया है। शून्यता और करुणा के मिलन का भाव साहित्य में शिव-शक्ति के मिलन के रूप में वर्णन किया गया है। इसे निरपेक्ष आनन्द भी कहा गया है। कबीर ने इसी प्रकार की समरसता में निरपेक्ष आनन्द की कल्पना की है। परम्परा से प्राप्त वर्णन-प्रणाली का प्रयोग करते हुए कबीर ने दाम्पत्य-युग्म-साधना का प्रयोग किया है। अतः कहे कबीर हम ब्याहि चले हैं पुरुष एक अविनाशी में इसी समरस या अद्वैत अवस्था का वर्णन किया गया है। कबीर पर इस्लामी एकेश्वरवाद का प्रभाव भी देखा गया है। परन्तु कबीर जिस अल्लाह की चर्चा करते हैं, वह निरंजन है शून्य है। वह समग्र संसृष्टि में है, समग्र संसार उसमें है।[१]

कबीर की पंक्तियों में ही—

सब हम माहिं सकल हम मांही।
हम थे और दूसरा नांहीं।
तीनि लोक में हमारा प्रसारा
आवागमन सब खेल हमारा।'

कतिपय आलोचकों ने कबीर की कतिपय रचनाओं में अद्वैत में द्वैत सिद्धान्त के वर्णन किये हैं। इस प्रकार की भावना काश्मीरी शैव दर्शन में भी मिलती है। अतः इस वर्ग के आलोचकों की यह धारणा है कि कबीर काश्मीरी शैव दर्शन से

---

१ (क) सूफी-साधना में प्रेम-साधना के माध्यम से मनुष्य का ईश्वर में 'फना' हो जाना स्वीकार किया गया है। 'हाल' की स्थिति समाप्त हो जाने पर अद्वैत स्थिति समाप्त हो जाती है। परन्तु कबीर की दृष्टि इससे भिन्न है उनका परम उद्देश्य इन पंक्तियों में व्यक्त है—

मैं डोरे डोरे जाँऊगा तो मैं बहुरि न भौजल आऊँगा।
× × ×
जहाँ सूत कपास न पूनी तहाँ बसे एक मूनी।
उस मूनि सुँ चित्त समाऊँगा तो मैं बहुरि न भौजल आऊँगा।

(ख) इसलामी एकेश्वर वाद में अल्लाह का रूप है—ला इलाहे इल्लिल्लाह मुहम्मद ई-रसूल—अल्लाह का कोई अल्लाह नहीं वह एक मात्र परमेश्वर है मुहम्मद उनका रसूल है।

भी प्रभावित थे। काश्मीरी शैव दर्शन में यह भी प्रस्तावित है कि परम शक्ति सृष्टि-सर्जना में माया का आधार नहीं ग्रहण करती है। उसकी समस्त दर्शन विधा प्रत्यभिज्ञादर्शन में केन्द्रित है। परन्तु 'स्पन्द' या 'अद्वैत भावात्मक भक्ति' से कबीर का सम्बन्ध नहीं रहा है। अतः काश्मीरी शैव दर्शन के सन्दर्भ में कबीर की विवेचना आरोपित वस्तु होगी। कबीर ने 'वारकरी सम्प्रदाय' के भक्तों का स्मरण किया है। इस सम्प्रदाय की भक्ति भावना से भी कबीर प्रभावित लगते हैं। उनके परम स्मरण को 'विट्ठल' कह कर कबीर ने स्मरण किया है। इस वर्ग के साधक अवतार वाद में विश्वास नहीं करते थे वे मूर्तिवाद का खण्डन भी करते थे। वे साधक और साध्य में रागात्मक सम्बन्धों की कल्पना भी करते थे। इन दृष्टियों से कबीर और इन साधकों में साम्यता मिलती है। परन्तु वारकरी सम्प्रदाय के भक्त ज्ञान-मूलक अद्वैतात्मक भक्ति के लिए सगुण उपासना पर भी अवलम्बित होते हैं। कबीर इस दृष्टि को स्वीकार नहीं करते हैं।

कबीर ने स्वसंवेद्यज्ञान पर विश्वास प्रकट किया है। वे स्वसंवेद्य ज्ञान को 'साखी' कहते हैं। 'स्वसंवेद्यज्ञान' के लिए स्वानुभूति आवश्यक है। इसे वे 'परचा को अंग' कहते हैं। इसी ज्ञान के आधार पर वे अपने 'साहब' के अस्तित्व की अनुभूति करते हैं। इस प्रकार कबीर की समस्त प्रस्तावना 'स्वसंवेद्य ज्ञान' पर आधारित है—

सुरति समानी निरति में निरति रही निरधार
सुरति निरति परचा भया तब खूले स्यंभ दुवार। २२।१२
सुरति समानी निरति मैं अजपा माँहै जाप।
लेख समानी अलेख मैं यूं आपा माँहै आप।

इस प्रकार कबीर की समस्त प्रस्तावना स्वसंवेद्यज्ञान पर आधारित है। वे वेद शास्त्र का प्रमाण नहीं ग्रहण करते हैं। सापेक्ष मन के निरपेक्ष मन में समाहित हो जाने के बाद ही कबीर को आगम निगम निरर्थक लगते हैं। यह ज्ञान ग्रन्थों और वर्णों पर आधारित नहीं है। इस ज्ञान को 'अलख ज्ञान' कहते हैं। कबीर इसी अक्षर ज्ञान के पुजारी थे। इसी ओर ही संकेत करते हुए कबीर ने 'बिनु अक्षर मुक्ति होई' का उल्लेख किया है।

कबीर में समाज-संकलन की भावना अति प्रबल है। साथ-ही साथ इन्होंने स्वयं रविज्ञान के आधार पर साधना की विविध भूमियों का वर्णन किया है उनके साथ तादात्म्य स्थापित किया है। अपने ज्ञान के आधार पर समाज को विभक्ति करने वाले तत्वों पर वे आघात करते हैं। वे सिद्धों की अवहेलना करते हैं बौद्ध और शाक्तों की निन्दा करते हैं। कबीर ने सर्व कालीन मानव को उन्नत जीवन दृष्टि दी है। उनके लिए सबसे बड़ा सत्य मनुष्य है। ब्राह्मण शूद्र हिन्दू मुसलमान पण्डित-मुल्ला जैन-बौद्ध-शाक्त, ये सभी मनुष्य के रूप में समान हैं। मस्जिद-मन्दिर मनुष्य को खण्डित करते हैं। कबीर धर्म-भेद और वर्ण-भेद की भावना पर कठोरता से आघात करते हैं। आर्थिक विषमताओं के आधार पर मानव का मूल्यांकन नैतिकता के विपरीत है। कबीर की दृष्टि में जीवन के स्वस्थ मूल्यों से पतित मानवीय चेतना से शून्य व्यक्ति ही निर्धन है—जिनके हृदय में राम' नहीं वे निर्धन हैं।

निर्धन आदर कोई न देई। लाख जतन करै ओहु चित न धरेई।
जौ निरधन सरधन कै जाई। आगे बैठा पीठ फिराई।
× × × ×
निरधन सरधन दोनो भाई। प्रभु की कला न मेटी जाई।
कहि कबीर निर्धन है सोई। जाके हिरदै राम न होई।

कबीर ग्रन्थावली।१०२। परिशिष्ट।

कबीर ग्रन्थावली में संग्रहीत रचनायें 'अङ्गों' में विभक्त हैं। 'अंगों के विभाजन के ऐतिहासिक स्वरूप पर आगे विचार किया गया है। 'मन को अंग' शीर्षक के अन्तर्गत जो साखियाँ संग्रहीत हैं उनमें मन के गुणात्मक स्वरूप की चर्चा कबीर ने की है—

मन दीयाँ मन पाइए, मन बिन मन नहिं होइ।
मन उनमन उस अंड ज्यूं अनल अकासा जोइ।१।

इस अंग में कबीर ने मन के दो रूपों का वर्णन किया है प्रथम सापेक्ष मन और द्वितीय निरपेक्ष मन। सापेक्ष मन जब निरपेक्ष मन में समर्पित हो उठता है तो इस स्थिति को उन्मनी अवस्था कहते हैं। मन की विविध साधनात्मक परिभूमियों की चर्चा करते हुए कबीर न कहा है मन की साधना

से ही गोरख नाथ अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर सके थे। मन-साधना से ही गोविन्द की उपलब्धि हो सकती है (१०)। पर मन की स्थिति कुछ विचित्र है। वह जल से भी पतला और धूम्र से भी अधिक क्षीण है और पवन से अधिक चंचल और द्रुतगामी है। ऐसे मायेश मन को कबीर ने विरचना रूप प्रदान किया है, उसे अपना मित्र बना लिया है।

पाँणी ही तै पातला धूँवाँ ही तै झीण।
पवनाँ वेगि उतावला सो दोसत कबीर कीन्ह।१२।

मन को अंग।

कबीर ने मन को मृग के समान देखा है। इस प्रकार के अनेक प्रयोग सिद्धों और नाथों की रचनाओं में भी मिलते हैं। काया कमान है ज्ञानेन्द्रियाँ पंचबाण है। पारधी के समान मन-मृग पर आक्रमण कर कबीर उसे अपने अधिकार में करके परम शान्ति की उपलब्धि करते हैं।

काया कर्मूं कमाण ज्यूं, पंचतत्त करि बाँण।
मारौं तो मन मृग को नहीं तो मिथ्या जाणि।१०।२६२।२६।

'माया को अंग' के अन्तर्गत कबीर ने माया के स्वरूप की चर्चा की है। परम्परा से प्राप्त 'माया'—विषयक धारणा से भिन्न कबीर की माया है। वस्तुतः 'चंचल मन' ही माया है। उसका नामकरण वे पापणी पापिनी आदि संज्ञाओं से करते हैं।

माया मुई न मन मुवा मरि मरि गया सरीर।
आसा त्रिष्णाँ ना मुई यौं कहि गया कबीर।११।

कबीर ने क्रियात्मक और सत्यात्मक जीवन-दर्शन की प्रस्तावना की है। ज्ञान-ग्रन्थों से ज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा प्रेम की महिमा स्पष्ट है। परम तत्त्व प्रेम द्वारा ही उपलब्ध हो सकता है। ज्ञान की अपेक्षा प्रेम का मार्ग सरल है बोध-गम्य है—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुवा पंडित भया न कोइ।
एकै आखिर पीव का पढ़ै सु पंडित होइ।४।३४३।

यों ही 'पेम को अंग' 'माच को अंग' और, 'माया माया भ्रम का अंग' में संगृहीत रचनाओं में उद्देश्य की व्याख्या निहित है। इस प्रकार अंगों की

साखी देते हुए कबीर अपने 'स्वयंसंवेदनाम' का वर्णन करते हैं। 'मधि के अंग' में ज्ञान भक्ति को कबीर दास कहते हैं प्रेम भक्ति को सीतल कहते हैं। कबीर इन रचनाओं में समाज-पक्ष के विपरीत साधना-पक्ष की चर्चा करते हैं। वे विशिष्ट सांकेतिक और प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग करते हैं, साधना की विशिष्ट उपलब्धियों का वर्णन करते हैं। संसार के प्रलोभनों से मन को मुक्त करने की भावना को सिद्धों और नाथों ने 'मन-मारने' की संज्ञा दी है। इसे 'जीवित मृतक' अवस्था भी कहा गया है। 'हरि प्रेमी' के लिए यह अवस्था एक अनिवार्य आवश्यकता है—

जीवत मृतक ह्वै रहै तजै जगत की आस।
तब हरि सेवा आपण करै मति दुख पावै दास।१।

सिद्धों और नाथों ने साधक के लिए 'सूर' या 'सूरवाँ' शब्द का प्रयोग किया है। चंचल मन को मारने वाले साधक को कबीर 'सूरवाँ' कहते हैं—वही सूरवाँ है जो मन का मर्दन करता है—

कबीर सोई सूरवाँ मन सूं माडै झूझ।
पंच पयादा पाड़ि लै दूरि करै सब दूज।२।

सूरातन कौ अंग।६१।

गगन में दमामा बजता है निशाण का निरन्तर आघात पड़ रहा है जिस सूर में आत्म-बलिदान की अभिलाषा जगती है वही इस संग्राम में भाग ले सकता है (६)। कबीर का मार्ग प्रेम का मार्ग है। यह प्रेम खेत में उत्पन्न नहीं होता है हाट में इसका क्रय विक्रय नहीं होता है। इसके लिए सिर का बलिदान करना होगा। सिर का बलिदान कर राजा प्रजा सभी इस प्रेम की उपलब्धि कर सकते हैं—

प्रेम न खेती नीपजै प्रेम न हाटि बिकाइ।
राजा परजा जिस रुचै सिर दे सो ले जाइ।२१।६२।

भक्ति राम की दुहेली है इस मार्ग पर कापुरुष नहीं चल सकता। जिसमें शीश समर्पित करने का आग्रह और क्षमता है वही इस मार्ग पर चल सकता है। राम की भक्ति अग्नि की ज्वाला है। इस ज्वाला के साथ कौतुक करने वाला व्यक्ति दग्ध हो जाता है (२१)। साधक के लिए कबीर 'सती' शब्द का प्रयोग करते

है। उसकी साधना सती के समान दृढ़ होती है। प्रिय का नाम-स्मरण कर सती जलने के लिए, प्राण त्यागन-हेतु निकली। प्रिय का नाम सुनते ही अपनी सुधि भूलकर स्व का परित्याग कर वह प्रिय में समाहित हो उठी। वस्तुतः यह एकाकार की स्थिति है, जिसे 'उनमनता' की अवस्था कहा गया है।

सती जलन कूँ नीकली पीव का सुमरि सनेह।
सबद सुनत जीव नीकल्या भूलि गई सब देह।
सती जलन कूँ नीकली चित धरि एक बमेख।
तन-मन सौंप्या पीव कूँ तब अंतरि रही न रेख।

—सूरा तन को अंग। ३६ १०।६६।

कबीर ने अपनी साखियों में 'सबद' शब्द का प्रयोग किया है। 'सबद को अंग' के अन्तर्गत की साखियों में विशिष्ट प्रकार की आत्मात्मक साधनाओं की चर्चा की गई है। यहाँ 'सबद' ज्ञान के पर्याय के रूप में प्रयुक्त है। सबद 'सत्यचेतना' का प्रति रूप है। कबीर 'सबद' को बाण भी कहते हैं जिससे अज्ञान पर आक्रमण करते हैं। सतगुरु 'सबद' के बाण के प्रयोग से अज्ञान की समाप्ति करता है—

सतगुर साचा सूरिवाँ सबद जु बाह्या एक।
लागत ही मैं मिलि गया पड्या कलेजै छेक। १९।
मारा बहुत पुकारिया पीड़ पुकारै और।
लागी चोट सबद की रह्या कबीरा ठौर। ८।११८।

ज्ञान की मार से अहंकार का विनाश होता है। परम तत्व के साथ तादात्म्य होता है। इसी सबद को कबीर 'हरि रस' भी कहते हैं।

ज्ञान-उपलब्धि के साधनों में कबीर ने गुरु को सर्व श्रेष्ठ स्थान दिया है। गुरु 'शब्द' के रहस्यों का उद्घाटन करता है। कबीर ने गुरु को 'सूरमाँ' कहकर सम्मान भाव व्यक्त किया है। गुरु 'सबद' के आघात से चेतना को जाग्रत करता है। मन में सतगुरु निरन्तर उपस्थित रहता है उसकी प्रेरणा से ही उन्मनी अवस्था की प्राप्ति होती है—

हँसै न बोलै उन्मनी चंचल मेल्ह्या मारि।
कहै कबीर भीतरि भिद्या सतगुर के हथियार। ११२

गुरुदेव को अंग।

इस प्रकार स्वसंवेद्यज्ञान की ओर गुरु ही संचालित करता है। गुरु की महिमा का अनुगान करते हुए कबीर ने कहा है—

दीपक दीया तेल भरि बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुणा, बहुरि न आवौं हट्ट। १२

माया के दीपक पर नर पतंग के समान आकर्षित होता है। गुरु-ज्ञान में उद्बुद्ध और सचेतन प्राणी ही इस आकर्षण से अपनी रक्षा कर पाता है। साधना की उच्चतम भूमि पर पहुँचकर साधक यह अनुभव करता है कि गुरु और गोविन्द में अन्तर नहीं है। गुरु प्रेम का मेघ है। उसके सिंचन से ज्ञान का बीज अंकुरित होता है।—

कबीर बादल प्रेम का भीजि गया सब अंग।
अंतर भीगी आतमाँ हरी भई बनराइ।३४।

कबीर ने उलटी साधना का वर्णन किया। कथन की इस विशिष्ट विधा को उलट बाँसी कहते हैं। 'सिद्धों' तथा 'नाथों' की रचनाओं में इस कथन विधा की प्रचुरता मिलती है। (देखिए पृष्ठ ४४ ४५ १९८)। अपनी पूर्व परम्परा के अनुसार कबीर ने अपनी उलटाबाँसियों की रचना विरोधी धर्म के उपमानों तथा विरोधी धर्म में आरोपण के विविध प्रयोगों के माध्यम से की है। *इसके अन्तर्गत असंगत पद योजना विरोधाभास विभावना आदि के विशिष्ट* प्रयोग मिलते हैं— यथा

कैसे नगरि करौ कुटवारी,
चंचल पुरुष बिचषन नारी।
बैल बियाइ गाइ भई बाँझ
बछरा दूहै तीन्यो साँझ।
मकड़ी धरी माषी छछिहारी
मास पसारि चील्ह रखवारी।
मूसा खेवट नाव बिलइया
मींडक सोवै साँप पहरइया।
निति उठि स्याल स्यंघ सूँ झूझै
कहै कबीर कोई बिरला बूझै।

अर्थात्, चंचल पुरुष और चंचला नारियों से नगर परिपूर्ण है। ऐसे नगर की रक्षा कैसे की जाय। बैल प्रसवन करता है गाय बन्ध्या रहती है। बछड़ा तीनों सन्ध्या में दुहा जाता है। मकड़ी मक्खी के घर दौड़कर जाती है। मेढक सोता है। साँप पहरा दे रहा है। प्रति दिन स्यार (शृगाल) सिंह से जूझता है। कबीर कहते हैं कि इसका अर्थ विरले ही समझते हैं।

सन्तों की रचनाओं में मन के दो रूपों की कल्पना मिलती है। प्रथम चेतन मन द्वितीय अचेतन मन। अचेतन मन के लिए 'सिंह रूप' का प्रतीकात्मक प्रयोग किया गया है। असंतोषपूर्ण वृत्तियाँ अहंकार और अज्ञान अचेतन मन की शक्तियाँ हैं, जिनके द्वारा वह चेतन मन (स्यार) को अपने अधिकार में रखता है। ज्ञान उपलब्धि के पश्चात् चेतन मन इन प्रभावों से मुक्त होता है तब अचेतन मन को अपने अधिकार में कर लेता है। यही शृगाल का सिंह से 'जूझना' है। गाय इन्द्रियों का प्रतीक है। इन्द्रियाँ अज्ञान और अचेतना का प्रजनन करती हैं। ज्ञान के प्रस्फुटन से इन्द्रियाँ शान्त हो उठी हैं वे अज्ञान और अचेतना का प्रजनन नहीं कर पातीं। यही गाय का बन्ध्या होना है। अब मन से चेतना प्रस्फुटित होती है। यही उसका 'बियाना' (प्रजनन प्रक्रिया) है। चेतन मन से प्रसवित ज्ञान बछड़ा है। उससे निरन्तर चेतना का स्फुरण होता है। यही बछड़े का दूध देना है। संसार के प्रलोभन मांस के समान फैले हैं। अब चेतन मन उनकी ओर आकर्षित नहीं होता। इन्द्रियाँ (बिल्ली) चेतन मन (मूस) पर आश्रित है। 'मेंढक' (चेतन मन) निश्चिन्त है। अचेतना (सर्प) उसे आत्म-ग्रास करने का प्रयत्न नहीं करती।

साधना के गूढ़ तत्वों एवं परम तत्व के स्वरूप निर्धारण से सम्बन्धित रचनाओं के अतिरिक्त कबीर अपनी रचनाओं में सामाजिक कुरीतियों का खण्डन करते हैं सामाजिक रूढ़ियों पर आघात करते हैं। तृतीय वर्ग की रचनाओं में आलोचक के रूप में कबीर का व्यक्तित्व सम्मुख आता है।

कबीर ग्रन्थावली में संगृहीत वाणियाँ साखी 'सबदी' और 'रमैनी' में विभक्त हैं। रमैनी में चौपाइयों के पश्चात् दोहे के रखने का क्रम नियोजित है।

यह अपभ्रंश की कड़वक शैली की काव्य विधा है। 'बीजक' की रचनायें 'बावनी' 'चौंतीसा', 'विपि' 'बार' 'चांचर' 'हिंडोल' 'कहरा' 'बेलि' आदि में वर्गीकृत हैं। अनुभूति के रागात्मक तत्वों का वर्णन वे गेय पदों में करते हैं।

कबीर के नाम से प्राप्त रचनाओं की भाषा में एक रूपता नहीं है। इनकी रचनायें मौखिक परम्परा में ही जीवित रही हैं।

काल-क्रम से इनमें अन्य रचनाकारों की रचनायें भी सम्मिलित होती रही हैं। इस प्रकार समय के अनुसार इनके नाम से प्रचलित रचनाओं के आकार प्रकार में परिवर्तन होता रहा है। कबीर के बीजक' के टीकाकार विचार दास ने'बीजक' का आधार ग्रहण करते हुए कबीर की रचनाओं की भाषा को पूर्वी कहा है। (विचारदास शास्त्री—बीजक विरल टीका पृष्ठ ८३।) डॉ॰ रामकुमार वर्मा कबीर की भाषा का व्याकरण पूर्वी हिन्दी पर आधारित मानते हैं जिस पर पंजाबी के यथेष्ट प्रभाव को वे स्वीकार करते हैं। (सन्त कबीर—डॉ॰ रामकुमार वर्मा पृष्ठ २२)। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर की भाषा को राजस्थानी-पंजाबी मिश्रित खड़ी बोली कहा है। इनका यह निष्कर्ष है कि 'रमैनी' और 'पदावली' की भाषा ब्रजभाषा और पूर्वी भाषा है (हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ॰ ८०)। वस्तुस्थिति यह है कि इनकी भाषा में भिन्न भिन्न आधुनिक आर्य भाषाओं के रूप उपलब्ध हो जाते हैं। भाषा-स्तरों की अनेक रूपता के कारण ही इनकी रचनाओं को एक से अधिक व्यक्तियों की रचना समूह कहने के लिये हम आकर्षित होते हैं।

रचनायें

कबीर की रचनायें कबीर के बाद लिपिबद्ध की गई हैं। इनके नाम से प्रचलित रचनायें 'साखी' 'सबदी' और 'रमैनी' शीर्षकों में वर्गीकृत हैं। इस प्रकार का विश्वास प्रचलित है कि कबीर दास के शिष्य धर्म दास ने सर्व प्रथम संवत् १५२१ में 'बीजक' नाम से उनकी रचनाओं का एक संग्रह तैयार किया था। परन्तु 'बीजक' की रचनाओं की भाषा के आधार पर इस मतवाद का समर्थन नहीं किया जा सकता। 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' में संगृहीत कबीर की रचनाओं

की प्रामाणिकता सन्देहपूर्ण है।[1] कबीर की रचनाओं से सम्बन्धित निम्नलिखित किंवदन्ती प्रचलित है—

'सहस छानबे औ दस लाखा। युग परमान रमैनी भाखा' अर्थात् युग-धर्म के अनुसार कबीर ने दस लाख छियानबे हजार रमैनियों की रचना की है।

सेन नाई —सेन नाई की जीवनी तथा उनके व्यक्तित्व का स्पष्ट निरूपण नहीं हो सकता है। इनके विषय में अनेक जन धारणायें प्रचलित हैं। एक धारणा के अनुसार ये विट्ठल के उपासक तथा वारकरी भक्ति-परम्परा के सन्त थे। एक अन्य धारणा के अनुसार ये रामानन्द के शिष्य थे। 'गुरुग्रन्थ साहिब' में इनके नाम से निम्नलिखित पद संकलित है।

धूप दीप घृत साजि आरती।
वारने जाउ कमलापति।
मंगला हरि मंगला।
नित मंगल राजा राम राइ को।
ऊतम दियरा निरमल बाती।
तुहीं निरंजनु कमलापति।
रामा भगति रामानंदु जानै
पूरन परमानन्द बखानै।
मदन मूरति भै तारि गोबिंदे।
सैनु भणै भजु परमानंदै। रामू पमावरी।।१।।

परम दास —परम दास कबीर के प्रमुख शिष्य थे। आयु में वे कबीर से कुछ ही वर्ष छोटे थे। ऐसा कहा जाता है कि संवत् १५२१ में उन्होंने कबीर

---

१ काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से डॉ० श्यामसुन्दर दास ने 'कबीर ग्रन्थावली' का सम्पादन किया है। इस ग्रन्थावली में संकलित ५० 'साखियाँ', और ३ 'पद' गुरु ग्रन्थ साहिब में भी मिल जाते हैं। परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर की रचनाओं की एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख किया है। इसे वे 'व्यासजी प्रति' की संज्ञा देते हैं। उनकी यह धारणा है कि इस प्रति की भाषा 'कबीर ग्रन्थावली' में संगृहीत रचनाओं की भाषा से प्राचीन है। इसका लिपि काल संवत् १८५५ है। इसमें कबीर के पदों की टीका भी की गई है।

की रचनाओं का संग्रह किया था। धर्मदास के नाम से प्रचलित ग्रन्थों में,'सुख निधान' का विशेष महत्व माना जाता है। इनकी रचनाओं में से उदाहरण के लिए एक यहाँ प्रस्तुत है—

मगन भिल बंसी फेरि बजावो।
भँवर गुफा में अछत पुछ गुजा सो अंजन पिय नैन लगावो।
जो बंसी सुर नर मुनि मोहै, सो बंसी पिय मोहि सुनावो।
आगो छूँगी जोगो ताला, मोहनी मूरति मोहि दिखावो॥
धरम दास विनवै कर जोरी धरम कंवल तरे मोहि समावो॥

धना (धन्ना भगत) —धना का जन्म संवत् १४७२ में (सन् १४ ५) माना जाता है। ये जाति के जाट थे, और राजपूताना के निवासी थे। इन्हें रामानन्द ने दीक्षित किया था। 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में इनके नाम से चार पद संगृहीत हैं। उनमें से एक पद उदाहरण रूप में यहाँ दिया जा रहा है—

भ्रमत फिरत बहु जनम बिलाने तनु, मनु, धनु नहिं धीरे,
लालच रिखु काम सुबत राता मनि बिसरे प्रभु हीरे।
बिखु फल मीठ लगे मन बउरे चार बिचार न जानिआ।
गुन ते प्रीति बढ़ी अनभाँती जनम मरन फिरि तानिआ।
जुगति जानि नहीं रिदै निवासी जलत जाल जम फंद परे।
बिखु फल संचि भरे मन ऐसे परम पुरख प्रभु मन बिसरे।
गिआन प्रवेसु गुरहि धनु दीआ धिआनु मानु मन एक मए।
प्रेम भगति मानी सुख जानिआ तृपति अघाने मुकति भए।
जोति समाए समानी जाकै अछली प्रभु पहचानिआ।
धनै धनु पाइआ धरणी धरु मिलि जन सन्त समानिआ।

रागु आसा १।

पीपा —पीपा का जन्म संवत् १४८२ (१४२५) में हुआ था। ऐसी किंवदन्ती है कि पीपा गगरौन गढ़ के नरेश थे। ये आरम्भ में दुर्गा के उपासक थे। रामानन्द से दीक्षित होने के पश्चात् ये 'निर्गुन साधना' की ओर आकर्षित हुए थे।

कायउ देवा काइअउ देवल काइअउ जंगम जाती।
काइअउ धूप दीप नईबेदा काइअउ पूजउ पाती।
काइआ बहु खंड खोजते नवनिधि पाई।
ना कछु आइबो ना कछु जाइबो राम की दोहाई॥
जो ब्रह्मंडे सोई पिंडे जो खोजै सो पावै।
पीपा प्रणवै परम ततु है सतगुरु होइ लखावै॥

राग धन सरी॥१॥

रैदास —ये काशी निवासी थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १४४५ १५७५ के मध्य माना जाता है। निम्नलिखित अंश से इनकी रचना के स्वरूप का कुछ परिचय मिल जाता है—

प्रानी किआ मेरा किआ तेरा।
जैसे तरवर पंखि बसेरा।
राखहु नींव उसारउ नींवा। साढ़े तीन हाथ तेरी सींवा।
बंक बाल पाग सिर डेरी। इहु तनु होइगो भसम की ढेरी।
ऊँचे मंदर सुन्दर नारी। राम नाम बिनु बाजी हारी।
मेरी जाति कमीनी पाँति। कमीनो ओछा जनम हमारा।
तुम सरणागत राजा रामचंद्र। कहि रविदास चमारा।

सन्त लाल दास :—लालदास सन्त सम्प्रदाय के अन्तर्गत 'लाल पन्थ' शाखा के संस्थापक थे। इनका जन्म अलवर के अन्तर्गत धोली दूव ग्राम में संवत् १५९७ में हुआ था। इनकी मृत्यु संवत् १७०५ में हुई। इनकी बानियों का एक हस्तलिखित संग्रह 'लालदास की चेतावनी' शीर्षक से उपलब्ध है।

सन्त दादू —कवि जगन गोपाल कृत 'जन्म लीला परची' और राघवदास कृत 'भक्त माला' नामक कृतियों से दादूदयाल का परिचय मिलता है। इस प्रकार की धारणा मिलती है कि दादूदयाल का जन्म संवत् १६०१ (सन् १५४४) में हुआ था और इनकी मृत्यु ज्येष्ठ कृष्ण ८ संवत् १६६० (सन् १६०३) में हुई थी। दादू पन्थियों का यह विश्वास है कि इनका जन्म गुजरात में अहमदाबाद नगर में हुआ था। दादू पन्थियों के अनुसार ये ब्राह्मण-पुत्र थे। परन्तु जन जीवन में इस प्रकार की भावना मिलती है कि ये धुनियाँ मुसलमान थे। इनका

मूल नाम दाऊद था। दादू की रचनायें 'साखियों' 'पदों' और 'बानियों' में विभक्त हैं। इनके शिष्यों में सन्तदास और जगन्नाथदास ने 'हरडे बानी' शीर्षक से इनकी रचनाओं का संग्रह किया था। रज्जब साहब ने इनकी रचनाओं का संग्रह 'अंग बधू' नाम से किया है। नागरी प्रचारिणी सभा ने इनकी रचनाओं का एक संग्रह प्रकाशित किया है जिसमें २६२१ साखियाँ और ४४२ पद हैं।

दादू परम तत्त्व को अपना आदि गुरु मानते हैं। इस कारण इनके पन्थ को 'परम ब्रह्म पन्थ' भी कहा जाता है। चिन्तन-धारा और साधना विधि, इन दोनों दृष्टियों से ये कबीर के अधिक निकट पड़ते हैं। कबीर के समान ये परम तत्त्व को 'शून्य, 'परमपद' या निर्गुण' की संज्ञा देते हैं स्वयं संवेद्य ज्ञान में विश्वास करते हैं। परन्तु दादू और कबीर में सूक्ष्म अन्तर है। कबीर आत्मप्रत्यय में विश्वास करते हैं और दादू आत्मसमर्पण में। दादू की रचनाओं से एक अंश यहाँ उद्धृत है—

कबहूँ न निकसे प्राण कठोर।
दरसन बिना बहुत दिन बीतें, सुन्दर प्रीतम मोर।
चार पहर चारयु जुग बीते रैनि गँवाई भोर।
अवधि गए अजहू नहिं आए कतहूँ रहे चित चोर।
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे मारग चितवत तोर।
दादू अइसहिं आतुर विरहिणि जैसेहि चन्द चकोर।

दादू की मृत्यु के पश्चात् उनका पन्थ काल क्रम से पाँच शाखाओं में विभक्त हो गया। (१) खालसा सम्प्रदाय (२) नागा सम्प्रदाय (३) उत्तर राढ़ी (४) विरक्त (५) खाकी। दादू पन्थी समाज स्वामी एवं साधु, सेवक एवं गृहस्थ इन दो वर्गों में विभक्त रहा है।

संत सुन्दर दास :—सुन्दरदास दादू के शिष्य थे। इनका जन्म जयपुर के चौसा नामक स्थान में संवत् १६५३ में हुआ था। इनकी मृत्यु संवत् १७४६ में हुई थी। ये सन्त रज्जब के समकालीन थे। रज्जब के साथ काशी में इन्होंने साहित्य और दर्शन का अध्ययन किया था। इनके लिखित ३७ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जिनमें 'ज्ञान समुद्र' का विशेष महत्त्व है। इसमें नवधा भक्ति अष्टांग योग, सांख्यमत एवं अद्वैत ब्रह्म ज्ञान-सम्बन्धी रचनायें हैं। उदाहरण—

हिये और जीये और हीये और,
कीये और कौनऊ अनूप पाटी पढ़े हैं।
मुख और बैन और नैन और सैन और
तन और मन और जन्म माहिं गढ़े हैं।
हाथ और पाँव और सीसहू श्रवन और
नख शिख रोम रोम कछूई सौ मढ़े हैं।
ऐसी सौ अनोखा सुनी न देखी जगत में
सुन्दर कहत काहू जग ही के पढ़े हैं।

विरहिन उराहनों को अंग सवैया ४७ सुन्दर ग्रन्थावली

सन्त कवि रज्जब —रज्जब का जन्म संवत् १०१० माना जाता है। इनका जन्मस्थान जयपुर स्थित साँगानेर नामक ग्राम है। ये जाति के पठान थे। इनकी रचनाओं में से उदाहरण हेतु यहाँ एक उद्धृत है—

शील मुकुट न धारिये, दुन्दी पंच बसन्त।
रज्जब सीता सिंह सों, जानौ परै रस हन्त।
जब रज्जब मन मीत बसा, तनु पीरवन बिनोद।
प्रेमे पमन पगीन्हूँ, प्रदरस मामा देर।
श्रवण नैन मुख नासिका सरिमाचम द्वार,
रज्जब पीछे पन्थ का प्राण लिया व्यवहार।

बावरी साहिबा —बावरी साहिबा का समय संवत् १५४२ १६०२ माना जाता है। ये दादू-समकालीन थीं और इन्होंने बावरी सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था। ये मायानन्द की शिष्या थीं। इनकी रचनाओं का संग्रह 'पाठ दावर' नामक ग्रन्थ में मिलता है। उदाहरण—

बावरी रावरी का कहिए, मन ह्वै के पतंग भरै नित भाँवरी।
भाँवरी जानहिं संत सुजान, जिन्हें हरि रूप हिये दरसावरी।
साँवरी सूरत मोहनी मूरत, दै करि ज्ञान अनन्त लखावरी।
खाँवरि सौंह तिहारी प्रभू, गति रावरी देखि भई मति बावरी।

मलूक दास —व्रजभाषा के कवियों और भक्तों में मलूक दास का महत्व अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय है। इनका जन्म संवत् १६३१ (सन् १५७४

मूल नाम दाऊद था। दादू की रचनायें साखियों ' 'पदों' और 'बानियों' में विभक्त हैं। इनके शिष्यों में सन्तदास और जगन्नाथदास ने 'हरडे बानी' शीर्षक से इनकी रचनाओं का संग्रह किया था। रज्जब साहब ने इनकी रचनाओं का संग्रह 'अंग बधू' नाम से किया है। नागरी प्रचारिणी सभा ने इनकी रचनाओं का एक संग्रह प्रकाशित किया है जिसमें २६२१ साखियाँ और ४४५ पद हैं।

दादू परम तत्व को अपना आदि गुरु मानते हैं। इस कारण इनके पन्थ को 'परम ब्रह्म पन्थ' भी कहा जाता है। चिन्तन-धारा और साधना विधि, इन दोनों दृष्टियों से ये कबीर के अधिक निकट पड़ते हैं। कबीर के समान ये परम तत्व को 'शून्य,' 'परमपद' या निर्गुण' की संज्ञा देते हैं स्वयं संवेद्य ज्ञान में विश्वास करते हैं। परन्तु दादू और कबीर में सूक्ष्म अन्तर है। कबीर आत्मप्रत्यय में विश्वास करते हैं और दादू आत्मसमर्पण में। दादू की रचनाओं से एक अंश यहाँ उद्धृत है—

कबहूँ न निकसे प्राण कठोर।
दरसन बिना बहुत दिन बीते सुन्दर प्रीतम मोर।
चार पहर चारहु जुग बीते रैनि गँवाई भोर।
अवधि गए अजहू नहिं आए कतहूँ रहे चित चोर।
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे मारग चितवत तोर।
दादू अइसहिं आतुर विरहिनि जैसेहि चन्द चकोर।

दादू की मृत्यु के पश्चात् उनका पन्थ काल क्रम से पाँच शाखाओं में विभक्त हो गया। (१) खालसा सम्प्रदाय (२) नागा सम्प्रदाय (३) उत्तर राढ़ी (४) विरक्त (५) खाकी। दादू पन्थी समाज स्वामी एवं साधु, सेवक एवं गृहस्थ इन दो वर्गों में विभक्त रहा है।

संत सुन्दर दास —सुन्दरदास दादू के शिष्य थे। इनका जन्म जयपुर के चौसा नामक स्थान में संवत् १६५३ में हुआ था। इनकी मृत्यु संवत् १७४६ में हुई थी। ये सन्त रज्जब के समकालीन थे। रज्जब के साथ काशी में इन्होंने साहित्य और दर्शन का अध्ययन किया था। इनके लिखित ३७ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जिनमें 'ज्ञान समुद्र' का विशेष महत्व है। इसमें नवधा भक्ति, अष्टांग योग सांख्यमत एवं अद्वैत ब्रह्म ज्ञान-सम्बन्धी रचनायें हैं। उदाहरण—

हिये और जीये और दीये और,
कीये और कौनऊ अनूप पाटी पढ़े है
मुख और बैन और नैन और सैन और
तन और मन और अंग माहिं अड़े हैं।
हाथ और पाँव और सीसहू श्रवन और
नख शिख रोम रोम कसाई सी मढ़े है।
ऐसी ही कठोरता सुनी न देखी जगत में
सुन्दर कहत काहू ग्रन्थ हो न कढ़े है।

बिरहिन उराहनी को अंग सवैया ४० सुन्दर ग्रन्थावली

सन्त कवि रज्जब :—रज्जब का जन्म संवत् १०१० माना जाता है। इनका जन्मस्थान जयपुर स्थित सांगानेर नामक ग्राम है। ये दादू के शिष्य थे। इनकी रचनाओं में से उदाहरण हेतु यहाँ एक उद्धृत है—

पीछे सपूत न ठाहरै, उलटी पंथ अनन्त।
रज्जब रीता सिंह सो जहाँ परै दस हन्त।
पद रज्जब पथ जीव सदा मनु दीरघन विशेष।
ऐसे समान पनीचकूँ प्रत्यक्ष पाया देख।
श्रवण नैन मुख नासिका सरिवसमावन द्वार
रजत पीछे पन्थ का प्राण पिण्ड व्यवहार।

बावरी साहिबा :—बावरी साहिबा का समय संवत् १५६६ १६१२ माना जाता है। ये दादू-समकालीन थीं और इन्होंने बावरी सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था। ये मायानन्द की शिष्या थीं। इनकी रचनाओं का संग्रह 'शब्द सागर' नामक ग्रन्थ में मिलता है। उदाहरण—

बावरी रावरी का कहिए, मन ह्वै के पतंग भरै नित भाँवरी।
भाँवरी जानहिं सन्त सुजान जिन्हें हरि रूप हिये दरसावरी।
साँवरी सूरत मोहनी मूरत दै करि ज्ञान अनन्त लखावरी।
खाँवरी सौंह तिहारी प्रभू, गति रावरी देखि भई मति बावरी।

मलूक दास :—ब्रजभाषा के कवियों और सन्तों में मलूक दास का महत्त्व अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय है। इनका जन्म संवत् १६३१(सन् १५७४

मूल नाम दाऊद था। दादू की रचनायें 'साखियों' 'पदों' और 'बानियों' में विभक्त हैं। इनके शिष्यों में सन्तदास और जगन्नाथदास ने 'हरडे बानी' शीर्षक से इनकी रचनाओं का संग्रह किया था। रज्जब साहब ने इनकी रचनाओं का संग्रह 'अंग बधू' नाम से किया है। नागरी प्रचारिणी सभा ने इनकी रचनाओं का एक संग्रह प्रकाशित किया है जिसमें २६२१ साखियाँ और ४४२ पद हैं।

दादू परम तत्व को अपना आदि गुरु मानते हैं। इस कारण इनके पन्थ को 'परम ब्रह्म पन्थ' भी कहा जाता है। चिन्तन-धारा और साधना विधि, इन दोनों दृष्टियों से ये कबीर के अधिक निकट पड़ते हैं। कबीर के समान ये परम तत्व को 'सूक्ष्म 'परमपद' या निर्वाण' की संज्ञा देते हैं स्वयं संवेद्य ज्ञान में विश्वास करते है। परन्तु दादू और कबीर में सूक्ष्म अन्तर है। कबीर आत्मप्रत्यय में विश्वास करते हैं और दादू आत्मसमर्पण में। दादू की रचनाओं से एक अंश यहाँ उद्धृत है—

कबहूँ न निकसे प्राण कठोर।
दरसन बिना बहुत दिन बीते, सुन्दर प्रीतम मोर।
चार पहर चारहु जुग बीते रैनि गँवाई भोर।
अवधि गए अजहू नहिं आए कतहूँ रहे चित चोर।
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे मारग चितवत तोर।
दादू अइसहि आतुर विरहिनि जैसेहि चन्द चकोर।

दादू की मृत्यु के पश्चात् उनका पन्थ क्रम से पाँच शाखाओं में विभक्त हो गया। (१) खालसा सम्प्रदाय (२) नागा सम्प्रदाय (३) उत्तर राड़ी (४) विरक्त (५) खाकी। दादू पन्थी समाज स्वामी एवं साधु, सेवक एवं गृहस्थ इन दो वर्गों में विभक्त रहा है।

संत सुन्दर दास :—सुन्दरदास दादू के शिष्य थे। इनका जन्म जयपुर के धौसा नामक स्थान में संवत् १६५३ में हुआ था। इनकी मृत्यु संवत् १७४६ में हुई थी। ये सन्त रज्जब के समकालीन थे। रज्जब के साथ काशी में इन्होंने साहित्य और दर्शन का अध्ययन किया था। इनके लिखित ४० ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, जिनमें 'ज्ञान समुद्र' का विशेष महत्व है। इसमें नवधा भक्ति, अष्टांग योग सांख्यमत एवं अद्वैत ब्रह्म ज्ञान-सम्बन्धी रचनायें हैं। उदाहरण—

धरनी दास —धरनी दास का जन्म छपरा के माझी गाँव में सम्वत् १६७१ में परसराम कायस्थ के परिवार में हुआ था। इनकी मातृभाषा भोजपुरी थी। भोजपुरी के अतिरिक्त ब्रज भाषा में भी इन्होंने रचनायें की हैं।

प्रभु जी अब जिनि मोहि बिसारो।
असरन सरन अधम जन तारन जुग जुग बिरद तिहारो।
जहँ जहँ जनम करम बसि पायो, तहँ अरुझे रस खारे।
पाँचहु के परपंच भुलानो, धरेउ न ध्यान तुम्हारो।
अन्ध गर्भ दस मास निरन्तर, नख सिख सुरति सँवारो।
मन्जा मूत अगिन मल कृम जहँ सहजै तहँ पगि धारो।
दीन दयाल दया करि प्रभु ऐगुन न बिचारो।
धरनि जाति आयो सरनागति तजि लज्जा कुलिगारो।

सन्त कवि दरिया (बिहार वाले) :—दरिया साहब का समय सम्वत् १७३१ १८३१ के मध्य माना जाता है। इनके पिता का नाम पीरु दर्जी था। ये कबीर के प्रति विशेष रूप से आस्थावान थे। इन्होंने एक सन्दर्भ में कहा भी है—

ताहि खोजो जो खोजहि कबीरा, बैठी निरन्तर हीरे हीरा।
दरिया सागर, चौपाई पृष्ठ ९। दरिया ग्रन्थावली।

इन्होंने परम तत्व के निर्गुण स्वरूप के प्रति विश्वास प्रकट किया है। इनके अनुसार निर्गुण सगुण नहीं हो सकता और सगुण निर्गुण नहीं हो सकता। दरिया ने जिस सत्य पुरुष की कल्पना की है वह निर्गुण है।

इनके अनुसार निर्गुण के चार स्वरूप हैं—चौथा पवन निराकार और अचल।

एक निर्गुन बोलता है भाई
ग्यानी जन बूझो बरधाई।
दोसर निर्गुन पवन कहावै
वह अगम कोइ अन्त न पावै।
तीसर निर्गुन है निराकारा,
चार मतें सरब संसारा।
चौथा निरगुन अचल है भाई
जहवाँ कबरा जोनि जराई।
भक्ति हेतु पृ० । १०९।

में क्वा (प्रयाग) में हुआ था। मलूक गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन थे। इनके पूर्व 'सूर सागर' का प्रचलन हो चुका था। अतः भाषा की दृष्टि से तुलसी के 'मानस' की अवधी और सूर के 'सूर सागर' की ब्रज भाषा के आदर्श इनके सम्मुख थे। इनके ग्रन्थों में 'ज्ञान बोध' 'रतन खान' 'भक्त बच्छावली' 'भक्त विरुदावली' 'पुरुष विलास' 'अलख बानी' और 'राम अवतार लीला' प्रमुख हैं। 'परम तत्व' की उपलब्धि इनकी साधना का प्रमुख ध्येय है। उसकी उपलब्धि चार साधना विधाओं के माध्यम से सम्भव है। ये हैं—देव-पूजन नियम-पालन शास्त्रीय ज्ञान और अनिर्वचनीय पद की प्राप्ति। अन्तिम स्थिति में 'अनहद' ध्वनि साधक में प्रतिध्वनित होती है। इसे वे सहज ध्वनि भी कहते हैं। इस ध्वनि का आधार ग्रहण कर साधक शून्य में समाविष्ट होता है। उदाहरण—

मुरशिद मेरा दिल दरियाई, दिल गहि अन्दर खोजा।
वा अन्दर में सत्तर काबा मक्का तीसो रोजा।
सातो तबक औलिया थामे भेद न होय चुराई।
सम्पु कमर हाड़े निमाज में दर से कहीं कोताई।
दीन दयाल सुनी जबते तबते हिय में कुछ ऐसी बसी है।
तेरो कहाय के जाऊँ कहाँ मैं तेरे हित की पट खेंच कसी है।
तेरोई एक भरोस मलूक को तेरे समान न दूजो जसी है
एहो मुरारि पुकारि कहौं अब मेरी हँसी नहीं तेरी हँसी है।

ज्ञान बोध।

यारी साहब —यारी साहब बावरी साहिबा की शिष्या बीरू साहिबा के शिष्य थे। इनका जन्म सम्वत् १७२१ में दिल्ली में हुआ था।

हमारा एक सनेही पिय प्यारा है।
घट घट नूर, मुहम्मद साहब जाका सकल पसारा है।
चौदह तबक जाकी रुसनाई झिलमिल जोति सितारा है।
बेचमून बेचून अकेला हिन्दू तुरक सो न्यारा है।
साईं दरवेस दरस निज पायो सोई मुसल्म सारा है।
आवै न जाय, मरै नहिं जीवै, यारी यार हमारा है।

धरनी दास —धरनी दास का जन्म छपरा के माझी गाँव में सम्वत् १६७३ में परशुराम कायस्थ के परिवार में हुआ था। इनकी मातृभाषा भोजपुरी थी। भोजपुरी के अतिरिक्त ब्रज भाषा में भी इन्होंने रचनायें की है।

प्रभु जी अब जिनि मोहि बिसारो।
अशरन सरन अधम जन तारन जुग जुग बिरद तिहारो।
जहँ जहँ जनम करम बसि पायो तहँ अरुझे रस खारे।
पाँचहु के परपंच भुलानो धरेउ न ध्यान तुम्हारो।
अन्ध गर्भ दस मास निरन्तर, नख सिख सुरति संवारो।
मगमा भूम अमित कस कुम जहँ सहजै तहँ पति पारे।
दीजै दरस दयाल दया करि गुन ऐगुन न बिचारो।
धरनि भाजि आयो सरनागति तजि लज्जा कुलियारो।

सन्त कवि दरिया (बिहार वाले) —दरिया साहब का समय सम्वत् १७११ १८११ के मध्य माना जाता है। इनके पिता का नाम पीरू दर्जी था। ये कबीर के प्रति विशेष रूप से आस्थावान थे। इन्होंने एक सन्दर्भ में कहा भी है—

ताहि खोजो जो छोड़हिं कबीरा, बैठी निरन्तर ठीक बीरा।

दरिया सागर, चौपाई पृष्ठ १। दरिया ग्रन्थावली।

इन्होंने परम तत्व के निर्गुण स्वरूप के प्रति विश्वास प्रकट किया है। इनके अनुसार निर्गुण सगुण नहीं हो सकता और सगुण निर्गुण नहीं हो सकता। दरिया ने जिस सत्य पुरुष की कल्पना की है वह निर्गुण है।

इनके अनुसार निर्गुण के चार स्वरूप हैं—बोलता पवन, निराकार और अक्षर।

एक निर्गुन बोलता है भाई
ज्ञानी जन बूझो अरथाई।
दोसर निर्गुन पवन कहावै
जो अगम कोइ अन्त न पावै।
तीसर निर्गुन है निराकारा,
जाके भजे भरम उबारा।
चौथा निरञ्जन अक्षर है भाई
जहवाँ अक्षर जोति बराई।

भक्ति हेतु पृ० । १०५ ।

इनके अनुसार साधना के लिए श्रद्धा, भक्ति और ज्ञान तथा नामस्मरण अपेक्षित है। स्वयं सवेद्य ज्ञान पर चलना तलवार पर चलने के समान है—

ग्यान के मनु पगु धरे न कोई।
धार कियान मिछ्न अति होई॥
अगम अथाह थाह किमि पावे। ग्यान रतन ॥१६८।

कबीर के समान दरिया भी सुरति की चर्चा करते हैं। 'चन्द्रमा' और 'सूर्य' के सम-स्वरूप का वर्णन करते हैं। परम समाधि में 'सबद धुनि' की प्रति ध्वनि का वर्णन करते हैं। यथा—

मूल सब्द धुनि होत अघोरा। सुरति बाँधि राखे एक ठौरा।१६६।
सूर चंद जब एक घर आवे। तबही डोरी ले बिलमावे। १६७।
मूल सब्द धुनि होत उचारा। तहवाँ जाई करो पैठारा। १६८।
आइव कंवल के ऊपर मूला। सहस्र कंवल तहवाँ रह फूला।१६६।
दरिया सागर—चौपाई। पृ०१७।

बुल्ला साहब —इनका आविर्भाव काल सं १६८१ है। ये यारी साहब के शिष्य थे तथा गाजीपुर के अन्तर्गत भुरकुड़ा के निवासी थे। ये जाति के कुर्मी थे और इनका नाम बुलाकी राम था। इनकी रचना का उदाहरण इस प्रकार है—

पुरब देस कर आपहुँ अंगना आपु भयल अवधूता॥
अपरम्पार पार ब्रह्म अंगना आयो हमरे घर अंगना॥
परम तत्व ले पुनि आपुही सरस नामें अनहद तताना।
सगुन, तमगुन, सतगुन सारत, हारल तन मन बोऊ।
गगन मण्डल में हरि रस चाखल, बूझै बिरला कोऊ।
निर्भय भल इक निर्गुन गावल, स्वासा सर्गुन भावल।
जन बुल्ला मिल स्वासहि गावहि सेत प्रकाश समावल।

सहजोबाई —इनका आविर्भाव सं० १७४० १८२० (१६८३ १७६३) में देहरा (राजस्थान, में हुवा था। ये चरनदास की शिष्या थीं। इनकी रचनाओं में से एक अंश यहाँ प्रस्तुत है—

सठ तजि मोंव जगत संग राचो।

येहि कारन बहु स्वाँग करे है चौरासी उनहारि बदि नाचो ।
गर्भ माहिं जे बचन कियो पे एकहु बार भयो नहीं साचो ।
स्वारथ ही को उठि उठि धावै राम भजन परमारथ काचो ।
सन्तन की टकसाल चढ़ो ना गुरु की हाट कबहु नहिं जाचो ।
जम द्वारे की लाज न मानी नरक अगिनि की सहि सहि आँचो ।
चरनदास कहै सहजोबाई हरि की सरन बिना नहिं बाचो ।

दया बाई —इनका आविर्भाव काल ई० १७४० १८२० (१६०३ १७६३) ई० है। दयाबाई चरनदास की शिष्या थीं और सहजोबाई का समकालीन थीं।

ज्ञान रूप को भयो प्रकाश भयो अविद्या तम को नाश ।
सूझ परयो निज रूप अभेद सहजै मिटै जीव को खेद ।
जीव ब्रह्म अंतर नहिं कोय एकै रूप सर्ब घट सोय ।
जग विवर्त सूं न्यारा जान परम अद्वै रूप निर्वान ।

गुलाल साहब —गुलाल साहब बुल्ला साहब के शिष्य थे। ये गाजीपुर के शादियाबाद परगना के रहने वाले थे। इनका आविर्भाव सं० १७५०-१८०० के मध्य माना जाता है। कतिपय ग्रन्थों के अनुसार ये भुड़कुड़ा (गाजीपुर) के जमींदार थे।

(१) अपने मौज अपन मन कहिये को अमृत को खारी ।
को है भूप गंगाजल को है को है सलिल उजारी ।
को है कीट पतंग कौन है को है नृपति भिखारी ।
को है चिउंटी हस्ति भजन है, को जन्मै को मारी ।
यह गुलाल मह भूमि भयो जिव निरखन को निरवारी ।
सतगुरु दया सन्त सरनागति भव सागर तें उबारी ॥
(२) गगन चढ़हु ध्यावहु हो पावहु गुरु रीति ।
सुमिरि सुमिरि मन भावन हो अजपी भ्रम भीति ।
गगन महल पुकारी हो जिन सुनत बानी ।
सो जन अमर बाचत हो मन सारंग पानी ।

चरनदास —चरनदास का आविर्भाव सं० १७६० विक्रमी में हुआ था। इनका जन्म डहरा में मुरलीधर के घर में हुआ था। इनके गुरु शुकदेव थे।

अनेक वर्षों तक वे ब्रज मण्डल में निवास करते थे। ये कृष्ण भक्ति से भी प्रभावित हुए थे। इन्हें श्यामचरनदासाचार्य भी कहा जाता था। इनकी मृत्यु सं० १८३९ में दिल्ली में हुई थी। इनके ५२ शिष्यों का उल्लेख मिलता है, जिनमें सहजोबाई और दयाबाई इनकी प्रमुख शिष्यायें थीं। ऐसी किंवदन्ती है कि मोहम्मद शाह भी इनके शिष्य थे। इनकी २१ रचनाओं में १२ प्रामाणिक मानी जाती हैं—'अष्टांग योग वर्णन' 'योग सन्देह सागर' 'ज्ञान तथा भक्ति सागर' इनकी विशेष रचनायें हैं।

कौन कमल पर गुरु बिराजै। कै प्रकार अनहद धुनि बाजै।
कै बाणी है अक्षर दूरा। जानैगा कोई साधू पूरा।
तीन शून्य कहाँ चौथा शून्य। चित ही भूले पड़ि अब शून्य।
कै कहिये नया के द्वारे। भिन्न-भिन्न कहु मेरे प्यारे।
कलका कोटा कौबर होय। कहाँ अग्नि का कहिये सोय।
कहाँ ज्वाल कहु कैसे आवै। किस आसन से निद्रा भागै।
बहत्तरि हजार आठ सौ चौसठि नारी। इनका भेद बहुत है भारी।

योग सन्देह सागर।

भीखा साहब —भीखा साहब जाति के ब्राह्मण थे और गुलाल साहब के शिष्य थे। इनका जन्म आजमगढ़ के मोहम्मदाबाद गोहना नामक स्थान में सम्वत् १७७० में हुआ था।

सतगुरु नायक सब्द हिंडोलवा झुलतहि मन अनुराग।
सुखमन झुलत रुचिर मन भावक बियरा चकित उठि जाग।
सुरत चेतन चित बावल अनहद धुनि मन राजक।

दरिया साहब (मारवाड़ के)—ये जाति के धुनिया थे इनका जन्म सम्वत् १७३३ में। जैतारन-मारवाड़ में हुआ था। इनकी रचना कबीर के अति निकट पड़ती है—

बाबल कैसे बिसरा जाई।
यदि मैं पति संग रम खेलूंगी आपा धरम समाई॥
सतगुरु मेरे कृपा किन्हीं उत्तम बर परनाई।
अब मेरे साँई को सरम पड़ैगी लैगा चरन लगाई।

गरीबदास —गरीबदास जाति के जाट और छुड़ानी (रोहतक) के निवासी थे। ये सन्त चरन दास के समकालीन थे।

मन मगन भया जब क्या गावै ॥

ये गुन इन्द्रीदमन करेगा वस्तु अमोली सो पावै।
तिरलोकी की इच्छा छाड़, जग में बिचरो निरदावै।
त्रिकुटी महल में सेज बिछी है, द्वादस अन्दर छिप जावै।
अजब अमोरथ पूरन साहिब बहुरि नहीं मौजल आवै।
गरीबदास सतगुरु बिरेही साचा सत गुरु दरसावै।

दूलन दास —इनका आविर्भाव काल सम्वत् १७७० माना जाता है। इनका जन्म समेसी (लखनऊ) में हुआ था।

ए काहे जग में आया जो पै नाम से प्रीति न लगाया रे।
सूला काम सवार घनेरे मन से ही नहिं बिसराया रे।
मोम विलास आस निस बासर इत उत चित्त भरमाया रे।
गई से आयो कहाँ को केहि अस्त खोज नहिं पाया रे।

पल्टू साहब —इनका आविर्भाव सम्वत् १८५० में हुआ था। ये नवाब शुजाउद्दौला के समकालीन और भीखा के शिष्य थे। ये फैजाबाद के अन्तर्गत जलाल पुर में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने कुण्डलियों की रचना की है।

समझि बूझि रन चढ़ना साधो सूर लड़ाई लड़ना है।
दम दम कदम धरे आगे को पीछे नाहिं पधरना है।
छिन-छिन घाव लगो को तन में खेत सेती क्या टरना है।
सबद सीपि समसेर मेर करि, उन पाँचो को धरना है।
आठ पहर असवार सुरत पर गफिल नाहीं परना है।
सीस निहा साहिब के ऊपर निमिष मर मन हेरना है।
पल्टू बिना रूप के ऊपर, अब क्या दूसर करना है।

तुलसी (तुरसी) साहब —नाभादास के 'भक्तमाल' के अनुकरण पर राघवदास चाटुज्जी ने वि० सं० १७७० (१७१३ ई०) में 'भक्तमाल' का प्रणयन किया है। इसमें नाभादास के 'भक्तमाल' में अवर्णित भक्तों का वर्णन किया गया है। इसमें निरंजनी धारा के बारह महन्तों का वर्णन है जिसमें तुरसी साहब का भी उल्लेख मिलता है :—

अब राखहिं मान कबीर की हम येते महंत निरंजनी।
कल्यो मुकंदनाम स्यामदास कान्हड़ अनुरागी।
ध्यान दास अरु पेम नाम जगजीवन त्यागी।
तुरसी पायो तत्व कानसी भयो उदासा।
पूरण मोहनदास ज्ञान हरिदास निरासा।
राखो' सत्रह सम मनि माया अंजन मंजनी।

तथा

सम्यठौ जगनाथ स्यामदास कान्हड़ दास
भये भजनीक अति मिथ्या मांगि पाई है।
पूरनै प्रसिद्ध भयौ हरिदास हरि रत
तुरसीदास पायो तत्व मीकी मन भाई है।
ध्यान दास नाथ अरु मानदास राम कह्यो।
जगसों उदास ह्वै कै स्वासो स्वास भाई है।
जगजीवन पेम दास मोहन हिरदै प्रकास।
नमुन निराह वृति राखी मन भाई है।
राघवदास कृत—भक्तमाल।

निरंजनी सम्प्रदाय और सन्त निरंजनी—पृ० १४।
डा० रत्नीराज मिश्र।

इनका जन्म १६ वीं शताब्दी में हुआ था। ये शेरपुर के निवासी थे। डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल इनको गोस्वामी तुलसीदास का समकालीन मानते हैं। अपनी मान्यता के पक्ष में उन्होंने जो प्रमाण दिया है वह विचारणीय है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज में तुलसी की बाणी' की एक हस्त लिखित प्रति का उल्लेख हुआ है। इसमें 'इतिहास समुच्चय' का भी उल्लेख मिलता है। इसके अन्त में इस प्रकार के शब्द मिलते हैं—उसकी प्रतिलिपि वि० संवत् १७४५ (१६८८ ई०) में उधोदास के शिष्य लाल दास के शिष्य तुरसी दास ने

की थी[1]। इनकी रचनाओं का आकार-प्रकार अति व्यापक है। उपलब्ध रचनाओं के आधार पर इनके साहित्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है। ४२०२ साखी ४६१ पद (जिनमें २१ राग हैं)। चार ग्रन्थ—'ग्रन्थ जी भक्ति' 'कारणी सार जोग ग्रंथ' 'साधु सुलच्छन ग्रन्थ' 'ग्रन्थ तत्त्वगुण भेद'— श्लोक तथा पद्मी।[2] डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने इनकी रचनाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है —

'इती गुसाईं जी श्री श्री तुरसीदास जी को ग्रन्थ सम्पूर्ण॥ अथ इनकी संख्या॥ साखी ४२०२। परिकरम २००। ग्रन्थ ४। पद ४६१। राग २१। श्लोक १८। सबदी १०। संवत् १८२१ की काल्गुण सुदि १ वार सनीचर लिख्यते।"[3] उदाहरण—

गगन मैं बाजै मनहर बीन।
मधुर मधुर माहीं माहीं मन मृग भयो तहाँ लीन मद।
पौंचों थकि थकि रहे तहाँ ही फिर न पयानो कीन।
नाना नाद आनन्द फंद मैं परि गए तिर्थे विहीन॥१॥
श्रवन की चितवनि सब चूकी चित मारे भयो लीन।
बिसरे या निरखी पुकारी जिन बोलनि अस कीन॥२॥
जन तुरसी या सुरती बात हैं जहाँ तहाँ प्रत कहीं न।
है पूरब तजि पश्चिम आए, जिनही मार्ग यह चीन्ह॥३॥

निरंजनी सम्प्रदाय बानी संग्रह—
राग बना श्री पृ० ११२।

---

१ इतिश्री महाभारथे इतिहास समुच्चये तेतीसमो अध्याय ३३। इतिश्री महारथे सम्पूर्ण समास। संवत् १७४२ वर्षे मास कार्तिक सुदी ७ वार सनी वासरे। नगर मांभार शुभाने शुभमस्तु, लिखेत स्वामी जी श्री श्री श्री १ ८ रूपोराम जी को शिष्य स्वामीजी श्री श्री श्री १०८ श्री श्री लाल दासजी को शिष्य तुरसीदास बाचे जिसको राम राम।

२ देखिए निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी—पृ० १९। 'मिश्र बन्धु विनोद' के अनुसार इनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं—भगवा भक्ति अष्टांग योग वैराग्य ग्रन्थ चौअक्षरी ग्रन्थ करनीसार जोग ग्रन्थ साधु सुलच्छन ग्रन्थ तत्त्व गुन भेद ग्रन्थ। ३ वही पृष्ठ १९।

सिक्खधर्म में सन्त परम्परा —

मध्य युगीन सन्त साहित्य म गुरु नानक देव का योग दान सन्त कबीर के समकक्ष का है। इनकी भक्तिधारा में व्यक्ति और समष्टि इन दोनों के जीवन नियमन के साधन मिलते हैं। कबीर के समान ही गुरुनानक ने व्यष्टि के लिए *विवेक, वैराग्य भक्ति और ज्ञान की अनिवार्यता का सम्पादन किया।* समष्टि के लिए सदाचार संयम और सात्विक उन्नयन की भावना का संस्थापन किया। हिन्दी साहित्य के इतिहास के सन्दर्भ में गुरुनानक को कबीर की भावनाओं का प्रचारक माना गया है। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। नानक का व्यक्तित्व कबीर के समान ही था। संत भाव-धारा को गति प्रदान करने वाले व्यक्तियों के समान इनका व्यक्तित्व भी भक्ति का आधार-स्तम्भ है। इनकी वाणियाँ 'गुरुग्रन्थसाहिब, में संगृहीत हैं[१]। 'गुरुग्रन्थ साहिब' में संगृहीत नानक की वाणियों का क्रम इस प्रकार है—'सबद' 'अष्टपदीआँ' 'छंत' और 'वारां'। इनके अतिरिक्त भिन्न भिन्न रागरागिनियों के आधार पर भी इनकी वाणियाँ वर्गीकृत हैं।

कबीर के ही समान वे स्वयं संवेद्य ज्ञान' पर विश्वास करते थे। अपने दर्शन में नानक ने कर्म ज्ञान योग और भक्ति को समन्वित किया है। नानक ने परम तत्वको 'शब्द' या 'वाणी' कहा है जैसे ही वैसे कबीर ने परम तत्व को 'राम' कहा है। यथा—'१ ओं सतिनामु करता पुरख निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं - गुर प्रसादि='वह एक है शब्द अथवा वाणी है और इसी के द्वारा सृष्टि रचता है वह सत्य है नाम है। उसके अस्तित्व का वाचक केवल नाम

---

१ (क) *नानक क वाणियों का संग्रह डॉ जयराम मिश्र ने 'नानक वाणी'* नाम से किया है। (प्रकाशक—मित्र प्रकाशन संवत्, २१८)। (ख) *'श्री गुरु ग्रन्थ साहिब' के सिक्ख गुरुओं के सभी पदों के अन्त में* 'महला' शब्द आया है। इस भ्रम के निवारण हेतु महला के आगे क्रमांक भी है—महला १ (आदि गुरु नानक) महला २ (गुरु अंगद) महला ३ (गुरुअमर दास) महला ४ (गुरु रामदास) महला ५ (गुरु अर्जुन) महला ६ (गुरु तैगम बहादुर)—नानक वाणी—डॉ जयराम मिश्र—भूमिका।

है। उसके प्रत्यक्ष गुण ये हैं—वह कर्तार है सृष्टि का निर्माण कर उसके बीच निवास करने वाला है महान् पौरुष और महान् शक्ति-पुरुष है। वह समस्त शक्तियों का स्वामी है। वह भय से रहित है और वैर से रहित है मूर्तिमान है काल से रहित है योनि के अन्तर्गत नहीं आता है और त्रिपुटी से परे है। वह स्वयंभू है वह प्राप्त होने वाला है उसकी प्राप्ति गुरु कृपा से होती है[1]। उदाहरण—

अनहदो अनहदु वाजै रुण झुण कारे राम।
मेरा मनो मेरा मनु राता लाल पिआरे राम।
अनदिनु राता मनु बैरागी सुंन मंडलि घरु पाइआ।
आदि पुरखु अपरम्पर पिआरा सतगुरि अलखु लखाइआ।
आसणि बैसणि थिरु नराइणु तितु मन राता वीचारे।
नानक रते बैरागी अनहद रुण झुण कारे।
नानक बानी राग आसा महला १।
छंत घर १।

राम ध्वनि रुनझुन-रुनझुन रूप में अनहद शब्द में प्रतिध्वनित है। अनहद ध्वनि में प्रतिध्वनित राम में मेरा मन अनुरक्त हो गया है। राम में अनुरक्त मेरा मन बैरागी हो गया है। मन को शून्य मण्डल में निवास मिल गया है। गुरु कृपा से यह निवास उपलब्ध है। शून्य तत्त्व अपने आसन पर स्थिर विराजमान है-नानक नाम में तिरोहित अनहद की रुनझुन में अनुरक्त है।

गुरु अंगद—इनके पिता का नाम फेरू और माता का नाम दया कुँवरि था। इनका जन्म संवत् १५६१ (सन् १५०४) में फिरोज जिले के 'मत्ता की सराय' नामक स्थान में हुआ था। गुरु अंगद की रचनायें 'गुरु ग्रंथ साहिब' में महला, में संग्रहीत हैं—

जो सिर साँई ना निवै सो सिर दीजै डारि।
नानक जिसु पिंजर महि बिरहा नाही सो पिंजर लै जारि।

अमरदास—गुरु अमरदास का जन्म बैशाख शुक्ल १४ संवत् १५३६ (सन् १४७९) को हुआ था। इन्होंने गुरु अंगद से दीक्षा ली थी।

१—पंजाबी भाषा विगिआन अते गुरमति गिआन-मोहन सिंह। पृष्ठ २१, २२ २३।

गुरु रामदास :—गुरु रामदास का जन्म सन् १५३४ में हुआ था। इनकी साधना का केन्द्र सन्तोष सर था। इनकी मृत्यु सन् १५८१ ई० में हुई। गुरु ग्रन्थ साहिब' में इनकी रचनायें महला ४ में संग्रहीत हैं।

मेरो सुन्दर कहहु मिलै कितु गली
हरि के संत बतावहु मारग हम पीछ लागि चली।
पिमके बचन सुखाने ही मरैं, इह चाल बनी है भली।
लटुरी मधुरी ठाकुर भाई ओहु सुन्दरि हरि ढुलि मिली।
एको प्रिम सखीआ सम प्रिय की जो भावे पिर-सामली।
नानक गरीब किआ करै बिचारा हर भावै तितु राहि चली।

आदिग्रन्थ पृ० ५२७।

गुरु अर्जुनदेव —गुरु अर्जुनदेव गुरुराम दास के पुत्र थे। इनका जन्म सन् १५६३ ई० में गोइन्दवाल में हुआ था। गुरु अर्जुनदेव ने अपने से पूर्व आविर्भूत समस्त गुरुओं और सन्तों की रचनाओं का संग्रह किया है (१६०४)। संग्रह के अन्त में रागमाला भी दी हुई है। सन् १६०६ में इनकी मृत्यु हुई। इनकी सर्वप्रसिद्ध रचना 'सुखमनी' है। इसमें दस-दस पंक्तियों की अष्टपदियाँ हैं। इसके अतिरिक्त बावन अखरी' तथा 'बारामासा' आदि पद महला ५ में संग्रहीत हैं।

कवन गुण प्रानपति मिलउ मेरी माई ॥१॥ रहाउ॥
रुप हीन बुधि बल हीनी मोहि परदेसनि दूर ते आई।१।
नाहिन दरबु न जोबन माती॥
मोहि अनाथ की करहु समाई।२।
खोजत खोजत भई बैरागनि।
प्रभ दरसन कउ हउ फिरत तिसाही॥३॥
दीन दयाल कृपाल प्रभ नानक
साध संगि मेरि जलनि बुझाई।४।

आदि ग्रन्थ पृ० ८२७।

गुरु हरराय :—ये औरंगजेब के समकालीन थे। इनकी मृत्यु सन् १६६१ में हुई थी।

गुरु हरकृष्णराय —गुरु हरकृष्ण राय गुरु हरराय के पुत्र थे। इनका जन्म सन् १६५६ में हुआ था। इनकी मृत्यु सात वर्ष की अवस्था में हुई।

गुरु तेग बहादुर :—गुरुतेग बहादुर सिख धर्म के नवम् गुरु थे। इनका जन्म सन् १६२१ में अमृतसर में हुआ था। आकार में इनकी रचनायें सीमित हैं। आदि ग्रन्थ में इनके केवल ११ शब्द (पद) और ५७ दोहे संग्रहीत हैं। इनकी वाणियों का विषय है —

१ संसार की नश्वरता।

२ मानवीय सम्बन्धों का मिथ्यात्व।

३ संसार के प्रति उदासीनता और ईश्वर चिन्तन।

मन की मन ही माहि रही ॥
ना हरि भजे न तीरथ सेवे चोटी कालि गही ॥१॥रहाउ।
दारा मीत पूत रथ सम्पति धन पूरन सब मही ॥
अवर सगल मिथिआ ए जानउ भजनु रामु को सही॥२॥१॥
फिरत फिरत बहुते जुग हारिओ मानस देह लही ॥
नानक कहत मिलन की बरीआ सिमरत कहा नहीं ॥२॥

गुरु गोविन्द सिंह —गुरु गोविन्दसिंह सिख धर्म के दशम् गुरु थे। इनका जन्म पटना में सन् १६६६ ई० में हुआ था। पिता की मृत्यु के पश्चात् सात वर्ष की अवस्था में ही ये पन्थ के गुरु निर्वाचित हुए। सिख सम्प्रदाय में धर्म के साथ राजनीति और समाजनीति इन दोनों तत्वों को समन्वित कर उन्होंने अपने पन्थ को एक नवीन चेतना दी। इनकी सम्पूर्ण रचना दशम् ग्रन्थ, या 'दसवें पातसाह का ग्रन्थ' में संकलित है। इस संग्रह में भक्ति-काव्य से सम्बन्धित निम्नलिखित वर्ग की रचनायें आती हैं—सन् १७३४ में भाई मनीसिंह ने इसका सम्पादन किया। १—जापु, २—अकाल उस्तति ३—स्फुट सवैये (श्रावक सोत करें निति आतुर।) ४—स्फुट विष्णु पद (रे मन ऐसो करि संन्यासा)। इनकी एक प्रसिद्ध कृति है चौबीस अवतार वर्णन। इस ग्रन्थ में इनकी भक्ति भावना के वास्तविक स्वरूप का दर्शन मिलता है। इनकी मृत्यु सन् १७०८ में हुई। परम तत्व का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

सूक्षम रूप न वरना जाई
बिरल सब्दहिं कहौ बनाई। प्रथम ग्रन्थ, पृ० ४७।
मेर करो तुम है मुहि बाहि गरीब निवाज न दूसर दोसो।
मूक छिमो हमरी प्रभु आप न मूकन हार कहूँ कोऊ मोसो।
प्रेम करी तुमरी तिनके सम ही पद देखिमत हम भरोसो।
या कल मैं सब काल कृपाल के भारी भुजान को भारी भरोसो।

—प्रथम ग्रन्थ पृ० ४५।

पन्थनिर्माण

कबीर दास की मृत्यु के पश्चात् उनके नाम से कबीरपंथ की संस्थापना हुई। इस पन्थ के माध्यम से उनकी वाणियों का संग्रह हुआ और उनके सिद्धान्तों का प्रचार हुआ। कबीर के परम शिष्य धर्मदास ने धर्मदासी सम्प्रदाय की संस्थापना मध्य प्रदेश में की। सुरत गोपाल ने काशी में 'काशी शाखा' की संस्थापना की। कबीरचौरा शाखा इसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत है। इस पंथ में समाधिनिर्माण की प्रथा १४ वें महन्त पूरनदास के समय से आरम्भ हुई। इनके शिष्य राम रहसदास ने 'बीजक' के आधार पर 'पंच ग्रन्थी' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। छत्तीसगढ़ी शाखा के प्रवर्तक धर्मदास हैं। कबीर चौरा के अन्तर्गत बिहार की धनौती शाखा भी है। इस मठ के प्रवर्तक भगवान गुसाईं थे। इस शाखा के सन्त 'बीजक-पाठ' में विशेष आस्था रखते हैं। इस परम्परा में ११ गुरु हो चुके हैं। कबीर पंथ की अन्य शाखाओं में साहेबदासी पन्थ ठकेसरी पंथ (बड़ौदा) प्रमुख हैं। सत्य कबीर दास कबीर, हंस कबीर, मंगल कबीर, उदासी कबीर आदि नामों से भी अनेक पंथ प्रचलित हैं।

दादू के जीवनकाल में दादूसम्प्रदाय अपने चरम उत्कर्ष पर था। गरीब दास के समय से यह पन्थ शिथिल होने लगा था। इस परम्परा में रज्जब, प्रागदास सुन्दरदास आदि सन्तों का प्रादुर्भाव हुआ। इस पन्थ का प्रधान केन्द्र नरैना में था। इस सम्प्रदाय की पाँच उपशाखायें हैं—१-खालसा, २-उत्तराढ़ी ३-नागा ४-विरक्त ५-खाली।

'लाल पंथ' के संस्थापक सन्त लाल दास थे। इनकी वाणियों का

संकलन 'लालदास की चेतावनी'[१] में मिलता है। बावरी पंथ का प्रसार दिल्ली और उत्तर प्रदेश के पश्चिमी अंचलों में है। इस सम्प्रदाय का क्रम-पूर्ण इतिहास नहीं मिलता है।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस परम्परा का प्रादुर्भाव गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) में हुआ। इस सम्प्रदाय को संगठित करने में बावरी साहिबा का विशेष योगदान है। पन्थ के छठवें प्रवर्तक यारी साहब ने इसका प्रसार किया। वीरू साहब इस सम्प्रदाय के एक अन्य महत्वपूर्ण साधक हुए। बूला साहब और गुलाल साहब इसी परम्परा के अन्तर्गत आते हैं।

धामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक प्राणनाथ थे। इनका जन्म जामनगर में संवत् १६७५ में हुआ था। गुजराती में इनकी 'कलश' नामक कृति मिलती है। इसके अतिरिक्त कलस में शरीफ' इनका एक अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस सम्प्रदाय पर वैष्णव भक्ति, विशेषकर कृष्णभक्ति का प्रभाव परिलक्षित होता है।

सतनामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक बाबू पन्थी जगजीवन साहब माने जाते हैं। साध सम्प्रदाय के संस्थापक वीरभान से इस सम्प्रदाय का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। ऐसी धारणा भी मिलती है कि इस सम्प्रदाय की संस्थापना औरंगजेब के धार्मिक अत्याचारों के विरोधभाव में हुआ था। सतनामियों ने सं० १७२९ में औरंगजेब के विरुद्ध विद्रोह किया था। यह वस्तुतः औरंगजेब के प्रति एक किसान विद्रोह था। इस सम्प्रदाय में निराकार ईश्वर की उपासना होती थी। वे सूर्य की पूजा करते थे।[२] यह सम्प्रदाय तीन शाखाओं में विभक्त है— नारनौल शाखा, कोटवा शाखा और छत्तीसगढ़ी शाखा।

धनीस्वरी शाखा के प्रवर्तक बरमीदास थे। इनके पश्चात् मायाराम रतनदास, बालमुकुन्द दास रामदास, सीताराम दास दूलनदास एवं संत

१—उत्तर भारत की सन्त परम्परा—पृ० ४०७।

२—इस सम्प्रदाय में मद्य मांस लाल मिर्च तम्बाकू टमाटर व बैंगन वर्जित है। गाय को हल में नहीं जोता जा सकता। दोपहर के बाद हल चलाना वर्जित है। वर्ण व्यवस्था का पालन निषिद्ध है—संत साहित्य सुदर्शन सिंह मजीठिया पृ १८।

रामदास इस शाखा के साधक हुए। इस सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र मौमी (बिहार) है। इस पंथ की एक प्रमुख शाखा चौसा (बलिया) में है। इस शाखा के संस्थापक चैन राम बाबा थे।

शिवनारायणी सम्प्रदाय के संस्थापक शिवनारायण दास थे। इनकी जीवनी से सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध नहीं है। इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं 'संत सागर' और 'सन्त विलास। परम तत्व के लिए इस पन्थ में 'संत देश' या 'सन्त विलास' की संज्ञा का प्रयोग होता है। सन्त प्रदेश एक आदर्शलोक है जहाँ परम तत्व का निवास है। उस परम तत्व का नैकट्य प्राप्त करना ही साधक का परम धर्म है। इस पन्थ में परम तत्व निराकार और गुण रहित माना गया है। इस सम्प्रदाय के चार मठ हैं जिन्हें चार धाम के रूप में स्वीकृति मिली है। ससना बहादुर पुर, मैनपुरी और चन्दवार। इस सम्प्रदाय के अन्य साधकों में रामनाथ सदाशिव, लखन राय और लेखराज थे। ये शिवनारायण के शिष्य थे। इस सम्प्रदाय में शव को गाड़ा जाता है अथवा जलाया जाता है या जल प्रवाह किया जाता है। इस पन्थ से सम्बन्धित ग्यारह ग्रन्थो का उल्लेख मिलता है—'संत विलास ग्रन्थ 'भजन ग्रन्थ 'संत सुन्दर' 'गुरु अन्यास', 'संतचारी' 'संत उपदेश' 'शब्दावली' 'संत परवान' 'संत महिमा' और 'संत सागर। 'सवाल जवाब टीका' 'काल ग्रन्थ' जैसे ग्रन्थों का उल्लेख भी कतिपय सन्दर्भों में मिलता है।

चरणदासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक चरण दास थे। इनका पूर्व नाम रणजीत था। इनका जन्म मेवात में सं १७६० में हुआ था। इनके शिष्यों की संख्या ५२ थी। अतः इनके अनुसार यह सम्प्रदाय ५२ शाखाओं में विभक्त है। सहजोबाई और दयाबाई इसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित थीं। चरणदास के नाम से २१ रचनायें प्रसिद्ध हैं। जिनमें 'भागवत महात्म्य' 'दान लीला' 'मटकी लीला' 'माखन चोरी लीला' आदि ग्रन्थों का सम्बन्ध भागवत् से है।

संत रामचरण ने राम सनेही सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। इनका जन्म सोडो गाँव में सं० १७७६ में हुआ था। ये रामानन्द के सिद्धान्तों से प्रभावित थे। इनकी रचनाओं का संग्रह, 'स्वामी श्री जन रामनारायण जी महाराज की अनभै'

बानी शीर्षक से प्रकाशित हुआ । इस सम्प्रदाय का प्रचार गुजरात अहमदाबाद सूरत, बम्बई मलबार और राजपूताने में पाया जाता है ।

निरंजन सम्प्रदाय—निरंजन पंथ सम्भवत कबीर पन्थ से भी प्राचीन है । इसका प्रस्फुटन सहजयान और नाथ पन्थ के समानान्तर हुआ लगता है । कबीर के पूर्व इस सम्प्रदाय का प्रसार बंगाल और उड़ीसा में व्यापक रूप में था । इस प्रकार के विचार की प्रस्तावना की गई है कि सिद्धों में भी निरंजन-उपासना के प्रमाण मिलते हैं—

जो मइ मध्य समुच्चइ, हौ परमपे पवीन
कोटिहिं माहे एक जन होइ निरंजन लीन ।

निरंजन पन्थ में उपलब्ध हिन्दी रचनाओं की ओर सर्व प्रथम ध्यान डॉक्टर पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने आकर्षित किया था । निरंजन पंथ में ज्ञान और भक्ति के समन्वय की चेष्टा मिलती है । इस सम्प्रदाय के साधना में प्रेम और योग का समन्वय मिलता है । इस सम्प्रदाय के प्रमुख भक्तों में हरिदास, तुलसीदास, खेमजी, कान्हड़दास, मोहनदास, भगवानदास, श्यामदास, ध्यानदास नाथ, पूरण ज्ञानदास, और जगजीवनदास, इन बारह निरंजनियों का विशेष विवरण मिलता है । हरिदास अपने पंथ में हरिपुरुष कहलाते थे । इनके ग्रंथों का प्रणयन समय १५२० १५४० ई० के मध्य है । इनके ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं । 'अष्टपदी जोग ग्रन्थ' 'ब्रह्म स्तुति ग्रन्थ' 'हरिदास ग्रन्थ माला' 'हंस प्रबोध भाषा ग्रन्थ' 'निरपख मूल ग्रन्थ' 'राम पुर्ष' 'पूजा जोग ग्रन्थ', 'समाधि जोग ग्रन्थ', 'संग्राम जोग ग्रन्थ' । इस पंथ के अन्य साधकों में राम प्रसाद निरंजनी, स्वरूपदास निरंजनी, और गोकुलदास निरंजनी विशेष महत्व के हैं । परन्तु निरंजनी पन्थ में व्यापक रचना करने वाले सन्तों में स्वामी हरिदास सेवादास और तुलसीदास ही विशेष महत्व के हैं ।

सिख धर्म से सम्बन्धित सम्प्रदायों में उदासी सम्प्रदाय निर्मल नामधारी सम्प्रदाय, गुलाब दासी सम्प्रदाय सेवापन्थी सम्प्रदाय और अकाली सम्प्रदाय, ये छः सम्प्रदाय प्रमुख हैं । प्रथम के प्रवर्तक नानक के पुत्र श्री चन्द थे । इन्होंने धर्म को राजनीति से अलग रखा । द्वितीय पन्थ की स्थापना गुरु गोविन्द सिंह के समय

वीर सिंह द्वारा हुई थी। इन्होंने भी धर्म को राजनीति से स्वतन्त्र रखा। तृतीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक लुधियाना के भाई राम सिंह थे। इस सम्प्रदाय ने अपने को राजनीति से भी समन्वित किया था। सुथरा शाही सम्प्रदाय की संस्थापना सुथरा शाह ने की थी। सेवा पंथी सम्प्रदाय की संस्थापना कन्हैया नामक किसी व्यक्ति ने की थी। अकाली सम्प्रदाय की संस्थापना संवत् १७४७ में मानसिंह ने की थी। ईश्वर को ये अकाल पुरुष कहते हैं। रणजीत सिंह के समय उनका प्रधान केन्द्र आनन्दपुर था। इन्होंने निरन्तर राजनीति में सक्रिय भाग लिया है।

सन्त साहित्य का दर्शन और भाव पक्ष

सन्तों की साधना का परम उद्देश्य था द्वैत भावना से ऊपर उठना। सद् असद् के द्वैत से निर्गुण और सगुण के द्वैत-भाव से तथा भाव और अभाव के द्वैत भाव से ऊपर उठना उनका परम धर्म था। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि इस स्थिति की उपलब्धि ज्ञान या प्रज्ञा से ही सम्भव हो सकती है। बौद्धों ने जिसे प्रज्ञा कहा है, सन्तों ने उसे ज्ञान के रूप में ग्रहण किया है।

कबीर की विवेचना के सन्दर्भ में कहा गया है कि सन्तों की साधना का परम उद्देश्य शून्य था, जिसे 'राम' के पर्याय रूप में उन्होंने ग्रहण किया है। वह निरावलम्ब है। परन्तु वह दृढ़ और स्थिर है। साधक का धर्म इस शून्य में ही स्थिर होना है। शून्य-साधना कठिन है यह सामान्य जीवन की साधना नहीं हो सकती है। अतः इस ध्येय की उपलब्धि के लिए भक्ति को माध्यम रूप में इन्होंने ग्रहण किया है। इस प्रयास में वे अपनी साधना को सर्वसाधारण के लिए बोध गम्य बनाते हैं। नाम स्मरण का प्रस्तावना वे इसी भावना से करते हैं। इसी उद्देश्य को सम्मुख रखकर कबीर ने कहा है—

सुम्म मरै, अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय।
नाम सनेही ना मरे कहै कबीर समुझाय।

नाम से स्नेह करनेवाला संसार के जरा-मरण से मुक्त रहता है। भक्त नाम में स्थिर हो जाते हैं। उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस तत्व की ओर संकेत करते हुए कबीर ने कहा है—

चन्दा ऊ थे है सूरज ऊ थै है थै है पवणो पानी।
कहू कबीर हम भगत न थें हैं, जिनकी मति ध्रुतानी।

सन्तों ने जिस ज्ञान का आधार ग्रहण किया है जिसकी अनुभूति पर उनका सम्पूर्ण दर्शन अवस्थित है वह स्वानुभूति मूलक है। इस ज्ञान के सम्मुख वे शास्त्रीय ज्ञान को निम्न कोटि का कहते हैं। इस ओर ही संकेत करते हुए कबीर ने कहा है—

साखी आँखी ज्ञान की समुझि देखि मन माहिं।
बिनु साखी संसार का झगरा छूटत नाहिं।
बीजक ३५१। १२५।

इस ज्ञान के आवेग को ही कबीर 'ज्ञान की आँधी' की संज्ञा देते हैं जिससे माया के बन्ध से परिबद्ध अज्ञान की टाटी (टट्टी) खण्डित होती है।[1] अत अपने कथ्य के संप्रेषण में वे स्वसंवेद्य ज्ञान की साखी देते हैं। सन्त जीवन की सहज पद्धति में विश्वास करते थे। उनके सम्मुख जीवन का अनासक्ति मूलक जीवन दर्शन था। अनासक्ति भाव से जीवन-यापन करने की भावना बौद्ध धर्म में मुख्यत महायान में उपलब्ध होती है। इसे अनाभोग चर्या अथवा असंस्पर्श योग भी कहते हैं। इस प्रकार जीवन के प्रति सन्तों की इस विशिष्ट दृष्टि की एक निश्चित परम्परा मिलती है। सन्तों ने द्वैत भावना से ऊपर उठकर जिस सत्य को देखने का प्रयास किया है वह जीवन निरपेक्ष नहीं है। वह हममें ही अवस्थित है वह हमसे भिन्न नहीं है—

कस्तूरी कुण्डलि बसै मृग ढूँढ़ै बन माहिं।
ऐसे घट-घट राम हैं दुनियाँ देखै नाहिं।
कस्तूरियाँ मृग को अंग।

---

१ संतो भाई आई ग्यान की आँधी रे
भ्रम की टाटी सबै उड़ाणी माया रहै न बाँधी। टेक।
हित चित की द्वै थूंनी गिराँनी मोह बलींडा टूटा।
त्रिस्नाँ छाँनि परी घर ऊपरि, कुबधि का भाँडा फूटा॥
जोग जुगति करि संतौं बाँधी निरचू चुवै न पाँणी।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जाँणी।
आँधी पीछै जो जल बूठा प्रेम हरी जन भींनाँ।
कहै कबीर भान के प्रगटै उदित भया तम षीनाँ। १६।८३

द्वैत-अद्वैत के परित्याग से उच्च भूमि पर उसकी अनुभूति सम्भव हो सकती है।

हदे छाड़ि बेहदि गया, हुवा निरन्तर वास।
कवल ज फूला फूल बिन को निरखै निज दास।

परचा को अंग ५।

उस सीमा के परे जिस असीम लोक की कल्पना सन्त करते हैं वहाँ बिना जल के कमल प्रस्फुटित होते हैं। वहाँ सागर नहीं है, सीप नहीं है और न स्वाति बूंद है। वह शून्य शिखर-गढ़ ऐसा है जहाँ मोती उत्पन्न होता है। अतः 'हद का परित्याग कर बेहद' में प्रवेश करने के उपरान्त ही 'शून्य-स्नान' सम्भव है। यह स्थिति 'इमसन' को उनमन' में समर्पित कर देने के पश्चात् हो जाती है। इसे परिचय की स्थिति कहते हैं इस स्थिति में चन्द्रा बिना ही चन्द्रिका प्रसरित रहती है। इस चन्द्रिका में ही अलख निरंजन के दर्शन होते हैं।

मन लागा उन मन्न सौं गगन पहुँचा जाई।
देख्या चंद बिहूँणा चाँदिणा तहाँ अलख निरंजन राय।

इस प्रकार सन्तों ने जिस सत्य के प्रति आग्रह भाव व्यक्त किया है वह निषेधात्मक नहीं है परन्तु वह सृष्टि के समग्र विकल्पों से परे है।

अपने कथ्य के लिए सन्त अपने पूर्ववर्ती साधकों की भी साखी लेते हैं। यथा

कामणि अंग बिरकत भया रत भया हरिनाइ।
साषी गोरख नाथ ज्यूं अमर भए कलि माहिं।

साखी देने की यह परम्परा नाथ साधकों में भी मिलती है। अपने कथन को अधिकारपूर्ण और यथार्थ रूप देने की भावना से सिद्धों में भी साखी (साखी) लेने की परम्परा मिलती है [१]।

सन्तों ने जिस परमतत्व की कल्पना की है वह अभाव है वह सब कालीन है। उसकी उत्पत्ति नहीं होती है, और न उसका विनाश होता है। परमतत्व के इस स्वरूप की कल्पना बौद्धों ने भी की है। इनके अनुसार परम सत्ता की स्थिति आरम्भ से ही रहती है। 'लंकावतार सूत्र' में इसे 'पूर्व धर्म स्थितता' कहा गया है। इसे पौराणिक स्थिति भी कहा गया है। यह परिवर्तन या विकार से प्रभावित नहीं होता।

---

१ साखी करब जालन्धर पाये।

भरती गगन पवन नहीं होता, नहीं तोया नहीं तारा।
तब हरि हरि के जन होते कहै कबीर बिचारा।

कबीर की विवेचना के सम्बन्ध में इसका उल्लेख किया गया है कि सन्तों ने 'नाम स्मरण' में अपना विचार व्यक्त किया है। नाम-महिमा और नाम-स्मरण के माध्यम से वे भक्ती भक्ति या साधना को संपोषित करते हैं। इसी ओर संकेत करते हुए कबीर ने कहा है—

भगति भजन हरि नाँव है दूजा दुक्ख अपार।
मनसा बाचा क्रमनां, कबीर सुमिरण सार पृ० ४०, सुमिरण।

नाम स्मरण करते-करते मन नाममय हो जाता है। परन्तु यह नाम-स्मरण साधना पर ही अवलम्बित है। इसके लिये चित्तवृत्तियों का निरोध अनिवार्य है। रामनाम-स्मरण सूक्ष्म डोरी पर चलने के समान है। नट तारों पर, सूक्ष्म डोर पर चढ़ कर कौतुक दिखलाता है। यदि अपनी कला से च्युत होकर वह गिरता है तो यह उसके लिए अभिशाप बन जाता है—

कबीर कठिनाई खरी सुमिरंता हरिनाम।
सूली ऊपर नट विद्या, गिरू त नाहीं ठाम।

नाम जप से साधक नाममय हो जाता है, वह निरपेक्ष में समाहित हो जाता है।

तू तू करता तू भया, मुझ में रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई जित देखौं तित तू।

नाम-स्मरण अथवा भक्ति की भी एक विशेष क्रिया है। इस नाम जप का उल्लेख करते हुए तुलसी ने कहा है—

नाम जपत भव सिन्धु सुखाहीं
करउ बिचार सुजन मन माहीं।

इसका सम्बन्ध ग्रहण करके कतिपय विचारकों ने कबीर को इसी परम्परा में रखने का प्रयास किया है। परन्तु सन्त नाम-स्मरण-परम्परा की दृष्टि से वैष्णव भक्ति के कितने निकट हैं यह एक विचारणीय समस्या है। बौद्ध धर्म में अनुस्मृति कतिपय धाराओं में विस्तार सुखावती व्यूह' में बुद्ध ... [illegible] ... पूर्ण विराम मिलता है। यहाँ 'नमः अमित

सुराम' का स्मरण किया जाता है। इस प्रथा ने परवर्ती काल में एक प्रबल रूप धारण कर लिया। अत यहाँ प्रश्न यह उठता है कि सन्तों में नाम-स्मरण की भावना के आगमन का माध्यम क्या है, वैष्णव चिन्तनधारा या बौद्ध धारा? वास्तविकता यह लगती है कि दो भिन्न भिन्न परम्पराओं से प्राप्त नाम-स्मरण की प्रणाली का प्रयोग कबीर ने समन्वित रूप से किया है।

सन्तों ने मन की साधना पर विशेष विश्वास किया है। उन्होंने 'इनमन' और 'उनमन' की चर्चा प्रत्येक सन्दर्भ में की है। एक मन व्यक्तिगत और सापेक्ष है। दूसरा निरपेक्ष है। कबीर तथा अन्य सन्तों ने ऐसे मन की उपलब्धि के प्रति आग्रह व्यक्त किया है जिसमें व्यक्तिगत मन समाहित हो उठता है। इस मन का स्व रूप बोध सनक सनन्दन जैदेव नामदेव आदि भक्तों को भी नहीं हो पाया था। यह निरपेक्ष मन भी हमसे अभिन्न है। उसका अस्तित्व हम से भिन्न नहीं है। गोरख भरथरी और गोपीचन्द इसके साथ तादात्म्य स्थापित कर चुके हैं। यह मन 'निरंजन' है जिसकी उपलब्धि कबीर तथा अन्य सन्तों को हो चुकी है—

ता मन कौ खोजहु रे भाई, तन छूटे मन कहाँ समाई।
सनक सनन्दन जै देव नामां, भगति करि मन उनहुँ न जाना।

× × ×

गोरख भरथरी गोपीचन्दा, ता मन सौं मिलि करै अनंदा।
अकल निरंजन सकल सरीरा, ता मन सौं मिलि रह्या कबीरा ॥३।८८।

भक्ति की प्रचलित विधाओं से उस मन का परिचय नहीं प्राप्त किया जा सकता है। शास्त्रों और अन्य आधार ग्रन्थों में इस मन के स्वरूप का वर्णन नहीं मिलता है। इसका परिचय ज्ञान और अनुभूति से होता है—

जप तप संजम पूजा अरचा जोतिग जग बौराना।
कागद लिखि-लिखि जगत भुलाना मन ही मन न समाना।
कहै कबीर जोगी अरु जंगम ए सब झूठी आसा।
गुरु प्रसाद रटौ चातिग ज्यू निहचै भगति निवासा ॥४।८८।

'उनमन' के साथ 'इनमन' का तादात्म्य 'गगन' में होता है। यह मन परम सत्य का स्वरूप है, वह निरंजन है। वह सकल शरीरों में परिव्याप्त है—

अकल निरंजन सकल सरीर, तामन सौं मिलि रह्या कबीर।

मन की साधना पर सन्तों ने विशेष बल दिया है। व्यक्तिगत मन अति अनियंत्रित होता है। पल-पल में उसका स्वरूप परिवर्तित होता रहता है। मन की साधना को परावृत्ति साधना के रूप में सन्तों ने ग्रहण किया है। 'मन रे मनहि समाना', अथवा 'मन उलटा दरिया मिलना' के माध्यम से इस परावृत्ति साधना या उलटी साधना की चर्चा की गई है। बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत 'क्षणिक विज्ञान वादी' दर्शन एक विशिष्ट दर्शन-दृष्टि है। इसके अनुसार चित्त का उदय क्षण-क्षण होता है और उसका लय भी क्षण-क्षण होता है। चित्त की जो अवस्था एक पल में रहती है वही दूसरे क्षण में नहीं रह जाती। उसका उल्लेख करते हुए कबीर ने कहा है—

> कबीरा यहु मन कत गया, जो मन होता काल्हि।
> डूंगरि बूठा मेह ज्यूं गया निवाणा चालि। मन को अंग २२।

संत साहित्य में 'सुरति' और 'निरति' की चर्चा विशेष आकर्षणपूर्ण है। सुरति को निरति में समाहित होने की चर्चा मिलती है निरति को निरालम्ब कहा गया है। सुरति निरति में समाविष्ट हो जाती है जैसे अलेख में समा जाता है—

> सुरति समाणी निरति मैं निरति रही निरधार।
> सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्यंभ दुवार २२।१२।
> सुरति समाणी निरति मैं, अजपा माहै जाप।
> लेख समाणा अलेख मैं यूं आपा माहै आप। २२।१२
> गगन सुरति बेरहु निरताई। सुरति कंवल रहु सुरति समाई १७०।१८
> दरिया ग्रन्थावली।

> पोच तहु तहाँ देखु विशेषा। पल-पल करहि अनुपम भेषा ४८।६
> तामें निरति सुरति की बानी तामें निरखु माया की खानी। ४९

बौद्ध धर्म में 'स्मृति' शब्द की चर्चा मिलती है। वहाँ इस शब्द का प्रयोग जाग्रत अवस्था या जागरूकता के अर्थ में हुआ है। परवर्ती काल में 'सुरति' का प्रयोग 'स्मृति' के ही पर्याय में किया जाने लगा। सन्तों के पूर्व गोरखनाथ ने इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है 'सुरति मही मंना बिलि जाको पूंजी हानि न होई।' नाथों और सन्तों के लिए सुरति स्मृति चेतना जागरूकता और परम शक्ति है। गोरखनाथ के नाम से संगृहीत रचनाओं में 'सुरति' के प्रति आकर्षित रहने का आग्रह मिलता है—

सुहाय' का स्मरण किया जाता है। इस प्रथा ने परवर्ती काल में एक प्रबल रूप धारण कर लिया। अतः यहाँ प्रश्न यह उठता है कि सन्तों में नाम-स्मरण की भावना के आगमन का माध्यम क्या है वैष्णव चिन्तनधारा या बौद्ध धारा? वास्तविकता यह लगती है कि दो भिन्न भिन्न परम्पराओं से प्राप्त नाम-स्मरण की प्रणाली का प्रयोग कबीर ने समन्वित रूप से किया है।

सन्तों ने मन की साधना पर विशेष विश्वास किया है। उन्होंने 'उनमन' और 'उनमन' की चर्चा प्रत्येक सन्दर्भ में की है। एक मन व्यक्तिगत और सापेक्ष है। दूसरा निरपेक्ष है। कबीर तथा अन्य सन्तों ने ऐसे मन की उपलब्धि के प्रति आग्रह व्यक्त किया है जिसमें व्यक्तिगत मन समाहित हो उठता है। इस मन का स्व रूप बोध सनक सनन्दन शंकर नामदेव आदि भक्तों को भी नहीं हो पाया था। यह निरपेक्ष मन भी हमसे अभिन्न है। उसका अस्तित्व हम से भिन्न नहीं है। गोरख भरथरी और गोपीचन्द इसके साथ तादात्म्य स्थापित कर चुके हैं। यह मन 'निरंजन' है जिसकी उपलब्धि कबीर तथा अन्य सन्तों को हो चुकी है—

ता मन कौं खोजहु रे भाई, तन छूटे मन कहाँ समाई।
सनक सनन्दन जै देव नामां, भगति करि मन उनहुँ न जाना।
× × ×
गोरख भरथरी गोपीचन्दा, ता मन सौं मिलि करैं अनंदा।
अकल निरंजन सकल सरीरा, ता मन सौं मिलि रह्या कबीरा ११।८८।

भक्ति की प्रचलित क्रियाओं से इस मन का परिचय नहीं प्राप्त किया जा सकता है। शास्त्रों और अन्य आधार ग्रन्थों में इस मन के स्वरूप का वर्णन नहीं मिलता है। इसका परिचय ज्ञान और अनुभूति से होता है—

जप तप संजम पूजा अरचा जोतिग जग बौराना।
कागद लिखि लिखि जगत भुलाना मन ही मन न समाना।
कहै कबीर जोगी अरु जंगम ए सब झूठी आसा।
गुरु प्रसाद रटौ चातिग ज्यूं निहचै भगति निवासा १४।८८।

उनमन' के साथ 'इमनम का तादात्म्य 'गगन' में होता है। यह मन परम सत्य का स्वरूप है, वह निरंजन है। वह सकल शरीरों में परिव्याप्त है—

अकल निरंजन सकल सरीर, ता मन सौं मिलि रहा कबीर।

मन की साधना पर सन्तों ने विशेष बल दिया है। व्यक्तिगत मन अति अस्थिर होता है। पल-पल में उसका स्वरूप परिवर्तित होता रहता है। मन की साधना को परावृत्ति साधना के रूप में सन्तों ने ग्रहण किया है। 'मन रे मनहिं समाना अथवा 'मन उलटा दरिया मिल्या' के माध्यम से इस परावृत्ति साधना या उलटी साधना की चर्चा की गई है। बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत क्षणिक विज्ञान वादी' दर्शन एक विशिष्ट दर्शन-दृष्टि है। इसके अनुसार चित्त का उदय क्षण-क्षण होता है और उसका लय भी क्षण-क्षण होता है। चित्त की जो अवस्था एक पल में रहती है वही दूसरे क्षण में नहीं रह जाती। उसका उल्लेख करते हुए कबीर ने कहा है—

कबीरा यहु मन कत गया, जो मन होता काल्हि।
डूंगरि बूठा मेह ज्यूं गया निवाणा चालि। मन को अंग २२।

संत साहित्य में 'सुरति' और निरति' की चर्चा विशेष आकर्षणपूर्ण है। सुरति को निरति में समाहित होने की चर्चा मिलती है निरति को निरालम्ब कहा गया है। सुरति निरति में समाविष्ट हो जाती है जैसे अलेख में समा जाता है—

सुरति समाणी निरति मैं निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया तब खुले स्यंभ दुवार २२।१२।
सुरति समाणी निरति मैं अजपा माहैं जाप।
लेख समाणा अलेख मैं यू आपा माहैं आप। २२ ।१२
अगम सुरति बेगहु निवलाई। सुरति कंवल रहु सुरति समाई १७।१८
पांच तत्तु तहाँ देखु विशेषा। पल-पल करहिं अनुपम भेखा ४७।६
दरिया ग्रन्थावली।
तामें निरति सुरति की बासी तामें निरखु माया की नासी। ४५

बौद्ध धर्म में 'स्मृति' शब्द की चर्चा मिलती है। यहाँ इस शब्द का प्रयोग जाग्रत अवस्था या जागरूकता के अर्थ में हुआ है। परवर्ती काल में 'सुरति' का प्रयोग 'स्मृति' के ही पर्याय में किया जाने लगा। सन्तों के पूर्व गोरखनाथ ने इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है सुरति सही संगा निरति साथी पूंजी हानि न होई। नाथों और सन्तों के लिए सुरति स्मृति चेतना जागरूकता और परम शक्ति है। गोरखनाथ के नाम से संग्रहीत रचनाओं में 'सुरति' के प्रति जागरित रहने का आग्रह मिलता है—

अर्थात् जहाँ शून्याशून्य महा शून्य है। जहाँ सूर्य नहीं है चन्द्रमा नहीं है अष्ट दिक् पाल नहीं है। जहाँ न जन्म है न मृत्यु है न ताप है न शीतलता[1] है। 'धर्म गीता' के अनुसार महा शून्य से पवन पवन से निरंजन निरंजन से निर्गुण निर्गुण से गुण की व्याप्ति काल क्रम से हुई मानी गई है। रमाई पण्डित के शून्य पुराण में निरंजन की व्युत्पत्ति महाशून्य से मानी गई है। धर्म सम्प्रदाय की इस भावना को नाथ साधकों ने आत्मसात किया। सन्त पन्थ ने इस साधना भावना को समीकृत किया। ऐसे भी प्रमाण मिलते है कि काल-क्रम से यह सम्प्रदाय सन्त सम्प्रदाय के लिए प्रबल प्रतिद्वन्दी का रूप धारण कर गया। और कबीर मत की दक्षिणी शाखा (धर्मदासी सम्प्रदाय) ने इसे आत्मसात किया।

हठयोग प्रदीपिका में निरंजन का प्रयोग मुक्त ब्रह्म के लिए हुआ है। नाथ पंथ में निरंजन को नाद के साथ सम्बद्ध किया गया है। सन्त साधना में दृश्यमान जगत अंजन है निरंजन इससे परे है।

'रामनिरंजन न्यारा रे अंजन सकल पसारा रे। कबीर ने केवल राम को निरंजन माना है राम के अतिरिक्त सृष्टि के अन्य तत्व अंजन है। ओंकार, वेद वाणी ब्रह्म शंकर सभी अंजन हैं। योगी अंजन का परित्याग कर निरंजन में वास करता है। (१७२।१११)। अंजन की उत्पत्ति होती है निरंजन अजन्मा है। अंजन का आवागमन होता है निरंजन सब घट में समाहित है।

---

१ गौतम बुद्ध ने भी इस प्रकार की प्रस्तावना की है—भिक्षुओं (वह) ऐसा आयतन है जहाँ न पृथ्वी है न जल है न अग्नि है न वायु है न आकाश आय तन है-न यह लोक है न परलोक है न चन्द्रमा है न सूर्य है उसे न अगति कहता हूँ, न गति। न वहाँ ठहरना होता है न च्युत होना न उत्पन्न होता है, वह आधार रहित संचरण रहित है आलम्बन रहित है अत्थि भिक्खवे तदायतनं यत्थ नेव पठवी; न आपो, न तेजो, न वायो न आकास नञ्चायतनं

नायं लोको न परो लोको न उभो चन्दिम सुरिया तदहं भिक्खवे नेव आगतिं वदामि न गति ठितिं न चुतिं न उप्पत्ति, अप्पतिट्ठं अप्पवत्तं इति बुद्धक. वैष्णव-सन्तों ने इस भावना को अपरिवर्तित रूप में स्वीकार कर लिया है।

, सन्तों के निरंजन निराकार हैं। कबीर उस निरंजन से एकाकार होने की कल्पना करते हैं।

'कहै कबीर भरम सब भागा एक निरंजन सूं मन लागा'।

निरंजन निराकार, अपरम्पार । रमैनी ।

सन्तों में निरंजन के प्रति इस प्रकार की धारणा का विकास नाथ पन्थ से हुआ लगता है। गोरखनाथ ने निरंजन के जिस स्वरूप की कल्पना की है, उसमें वह आवागमन से मुक्त है—

आऊँ नहीं जाऊँ निरंजन नाथ की दुहाई।
प्यंड ब्रह्मण्ड खोजता अम्हें सब सिधि पाई।

गोरखबानी । ११६ ।

नाथ साधकों के समान सन्तों के निरंजन की अनुभूति भी उस गगन-मण्डल में होती है जहाँ अनाहद नाद ध्वनित होता है जहाँ अखण्ड ज्योति प्रज्वलित रहती है। अंजन में लिप्त होते हुए भी निरंजन उससे निर्लिप्त है वैसे ही जैसे चन्द्रमा जल में प्रतिबिम्बित होते हुए भी जल से अलग है। और जल से अलग होकर भी वह जल में है। इसी प्रकार घट घट से अलग रहते हुए भी निरंजन प्रत्येक घट में, प्रत्येक अंजन में है। और प्रत्येक घट में रहते हुए भी वह उससे अलग है। कबीर ने अपने निरंजन के स्वरूप की व्याख्या इन शब्दों में कर दी है—

---

१ सन्तों में इस भावना का विकास 'प्रज्ञा पारमिता' की मौलिक परम्परा से हुआ लगता है। वहाँ सत्य के साक्षात्कार के सन्दर्भ में कहा गया है कि सत्य हममें एकान्त और अलग नहीं है। सत्य एक अतीत है जो हममें निरन्तर विद्यमान है। 'लंकावतार सूत्र' में इसी भावना को 'जल में चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब' के माध्यम से व्यक्त किया गया है। कबीर तथा अन्य सन्तों ने इस भावना को ग्रहण किया है। कबीर की इस विचार-धारा का सम्बन्ध उत्तरकालीन वेदान्त ([illegible]) से स्थापित किया जाता है जहाँ प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त की चर्चा मिलती है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह प्रस्थापना विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि 'लंकावतार सूत्र' शंकर के वेदान्त के पूर्व का ग्रन्थ है। गोरखनाथ तथा कबीर ने शंकर की अपेक्षा 'लंकावतारसूत्र' की मौलिक परम्परा से ही इस भावना को ग्रहण किया है।

अवधू अगनि जरै के काठ।

पुर्वी पच्छिम जोग सन्यासी, सतगुर चीन्हैं बाट। टेक।

गगनि पवन मैं पवन कवल मैं सबद गगन के पवनां।

निराकार प्रभु आदि निरंजन, कत रवंते भवनां। १७६ १२६।

सन्त साहित्य की समग्रता पर विचार करते हुए एक सत्य की ओर हमारा ध्यान जाता है। कबीर के पश्चात् काल-क्रम से सन्तों ने अपनी मान्यताओं को शास्त्र-सम्मत करने का प्रयास किया है। अतः उनके साहित्य के मुख्य स्वर में परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होता है। इन सन्तों का व्यक्तित्व भी कबीर के समान नहीं था। अतः एक ओर कबीर से उपलब्ध चिन्तन-धारा को परम्परा रूप में इन्होंने ग्रहण किया दूसरी ओर वेदान्त तथा अन्य शास्त्रों के निकट पहुँचने का इन्होंने प्रयास किया। दादू, रैदास, मलूक, सुन्दरदास जगजीवन दयाबाई और मीरा की रचनाओं के विश्लेषण से इस कथन का समर्थन होता है।

सिद्धों और नाथों के समान सन्त 'सहज' के प्रति आकर्षित मिलते हैं। सहज का वर्णन इनमें दो रूपों में मिलता है— (१) सहज समाधि के रूप में (२) सहज-जीवन पद्धति के रूप में। प्रथम के अन्तर्गत सहज समाधि में साधक गगन मण्डल में केन्द्रित होने की चर्चा करते हैं। वहाँ वे मूल शब्द बोलते हैं और 'अनहद' नाद के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं। 'उन्मन' की स्थिति में पहुँच कर वे रसायन पान करते हैं—

मुनि मण्डल में मरदल बाजे तहाँ मेरा मन नाचे।

गुरु प्रसाद अमृत फल पाया सहज सहजि सुषमनां काछै।

पूरा मिल्या तबै सुख उपज्यौ तन की तपन बुझानी।

कहै कबीर भव बन्धन छूटै, जोतिहि जोति समानी।

सहज समाधि की विधि योग पर आधारित है। इड़ा पिंगला-सुषुम्ना के सह योग से ब्रह्म रंध्र में प्राण वायु के केन्द्रित करने की प्रक्रिया की व्यापक चर्चा सन्तों ने की है। दसवें द्वार पर 'चन्द्रमा' और 'सूर्य' को समस्थिति में लाने की भावना सिद्ध और नाथ पन्थ के अनुसार ही है—

इड़ा प्यंगुला माटी कीन्हीं ब्रह्म अगिनि परिजारी।

ससि हर सूर द्वार दस मूंदे लागी जोग जुगतारी।

सहज सुन्नि में जिन रस चाख्या, सतगुरु से सुधि पाई।
दास कबीर इहि रस माता कबहूँ उछकि न जाई। ८६।७४

अथवा

झरि लागै महलिया गगन घहराय।
खन गरजै, खन बिजुली चमकै लहरि उठै सोभा बरनि न जाय।
सुन्न महल से अमृत बरसै प्रेम अनन्द ह्वै साधु नहाय।
खुली केवरिया मिटी अँधियरिया धनि सतगुरु जिन दिया लखाय।
धरम दास विनवै कर जोरी सतगुरु चरण में रहत समाय।

धरमदासजी की शब्दावली।

सन्तों ने यौगिक प्रक्रियाओं की अपेक्षा इन तत्त्वों का प्रयोग सहज समाधि के सन्दर्भ में किया है। उनकी सहज-समाधि योग-समाधि से भिन्न थी। कबीर ने इस ओर ही संकेत करते हुए कहा है— कहै कबीर यह उनमन रहनी सो परगट कर गाई। परन्तु सन्त साधकों में 'सुन्दर दास' ने शास्त्र का अध्ययन किया था। 'ज्ञान समुद्र' में सांख्य मत और योग के सिद्धान्तों का निरूपण मिलता है। अतः इसमें शास्त्रीय-विधान के प्रति निरन्तर आग्रह मिलता है। इसी प्रकार बुल्ला साहब ने हठयोग के लिए ध्यान अनिवार्य माना है। इनके 'अगम अनन्द' के 'राजयोग' और 'ध्यान योग' में योग की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है।

सन्तों ने जीवन की समग्रता और सर्वांगपूर्णता में आस्था प्रकट की है। जीवन की संस्थापना उदात्त भूमि पर करने के प्रयास में ही उनकी चेतना क्रियाशील थी। सिद्धों की दृष्टि उपभोगवादी थी। इस उपभोगवादी दृष्टिकोण के प्रति गोरखनाथ ने असन्तोष-भाव व्यक्त किया है। कबीर तथा अन्य सन्तों ने भी इस उपभोगवादी दृष्टि के प्रति असन्तोष व्यक्त करते हुए कहा है कि चौरासी सिद्ध माया के खेल में विनाश करने वाले हैं। नैतिकता की दृष्टि से वे शाक्तों की भी निन्दा करते हैं। अतः सहज को सन्त सहज और नैसर्गिक जीवन-पद्धति का पर्यायवाची मानते हैं—

सहज सहज सब कोइ कहै सहज न चीन्हे कोइ।
जिन्ह सहजै विषया तजी सहज कहावै सोइ।

सन्त साहित्य की रचना युग-जीवन के अन्तर-मन को प्रतिबिम्बित करती है। सन्तों ने अपने युग की संघर्षमूलक भूमिका से अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया है। परस्पर विरोधों के मध्य समाज को पल्लवित करने के प्रयास की दृष्टि से सन्त-साहित्य समादर पाता रहेगा। सन्तों को मुख्यतः कबीर को, अपने युग से प्रतारणा ही मिली। परन्तु खण्डन और समीकरण, इन दोनों के माध्यम से कबीर ने अपने काव्य और अपनी साधना का विकास किया। कबीर तथा अन्य सन्तों के साहित्य की दो स्पष्ट धाराएँ मिलती हैं। प्रथम में दर्शन और साधना प्रणाली का संप्रेषण है। इसका उल्लेख किया जा चुका है। द्वितीय वर्ग में युग-जीवन के आकलन की अतिरोध उत्पन्न करने वाली शक्ति के विध्वंस की ओर समाज-संस्करण की चेष्टा मिलती है। सन्त-सम्प्रदाय ने योगी सम्प्रदाय का खण्डन किया निम्नजातियों के उन्नयन का प्रयास किया बौद्धों को अपने में समीकृत करने का प्रयास किया।-ब्राह्मणों तथा मुसलमानों की आलोचना से इसके सम्मुख अस्तित्व का प्रश्नवाचक चिह्न उपस्थित किया। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए कबीर ने कहा है—

हम वासी वहि देस के जहाँ जाति बरण कुल नाहिं।
सबद मिलावा होइ रहा देह मिलावा नाहिं।

इस प्रकार सन्त साहित्य की विशेषताओं का निर्धारण इस रूप में किया जा सकता है।

१ एक अविगत, अतीत शून्य राम निरंजन का ध्यान। वह गुरु-पथ प्रदर्शन से ही ज्ञेय है। २ गुरु और साधु सेवा ३ प्राणियों में समान दया भाव। ४ मांस-आहार को त्यक्त कहना। मदिरा का वर्जन। ५ स्वयंवेद्य ज्ञान के प्रति आग्रह तथा वेद-शास्त्र-सम्मत ज्ञान की उपेक्षा। ६ कबीर के परवर्ती सन्तों में से कतिपय ने नवधा भक्ति के स्वर को स्वीकार किया है। ७ मनुष्य-सृष्टि को समग्र तत्वों से श्रेष्ठ और मूल्यवान मानना।

सन्तों ने माया की कल्पना की है। इनके अनुसार कुण्डलिनी महामाया विष से परिपूर्ण है। विषया, जीवन को विगलित करने वाली माया का परिचय इन पंक्तियों में किया गया है—

योगी के योगन ह्व बैठी राजा के घर रानी।

अपनी अनुभूतियों के संप्रेषण के लिए सन्तों ने जिस व्यंजना प्रणाली का
ग्रहण किया है उसमें भावनाओं का सहज और स्पष्ट रूप अंकित हो उठा है।
इस तत्व के साथ तादात्म्य भावना-स्थापन की अनुप्रेरणा को वे रति-मूलक
तत्वों के माध्यम से व्यक्त करते हैं। इस सन्दर्भ की रचनाओं में बौद्धिकता की
अपेक्षा रागात्मक तत्वों के स्वरूप की प्रधानता मिलती है और चिन्तन उनकी
सम्पूर्ण भावनाओं में प्रवित होकर मूर्त हो उठता है। कवि इन सन्दर्भों में
वस्तु सापेक्ष तत्वों का आधार ग्रहण कर अपने दर्शन की मूल अनुचेतना का
तादात्म्य प्रस्तावन करता है और अपनी साधना को लोकजीवन के अधिक निकट
लाने का प्रयत्न करता है। अपने 'राम' या 'निरंजन' से एकात्म होने की अनुभूति
को व्यक्त करने के लिए कवि ने गौने (द्विरागमन) पर जाने वाली नारी की
भावनाओं का आधार ग्रहण किया है—

आयी दिन गौने के हो मन होत हुलास।
डोलिया उठाये बीजा बनवाँ हो जहँ कोई न हमार।
पइयाँ तोरी लागौं कहरवा हो डोलिया धर छिनवार।
मिलमिलै सखिया सहेलर हो, मिला कुल परिवार।
दास कबीर गाय निरगुन हो साधु कर ले विचार।
नरम-गरम सौदा करिले हो आगे हाट न बाजार।

कबीर। १२६।२७४।

सामान्य जीवन की अनुभूति-योजना का आधार ग्रहण कर अनुराग के
सम्पर्कों से रचौसित पर्नी की व्यापकता से सन्तों ने काम्यरस की अवधारणा
की है। इस सन्दर्भ की रचनाओं में रसतत्व के स्वरूप का नैसर्गिक विधान मिल
जाता है। संसार की सापेक्षता को या 'इस मन' की अवस्था के लिए
कवियों ने 'नैहर' शब्द से वस्तु-सापेक्ष विधान का नियमित प्रयोग किया
है। 'उनमन' की स्थिति में प्रवेश करने की प्रक्रिया के लिए 'पिय के घर जाने'
के पर्याय के रूप में कवियों ने चित्रित किया है—शरीर को चुनरी और इनका
या आत्मा को 'बधू' के रूप में ग्रहण किया गया है—

नैहर में दाग लगाय आय चुनरी।
ऊ रंगरेजवा के मरम न जाने
नहिं मिले धोबिया कौन करे उजरी।
तन के कूँडी ज्ञान के सौदन
साबुन महँग बिकाय या नगरी।
पहिरि ओढ़ि के चली ससुररिया,
गौवाँ के लोग कहै बड़ी फुहरी।
कहै कबीर सुनो भाई साधो,
बिन सतगुर कबहूँ नहिं सुधरी।
कबीर २०७।

इस प्रकार 'मोरे साहब की ऊँची अटरिया चढ़त में जियरा काँपे' 'बालम आवो हमारे गेह रे' 'सखिया, हमहुँ भई बिरहमासी' 'आओ जोबन विरह सतावो' 'अब मैं नाम मली बढ़िआसी' 'रितु फागुन नियरानी' 'कोई पियासे मिलावै' आदि शीर्षक पदों में रति-मूलक भावधारा पर दर्शन का संश्लेष मिलता है। यद्यपि इन पदों में प्रस्तुत है निरंजन के साथ तादात्म्य भावना के संस्थापन-स्वरूप की प्रस्तावना, परन्तु अप्रस्तुत में निहित वस्तु-सापेक्षता अनुभूति की व्यापक पृष्ठि भूमि में साधारणीकरण की क्षमता को अति दृढ़ बना देती है। कबीर, सन्त तुलसी तथा अन्य सन्तों के पदों में इस प्रकार की एकरूपता मिलती है। कभी वे विरहिणी के समान सन्देश भेजते हैं और कभी मौन वेदना को सहते हैं। कभी विरह भुजंगम इनको डस लेता है। सुन्दर दास की विरहिणी जल कर भस्म हो जाती है। दादू की विरहिणी के नेत्र दास-दमयन्ती के समान नदी के जल से भर गए हैं। वधू बलपर की भूमिका धारण कर लेते हैं।

इस प्रकार अपनी साधना की व्यंजना के लिए सन्त मधुर भक्ति को साधन रूप में ग्रहण करते हैं। एकान्त प्रेम तथा अनन्य साधना से इनकी वाणी मुखरित है। प्रेम की रीति में ये सन्त तुलसी के समान चातक का रूप धारण करते हैं। इनके मन में प्रेम का 'पखावज' निरन्तर बजता रहता है। प्रेम का रङ्ग मजीठ का रंग है। जीवन धर्मी व्यापारों को साधन रूप में ग्रहण करने के कारण ही सन्त लोक जीवन को संस्पर्शित कर सके थे और लोक मानस में

अपने व्यक्तित्व का संस्थापन कर सके थे। उनकी वाणियों में लोक मानस अपनी अभिलाषाओं का प्रतिबिम्ब पा लेता है।

जीवन-सापेक्ष व्यापारों से अपनी भावनाओं के मूर्त विधान के प्रयास के कारण ही अपनी चिन्तन-धारा का साधारणीकरण वे कर सके हैं। इसके अतिरिक्त युग-जीवन के विविध स्वरूपों के प्रतिबिम्ब भी उनकी रचनाओं में मिल जाते हैं। इस सन्दर्भ में कबीर तथा अन्य सन्तों ने कपड़ा-बुनने के विविध रूपकों के द्वारा साधना की विविध भूमिकाओं की प्रस्तावना की है। 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' 'कोलहा बीनहु हो हरिनामा जाके सुर नर मुनि धरे ध्याना।' शीर्षक रचनायें इस उद्देश्य की रचनायें हैं। इसी सन्दर्भ में संगीत के उपकरण रूपक के अन्तर्गत विशिष्ट अनुभूति और साधना-भूमि की व्यंजना के लिए प्रयुक्त है—

गंग सुर दोइ तूंबा करि है, चित चेतनि की डांडी
सुषमन तंती बाजण लागी इहि विधि त्रिष्णां षांडी ।११३।।१८१

सन्तों ने भिन्न-भिन्न पदों एवं साखियों की रचना भिन्न-भिन्न मानसिक स्थितियों और भाव भूमिकाओं में की है। कबीर ने मन की परिवर्तनशील अवस्था का उल्लेख किया है। इस प्रकार विशिष्ट मानसिक स्थिति में संसार की क्षणभंगुरता और जीवन के नश्वर रूप का भावात्मक वर्णन वे करते हैं। इस सन्दर्भ की रचनाओं में जीवन की नश्वरता के कटु सत्य का उद्घाटन कर भक्ति साधना और आराधना की उपयोगिता का सम्पादन करते हैं। नश्वरता के मध्य वे अनश्वर भूमि का प्रतिपादन करते हैं।

मन फूला-फूला फिरै जगत में, कैसा नाता रे।
जब लौं जीवै मा माता रोवै बहिन रोवै दस मासा।
तेरह दिन तक तिरिया रोवै फेरि करै घर बासा।
चार गजी चरगजी मंगायी चढ़े काठ की घोड़ी।
चारो कोने आग लगाई, फूंकि दिया जस होरी।
हाड़ जरै जस लाकड़ी केस जरै जस घासा।
कंचन ऐसी काया जरि गै कोई न आया पासा।

अभिव्यंजना प्रणाली और भाषा

शब्दों की अभिव्यंजना प्रणाली में संध्या भाषा का प्रयोग सिद्धों और नाथो की परम्परा के अनुरूप ही है। कतिपय सन्ध्या शब्दों का परिचय इस प्रकार है —

शब्द	सामान्य अर्थ	सन्ध्या अर्थ
चुनरी अंगिया	चुनरी चोली	शरीर

मोरी चुनरी में परि गयो दाग पिया (१६५ १२२), नैहर में दाग लगाय आय चुनरी (२०७-१४१) दुलहिन अंगिया काहे न धोवाई।११४ १२५।

चाँद	चाँद	प्रज्ञा
सूर्य	सूर्य	उपाय

नहि घट चन्दा नहि घट सूर, नहि घर गाजे अनहद तूर। २१५।६।

चन्द न सूर दिवस नहि रजनी तहाँ सुरत लौ लाई। २७।२५४।

हंस	हंस	आत्मा व्यक्ति सापेक्ष मन

हँसा करो पुरातन बात, अब ही हँसा चेत सवेरा चलो हमारे साथ। २४०।१२।

पखेरू	पखेरू (पक्षी)	(१) सापेक्ष मन आत्मा (२) निरपेक्ष मन

या तरिवर में एक पखेरू मौन सरस बहु रौखे रे। १०।

अवरन बरन रूप नहि रेखा, बैठा प्रेम के छाँही रे। १०।११६।

सिंह	सिंह	अचेतन मन
गाय	गाय	इन्द्रियाँ

एक अचंभा देखा रे भाई ठाढा सिंह चरावै गाई रे। ८२।११ क० ग्र०

गंगा यमुना	गंगा यमुना	इडा पिंगला

कबीर गंग, यमुन के अन्तरे सहज सुन के घाट।

तरुवर	तरुवर	काया

तरुवर एक अनन्त डार साखा पुहुप रस भरीया। कबीर १८१।

करहा	करहा	मन

स्मृति जिमाऊँ अपनो करहा छार मुनिस की डारी रे।

क० ग्र० पृ ११२।

हस्ती (गज)　　　मन　　　उन्मन स्थिति को प्राप्त मन

गुरु प्रसाद सूई के नाकै हस्ती आवै जाही। क० ग्र० पृ० ६१

मेंढक　　　मेंढक　　　चंचल मन

मींढक सोवै सर्प पहरइया (क० ग्रन्थावली)

हंस　　　हंस　　　उन्मन-उन्मन

कह कबीर स्वामी सुख सागर हंसहि हंस मिलावे।

अहेरी　　　अहेरी　　　साधक

यौम्मनै　तुम्हरी　बन कन्दलि　मेरो मन　अहेरा खेलै।

क० ग्र०

साधना के विविध रूपों को प्रस्तावित करने के लिए सन्तों ने रूपक का प्रयोग किया है। इनमें से प्रायः सभी रूपक परम्परा प्राप्त हैं। इस सन्दर्भ में 'सूर्य' और 'चन्द्रमा' को तुम्बी के रूप में चित्रित किया गया है। चेतना को दण्डी का पर्याय माना गया है सुषुम्ना को तन्त्री के रूप में ग्रहण किया गया है।[1] कबीर ने कलाली का रूपक प्रस्तुत करते हुए ज्ञान को गुड़ ध्यान को महुआ, ब्रह्माग्नि को अग्नि रूप में चित्रित किया है। कबीर ने जुलाहे का रूपक अति व्यापक रूप में ग्रहण किया है। इस रूपक के आधार पर भी कबीर को जुलाहा सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। इस विधा का प्रयोग अन्य सन्तों ने भी किया है।[2]

सिद्ध साहित्य के सन्दर्भ में इस ओर संकेत किया गया है। वहाँ मेरु दण्ड को पर्वत का पर्याय माना गया है। उसके शिखर पर 'प्रज्ञा' नैरात्म्य (नारी)

१—गुड़ करि ग्यान ध्यान कर महुआ, भव भाठी करि भारा
　सुखमन नारी सहजि समांनीं पीवै पीवन हारा। पद ७२।

२—पुन पुन पुन लाई अब मन को, मैं बुनिहों मजपुर चरखन को।
　मन चराख सुरत कर वई, काम विनौले डाले खोई।
　नई ताक धुनकी सुधि पाई नाम पुना के दाम चढ़ाई।

सिवदयाल। सन्त काव्य।

निवास करती है। मेरु पर्वत का यह रूपक सन्तों में व्यापक रूप में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ मेरु शिखर को शून्य शिखर के रूप में स्वीकृति मिली है[1]—

दरिया सरिया गगन को मेरु उलंघा डण्ड।
दरिया मेरु उलंघ करि पहुँचा त्रिकुटी संध।
सुख माया सुख ऊपजा मिटा मर्म का धुन्ध॥
दरिया ग्रन्थावली।

सन्तों ने अभिव्यंजना शिल्प के अन्तर्गत उलटबाँसियों का प्रयोग विशेष रूप में किया है। 'सिद्धों' तत्पश्चात् 'नाथों' की रचनाओं में भी उलट-बाँसियों का प्रयोग किया गया है। इसका उल्लेख किया जा चुका है। कबीर की विवेचना के सन्दर्भ में भी इसकी चर्चा की गई है। परस्पर विरोधी धर्म वाले उपमानों के माध्यम से इनका संश्लिष्ट विधान किया जाता है। परन्तु विरोधी उपमानों में धर्म की संश्लिष्टता निरन्तर विद्यमान रहती है। यथा —

नैया बिच नदिया डूबती जाइ।

इस प्रकार विरोधी भाषा के प्रयोग से भाव या भावना विधि की व्यंजना की यह एक विशिष्ट विधा है।[2]

१—वीणापा ने भी इसी प्रकार के रूपक का प्रयोग करते हुए 'सूर्य' को तुंबा 'चन्द्रमा' को तार और 'अवधूती' को ध्वनि-रूप में ग्रहण किया है।

२—जुलाहे के रूपक का प्रयोग शान्तिपा ने (चर्यापद २६) में किया है।

दरिया मेरु उलंघ करि पहुँचा त्रिकुटी संध।
सुख माया सुख ऊपजा मिटा मर्म का धुन्ध॥
दरिया ग्रन्थावली।

२—इस परम्परा का प्रादुर्भाव बौद्धों में हुआ। सिद्धों को यह विधा बौद्ध परम्परा से प्राप्त हुई, जिसका विकास नाथों और सन्तों में मिलता है। 'दीघ निकाय' के 'तेविज्ज-सुत्त' तथा 'मज्झिम निकाय' में 'अन्ध-वेणु' की चर्चा मिलती है। यहाँ ब्राह्मणों के धर्म को अन्धों के बाँस की उपमा दी गई है—एवमेव खो मानव ! अन्ध वेणूपमं मञ्ञे ब्राह्मणं भासित (इस प्रकार हे माणवक ! ब्राह्मणों का कथन अन्धों के बाँस के समान है।) प्रचलित अर्थ के विपरीत अर्थ विधान का तात्पर्य उलटबाँसी है। परम्परावादी विचार-धारा के विपरीत अर्थ प्रतिपादन की परम्परा भी बौद्ध प्रयोग है। —देखिए, ध्यान सम्प्रदाय पृ० १८१।

कबीर तथा अन्य सन्तों ने सन्ध्या भाषा का प्रयोग किया है। सिद्धों और नाथों के समान इस सन्दर्भ की भाषा में दो अर्थों की अभिव्यक्ति है, प्रथम अभिधा और द्वितीय प्रतीक अर्थ की जिसे हम सन्ध्या-अर्थ भी कहते हैं। ऊपर कतिपय सन्ध्या शब्दों का विवरण दिया गया है। इस प्रकार सन्तों ने भी अभिसन्धि-आश्रित वाणी अथवा अभिप्राय-युक्त वाणी का प्रयोग किया है। इसका प्रयोग 'पालित्रिपिटक' या 'मज्झिम निकाय' में भी मिलता है।[1]

सन्त परम्परा पंजाब से लेकर पूर्वी मगध तक प्रसरित रही है। अतः सन्तों की रचनाओं में भिन्न भिन्न बोलियों का मानान्तर प्रवाह होता रहा है। अधिकांश सन्तों की वाणियों के संग्रह और उनके लिपिबद्ध करने का प्रयत्न इनके अनेक वर्षों पश्चात् किया गया है। अतः इनकी रचनाओं की भाषा का स्वरूप निर्धारण सम्भव नहीं है। इनकी भाषा में अनेक बोलियों का मिश्रण है। परन्तु भाषा विज्ञान के सूत्रों के आधार पर हम इनके मूल स्रोतों तक पहुँच पाते हैं। प्रत्येक कवि पर उसकी जन्म-भूमि और साधना-भूमि का विशेष प्रभाव मिलता है। पर्यटन के सन्दर्भ में सन्तों की भाषा पर अन्य स्थानों की भाषा का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। अतः इनकी भाषा के विषय में हम प्रामाणिक निर्णय नहीं ले सकते हैं। कबीर में पंजाबी और राजस्थानी तत्व यथेष्ट मात्रा में मिलते हैं, और इस कथन का समर्थन प्रमाणपूर्वक नहीं किया जा सकता कि इनकी भाषा बिहुलपूर्वी है। इनकी भाषा में पंजाबी, अरबी भोजपुरी के शब्द रूप ही नहीं अपितु क्रियापद भी पाये जाते हैं। दादू की भाषा राजस्थानी है। परवर्ती सन्त कवियों ने ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। सुन्दर दास ने साहित्यिक ब्रजभाषा का प्रयोग किया है।

काव्य विधान की दृष्टि से सन्तों की रचनायें मुक्तक परम्परा में आती हैं मुक्तक दो रूपों में मिलते हैं, साखी (दोहा) और पद। साखियाँ अंगों में

१—'एतं सन्धाय वुत्तं'—इसका अभिप्राय यह कह कर कहा गया है 'एतं सन्धाय भासितं गोतमो भुम्मं समनोति।' इस प्रकार गूढ़ अभिप्राय युक्त वाणी का प्रयोग बुद्ध उपदेशों में मिलता है। सिद्धों नाथों तथा सन्तों में इस विधा का प्रयोग काल-क्रम से सहायता से विकसित मिलता है।

देखिए, ध्यान सम्प्रदाय १९२।

विभक्त हैं। इनमें ज्ञान सामाजिक आलोचना, सिद्धान्त निरूपण के तत्व प्राप्त स्वरूप मिलते हैं। इनमें शुष्क उपदेश और ज्ञान-तत्व की प्रधानता है। पद गेय हैं, भिन्न भिन्न राग-रागिनियों में परिबद्ध हैं। इनमें भाव और अनुराग-तत्व सबल प्रेषणीयता से विभूषित हैं। ये आत्मानुभूतिपूर्ण हैं। 'रमैनी' में चौपाइयों के पश्चात् दोहे के बदले का नियोजन मिलता है। यह अपभ्रंश में उपलब्ध 'कड़वक शैली' की परम्परा की क्रिया है। सिद्धों और नाथों की छन्द-परम्परा का पालन सन्त साहित्य में यथेष्ट रूप में मिलता है। कबीर दादू तथा अन्य सन्तों ने 'पयार' छन्द का प्रयोग किया है। इस छन्द का प्रयोग सिद्धों और आंशिक रूप में नाथों ने भी किया है—

माधव जल की पियास न जाइ।
जल मह अगिनि उठी अधिकाइ॥
तू जलनिधि हउ जल का मीनु।
जल मह रहउ जलहि बिनु खीनु।
तू पिंजर हउ सुअटा तोर।
जमु मंजार कहा करै मोर। कबीर।

सन्तों की रचनायें अपनी पूर्ववर्ती परम्परा की रचनाओं के समान भिन्न-भिन्न राग-रागिनियों में लिखी गई हैं जिनमें 'गूजरी' 'गउड़ी' 'धनासिरी' 'मलहार' तथा 'भैरव' प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त 'राग कल्यान' 'राग सारंग' 'राग मारू', 'राग टोडी' 'राग केदारो' 'रागसोरठि' आदि में भी रचनायें मिलती हैं।

कबीर तथा अन्य सन्तों की रचनायें अंगों में वर्गीकृत हैं। उदाहरण स्वरूप कबीर की रचनाओं का वर्गीकरण 'गुरदेव कौ अंग' 'सुमिरण कौ अंग' बिरह कौ अंग' 'परचा कौ अंग' 'रस कौ अंग' 'जर्णा कौ अंग' 'मन कौ अंग' सहज कौ अंग' 'मधि कौ अंग' रूप में हुआ है। इस ओर सन्त साहित्य के स्वरूप विश्लेषण के अन्तर्गत संकेत किया गया है कि 'अंग' का अर्थ 'कारण' होता है। यह बौद्ध प्रयोग है। इस प्रकार का प्रयोग सर्वप्रथम बुद्धघोष द्वारा हुआ था। 'पालि त्रिपिटक' में भी इसका प्रयोग 'कारण' के अर्थ में हुआ है। इस प्रकार 'गुरदेव कौ अंग' में गुरदेव को कारण बना कर साखी की जाती है। इसी प्रकार 'परचा कौ अंग' के अन्तर्गत 'आत्मानुभूति या 'स्व-संविद ज्ञान' को कारण बनाकर साखी की जाती है।

[ख] सूफी प्रेमाख्यानक काव्य धारा

प्रेमाख्यानक काव्य का स्वरूप विश्लेषण

जायसी और उनके परवर्ती कवियों की रचनाओं का आधार ग्रहण करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निर्गुण साहित्य का एक उपविभाजन 'प्रेम मार्गी शाखा' शीर्षक से किया है। कबीर तथा अन्य सन्तों ने निर्गुण की उपासना ज्ञान के माध्यम से की है। जायसी एवं इनके वर्ग के अन्य कवियों ने निर्गुण-उपासना के लिए प्रेम-तत्त्व को स्वीकार किया। अपनी उपासना अथवा साधना प्रणाली में इन्होंने सूफी सिद्धान्तों का आधार ग्रहण किया। भक्ति-पद्धति के निरूपण में इन्होंने सूफी सिद्धान्तों की मूल चेतना को स्वीकार किया और अपनी पद्धति के निरूपण के लिए इन्होंने आख्यानक काव्य प्रणाली के अनुबन्धों को स्वीकार किया। ये आख्यानक काव्य मूलतः प्रणय अथवा प्रेम की संवेदना पर अवलम्बित हैं जिनकी कथा भारतीय लोकजीवन से ग्रहण की गई है। इनकी लौकिक कथायें अलौकिक संवेदना के भार को ग्रहण किए हैं। और ये अन्योक्तिमूलक अथवा समासोक्तिमूलक हैं।

काव्य-रूप की दृष्टि से सूफी प्रेमाख्यानक काव्य एक निश्चित भारतीय परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। इनमें अपभ्रंश और अवहट्ट तथा परवर्ती काल के आदिकाल के अन्तर्गत अपभ्रंश चरित-काव्यों की अनुचेतना पूर्णतः सुरक्षित मिलती है। चरित-काव्यों की शिला पर ही सूफी प्रेमाख्यानक कवियों की रचनायें लिखी गई हैं। इस सन्दर्भ की रचनाओं में 'पउमचरिउ' 'जय कुमार चरिउ, 'णेमिणाह चरिउ' 'भविसयत्त कहा', 'जसहर चरिउ' करकण्ड चरिउ' आदि विशेष कृतियाँ हैं। इनकी चर्चा पुस्तक के आरम्भिक पृष्ठों में हो चुकी है। इन कृतियों में भी लौकिक कहानियों पर अलौकिक तत्त्वों का आरोपण मिलता है। इन कृतियों में नायक-नायिका के प्रेम का उद्भावन गुण-श्रवण चित्र-दर्शन अथवा प्रत्यक्ष दर्शन से होता है। नायकों द्वारा सिंहल द्वीप की यात्रायें भी इनमें निर्देशित मिलती हैं। यहाँ संकेत केवल इस ओर है कि हिन्दी सूफी प्रेमाख्यान काव्यों न अपने पूर्ववर्ती आख्यानक काव्यों से उत्तराधिकार रूप में अनेक गुण उपलब्ध

किया है। कथन की स्पष्टता हेतु इन दोनों के समान तत्वों का निरूपण यहाँ किया जा रहा है—

(क) प्रेम संविदना इन दोनों में गृहीत है।

(ख) अपभ्रंश के चरित काव्यों में जैन धर्म के तत्वों का समावेश मिलता है। सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में सूफी सिद्धान्तों का निरूपण मिलता है।

(ग) सिंहल-यात्रा की उद्भावना इन प्रेमाख्यानक काव्यों में नियमित रूप से मिलती है।

(घ) अपभ्रंश की कड़वक शैली पर ही सूफी प्रेमाख्यानक काव्य रचे गए हैं। इसके अतिरिक्त स्वप्न में प्रिय मूर्ति-दर्शन स्वप्नों द्वारा भावी दुर्घटना की पूर्व सूचना, नायक या नायिका का रूप परिवर्तन मुनि का शाप नायक-नायिका के मिलन में हंस या शुक आदि का योग—इन रूढ़ियों के प्रयोग अपभ्रंश और हिन्दी, इन दोनों में समान रूप से मिलते हैं। इस प्रकार प्रेमाख्यानक काव्यों को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है।

(१) असूफी प्रेमाख्यानक काव्य —'माधवानल काम कन्दला' 'लीलावइ कहा' (प्राकृत) 'ढोला मारुरा दूहा' 'कनक सेन पद्मावती कथा' मधुमालती' (चतुर्भुज दास), रसरतन' 'सारंगसदावृज' (सदयवत्स सावलिंग कथा) 'मैनासत' 'नलदमन' धनकुमार चरिउ', 'णेमिनाह चरिउ' 'भविसयत्त कहा' 'जसहर चरिउ' 'भविसयत्त कहा', 'करकंड चरिउ' इत्यादि इस वर्ग की विशिष्ट रचनायें हैं।

(२) सूफी प्रेमाख्यानक काव्य —अमीर खुसरो ने (१२५५ १३२५ में) ईरान के फारसी कवि निजामी के 'पंजगंज' नामक 'खम्स' (पाँच मसनवियों का संग्रह) के आधार पर अपने खम्स' की रचना की थी, जिसमें 'शीरीं-खुसरू' और 'मजनू-लैला' को विशेष ख्याति मिली। खुसरो की एक अन्य मसनवी 'दुवलरानी खिजखाँ' भी प्रसिद्ध है। ये रचनाएँ मसनवी शैली में फारसी भाषा में हैं। अतः प्रस्तुत सन्दर्भ में इनकी विवेचना अपेक्षित नहीं है। प्रस्तुत सन्दर्भ के अनुसार सूफी साहित्य धारा को दो वर्गों में विभक्त करते हैं।

(क) हिन्दवी में उपलब्ध रचनायें। इनमें फारसी बहरों की परम्परा का संरक्षण मिलता है और इनकी चेतना-भूमि ईरानी या शामी है। इस परम्परा में 'कदम राव ओ पदम' (सन् १४६० ई०, निजामी) बघीरतुल अनवर'

(शाह हुसैन-सन् १६२१) संफुल्मुल्क व बदी उज्जमाल (गवासी सन् १६२९), 'नवरस (मुल्लावजही सन् १६१६ ई०) 'चन्द बदन महियार (सन् १६६०), (मुकीमी) आदि रचनायें आती हैं।

(ख) अवधी में दोहा और चौपाई की कड़वक शैली में रचित सूफी प्रेमाख्यानक काव्य। इनका परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत में अपने समय तक की अपने सन्दर्भ की कृतियों की चर्चा इस रूप में की है—

विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा।
मधू पाछ मुग्धावति लागी। गगन पूर होइगा बैरागी।
राजकुँवर कँचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ।
साध कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह बियोगू।
प्रेमावति कहँ सुरसर साधा। उषा लगि अनिरुध बर बाँधा।

इस प्रकार जायसी के पूर्व 'सपनावती' 'मुग्धावती', 'मिरगावती' 'मधुमालती' 'प्रेमावती' और 'उषा अनुरुद्ध' से सम्बन्धित प्रेमाख्यानक काव्य रचे जा चुके थे। इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि जायसी मौलाना दाऊद कृत चन्दायन (चन्दावत) से परिचित नहीं थे। हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य' पर विचार करने वाले आलोचकों ने 'चन्दायन' को सूफी प्रेमाख्यान परम्परा की कृति कहा है। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। इस सम्बन्ध में आदिकाल के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है।

चन्दायन के सन्दर्भ की शृंखला में सति मैना उ-कोर चन्दानी नामक एक कृति मिलती है। इसका रचना काल सत्रहवीं शताब्दी है। इसके रचयिता दौलत काजी और अला ओल नामक कवि हैं। इनके रचयिताओं ने यह स्पष्ट कहा है कि साधन नामक कवि की मैनासत कृति गोहारी भाषा में उपलब्ध है जिसका आधार ग्रहण कर इस काव्य की रचना सम्भव हुई है। 'मैना सत' और 'सती मैना-उ-कोर चन्दानी' की कथा में साम्य भी है। परन्तु कथा के शैथिल्य की दृष्टि से इन कृतियों में समता नहीं है। कल्पनाधारित कहानी का आधार ग्रहण कर यह प्रमाणित किया गया कि नैवाद दाऊद कृत 'चन्दायन' पर आधारित है। परन्तु यह सत्य नहीं है। यह एक स्वतन्त्र कृति है। यदि इस

दोनों कृतियों की कथाओं की समीक्षा करें तो इस तथ्य का स्पष्टीकरण हो जायगा। सूफियों के प्रेमाख्यानक काव्यों के समान यह अन्योक्ति अथवा रूपक नहीं है। इसकी कथा द्वयर्थक नहीं है।

कवि और काव्य परिचय

कुतुबन —कुतुबन प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख बुरहान के शिष्य थे। ऐसी धारणा प्रचलित है कि ये जौनपुर के शाह हुसेन के घनिष्ट थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इनका समय संवत् १५५० निर्धारित करते हैं। इनकी कृति 'मृगावती' है। इस कृति के रचनाकाल का उल्लेख कवि ने इस रूप में किया है—

बहीम होत पन्द्रह से सठी। तहीम और चौपाई कठी।

इसमें पांच चौपाइयों के कड़वक के साथ एक दोहा के धत्ता का क्रम है।

चन्द्रगिरि का राज कुमार कंचन पुर के राजा रूप मुरारि की कन्या मृगावती पर मुग्ध होता है। वह राजकुमारी के निकट पहुँचता है। राजकुमारी उड़ने की विद्या में पारंगत है। वह उड़कर अन्यत्र चली जाती है। वियोग में राज कुमार योगी बन कर भ्रमण करता है। मार्ग में समुद्र से परिवेष्ठित एक पर्वत पर पहुँच कर वह रुक्मिणी नामक सुन्दरी की रक्षा एक राक्षस से करता है। राजा रुक्मिणी से विवाह कर लेता है। वह मृगावती से भी मिलता है। एक दिन आखेट में उसकी मृत्यु हो जाती है। दोनों रानियाँ सती हो जाती हैं। यह कृति सूफी प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा की रचना है इसका स्पष्ट निर्धारण नहीं हो पाता है।

मंझन —मंझन ने मधु मालती नामक काव्य की रचना की है। इस कृति के रचना-काल का उल्लेख कवि ने प्रस्तुत पंक्तियों में किया है—

सन नौ सै बावन जब भए। सती पुरुष कलि परिहरिगए।
तब हम जिय उपजी अभिलाखा। कथा एक बाँधउँ रस भाखा।
सुरस बचन कहउँ मुहि सुने। और जो बिन्दु हिरदें महँ गुने।

× × × ×

मंझन कथा सुरस-रस सुनहु कहौं सम गाइ।
हुस्न (?) परत आखर जौ देखहु कवि मुँह लेहु सुधाइ॥

मधु मालती। ११।१६

इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट होता है कि हिजरी सन् ९५२ सन् १५४५ या वि० संवत् १६०२ में इस कृति की रचना हुई थी। इस प्रकार यह जायसी के 'पद्मावत' के पश्चात् की कृति है। जायसी की प्रस्तावना ग्रहण करते हुए आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में इस प्रकार का निष्कर्ष प्रगट किया है—'मंझन की रचना का यद्यपि ठीक-ठीक संवत् ज्ञात नहीं हो सका है, पर यह निस्संदिग्ध है कि इसकी रचना विक्रम संवत् १५५० और १५९५ (पद्मावत के रचना-काल) के बीच और बहुत सम्भव है 'मृगावती' के कुछ पीछे हुई है।' परन्तु कवि के कथन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह जायसी के पश्चात् की कृति है। ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने अपने समय के शासक का उल्लेख इस रूप में करता है—

साह सलेम जगत मा भारो। जेइं मूंजी बर मेदिनी सारी।
जो रे कोपि मैरी पौं धावै। इंदर कर इंद्रासन कांपै।
× × × ×
प्रिथिमी पति गुन बाहक दस औ चारि निधान।
पर गुन मंजन सापुरुस जस्स गरिस्ठ सुजान।
मधुमालती। १०।१०।

इस प्रकार सलीम शाह के समय इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ। सलीम शेरशाह सूर का पुत्र था। वह शेरशाह की मृत्यु के पश्चात् ९५२ हिजरी १५४५ ई० में शासक हुआ। मंझन शेख मुहम्मद गौस के शिष्य थे—

सेख बड़े जग बिधि पियारा। ग्यान गवन औ रूप अपारा।
सेवरि साउं मरत जो आवे। ग्यान साम होइ पाप गंवावे।
× + × ×
पुत्र दरसन दुरत मोचन जनि मनि दिस्टि जो मारु।
जो पुत्र सिरउ दिस्टि प्रतिपाले सो कारिजु जन राउ।
मधुमालती। पृ० १३।१३

× × × ×
खान शाह गुन औरु न जाता। दस औ चारि मंत मिपिदाता।
विक्रमो हुतग न पट कहिं न्याई। गंजन एहिं लीन मो माहीं।

दोनों कवियों की कथाओं की समीक्षा करें तो इस सत्य का स्पष्टीकरण हो जायगा। सूफियों के प्रेमाख्यानक काव्यों के समान यह अन्योक्ति अथवा रूपक नहीं है। इसकी कथा द्व्यर्थक नहीं है।

कवि और काव्य परिचय

कुतुबन —कुतुबन प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख बुरहान के शिष्य थे। ऐसी धारणा प्रचलित है कि ये जौनपुर के शाह हुसेन के आश्रित थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इनका समय संवत् १५५० निर्धारित करते हैं। इनकी कृति 'मृगावती' है। इस कृति के रचनाकाल का उल्लेख कवि ने इस रूप में किया है—

नहीस होत पनह से सठी। तहीम और चौपाई गठी।

इसमें पाँच चौपाइयों के कड़वक के साथ एक दोहा के रखने का क्रम है। चन्द्रगिरि का राज कुमार कंचन पुर के राजा रूप मुरारि की कन्या मृगावती पर मुग्ध होता है। वह राजकुमारी के निकट पहुँचता है। राजकुमारी उड़ने की विद्या में पारंगत है। वह उड़कर अन्यत्र चली जाती है। वियोग में राज कुमार योगी बन कर भ्रमण करता है। मार्ग में समुद्र से परिवेष्टित एक पर्वत पर पहुँच कर वह रुक्मिनी नामक सुन्दरी की रक्षा एक राक्षस से करता है। राजा रुक्मिनी से विवाह कर लेता है। वह मृगावती से भी मिलता है। एक दिन आखेट में उसकी मृत्यु हो जाती है। दोनों रानियाँ सती हो जाती हैं। यह कृति सूफी प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा की रचना है इसका स्पष्ट निर्धारण नहीं हो पाता है।

मंझन —मंझन ने मधु मालती नामक काव्य की रचना की है। इस कृति के रचना-काल का उल्लेख कवि ने प्रस्तुत पंक्तियों में किया है—

सन नौ से बावन जब भए। सती पुरुष कलि परिहरिगए।
तब हम जिय उपजी अभिलाखा। कथा एक बांधउं रस भाखा।
सुरस वचन कहवां कहि सुने। और जो किछु हिरदें महं गुने।

× × × ×

मंझिल कथा सुरस-रस सुनहु कहौं सम माइ।
हुस्न (?) परत आखर जो देखहु कवि मुँह लेहु लगाइ॥
मधु मालती। ११।११

इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट होता है कि हिजरी सन् ९५२ सन् १५४५ या वि० संवत् १६०२ में इस कृति की रचना हुई थी। इस प्रकार यह जायसी के 'पद्मावत' के पश्चात् की कृति है। जायसी की प्रस्तावना ग्रहण करते हुए आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में इस प्रकार का निष्कर्ष प्रकाश किया है—'मंझन की रचना का यद्यपि ठीक-ठीक संवत् ज्ञात नहीं हो सका है पर यह निस्सन्देह है कि इसकी रचना विक्रम संवत् १५५० और १५९५ (पद्मावत के रचना-काल) के बीच और बहुत सम्भव है 'मृगावती' के कुछ पीछे हुई है।' परन्तु कवि के कथन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह जायसी के पश्चात् की कृति है। ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने अपने समय के शासक का उल्लेख इस रूप में करता है—

साह सलेम जगत मा भारी। मेरु मूँठी कर मेदिनी सारी।
जौ रे कोपि पैरी पौं धारै। इंदर कर इंद्रासन काँपै।
× × × ×
सिरसिंगी पति भूप दाइक दस औ चारि निधान।
पर भुअ मंझन सापुरुस मत्स्य मरिस्ट सुजान।
मधुमालती। १०।१०।

इस प्रकार सलीम शाह के समय इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ। सलीम शेरशाह सूर का पुत्र था। वह शेरशाह की मृत्यु के पश्चात् ९५२ हिजरी १५४५ ई० में शासक हुआ। मंझन शेख मुहम्मद गौस के शिष्य थे—

सेख बड़े जग बिमि पिआरा। ग्यान गरुअ औ रूप अपारा।
संवरि नाउँ परछे जो आवै। ग्यान काम होइ पाप नसावै।
× + × ×
गुरु दरसन दुख मोचन कलि कलि सिस्टि को नाउ।
जो गुरु मिलय दिसि प्रतिपालै सो चाहिउँ गुन राउ।
मधुमालती। पृ० १६।१५
× × × ×
खान खाइ मुख और न जाता। दस औ चारि भेद सिखिदाता।
जिसमो हरख न घट नहिं जाई। संवत एहिं कीरति की नाईं।

दाता औ गुन गाहक गौस मुहम्मद पीर।
दुई कुल निरमल सापुरुस गरुअ गरिस्ट गंभीर ।१५।१५।

कवि रचना की भूमिका में परम शक्ति की वन्दना करता है।

प्रेम प्रीति सुखनिधि के दाता। दुई जग एकोंकारि बिधाता।
बुधि अगास नाहीं तुम ताईं। तुम अस्तुति के करै गोसाईं॥

× × × ×

तीनि भुवन कर घट महँ अनबन रूप बेकास।
एक जीभि कहु ताहि कै कैसे अस्तुति करै हुलास।

मधुमालती १।१

कवि परम शक्ति को मुहम्मद का पर्याय मानता है। मुहम्मद सृष्टि का हेतु है। सम्पूर्ण जग उसकी छाया प्रछाया के रूप में है। परम शक्ति अलख है। मुहम्मद उसी का प्रकट रूप है (८ ६)। इसके पश्चात् कवि अपने मित्रों का परिचय देता है।¹ इसके पश्चात् अपने युगीन शासक शाह सलीम की प्रशंसा करता है (११ १३)। तत्पश्चात् अपने गुरु शाह गौस मुहम्मद का स्मरण करता है और उनकी प्रशंसा करता है (१४ १५ १६ २२)। 'मधुमालती' की कथा का आरम्भ करते हुए कवि निम्नलिखित रूप में प्रस्तावना करता है—

पंडित सुनु बिनती यह मोरी। बिनवौं पाय लागि कर जोरी।
जौ मत बचन सराहि न जाई। मोहि न दूसहु दोस लगाई।
जौ पढ़ि बचन भला किछु भेंटहु। दोस लाइ जन मोहि उघेलहु।

× × ×

मूरख जौ रे उघेलहि तेहिक नाहिं मोहिं सोच।
कवि जग ताकर औगुन भरम लाइ यह पोच। ४१।

१—अब सुनु चहूँ मीत कै बाता। सब गियान सास्तर के ग्याता।
प्रथमहिं अबाबकर परवानाँ। सत गुर बचन मंत्र जिय जाना।
दूजें उमर नियाव के राजा। जेइ सुत पिते हना बिधि काजा।
तीजें अमर राउ उसमाना। जेइ रे भेद बेद का जाना।
चौथे अली सिंघ बहु गुनी। दान सरम जेइ साथी पुनी।।६।।

कथा का आरम्भ कवि ४४ वें कड़वक से करता है। कथा के आरम्भ में कवि इस ओर संकेत करता है कि इस कृति में प्रस्तावित कथा द्वापर की है, जिसे कवि ने कलियुग में भाषा-बद्ध करने का प्रयास किया है—

आदि कथा द्वापर चलि आई। कलियुग मह भाखा कै गाई।
महह कनै गिरि नगर सोहावा। जनु कविलासु उतरि भुइँ आवा।
सुरज भानु तहं राउ बखानों। नौ खंड सात दीप जग जाना।

× × ×

बिधि परसाद पूर सबही निधि मन मन इछ मैमंत।
सुत बिना पै रैनि न्दि राजा के चित चिंत। ४४।१७।

इस कृति की कथा इस प्रकार है—मनोहर कनैगिरि गढ़ नगर के राजा सूरजभान का पुत्र था। चौदह वर्ष की अवस्था में एक निशा में उसके रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध होने के कारण मधुमालती की सखी अप्सरा उसे निद्रित अवस्था में महारसनगर की राजकन्या मधुमालती के पास ले गई। मधुमालती को देखकर इसके मन में उसके प्रति पूर्व जन्म की प्रीति जाग्रत हुई। राजकुमारी के प्रति राजकुमार में भी आकर्षण भाव जाग्रत हुआ।

प्रेम-स्फुरण के पश्चात् अप्सराएँ राजकुमार को पुन उसके स्थान पर पहुँचा देती हैं। राजकुमार और राजकुमारी में विप्रलम्भ-संविग्ना जाग्रत हुई। एक प्रातः कुमार ने मधुमालती की प्राप्ति की अनुप्रेरणा से दल तथा परिग्रह के साथ प्रस्थान किया। चार मास तक जलयान में यात्रा करने के पश्चात् जलयान भ्रमर में पड़ गया। जल-यान खण्डित हो गया। केवल कुमार बच रहे। समुद्र की लहरों से वे तट पर आ गए। कुमार ने समीपवर्ती वन में प्रवेश किया। वहाँ एक चौखण्डी मिली, जिसमें एक शैय्या पर एक कुमारी मिली। यह कुमारी चित्रबिसरांव नगर के राजा चित्रसेन की कन्या थी। उसका नाम पेमा था। उसका अपहरण एक राक्षस ने किया था। पेमा मधुमालती की सहेली थी। कुमार राक्षस का वध करता है, और पेमा की रक्षा कर चित्रबिसरांव नगर जाता है। वहाँ मधुमालती राजकुमार से मिलती है। परन्तु अपनी माता के भय के कारण मधुमालती कुमार को सोते छोड़ अपने घर के लिए प्रस्थान करती है। मधुमालती अपने व्रत पर दृढ़ है, और राजकुमार के प्रति उसका आकर्षण अति प्रबल आवेग धारण करता जाता है। उसकी माँ क्रोध से उस पर मंत्र के साथ

दाता

दुई कुल

कवि रचना

प्रेम

गुनि

है। शङ्कर ताराचन्द नामक एक सम्य

है। वह पक्षी (मधुमालती) को पिंजर

से अपनी व्यथा प्रस्तुत करती है। मधु

करने की चेष्टा में वह सफल होता है।

होता है। वह मधुमालती को लेकर

के उपसंहार में कहता है—

सती कराई। पुर्ल मारि प्रेम सती कराई।

न पारेहें। सही मरिहि बै कलि औतारेहें।

सुभाऊ। जो मरि जिए सो मरै न काऊ।

तेहि निडर न काऊ। जो जग पेम सजीवन पाऊ।

पेम अमिय पै पारउ बाचा। पेम काल तेहि आव न साँसा।

तेहि जो पेम करे कपाट

जोबी सहस पेम है

[३१]

है।

सृजन में शक्ति के हित प्रेम

प्रेम अन्तर में प्रम

सम्य रहता सत्य है (

है वह सृष्टि को

करता है (१०)।

का सृजन सृष्टि के साथ

में अमरता का वास है—

सिरिस्टि मूल निरगुन नाम अस

पेम पदारथ जगत अमोला।

× ×

पेम बिना काके घट बारा।

प्रेम की साधना के लिए मंझन योग-मार्ग का भी प्रस्तावन करते हैं, जिसके अन्तर्गत प्राणायाम साधना की चर्चा वे करते हैं—

सब गुरु करम जात जिमु भाई । निरगुन रूप बसु जो साई ।
तन ही उलट लेहि गहि स्वासा । गगिनि दीप के जोत प्रकासा ।
सरके पवन अगिनि उम्परई । तो कलंक काया कर जरई ।
तो जनि सरब नास सुनि होई । जो लहि प्रगट पाई सुख सोई ।
जो तेही सुनि सों पद भाषा । ताही जोति भीतर परकासा ।

१२ ।

इस संदर्भ में मंझन भावों में उपलब्ध काया-दमना प्रणाली की चर्चा भी करते हैं । काया विवर्जित साधना के प्रति वे आग्रह प्रगट करते हैं । इनके अनुसार समाधि में ही आत्मसाक्षात्कार सम्भव है । इस परिभूमि में ही निर्गुण, निरंजन की अनुभूति सम्भव हो सकती है । यहीं आत्मा से आत्मा (स्वमन से परमन) का परिचय हो सकेगा (११) । प्रेम में आत्मसमर्पण से ही अमरत्व-लाभ सम्भव है । जो प्रेम में समन्वित है, वह कालजयी है—

अमर न होय कोइ जग हारे । मरि जो मरै तेहि मीचु न मारै ।
पेम के आगि सही जेइँ आँचा । सो जग जनमि काल सेउँ बाँचा ।

× × ×

मिरितु क (एक) जंजिर होइ गया । निहचै अम्मर ताहि कै भया ।

११८ ।

'मधुमालती'[1] के सम्पादक डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त इस 'मर कर अमर होने की भावना' पर ही 'मधुमालती' में भक्ति-स्वरूप का निर्धारण करते हुए कहते हैं 'मधुमालती की सारी कहानी इसी प्रकार मर-मर अमर होने की कहानी है । अप्सराओं की कृपा से प्रथम साक्षात्कार होने के बाद ही सुप्तावस्था में नायक नायिका से अलग कर दिया जाता है और वह मरण के कष्टों का अनुभव करता है । पेमा के प्रयत्नों से उसे नायिका से पुनर्मिलन का सौभाग्य प्राप्त होता है किन्तु नायिका की माता दोनों को सुप्तावस्था में अलग कर देती है, और वह पुन

---

१ मधुमालती—सम्पादक—डॉ० माताप्रसाद गुप्त-मित्र प्रकाशन इलाहाबाद, १९६१ भूमिका पृ० ५१ २६ ।

बस फँसती है। वह पक्षी होकर उड़ जाती है। उड़कर ताराचन्द नामक एक अन्य राजकुमार के बड़ पर वह आ बैठती है। वह पक्षी (मधुमालती) को पिंजर बद्ध कर लेता है। मधुमालती (पक्षी) ताराचन्द से अपनी व्यथा प्रस्तुत करती है। मधुमालती को पुनः मानव शरीर में परिवर्तित करने की चेष्टा में वह सफल होता है। मनोहर के साथ मधुमालती का विवाह होता है। वह मधुमालती को लेकर अपने राज्य लौटता है। कवि कथा के उपसंहार में कहता है—

> उतपति आन केती चलि आई। पुर्ब मारि प्रब सती कराई।
> मैं छोहन्ह् येहि मारि न पारेउँ। यही मरहि जे कलि औतारेउँ।
> सत सुनौ संसार सुभाऊ। जो मरि जिए सो मरै न काऊ।
> सकति काल तेहि निअर न आऊ। जो जग पेम सजीवन पाऊ।
> पैम अमिअ जे पाइअ बासा। तेस काल तेहि आव न पांसा।
> जेहि मौ पेम अमी सौं परिचै करै कपार।
> आँपी सहुस बरस कवी से निमहिं पैम अपार।
> [५१८ ब]

मंझन ने भक्ति के लिए प्रेम-तत्त्व को स्वीकार किया है। उनका स्पष्ट वक्तव्य है कि प्रेम संसार में अमोल रत्न है। जिसके हृदय में प्रेम है उसका संसार में जन्म धारण करना धन्य है (२८)। जिसके हृदय में प्रेम रेखा से संश्लिष्ट चित्र बन जाता है वह सृष्टि को ब्रह्म-मय देखता है। और इस ब्रह्म ज्ञान से वह आत्मदर्शन करता है (३०)। प्रेम की तीव्र अनुभूति के लिये विरह अपेक्षित है। विरह का सृजन सृष्टि के साथ-साथ ही हुआ। प्रेम-दीप से आलोकित अन्तस् में अमरता का वास है—

> सिस्टि मूल बिरहा जग आवा। पै बिनु पुन्न पुन्नि को पावा।
> पैम पदारथ अमल अमोला। निहचै जिवं आनहु यह बोला।
>
> × × × ×
>
> पैम दिया जाकें घट बारा। तैहिं सब आदि अन्त उजियारा।
> बिरह जीउ जेहि के घट होई। सदा अमर रहै मरै न सोई।
> २१।२३।

प्रेम की साधना के लिए संमत योग-मार्ग का भी प्रस्तावन करते हैं, जिसके अन्तर्गत प्राणायाम साधना की चर्चा वे करते हैं—

अब सुनु करम बात सिधु भाई। निरगुन रूप जैसु ओ आई।
उन सों उरध सेहि गहि स्वासों। ससिनि होय कै डोल बतासा।
उनकै पवन असिनि उरमाई। तौ कर्षक काया कर आई।
तौ ससि सरग पाव पुनि होई। औ सहि कस्ट महँ दुख सोई।
औ तेहि पुनि सो कर भाखा। ताही जोति भीतर अभिलाखा।

१२।

इस संदर्भ में संमन नाथों में उपलब्ध काया-साधना प्रणाली की चर्चा भी करते हैं। काया विवर्जित साधना के प्रति वे आग्रह प्रकट करते हैं। इनके अनुसार समाधि में ही आत्मसाक्षात्कार सम्भव है। इस परिभूमि में ही निर्गुण निरंजन की अनुभूति सम्भव हो सकती है। यहीं आत्मा से आत्मा (स्वमन से परमन) का परिचय हो सकेगा (१३)। प्रेम में आत्मसमर्पण से ही अमरत्व-लाभ सम्भव है। जो प्रेम में अवस्थित है, वह कालजयी है—

अमर न होत कोइ जग हारे। मरि जो मरै तेहि मीचु न मारै।
पेम कै आगि सही जेई आंचा। सो जग जनमि काल सेऊं बांचा।

× × ×

विरिखु क (फल) अंमित होइ गया। जिहुवें अम्बर ताहिके भया।

२१८।

मधुमालती'[1] के सम्पादक डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त इस 'मर कर अमर होने की भावना' पर ही 'मधुमालती में भक्ति-स्वरूप का निर्धारण करते हुए कहते हैं 'मधुमालती की सारी कहानी इसी प्रकार मर-मर अमर होने की कहानी है। अप्सराओं की कृपा से प्रथम साक्षात्कार होने के बाद ही सुप्तावस्था में नायक नायिका से अलग कर दिया जाता है और वह मरण के कष्टों का अनुभव करता है। पेमा के प्रयत्नों से उसे नायिका से पुनर्मिलन का सौभाग्य प्राप्त होता है किन्तु नायिका की माता दोनों को सुप्तावस्था में अलग कर देती है, और वह पुन

---

१ मधुमालती—सम्पादक—डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त-मित्र प्रकाशन इलाहाबाद १९६१ भूमिका पृ॰ २५ २६।

मरण के कष्टों का अनुभव करता है। उसका तीसरी बार का मरना ही नायिका से मिलन उसकी जन्म-जन्मान्तर की आकांक्षा को पूर्ण करता है और उसका स्थायी मिलन प्रमाणित होता है।

काव्य शिल्प की दृष्टि से यह कड़वक शैली की कृति है। इसके प्रत्येक कड़वक में पाँच चौपाइयों के पश्चात् दोहे के क्रम में एक घत्ता का क्रम है। जायसी कुतबन तथा इस सन्दर्भ के अन्य सूफी कवियों ने रानियों के सती होने का उपक्रम किया है, परन्तु मंझन इस प्रकार की योजना नहीं करते हैं। इसका स्पष्टीकरण करते हुए मंझन ने कहा है—

उतपति जग भेटी कलि आई। पुरुष मारि ब्रम सती कराई।
मैं सोहन एहि मार न मारेउँ। सही मरिहि जो कलि औतारेउ।
संसार सुभाऊ। जो मरि जिए सौ मरे न काऊ।

इस प्रकार सती प्रसंग का सन्दर्भ इस कृति में नहीं ग्रहण किया गया है।

सूफी प्रेमाख्यान का काव्यों में विप्रलम्भ-संवेदना निरूपण के सन्दर्भ में बारहमासा, की योजना का पालन एक नियमित परिपाटी के रूप में किया गया है। यह परम्परा अपभ्रंश के चरित तथा प्रेमाख्यानक काव्यों में भी प्रस्तावित की गई और इस परम्परा का स्पष्ट संरक्षण आलोच्य कृति में भी किया गया है। मंझन ने बारह मासे का आरम्भ सावन से किया है। यह अंश 'फागुन' के उद्दीपन-स्वरूप को प्रस्तावित करता है—

फागुन सखी चिपति गुनु मोरी। विरह अगिनि तन जरि भा होरी।
तन्ह पात कर रहा न माउँ। कानहु जरे विरह के वाउँ ४०१।३६७।
धूमर माम सखी गुनु बाता। पिउ बिदेस मोहि बिरह संघाता।
किमि निरवाहौं दुसह सियाका। पिउ न सेज मैं जोबन बाका।
विरह मारि पर बैसी काका। रैनि भर्मे सिर बरिसै पाका।[1]
४०८।३६८

---

१ (क) कवि बनारसी दास ने 'मधुमालती' और 'मृगावती का उल्लेख करते हुए कहा है वे इन पोथियों का पाठ रात्रि में (जौनपुर में) किया करते थे—

तब घर में बैठे रहैं जाहिं न हाट बजार।
मधुमालति मिरगावति पोथी दोइ उदार।
ते बाँचहि रजनी समैं आवहि नर दस बीस।
गावहिं अरु बातहिं करहिं, नित उठि देहिं असीस—
अर्द्ध कथानक—नाथूरामप्रेमी पृ १८।

मलिक मुहम्मद जायसी — मीर हसन देहलवी ने अपनी मसनवी 'रिमुजल आरिफ़' (र मूजे-उल-आरफ़ीन) में जायसी के विषय में इस प्रकार लिखा है—

थे मलिक नाम मुहम्मद जायसी ।
वह कि पदमावत जिन्होंने है लिखी ।
मर्द आरिफ़ थे वह और साहब कमाल ।
उनका अकबर ने किया दरयाफ़्त हाल ॥
होके मुश्ताक बुलवाया सिताब ।
ताके हो सोहबत से उनकी फ़ैज़याब ॥

—नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग २१।१९४४ ४९।

इस सन्दर्भ के अनुसार जायसी अकबर के समकालीन थे। परन्तु अब तक की उपलब्ध समग्र सामग्रियों में से किसी के आधार पर इसका समर्थन नहीं होता है। 'आखिरी कलाम' नामक कृति में अपने जन्म-काल का उल्लेख करते हुए कवि ने कहा है—

भा अवतार मोर नव सदी। तीस बरिस ऊपर कवि बदी।

अर्थात्, मेरा जन्म ९०० हिजरी (सन् १४९४) में हुआ था और तीस वर्ष के पश्चात् (अवस्था में) मैंने काव्य प्रणयन किया। इस ग्रन्थ में जायसी एक अन्य महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख करते हैं —

आवत उधत चार बिधि ठाना ।
भा भूकम्प जगत अकुलाना । आखिरी कलाम ४।१२।

इस प्रकार जायसी का जन्म नवीं सदी हिजरी (१३९९ १४९४) के मध्य हुआ। परन्तु इससे यह अर्थ नहीं लिया जा सकता कि जायसी ९०० हिजरी के आरम्भ में ही हुए थे। जायसी ने ऊपर की पंक्ति में एक भूकम्प का उल्लेख किया है। इस वर्णन के आधार पर यह अर्थ लिया जाता है कि जायसी के जन्म समय पर भूकम्प आया था। इतिहास के प्रमाण के आधार पर यह उल्लेख प्रामाणिक सिद्ध नहीं होता है। परन्तु यहाँ एक प्रश्न उत्पन्न होता है। भूकम्प जायसी के जन्म के अवसर पर आया था अथवा जब वे 'आखिरी कलाम' की रचना कर रहे थे, उस समय भूकम्प आया था। मेरी धारणा है कि जन्म-

प्रणयन के समय के भूकम्प का उल्लेख जायसी अपनी इस कृति में करते हैं। स्पष्टीकरण के लिए मैं पुनः इन पंक्तियों को प्रस्तुत करता हूँ—

भा अवतार मोर नव सदी। तीस बरिस ऊपर कवि बदी।

आवत उधत चार बिधि ठाना। भा भूकम्प जगत अकुलाना।

'भूकम्पक' की घटना का सम्बन्ध 'तीस बरस ऊपर कवि बदी' से ही लगता है। मनेर शरीफ से 'पद्मावत' की जो प्रति प्राप्त हुई है उसमें अखरावट की पोथी भी सम्मिलित है। यह प्रति शाहजहाँ कालीन है। 'अखरावट' की पोथी के अन्त में ६११ हिजरी का उल्लेख है। यह मूल प्रति की प्रतिलिपि है। अतः 'अखरावट' का रचना काल ९११ हि॰ सन् १५०५ ई॰ है। इस समय एक भूकम्पक आने का वर्णन इतिहास ग्रन्थों में मिलता है।[1] यदि इस निष्कर्ष को हम स्वीकार करते हैं तो जायसी का जन्म सन् १४७५ ई॰ में हुआ था। जायसी ने 'पद्मावत' की रचना तिथि का उल्लेख इस प्रकार किया है—

सन नव से सैंतालिस अहै। कथा आरम्भ बैन कवि कहै।

पद्मावत माता प्रसाद गुप्त ।१८।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जायसी ग्रन्थावली के प्रथम संस्करण में ६४७ पाठ स्वीकार करते हैं, परन्तु द्वितीय संस्करण में वे ९२७ (१५२०) पाठ स्वीकार करते हैं।

इस तिथि से शेरशाह के राज्य संवतों से सामञ्जस्य स्थापित नहीं हो पाता है। श्री गोपाल चन्द्रसिंह की प्रति में ९२७ पाठ है। कला भवन (कैथी अक्षरों में) की प्रति में सन नौ से छत्तीस जब रहा' पाठ मिलता है। बिहार शरीफ खाम पुस्तकालय की सुरक्षित प्रति में ६४८ पाठ है। परन्तु 'पद्मावत' में प्रस्तावित उसके रचना-काल से जायसी की जन्म तिथि का स्पष्ट संकेत नहीं मिलता है। इस प्रकार यदि हम इस विचार को स्वीकार कर सके कि भूकम्प की घटना 'आखिरी कलाम' की रचना के समय घटी थी, तो जायसी का जन्म लगभग ८८१ हिजरी या सन् १४७५ ई॰ में हुआ था। सन् १५०५ में उन्होंने 'आखिरी कलाम' की रचना की, तथा सन् १५२१ में उन्होंने 'पद्मावत' की रचना की थी। यदि 'पद्मावत' के रचना-काल के रूप में 'सन नव सै सैंतालीस' को स्वीकार करते हैं,

---

1—देखिए-पद्मावत प्राक्कथन-पृष्ठ-११ डॉ॰ वासुदेव शरण अग्रवाल।

तो यह निष्कर्ष निकलता है कि 'पद्मावत' का प्रणयन जायसी ने सन् १५५२ ई० में आरम्भ किया। प्रथम सन्दर्भ के अनुसार 'पद्मावत' के रचना-काल के समय इसकी आयु ५७ वर्ष की थी, और द्वितीय के अनुसार 'पद्मावत' के रचना-काल के समय इनकी आयु ७७ वर्ष की थी। इस सम्बन्ध में 'पद्मावत' के सन्दर्भ में विचार किया गया है।

जायसी का स्थान

जायसी के जन्म-स्थान का निर्धारण भी अभी तक सम्भव नहीं हो सका है। 'पद्मावत' (स्तुति खण्ड) में जायसी ने 'जायस' का उल्लेख इस प्रकार किया है।

जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू। १।

इस सन्दर्भ से यह अर्थ निकाला जाता है कि 'जायस नगर' जायसी के लिये (सूफी सम्प्रदायक के लिए) धर्म-स्थान था। किसी अन्य स्थान से इस धर्म स्थान पर आकर कवि जायसी ने 'पद्मावत' का प्रणयन किया। 'आखिरी कलाम' में भी कवि जायसी ने इसी प्रकार कहा है—

जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क नाव आदि उदयानू।
तहाँ दिवस दस पहुने आएउं। भा बैराग बहुत सुख पायउं। १४२।१०।

इस सन्दर्भ में भी जायसी ने किसी अन्य स्थान से आकर जायस में बसने का उल्लेख किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यह धारणा है जायसी जायस के ही रहने वाले थे। 'पद्मावत' का आरम्भ उन्होंने जायस में ही किया था। कुछ समय के लिए वे जायस से कहीं अन्यत्र चले गए थे। फिर जायस आकर इन्होंने इस ग्रन्थ की पूर्ति की। परन्तु कतिपय विद्वानों ने इस प्रकार के पाठ की प्रस्तावना की है— 'तहवाँ यह कवि कीन्ह बखानूं'। देखिए-जायसी ग्रन्थावली डॉक्टर माता प्रसाद गुप्ता, पृ० १३४। 'जायस नगर धरम अस्थानू। तहवाँ यह कवि कीन्ह बखानू।' 'पद्मावत' पृ० २२, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल। पं० सूर्यकान्त शास्त्री ने जायसी को जायस नगर के कंचाना मुहल्ले का निवासी माना है (पद्मावती भूमिका पृ० ५)। इस

प्रकार की भी प्रस्तावना की गई है कि जायसी गाजीपुर के निवासी थे। वहाँ से वे मानिकपुर (प्रतापगढ़) में अपने ननिहाल में आकर बस गए थे। (देखिए–नागरी प्रचारिणी पत्रिका; भाग १४, संवत् १९९१) । इस प्रकार जायसी के जन्म-स्थान के विषय में हम स्पष्ट निर्णय नहीं ले सकते हैं।

ऐसी अनुश्रुति है कि जायसी कुरूप और काने थे। इस का उल्लेख जायसी ने स्वयं इस प्रकार किया है—

एक नयन कवि मुहम्मद गुनी। सोइ बिमोहा जेइ कवि सुनी।
चाँद जइस जग बिधि औतारा। दीन्ह कलंक कीन्ह उजियारा।
जग सूझा एकइ नैनाहाँ। उवा सूक अस नखतन्ह माहाँ।

× × × ×

एक नैन जस दरपन औ तेहि निरमल भाउ।
सब रुपवंत पायँ गहि, मुख जोवहिं कै चाउ।

जायसी ने इस कथन की आवृत्ति भी की है—'मुहमद बाईं दिसि तजी एक सरवन एक आँखि'।[1]

जायसी की गुरु-परम्परा

मलिक मुहम्मद जायसी निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा में थे। इस परम्परा की दो शाखाओं का उल्लेख मिलता है प्रथम—मानिक पुर-कालपी, द्वितीय—जायस की। इस परम्परा को इस क्रम में प्रस्तावित किया जाता है—

१—इस प्रकार की अनश्रुति है कि शेरशाह अपने दरबार में जायसी को देख कर हँसा था। जायसी ने प्रश्न किया—मोहि का हँससि कि कोहरहि ? अर्थात यह हँसी मुझपर है अथवा कुम्हार पर (सृजन कर्ता) पर। शेरशाह इस पर अत्यन्त लज्जित हुआ।

शेख निजामुद्दीन औलिया (मृत्यु सन् १३२५ ७२५ हिजरी)।
- शेख सिराजुद्दीन।
  - शेख अलाउल हक।
    - शेख कुतुब आलम (सन् १४१५)।
      - शेख हुसामुद्दीन (मानिकपुर)।
        - सैयद राजे (हामिदशाह)।
          - शेख दानियाल।
            - शेख मुहम्मद।
              - शेख अलहदाद।
                - शेख बुरहान (कालपी)।
                  - शेख महदी।
                    - मलिक मुहम्मद जायसी।
    - जायस
      - शेख अशरफ जहाँगीर।
        - शेख हाजी।
          - शेख मुहम्मद या मुबारक।
          - शेख कमाल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार जायसी के दो गुरु थे प्रथम—मुहीउद्दीन द्वितीय—सैयद अशरफ। इन परम्पराओं का उल्लेख जायसी ने 'पद्मावत' में इस प्रकार किया है—

(१) सैयद असरफ पीर पियारा। जेहि मोहि पन्थ दीन्ह उजियार॥

(२) गुरु मोहिदी सेवक मैं सेवा। चलै उताइल जेहि कर खेवा॥

परन्तु 'आखिरी कलाम' में कवि केवल 'अशरफ जहाँगीर' का ही स्तवन करता है। वास्तविकता यह है कि सूफी सन्त अशरफ की मृत्यु ८०८ हिजरी में ही हो चुकी थी। जायसी उनके अनेक वर्षों पश्चात् हुए थे। वस्तुस्थिति के स्पष्टीकरण के लिए विद्वानों का ध्यान मैं इस तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ। जायसी अपने को जहाँगीर चिश्ती की परम्परा के अन्तर्गत मानते है। यथा—सैयद असरफ पीर पियारा, तिन्ह मोहि पन्थ दीन्ह उजियारा।

जहाँगीर ओइ चिस्ती, निहकलंक जस चाँद ।
ओइ मखदूम जगत के, हौं उन्हके घर बाँद ।

अर्थात्, चिस्ती वंश के जहाँगीर संसार के स्वामी और चन्द्रमा के सम निष्कलंक थे। जायसी अपने को इसी परम्परा का सेवक मानते हैं। जहाँगीर की परम्परा में हाजी शेख हुए। इनके घर में दो दीपक-रत्न हुए, प्रथम शेख मुबारक और द्वितीय शेख कमाल। इतना उल्लेख करने के पश्चात् जायसी अपने गुरु की चर्चा इस क्रम में करते हैं—

गुरु मोहदी सेवक मैं सेवा। चलै उताइल जिन्ह कर खेवा।
'चित्र रेखा' में जायसी शेख मोहदी को ही अपना गुरु मानते हैं।

महदी गुरु शेख बुरहानू। कालपि नगर तेहिक अस्थानू।
सो मोरा गुरु, हौं तिन्ह चेला। धोवा पाप पानि सिरि मेला।

चित्ररेखा ७०

जायसी ने 'पद्मावत' में अपने चार मित्रों का उल्लेख विशेष उत्साह से साथ किया है। मलिक यूसुफ सालार कादिम सलोने मियाँ और बड़े शेख[1]

१—चारि मीत कवि मुहम्मद पाए। जोरि मिताई सीरि पहुँचाये।
यूसुफ मलिक जो पंडित ग्यानी। पहिलै भेद बात उन्ह जानी।।
पुनि सलार कादन मति माहाँ। खाँडे दान उभै नित बाहाँ।
मियाँ सलोने सिंघ अपारू। बीर खेत रन खरग जुझारू।।
सेख बड़े बड़ सिद्ध बखाने। कइ अदेस सिद्धन्ह बड़ माने।
चारिउ चतुर दसौ गुन पढ़े। औ संग जोग गोसाँई गढ़े।।
बिरिछ जो आछहिं चन्दन पासा। चन्दन होहिं भेद्य तिहि बासा।
मुहम्मद चारिउ मीति मिलि भए जो एकइ चित्त।
एहि जग साथ निबाहा औहि जग बिछुरन कित्त।

यूसुफ पट्टी 'कांचना' के निवासी थे। सालार कादिम 'सालार पट्टी' के निवासी थे। ये शाहजहाँ के समय तक जीवित थे।

—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २१ पृ०२१ १६।

जायसी की मृत्यु अमेठी के निकट समीपवर्ती जंगल में किसी दुर्घटना के कारण ९४९ हिजरी में हुई मानी जाती है।

जायसी की रचनायें

[क] पद्मावत —पद्मावत के रचनाकाल का उल्लेख करते हुए जायसी ने लिखा है—

'सन नौ सौ सैंतालिस अहै। कथा अरंभ बैन कवि कहै।

इस अंश के अनेक पाठान्तर भिन्न भिन्न प्रतियों में मिलते हैं अर्थात् 'नौ से सत्ताइस, और नौ सौ पैंतालीस' रूप भी मिलते हैं। इसकी चर्चा की जा चुकी है। इस सम्बन्ध में हम निश्चयात्मक निर्णय नहीं ले सकते हैं। इनमें से कौन सी तिथि उचित है इसका निर्धारण सम्भव नहीं हो सका है। समस्या के समाधान हेतु किए गए प्रयत्नों में 'नौ से सेंतालीस' को ही रचना के मूल पाठ के रूप में स्वीकृति का आग्रह किया गया है। जायसी ने दिल्ली के सुल्तान और शाह-शाह के रूप में शेरशाह का अभिनन्दन किया है[1]। परन्तु सन् ९२७ में शेरशाह एक साधारण जागीरदार था। उसने सन् हि० ९४६ में चौसा में हुमायूं को पराजित किया, तथा ९४७ में कन्नौज में हुमायूं को पुन पराजित कर वह दिल्ली का स्वामी बना। अतः सन् ९४७ हि० ही पद्मावत का प्रणयन-काल सिद्ध होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यह धारणा है कि कवि ने सन् ९२० में कथा का आरम्भिक अंश ही कहा था और उसे शेरशाह के समय पूरा किया। परन्तु ९२७ में कथा आरम्भ करके शेरशाह की प्रशंसा का क्या कारण है यह स्पष्ट नहीं हो पाता[2]।

इस सन्दर्भ में यह भी प्रस्तावित किया गया है कि ९२७ तिथि एक प्राचीन बंगला रूपान्तर में भी मिलती है। अतः यही तिथि 'पद्मावत' की रचना-तिथि

१—शेरशाह दिल्ली सुलतानू। चारिउ खण्ड तपै जस भानू।

× × ×

ओ अति गरब पुहुमिपति भारी। टेकि पुहुमि सब सिस्टि सँभारी।

दीन्ह असीस मुहम्मद करहु जुगहि जुग राज।

पातसाहि तुम जग के जग तुम्हार मुहताज ॥१३॥

२ देखिए-पद्मावत-भूमिका-पृ० १० डॉ० माता प्रसाद गुप्त।

है। इस प्रस्तावना को अस्वीकार करते हुए डॉ० माताप्रसाद गुप्त यह संकेत करते हैं, 'आसाफ़ोस का किया हुआ यह भाषान्तर जायसी की अपनी प्रति के पाठ को लेकर किया गया है, ऐसा भाषान्तरकार ने कहीं नहीं कहा है, और प्रतिलिपियों में एक पाठ ९२७ मिलता ही है इसलिए अधिक से अधिक नहीं कहा जा सकता कि उक्त भाषान्तर 'पद्मावत्' को जिस प्रति से किया गया है उसमें पाठ ९२७ था[1]। आचार्य शुक्ल ९२७ पाठ के समर्थन में कहते हैं 'कवि ने थोड़े से पद्य तो सन् ९९२० में बनाये थे परन्तु ग्रन्थ को ११ या २० वर्ष पश्चात् शेरशाह के समय में पूरा किया इसी से कवि ने भूतकालिक क्रिया कहा (था) और कहा का प्रयोग किया है[2] 'फारसी लिपि में सत्ताइस और सैंतालीस में भ्रम हो सकता है। इस 'पद्मावत' का एक पुराना बंगला अनुवाद है इसमें भी नव से सत्ताइस पाठ माना गया है—'शेख मुहम्मद जाति जसन रचित ग्रन्थ संख्या सतविंसनवशत' यह अनुवाद अराकान राज्य के वजीर मगन ठाकुर ने सन् १६५० ई० के आस-पास आलो-उजालो नामक एक कवि से कराया था'[3]।

डॉ० माता प्रसाद गुप्त इस समस्या का भी समाधान प्रस्तुत करते हैं और लिपि की दृष्टि से भी सन् ९४७ के पाठको ही स्वीकार करते हैं[4]।

---

१ पद्मावत—भूमिका—पृ० ३।

२ जायसी ग्रन्थावली-शुक्ल, पृ० ६।

३ जायसी ग्रन्थावली भूमिका।

४ इस समस्या पर एक अन्य दृष्टि से भी विचार करना अपेक्षित है, वह है लिपि और लेखन-प्रणाली की दृष्टि से। प्रश्न यह उठता है कि सत्ताइस, सैंतालीस और सैंतालीस में से कौन सा पाठ ऐसा हो सकता है, जिससे लिपि जनित विकृतियों के कारण शेष दो पाठ बन गए होंगे।

-सैंतालिस को सैंताइस पढ़ने की भूल की गई, और इसका कारण यह है कि शब्द के फारसी लिपि में लिखे जाने पर बीच में आने वाले 'अलिफ-लाम' को इस प्रकार लिखने की चलन की कि बाद में उस चलन से अनभिज्ञ लिपिक उसे सैंताइस पढ़ने लगे। फिर तो सैंताइस को और बाद के लिपिकों ने सत्ताइस की विकृति समझ कर शब्दांश 'सैंता में तीन के साथ लगे हुए दो' के नुक्तों को हटाकिया और पाठ 'सत्ताईस' कर दिया। सैंतालीस से 'पैंतालीस' भी इसी प्रकार फारसी लिपि की त्रुटियों के कारण बना सम्भव यह स्पष्ट है कि रचना की लिपि मूल पाठ में 'नौ सै सैंतालीस' ही रही–भूमिका पृ ३।

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल अपने सम्पादन में 'सन् नौ सै सेंतालीस' पाठ को स्वीकार करते हैं, परन्तु इसकी भूमिका में ९२७ के पाठ के पक्ष में अपना मत देते हैं—'हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर ९२७ पाठ सबसे अधिक प्रमाणित जान पड़ता है। पद्मावत की सन् १८०१ की लिपि एक अन्य प्रति में भी ग्रन्थ रचना काल ९२७ मिला था। खोज रिपोर्ट-चौदहवां त्रवार्षिक विवरण १९३१ ३१ में मैंने अर्थ करते समय शेरशाह वाली युक्ति पर ध्यान देकर ९४७ पाठ को समीचीन लिखा था किन्तु अब प्रतियों की बहुल सम्मति एवं विशिष्ट पाठ की युक्ति पर विचार करने से प्रतीत होता है कि ९२७ मूल पाठ था और जायसी ने पद्मावत का आरम्भ इसी तिथि में, अर्थात् १५२१ ई० में कर दिया था। ग्रन्थ की समाप्ति कब हुई कहना कठिन है किन्तु कवि ने उस काल के इतिहास की कई प्रमुख घटनाओं को स्वयं देखा था। बाबर के राज्य काल का तो स्पष्ट उल्लेख है ही (आखिरी कलाम ८।१) उसके पश्चात् हुमायूं का राज्यारोहण (१५३ ई०) चौसा में शेरशाह द्वारा उसकी हार (१५३ ई०) कन्नौज में शेरशाह की उस पर पूर्ण विजय (१५४ ई०) फिर शेरशाह का दिल्ली के सिंहासन पर राज्याभिषेक (१५४८), ये घटनायें उसके जीवन काल में ही घटी।[1]

इसी प्रकार की भावना की प्रस्तावना डॉ० अग्रवाल ने 'पद्मावत का रचना काल सन् ९२७ या ९४७' शीर्षक लेख में किया है।[2]

'पद्मावत' के २१ वें दोहे में जायसी ने जो कुछ अपने विषय में लिखा है उससे सूचित होता है कि वे काफी दिनों तक तपस्वी या सूफी साधक के वेष में छिपे हुए अपनी कविता करते रहे, और अपनी उस स्थिति की तुलना वे कूप में छिपे हुए माणिक की स्थिति से करते हैं—

> जेहि के बोल बिरह कै घाया। कहँ तेहि भूख कहाँ तेहि छाया।
> फेरे भेख 'रहा' भा तपा। धूर लपेटा मानिक छपा।

अपने विचार का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने यह निष्कर्ष दिया है कि निम्नलिखित दोहा रचना की समाप्ति पर लिखा गया है—

---

१ पद्मावत—प्राक्कथन ३१। डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल।

२ परिषद् पत्रिका—(बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्-अक्टूबर १९६२ ई० पृ० ३१ ३७।

मोहमद कवि जो प्रेम का ना तन रकत न माँसु।
जेहि मुख देखा तेहि हँसा, सुनि कवि आए आँसु।

डॉ० माता प्रसाद गुप्त इन निष्कर्षों पर आपत्ति प्रकट करते हैं। उनकी आपत्ति उचित लगती है।

(१) जहाँ तक एक दीर्घ काल तक (१८–२०) वर्षों तक जायसी के तपस्वी या सूफी साधक के वेष में छिपे रहकर 'पदमावत' की रचना करने की बात है यह मेरी समझ में उद्धृत पंक्तियों से नहीं निकलती है। इन पंक्तियों का पाठ मेरी 'जायसी ग्रन्थावली' में इस प्रकार है—

जेहि के बोल बिरह के घाया। कहु तेहि भूख कहाँ तेहि छाया।
फेरे भेस रहइ भा तपा। धूरि लपेटा मानिक छपा।

(२) जहाँ तक उद्धृत दोहे के रचना के समाप्त होने पर लिखे होने की बात है, वह भी उनसे नहीं निकलती, 'सुनि कवि आए आँसु' का अर्थ इतना ही है कि उसके काव्य को सुनकर (उन हँसने वालों की आँखों में) आँसु आ गए। इससे उन्हें काव्य पूरा करके सुनाया इस प्रकार का आशय नहीं निकलता।[1]

'पदमावत' की भूमिका में डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल संवत् ९२७ के पक्ष के समर्थन की दृढ़ता में इस प्रकार की प्रस्तावना करते हैं 'मेरे मित्र श्री शंभु प्रसाद बहुगुणा ने मुझे एक बुद्धि पूर्ण सुझाव दिया है कि पदमावत के विविध हस्त लिखी की तिथियाँ इन घटनाओं से मेल खा जाती हैं। हि० ९२७ वाली कवि लिखित प्रति मूल प्रति थी। ९३६ वाली प्रति २ की मूल प्रति हुमायूँ के राज्यारोहण की स्मृति-रूप में चालू की गई। हि० ९४५ वाली प्रति जिसका माता प्रसादजी गुप्त ने पाठान्तर में उल्लेख किया है, शेरशाह के चौसा युद्ध में हुमायूँ पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त चालू की गई, ९४७ हि० वाली चौथी प्रति शेरशाह की हुमायूँ पर कन्नौज-विजय की स्मृति का संकेत करती है। पाँचवीं या अन्तिम प्रति ९४८ की है जब शेरशाह दिल्ली के तख्त पर बैठकर राज्य करने लगा था। मूल ग्रन्थ जैसे का तैसा रहा। केवल शाहे

---

[1] पदमावत—भूमिका—पृ० ४— सम्पादक—डॉ० माता प्रसाद गुप्त।

वस्त वाला अंश उस समय जोड़ा गया। 'पद्मावत' जैसे महाकाव्य की रचना के लिए चार-पाँच वर्षों का समय लगा होगा। और शेरशाह को आशीर्वाद देने वाली घटना के पश्चात् ही शाहे वक्त की प्रशंसा वाला अंश मूल में जोड़ा गया होगा।[१] परन्तु इस प्रकार के निष्कर्ष का जब तक कोई आधार न हो तब तक इस से किसी निष्कर्ष पर पहुँचना समस्या का समाधान नहीं प्रदान कर सकेगा।

इस प्रकार 'पद्मावत' के रचना-काल से सम्बन्धित धारणा को निम्नलिखित वर्गों में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) ग्रियर्सन और सुधाकर द्विवेदी —इन्होंने सन् ९४७ पाठ स्वीकार किया है।[२] तासी भी इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।[३] डॉ० रामकुमार वर्मा[४] तथा मे० सिरफ भी इसी मत का समर्थन करते हैं।[५] डॉ० माता प्रसाद गुप्त इस मत का समर्थन प्रबल शब्दों में करते हैं।

(२) रामचन्द्र शुक्ल[६] सन् ९२७ हिजरी का समर्थन करते हैं। इस वर्ग में पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय[७] हजारी प्रसाद द्विवेदी[८], परशुराम चतुर्वेदी[९] डॉ० कमल कुल श्रेष्ठ[१०] आदि विद्वान आते हैं।

(३) भारत कला भवन की कैथी लिपि की प्रति में ९३६ पाठ मिलता है 'सन् नौ सै छत्तीस जब अहा। कथा अरंभि बैन कवि कहा।' इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रतियों के आधार पर 'पद्मावत' की निम्नलिखित रचना तिथियाँ प्रस्तावित है ९२७ हि० ९३६ हि० ९४५ हि०, ९४७ हि०, और ९४८ हि०।

---

१ पद्मावत—(प्राक्कथन) डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल पृ० ३३ ३४।

२ पद्मावती—ग्रियर्सन तथा सुधाकर द्विवेदी—पृ० ३२।

३ हिन्दुई साहित्य का इतिहास पृ० ८६ ४ पद्मावती—प० धी० सिरेन्द्र भूमिका। ५ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—२३ २४।

६ जायसी ग्रन्थावली, द्वितीय संस्करण। ७ नागरी प्रचारिणी पत्रिका-भाग १२ पृ० १४२ ८ हिन्दी साहित्य पृ० २४० ४१४६ सूफी काव्य संग्रह।

१० मलिक मुहम्मद जायसी पृ० २४ २५।

पद्मावत की प्राप्त हस्तलिखित प्रतियाँ

(१) कामनवेल्थ रिलेशन्स ऑफिस लन्दन की प्रति—यह २१८ पत्रों की प्रति है। इसके प्रतिलिपिकार इनायतुल्लाह अहमद खान मुहम्मद गोरखपुर के निवासी थे। सम्वत् ११०७ हि० में दीनानाथ नामक व्यक्ति के लिए यह प्रतिलिपि की गई थी।

(२) सरस्वती भवन पुस्तकालय (काशी) की प्रति—इसमें २१६ पत्र हैं।

(३) एशियाटिक विश्वविद्यालय की प्रति—पत्र संख्या ३३८ है। इसका प्रतिलिपि काल सन् ११४२ हि० है।

(४) कामनवेल्थ रिलेशन्स ऑफिस, लन्दन की प्रति—इसमें १८० पत्र हैं। यह प्रतिलिपि फारसी लिपि में है। इसका प्रतिलिपि-काल सन् १११४ हि० है।

(५) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रति—लीथो में मुद्रित प्रति है। इसकी लिपि फारसी है। इसमें अहमद अली मुंशी का उर्दू अनुवाद भी संलग्न है। इसकी एक प्रति सैयद कल्बे मुस्तफा जायसी के पास भी है।

(६) एशियाटिक सोसाइटी बंगाल की प्रति—इसमें १६७ पत्र हैं। इसकी लिपि कैथी है।

(७) सैयद कल्बे मुस्तफा की प्रति—यह प्रति खण्डित है।

(८) मेहर शरीफ की प्रति—यह फारसी अक्षरों में लिखी है।

इन प्रतियों के अतिरिक्त बिहार शरीफ (फारसी लिपि लिपि-काल १७२४) रामपुर राज्य पुस्तकालय की प्रति (इसमें प्रत्येक चौपाई के नीचे शब्दों का फारसी पर्याय भी दिया हुआ है। इसमें अखरावट भी सम्मिलित है)। भाषा की दृष्टि से यह महत्व की है।

पद्मावत का विषय पक्ष

'पद्मावत' की कथा-अवतारणा का परिचय देते हुए जायसी ने इस प्रकार कहा है—

सन नौ सै सैंतालिस अहा। कथा अरम्भ बैन कवि कहा।
सिंहल दीप पदमिनी रानी। रतन सेन चितउर गढ़ आनी।
अलाउद्दीन देहली सुल्तानू। राघव चेतन कीन्ह बखानू।

सुना साहि गढ़ छेंकन आई। हिन्दू तुरकन्ह भई लराई।
आदि अन्त जस गाथा अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै।

इस प्रकार अपने कथा नियोजन में जायसी ने सत्य और कल्पना का योग किया है। इसमें इतिहास और लोकगाथा से उपलब्ध तत्वों का समावेश है। रत्न सेन की गौरव गाथा, पद्मिनी का आदर्श तथा गोराबादल के आदर्श मूलक बलिदान की घटना भारतीय इतिहास की अमर परम्परा है। परन्तु इनसे सम्बन्धित काव्य ग्रन्थों में इतिहास की स्थूलता पर कल्पना और लोक जीवन में प्रचलित आदर्श मूलक उच्चता की भावना ही अधिक प्रसार पा गई है। इस सन्दर्भ की एक कृति 'गोराबादल रा कवित' उपलब्ध है। 'पद्मावत' की कथा के स्रोतों के विश्लेषण के सन्दर्भ में इस रचना का मूल्यांकन अपेक्षित है। इस परम्परा की एक अन्य कृति है 'हेम रतन री चउपई।' जटमल कृति 'गोराबादल की बात' भी इस सन्दर्भ में उपलब्ध है। इन कृतियों के सन्दर्भ में 'पद्मावत' की कथा का जब हम विश्लेषण करते हैं तो 'पद्मावत' के कथा-तत्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है।

'पद्मावत' के पूर्वार्ध का इतिहास द्वारा समर्थन नहीं होता है। इस अंश में हीरामन तोते की कहानी तो पूर्णतः लोक जीवन से गृहीत है। उत्तरार्द्ध-कथा इतिहास पर आधारित है। पूर्वार्द्ध-अंश लोककथा के रूप में जन-जीवन में प्रचलित रहा। इस प्रकार जायसी ने प्रभावोत्पादक काव्यों की अनिवार्य आवश्यकताओं का प्रयोग पद्मावत में किया है[1]

'पद्मावत' की कथा पद्मावती के जन्म से प्रारम्भ होती है। गन्धर्व सेन नरेश सिंहल द्वीप का राजा है। रावण से भी बड़ा उसका वैभव है। ऐसे गन्धर्व सेन के घर में पद्मावती ने जन्म धारण किया—

भए दस मास पूरि भै घरी। पदुमावति कन्या औतरी।
जानहु सुरुज किरन हुति काढ़ी। सुरुज करा घाटि वह बाढ़ी।
भा निसि माँह दिनक परगासू। सब उजियार भएउ कबि लासू।

× × ×

---

१ डॉ० माता प्रसाद गुप्त इसे राजस्थानी परम्परा के सन्दर्भ में देखते हैं। परन्तु यह कथा पूर्वी क्षेत्रों में भी लोक कथा के रूप में व्यापक रूप में गृहीत है। (पद्मावत भूमिका)। यह कथा भिन्न भिन्न अंचलों में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तावित है।

पदुम गंध बेधा जग बासा। भँवर पतंग भए चहुँ पासा।
बरनें रूप भइ कन्या जेहि सरि पूजि न कोइ।
धनि सो देस रुपवन्ता जहाँ जनम अस होइ।।११।।गु०।

पद्मावती बारह वर्ष में संयोग के योग होती है। पद्मावती को पिता सात खण्डों वाला धवल प्रसाद सखियों-सहित रहने के लिए देते हैं। ये सभी नव कालिकायें हैं। अविवाहिता हैं और पद्मावती के पास इस रूप में हैं मानों कमलिनी के निकट कुमुदिनियाँ विकसित हैं—

सबै नवल पिय संग न सोईं। कँवल पास जनु बिगसीं कोईं।

पद्मावती के सम्पर्क में एक शुक है। वह महा पण्डित है। उसका नाम हीरामन है। वह वेद-शास्त्र-ज्ञाता है—

दैयँ दीन्ह पंखिहि असि जोती। नैन रतन मुख मानिक मोती।
कंचन बरन सुआ अति लोना। मानहु मिला सोहागहि सोना।
रहहिं एक सँग दोउ पढ़हिं सासतर बेद।
बरम्हा सीस डोलावहिं सुनत लाग तस भेद।।१०।।

पद्मावती नव यौवना हुई। उसके अंगों के सुवास से जगत व्याप्त हो गया। भ्रमर उस पर लुब्ध होने लगे। राजा को सूचना मिलती है कि शुक पद्मावती को मंत्रणा दे रहा है। राजाज्ञा होती है कि सुए का वध कर दिया जाय। पद्मावती के आग्रह से वधिक तो छोड़ जाता है परन्तु शुक पद्मावती से विदा लेने की अभिलाषा व्यक्त करते हुए कहता है—

जेहि घर काल मँजारी नाचा। पंखी नाउँ जीउ नहिं बाँचा।

पद्मावती अनेक रूपों में अनुनय विनय करती है परन्तु सुआ सोचता है—

सुआ न रहै खुरुक जिउ अबहिं काल सो आउ।
सतुर अहै जो करिआ कबहुँ सो बोरै नाउ।।

एक दिवस किसी पर्व पर पद्मिनी सखियों के साथ मान सरोवर में जल क्रीड़ा में संलग्न है। अवसर देखकर शुक उड़ जाता है। पद्मावती इस घटना से विक्षिप्त होती है। शुक एक वन में दस दिन व्यतीत करता है। उस वन में व्याध प्रवेश करता है। उसके पास टट्टी है। पक्षी उसे देखकर आश्चर्य करते हैं—

एहि बन रहत गई हम आऊ। तरिवरि चलत न देखा काऊ।
आजु जु तरिवर चल भल नाहीं। आवहु एहि बन छाँड़ि पराहीं।
वै तो उड़े और बन ताका। पंडित सुआ भूलि मन थाका॥

इस प्रकार केलि करता हुआ शुक बन्दी होता है। चित्तौर गढ़ का एक ब्राह्मण व्यापारी सिंहलगढ़ व्यापार हेतु जाता है। व्याध सुए को लेकर उसके सम्मुख उपस्थित होता है। ब्राह्मण शुक से प्रश्न करता है—

कहु परबते जो गुन तोहि पाहीं। गुन न छपाइअ हिरदै माहीं।
हम तुम्ह जाति बराम्हन दोऊ। जातिहि जाति पूँछ सब कोऊ।
पंडित हहु तो सुनावहु बेदू। बिनु पूँछे पाइअ नाहिं भेदू।

× × × ×

शुक उत्तर देता है—

तब गुन मोहि अहा हो देवा। जब पिंजर हुत छूट परेवा।
अब गुन कवन जो बँदि जजमाना। घालि मँजूषा पैठे आना।
पंडित होइ सो हाट न चढ़ा। चहौं बिकान भूलि गा पढ़ा॥७४॥

वह शुक का क्रय कर लेता है। इस समय रत्नसेन चित्तौर गढ़ का शासक है। शुक की प्रतिभा से प्रभावित होकर वह ब्राह्मण से शुक को प्राप्त कर लेता है। दस-पाँच दिनों के पश्चात् राजा आखेट पर जाते हैं। उसकी पटरानी नागमती शृंगार कर शुक से प्रश्न करती है—

सुआ बान कहु मधु कसि सोना। सिंघल दीप तोर कस लोना।
कौन दिस्टि तोरी रुपमनी। दहुँ हौं लोनि कि वै पदुमिनी।
जो न कहसि सत सुअटा तोहि राजा कै आन।
है कोई एहि जगत महँ मोरें रूप समान॥८१॥

पदुमावती के रूप का स्मरण कर शुक हँस पड़ता है। वह कहता है, जिस सरोवर में हंस नहीं आते, उसमें बगुली हंस कहलाती है। शुक सिंहल की नारियों का परिचय देते हुए कहता है पुष्पों की सुगन्धि उनके शरीर में होती है अतः उनके साथ तुम्हारी क्या समता? वे कंचन वर्णी हैं तथा रूप और भाग्य से परिपूर्ण हैं।

पंखि न राखिय होइ कुभाखी। लेहु सो धाय जहाँ नहिं साखी।

वह धाय को शुक के मारने की आज्ञा देती है। परन्तु राजा की आशंका का

स्मरण कर पाय शुक को मारती नहीं है। राजा लौटकर शुक की जिज्ञासा करता है। रानी उत्तर देती है 'मैंने उससे सिंहल की पद्मिनी नारियों के विषय में जिज्ञासा की। इस सन्दर्भ में 'ऐ नागिन तुम्हारे बप का क्या ? वे यदि दिन हैं तो तू अँधेरी निशा है। बसन्त के सम्मुख करील का क्या महत्व।' इस प्रकार का उत्तर शुक ने दिया। राजा क्रुद्ध होता है। वह वियोग का अनुभव करता है। धाय सुआ को ला देती है। शुक सत्य घटना का वर्णन करता है। राजा के आग्रह पर शुक पद्मावती के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करता है। हीरामन जब कमल (पद्मावती) का वर्णन करता है राजा उसे सुनकर भ्रमर-मत हो जाता है। शुक कहता है। 'उसका वर्णन मैं किस प्रकार करूँ उसका शृंगार उसी को शोभा देता है। रूप-वर्णन सुनकर राजा मूर्छित हो जाता है—

सुनतहिं राजा गा मुरुझाई। जानहुँ लहरि सुरुज कै आई।
पेम घाव दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई ॥११६॥

राजा रत्न सेन राज का त्याग करता है। वह किंगरी धारण कर वियोगी बन जाता है। वह प्रयाण करता है। योगियों का शृंगनाद बजता है। शुक कहता है 'अगुआ वही हो सकता है, जो मार्ग जानता है। पंख रहित पक्षी कैसे उड़ सकता है।' दिन में वे यात्रा करते हैं। रात्रि में भूमारण्य में विश्राम करते हैं। फिर वे समुद्र तट पर पहुँचते हैं। वहाँ का राजा गजपति रत्न सेन से कहता है सिंहल द्वीप वही जा सकता है जो अपने प्राणों को हाथ में लेकर चलता है। क्षार, क्षीर, दधि उदधि सुरा जल और किलकिला समुद्रों की पार करना सरल नहीं है। बोहित्थ उदधि-के पथ पर तिरने लगते हैं।

किलकिला समुद्र में पहुँचने पर शुक कहता है इसी समुद्र में आकर सत्य विचलित हो जाता है। बोहित इस समुद्र में चक्कर हो रहे हैं। मानसर को पार करने के पश्चात् वे सिंहल द्वीप पहुँचते हैं। हीरामन उड़कर पद्मावती के पास जाता है। राजा कैलाश (सिंहल गढ़ के राज मन्दिर) के लिए प्रस्थान करता है। वहाँ बैठकर वह 'पद्मावती' का जाप करता है। शुक पद्मावती को रत्नसेन का सन्देश देता है। हीरामन रत्नसेन के पास लौटकर कहता है जब बसंत ऋतु आती है और उसकी श्री पंचमी होती है तब मधुकर आता है।

तभी पुण्य सुफलित होता है। जो योगी इस प्रकार उद्योग करता है उसे ही योग समाप्ति पर सिद्धि मिलती है।

बसन्त के मदन उल्लास में पद्मावती सखियों के साथ शिव-पूजन के लिए शिव मन्दिर में आती है। रत्नसेन पद्मावती को देख कर मूर्छित हो जाता है। पद्मावती के लौट जाने पर राजा सचेत होकर देखता है न वसंत की पूजा रह गई न वह बालिका रह गई। राजा अपने वक्षस्थल को देखता है। उस पर चंदन से मिलन के अनन्तर वियोग लिखा है। रत्नसेन शिव-उपासना करता है। अनेक विघ्न-बाधाओं के पश्चात् रत्नसेन की कामना पूरी होती है। पद्मावती के साथ रत्नसेन का विवाह होता है। गन्धर्वसेन धवल गृह में रत्नसेन और पद्मावती को वास देते हैं।

नागमती वियोग में जीवन व्यतीत कर रही है। प्रिय के वियोग में वह 'प्रिय' 'प्रिय' पुकारती है। सखियाँ उसे धैर्य प्रदान करती हुई कहती हैं—

बरसी जैस पैवन के मेहा। पलटि भरे बरखा रितु मेहा।
पुनि बसंत रितु आव नवेली। सो रस सो मधुकर सो बेली।
जनि अस जीऊ करसि तूँ नारी। दहि तरिवर पुनि उठींहि सँभारी।
मिलहिं जो बिछुरै साजना गहि गहि भेंट गहन्त।
तपनि मिरगसिरा जे सहहिं अद्रा ते पलुहन्त ।३४३।

इस प्रकार 'असाढ़' 'सावन', 'भादौं', 'कुआर' 'कातिक' 'अगहन' 'पूस' आदि मासों में नागमती की वेदना विविध रूप धारण करती है। सिंहल में रत्नसेन पक्षी के माध्यम से नागमती का सन्देश सुनाता है। विहंगम सन्देश देकर उड़ जाता है। राजा उसे पुकारता है परन्तु विहंगम और दूर चला जाता है। रत्नसेन सिंहल से विरक्त हो उठता है। पद्मावती के साथ वह सिंहल के लिए प्रस्थान करता है। अनेक बाधाओं के पश्चात् चितौर गढ़ पहुँचता है।

राघव चेतन राजा की सेवा में आते हैं। राजा उनसे अप्रसन्न होता है, उन्हें निर्वासित करता है। दिल्ली जाकर वे अलाउद्दीन की शरण लेते हैं। 'पद्मावती' की ओर वह अलाउद्दीन का आकर्षित करते हैं। अलाउद्दीन रत्नसेन पर आक्रमण करता है। आठ वर्षों तक गढ़ घिरा रहता है। अलाउद्दीन उसे छल से बन्दी बनाता है।

गोरा बादल की प्रेरणा से रत्नसेन मुक्त होता है। इस सन्दर्भ में मौलाना अकर्षक होता है और गोरा बादल युद्ध में हत होते हैं। रत्नसेन भी मारा जाता है और पद्मावती तथा नागमती सती होती हैं। कवि अन्त में कथा का स्पष्टीकरण करता है।

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदिमिनि चीन्हा।
गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया-धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा।
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदी सुलतानू॥
प्रेम-कथा एहि भाँति बिचारहु। बूझि लेहु जौ बूझै पारहु॥
तुरकी अरबी, हिंदुई, भाषा जेती आहिं।
जेहि महँ मारग प्रेम कर, सबै सराहैं ताहिं॥१॥

पद्मावत की ऐतिहासिकता

जायसी ने 'पद्मावत' में कल्पना और इतिहास का मिश्रण किया है। अला-उद्दीन रत्नसेन ऐतिहासिक पुरुष हैं और दिल्ली, चित्तौड़ सिंहल आदि ऐतिहासिक स्थान हैं। परन्तु जायसी ने अपने पात्रों अपनी घटनाओं और स्थानों का संकलन इतिहास से नहीं किया है। पद्मिनी की कथा गोराबादल का बलिदान अलाउद्दीन का चित्तौड़ गढ़ पर आक्रमण इन सभी तत्वों का व्यापक प्रचार लोक जीवन में हो चुका था। विशिष्ट घटना या कथा में अनेक अनुकथायें लोक जीवन के माध्यम से संयुक्त होती रही हैं। इतिहास और कल्पना का जो मिश्रित स्वरूप लोक में प्रचलित रहा उसी का आधार जायसी ने अपने काव्य में ग्रहण किया। लोक-जीवन में प्रचलित पद्मावती की कथा के संघटन में अलाउद्दीन के आक्रमण की इतिहास-सम्मत घटना और राजपूत रमणियों के जौहर की अनेक कथाओं को एक सूत्र में गुम्फित कर जायसी ने 'पद्मावत' की प्रबन्ध-कल्पना की है। परन्तु इतिहास के आधार पर पद्मावत का प्रणयन नहीं हुआ है। जायसी का प्रतिपाद्य 'प्रेम की पीर' । इस प्रतिपाद्य की संप्रेषणीयता में ही 'पद्मावत' का इतिहास तत्व समाहित है। पृथ्वीराज रासो में इतिहास और कल्पना के जिस समन्वय का प्रस्तावना है, उससे भिन्न 'पद्मावत' की प्रस्तावना भूमि नहीं है। अन्तर इतना है कि 'पृथ्वीराज रासो' एक से अधिक कवियों की सामूहिक प्रेरणा का फल है। 'पद्मावत में लोकजीवन में प्रचलित 'इतिहास' और 'कल्पना' की व्यापकता को एक कवि द्वारा परिबद्ध करने का प्रयास है।

अखरावट—'अखरावट' की प्रति के दो रूपान्तर अभी तक उपलब्ध हैं—

(१) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित जायसी ग्रन्थावली में संकलित 'अखरावट' का पाठ।

(२) डॉ० माता प्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित जायसी ग्रन्थावली में प्रकाशित 'अखरावट' का पाठ।

सम्पादन के समय डॉ० माता प्रसाद गुप्त को दूसरी प्रति प्राप्त नहीं थी। परन्तु उन्हें इसी बीच एक अन्य प्रति प्राप्त हुई, जिसे सम्पादक ने परिशिष्ट-रूप में दिया है। प्रो० सी० हसन अस्करी ने 'अखरावट' की फारसी लिपि में उपलब्ध एक प्रति की चर्चा की है। इनके अनुसार इस प्रति का प्रतिलिपि-काल सत्रहवीं सदी शाहजहाँ का समय है।[1] नागरी प्रचारिणी सभा काशी में अखरावट की एक प्रति नागरी लिपि में भी उपलब्ध है।[2]

जायसी ने इस कृति के रचना काल या तिथि का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु कतिपय विचारकों की यह धारणा है कि यह 'पद्मावत' के पश्चात् की रचना है। 'जुबान की रवानी, बन्दिशों की चुस्ती बता देती है कि यह ग्रन्थ शायर जायसी के दौर आखिर का नतीजा है। इसके यह मायने हैं कि 'अखरावट' पद्मावत के बाद तसनीफ हुई है'[3] इस कथन को आधार ग्रहण करते हुए अनेक विद्वान् 'अखरावट' को 'पद्मावत' के पश्चात् की रचना मानते हैं। प्रोफेसर सैयद हसन अस्करी ने अखरावट' की रचना-अवधि का उल्लेख किया है। इनके अनुसार 'अखरावट' की हस्तलिखित प्रति की पुष्पिका में जुम्मा ८, जुल्काद, ९११ हिजरी का उल्लेख है। इसके अनुसार 'अखरावट' जायसी की प्रथम रचना है। जायसी ने 'आखिरी कलाम' में जिस भूकम्प की चर्चा की है वह उनके जन्म-समय की

---

१ देखिए—जर्नल ऑफ बिहार रिसर्च सोसाइटी भाग ३८.१९५२—ए न्यूली डिस्कवर्ड मानुस्क्रिप्ट ऑफ अवधी वर्स इन्क्लूडिंग पद्मावत एण्ड अखरावट ऑफ मलिक मुहम्मद जायसी।

२ नागरी प्रचारिणी सभा काशी हस्तलिखित विभाग—अखरावट और पदमा की प्रति—पृ० २११ मलिक मुहम्मद जायसी—सैयद अली मुस्तफा, १९६०।

घटना नहीं है अपितु उनके कवि-जीवन के आरम्भ समय में यह घटना घटित हुई। अखरावट की पुष्पिका में लिखित ९११ हि० तथा ९११ में घटित भूकम्प के उल्लेख में समानता है। इस प्रकार अखरावट ९११ हिजरी की रचना प्रमाणित होती है।[1]

'अखरावट' का प्रतिपाद्य विषय है सृष्टि की उत्पत्ति। शून्य के मध्य करतार ने मुहम्मद पैगम्बर की ज्योति प्रकट की। आदि गोसाईं ने सृष्टि की रचना की। स्वर्ग पिता और धरती माता रूप में प्रस्फुटित हुए। इसके पश्चात् इबलीस (शैतान) उत्पन्न हुआ। एक परमात्मतत्व संसार की विभिन्न योनियों में प्रकट हुआ। चार तत्वों से शरीर की स्थापना हुई। उसमें पञ्च भूतात्मक इन्द्रियाँ संस्थापित की गईं। शरीर में नव द्वार निर्मित हुए। इसके पश्चात् करतार ने दसम द्वार पर कपाट लगा दिया। इस अवस्था तक आदम और करतार में अभिन्नता थी। शैतान की प्रेरणा से आदम ने गेहूँ खा लिया। इस निषिद्ध भोजन के कारण आदम स्वर्ग निष्कासित हुए। आदम और हौवा में वियोग हुआ। परन्तु ईश्वर की कृपा से उनका मिलन भी हुआ। उनसे सन्तान की उत्पत्ति हुई। हिन्दू और तुर्क दोनों ही उसकी सन्तानें हैं। शरीर में ही स्वर्ग और नरक की स्थापना परम तत्व ने की।

अखरावट में सृष्टि-रचना का जो क्रम जायसी ने प्रस्तावित किया है, वह मुख्यतः इस्लामी धर्म ग्रन्थों के आधार पर है—

गगन हुता नहिं महि हुती हुते चन्द नहिं सूर।
ऐसइ अंधकूप मह रचत मुहम्मद नूर। जायसी ग्रन्थावली अखरावट।

ब्रह्म से ही सृष्टि आपूरित है। जीव बीज रूप में ब्रह्म में ही अवस्थित था। जीव ब्रह्म से अभिन्न था परन्तु समय पाकर जीव और ब्रह्म में वियोग हुआ।

हुता जो एकहि संग हौं तुम्ह काहे बीछुरा ?
अब जिउ उठै तरंग, मुहम्मद कहा न जाई कछु। अखरावट सोरठा ३।

इस ग्रन्थ में जायसी ने जीव ब्रह्म और प्रकृति की अभिन्नता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। जायसी के अनुसार बूंद में समुद्र समाया है, अर्थात्

---

१ देखिए—मुतखबुत्तवारीख—अलबदायूनी—रेकिंगकृत अनुवाद भा० १ पृ० ४२१।

मनुष्य पिंड के भीतर ही ब्रह्म और समस्त ब्रह्माण्ड है सभी उसी अनन्त सत्ता में विलीन हो जाते हैं—

> बुन्दहिं समुद समान, यह अचरज कासों कहौं ?
>
> जो हेरा सो हेरान, मुहम्मद आपुहु आपु महं ॥ आ॰ ग्रन्थावली।

सूफी मत में साधना की चार अवस्थायें मानी गई हैं—(१) शरीअत (कर्म काण्ड), (२) तरीकत (बाह्य आडम्बरों से मुक्त होकर हृदय की शुद्धता द्वारा ईश्वर का ध्यान) (उपासना काण्ड) (३) हकीकत (भक्ति और उपासना के द्वारा सत्य का बोध (ज्ञान काण्ड), (४) मारिफत (सिद्धावस्था)। 'अखरावट' में जायसी ने इन अवस्थाओं का उल्लेख किया किया है—

> कही तरीकत चिसती पीरू। उधरित असरफ औ जहंगीरू ॥
>
> तेहि के नाव चढ़ा हौं धाई। देखि समुद जल जिउ न डेराई ॥
>
> और
>
> चौथे मुकाम साथ चढ़ि ऊँचा। मारिफ बसेरे जाइ पहुँचा।

आखिरी कलाम—जायसी ने 'आखिरी कलाम' की रचना ९३६ हि॰, सन् १५३२ ई॰ में किया। इसमें कवि 'शाहेवक्त-वन' में बाबर की प्रशंसा करता है।

> बाबर साह छत्रपति राजा। राजपाट उन कहं बिधि साजा।
>
> मुलुक सुलेमां कर मोहि दीन्हा। अरस कुर्सी अमर जस कीन्हा।

इस कृति की निर्माणतिथि का उल्लेख जायसी ने इस प्रकार किया है—

> नौ सै बरिस छत्तीस जो भए। तब एहि कथा क आखर कहे।

कतिपय आलोचकों के अनुसार यह कृति जायसी की अन्तिम रचना है। परन्तु-रचना-तिथि तथा शाहेवक्त की प्रशस्ति को सम्मुख रखते हुए यह 'पद्मावत' के पूर्व की रचना है। वस्तुत यह प्रबन्ध-सम्बन्धित कवि का 'प्रकाश' है।

इस रचना में जायसी ईश्वर-स्तुति करते हैं, फिर भी धरती में अपने जन्म लेने का उल्लेख करते हैं, बाबर शाह की प्रशस्ति करते हैं और सैयद अशरफ की वन्दना करते हैं। जायस नगर का परिचय देने के पश्चात् कवि ९३६ हिजरी में इस काव्य के प्रणयन का उल्लेख करते हैं। इसके उपरान्त प्रलय का वर्णन

घटना नहीं है अपितु उनके कवि-जीवन के आरम्भ समय में यह घटना घटित हुई। अखरावट की पुष्पिका में लिखित ९११ हि० तथा ९११ में घटित भूकम्प के उल्लेख में समानता है। इस प्रकार अखरावट ९११ हिजरी की रचना प्रमाणित होती है।[1]

'अखरावट' का प्रतिपाद्य विषय है सृष्टि की उत्पत्ति। शून्य के मध्य करतार ने मुहम्मद पैगम्बर की ज्योति प्रकट की। आदि गोसाईं ने सृष्टि की रचना की। स्वर्ग पिता और धरती माता रूप में प्रस्फुटित हुए। इसके पश्चात् इबलीस (शैतान) उत्पन्न हुआ। एक परमात्मतत्त्व संसार की विभिन्न योनियों में प्रकट हुआ। चार तत्वों से शरीर की स्थापना हुई। उसमें पञ्च भूतात्मक इन्द्रियाँ संस्थापित की गईं। शरीर में नव द्वार निर्मित हुए। इसके पश्चात् करतार ने दसम द्वार पर कपाट लगा दिया। इस अवस्था तक आदम और करतार में अभिन्नता थी। शैतान की प्रेरणा से आदम ने गेहूँ खा लिया। इस निषिद्ध भोजन के कारण आदम स्वर्ग निष्कासित हुए। आदम और हौवा में वियोग हुआ। परन्तु ईश्वर की कृपा से उनका मिलन भी हुआ। उनसे सन्तान की उत्पत्ति हुई। हिन्दू और तुर्क दोनों ही उसकी सन्तानें हैं। शरीर में ही स्वर्ग और नरक की स्थापना परम तत्त्व ने की।

अखरावट में सृष्टि-रचना का जो उपक्रम जायसी ने प्रस्तावित किया है, वह मूलतः इस्लामी धर्म ग्रन्थों के आधार पर है—

गगन हुता नहिं महि हुती हुते चन्द नहिं सूर।
ऐसइ अंधकूप महँ रचत मुहम्मद नूर। जायसी ग्रन्थावली अखरावट।

ब्रह्म से ही सृष्टि आपूरित है। जीव बीज रूप में ब्रह्म में ही अवस्थित था। जीव ब्रह्म से अभिन्न था परन्तु समय पाकर जीव और ब्रह्म में वियोग हुआ।

हुता जो एकहिं संग हौं तुम्ह काहे बीछुरा?
अब जिउ उठै तरंग, मुहम्मद कहा न जाई कछु। अखरावट सोरठा १।

इस ग्रन्थ में जायसी ने जीव ब्रह्म और प्रकृति की अभिन्नता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। जायसी के अनुसार बूँद में समुद्र समाया है, अर्थात्

1 देखिए—मुन्तखबुत्तवारिख—अलबदायूनी—रेंकिंग्स अनुवाद भा० १ पृ० ४२१।

मनुष्य पिंड के भीतर ही ब्रह्म और समस्त ब्रह्माण्ड है, सभी उसी अनन्त सत्ता में विलीन हो जाते हैं—

गुनहि समुद समान, यह अचरज कासौं कहौं ?
जो हेरा सो हेरान मुहम्मद आपुहि आपु मंह ॥ जा० ग्रन्थावली।

सूफी मत में साधना की चार अवस्थायें मानी गई हैं—(१) शरीअत (कर्म-काण्ड), (२) तरीकत (बाह्य आडम्बरों से अलग होकर हृदय की शुद्धता द्वारा ईश्वर का ध्यान) (उपासना काण्ड), (३) हकीकत (भक्ति और उपासना के द्वारा सत्य का बोध (ज्ञान काण्ड) (४) मारिफत (सिद्धावस्था)। 'अखरावट' में जायसी ने इन अवस्थाओं का उल्लेख किया किया है—

कही तरीकत चिसती पीरू। उधरित असरफ औ जहँगीरू॥
तेहि के नाव चढ़ा हौं धाई। देखि समुद जल जिउ न डेराई॥

और

चौक मुकाम साह जह ऊँचा। मारि बसेरे जाइ पहूँचा।

आखिरी कलाम— जायसी ने 'आखिरी कलाम' की रचना ९३६ हि०, सन् १५१२ ई० में किया। इसमें कवि 'शाहेवक्त-वर्ण' में बाबर की प्रशंसा करता है।

बाबर साह छत्रपति राजा। राजपाट उन कहँ विधि साजा।
मुलुक सुलेमा कर मोहि दीन्हा। करक दुनी अमर जस कीन्हा।

इस कृति की निर्माणतिथि का उल्लेख जायसी ने इस प्रकार किया है—

नौ सै बरिस छतीस जो भए। तब एहि कथा क आखर कहे।

कतिपय आलोचकों के अनुसार यह कृति जायसी की अन्तिम रचना है। परन्तु रचना-तिथि तथा साहित्यिक की प्रशस्ति को सम्मुख रखते हुए यह 'पद्मावत' के पूर्व की रचना है। वस्तुतः यह प्रलय-सम्बन्धित कवि का 'कलाम' है।

इस रचना में जायसी ईश्वर-स्तुति करते हैं फिर भी उसी में अपने जन्म लेने का उल्लेख करते हैं बाबर शाह की प्रशस्ति करते हैं और सैयद अशरफ की वन्दना करते हैं। जायस नगर का परिचय देने के पश्चात् कवि ९३६ हिजरी में इस काव्य के प्रणयन का उल्लेख करते हैं। इसके उपरान्त प्रलय का वर्णन

घटना नहीं है अपितु उनके कवि-जीवन के आरम्भ समय में यह घटना घटित हुई। अखरावट की पुष्पिका में लिखित ९११ हि० तथा ९११ में घटित भूकम्प के उल्लेख में समानता है। इस प्रकार अखरावट ९११ हिजरी की रचना प्रमाणित होती है।[1]

'अखरावट' का प्रतिपाद्य विषय है सृष्टि की उत्पत्ति। शून्य के मध्य करतार ने मुहम्मद पैगम्बर की ज्योति प्रकट की। आदि गोसाईं ने सृष्टि की रचना की। स्वर्ग पिता और धरती माता रूप में प्रस्फुटित हुए। इसके पश्चात् इबलीस (शैतान) उत्पन्न हुआ। एक परमात्मतत्व संसार की विभिन्न योनियों में प्रकट हुआ। चार तत्वों से शरीर की स्थापना हुई। उसमें पञ्च भूतात्मक इन्द्रियाँ संस्थापित की गईं। शरीर में नव द्वार निर्मित हुए। इसके पश्चात् करतार ने दशम द्वार पर कपाट लगा दिया। इस अवस्था तक आदम और करतार में अभिन्नता थी। शैतान की प्रेरणा से आदम ने गेहूँ खा लिया। इस निषिद्ध भोजन के कारण आदम स्वर्ग निष्कासित हुए। आदम और हौवा में वियोग हुआ। परन्तु ईश्वर की कृपा से उनका मिलन भी हुआ। उनसे सन्तान की उत्पत्ति हुई। हिन्दू और तुर्क दोनों ही उसकी सन्तानें हैं। शरीर में ही स्वर्ग और नरक की स्थापना परम तत्व ने की।

अखरावट में सृष्टि रचना का जो उपक्रम जायसी ने प्रस्तावित किया है, वह मूलतः इस्लामी धर्म ग्रन्थों के आधार पर है—

गगन हुता नहिं महि हुती हुते चन्द नहिं सूर।
ऐसइ अंधकूप महँ रचत मुहम्मद नूर। जायसी ग्रन्थावली अखरावट।

ब्रह्म से ही सृष्टि आपूरित है। जीव बीज रूप में ब्रह्म में ही अवस्थित था। जीव ब्रह्म से अभिन्न था परन्तु समय पाकर जीव और ब्रह्म में वियोग हुआ।

हुता जो एकहि संग, हौं तुम्ह काहे बीछुरा?
अब जिउ उठै तरंग, मुहम्मद कहा न जाई कछु। अखरावट सोरठा १।

इस ग्रन्थ में जायसी ने जीव ब्रह्म और प्रकृति की अभिन्नता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। जायसी के अनुसार बूँद में समुद्र समाना है, अर्थात्

---

१ देखिए—मुन्तखबुत्तवारीख—अलबदायूनी—रेंकिंग्स्ट अनुवाद भा० १ पृ० ४२१।

मनुष्य पिंड के भीतर ही ब्रह्म और समस्त ब्रह्माण्ड है सभी उसी अनन्त सत्ता में विलीन हो जाते हैं—

बुन्दहिं समुद समान, यह अचरज कासौं कहौं ?

जो हेरा सो हेरान मुहम्मद आपुहु आपु महं ॥ जा॰ ग्रन्थावली ।

सूफी मत में साधना की चार अवस्थायें मानी गई हैं—(१) शरीअत (कर्म-काण्ड), (२) तरीकत (बाह्य आडम्बरों से अलग होकर हृदय की शुद्धता द्वारा ईश्वर का ध्यान) (उपासना काण्ड), (३) हकीकत (भक्ति और उपासना के द्वारा सत्य का बोध (ज्ञान काण्ड) (४) मारिफत (सिद्धावस्था)। 'अखरावट' में जायसी ने इन अवस्थाओं का उल्लेख किया किया है—

कही सरीयत चिसती पीरू। उधरित असरफ औ जहंगीरू ॥

तेहि के नाव चढ़ा हौ धाई। देखि समुद जल जिउ न डेराई ॥

और

चौक चढ़ाव सात खंड ऊँचा। चारि वसेरे जाइ पहूँचा।

आखिरी कलाम—जायसी ने 'आखिरी कलाम' की रचना ९३६ हि॰, सन् १५१२ ई॰ में किया। इसमें कवि 'शाहेवक्त-वन्दन' में बाबर की प्रशंसा करता है।

बाबर साह छत्रपति राजा। राजपाट उन कहं विधि साजा।

मुलुक सुलेमा कर ओहि दीन्हा। अरक सुनी अमर बस कीन्हा।

इस कृति की निर्माणतिथि का उल्लेख जायसी ने इस प्रकार किया है—

भी वै बरिस छतीस जो भए। तब एहि कथा क आखर कहे।

कतिपय आलोचकों के अनुसार यह कृति जायसी की अन्तिम रचना है। परन्तु-रचना तिथि तथा शाहेवक्त की प्रशस्ति को सम्मुख रखते हुए यह 'पद्मावत' के पूर्व की रचना है। वस्तुतः यह प्रलय-सम्बन्धित कवि का 'कलाम' है।

इस रचना में जायसी ईश्वर-स्तुति करते हैं, फिर भी धरती में अपने जन्म लेने का उल्लेख करते हैं बाबर शाह की प्रशस्ति करते हैं और सैयद अशरफ की वन्दना करते हैं। जायस नगर का परिचय देने के पश्चात् कवि ९०६ हिजरी में इस काव्य के प्रणयन का उल्लेख करते हैं। इसके उपरान्त प्रलय का वर्णन

सम्मुख आता है। मिकाइल अग्नि-वर्षा करता है। सम्पूर्ण पृथ्वी प्रज्वलित हो उठती है। चालीस दिनों तक यह स्थिति रहती। जिबराइल ईश्वर से नव निर्माण का निवेदन करता है। मिकाइल नामक फिरिश्ते को आज्ञा मिलती है। वह धरती पर जल वर्षा करता है। चालीस दिनों तक की अनवरत वर्षा से पृथ्वी जल-मग्न हो जाती है। इसराइल 'सूर'-नाद से संसार को जगाता है। पृथ्वी और आकाश प्रकम्पित हो उठते हैं। चौदहो भुवन झूले के समान झूलने लगते हैं। इसराफील की प्रथम फूंक से नदी नाले समतल हो जाते हैं इस प्रक्रिया में पर्वत और समुद्र एकाकार हो उठते हैं। अजराईल जिबराईल मकाईल और इसराफील इन सब का वध करता है। अन्त में ईश्वर अजराईल के भी प्राण ले लेता है। चालीस वर्षों के एकान्त जीवन के पश्चात् ईश्वर पुन इन फरिश्तों को जीवन देता है। जिबराईल पृथ्वी पर आकर मुहम्मद को पुकारता है। ईश्वर की आज्ञा से सूर्य प्रकट होता है। छः महीने तक के अनवरत प्रकाश में ईश्वर पापियों को दण्डित करता है। फातमा बीबी हसन, हुसेन को सम्मुख प्रस्तुत कर न्याय की याचना करती है। कौसर के जल में स्नान कर सभी पवित्र होते हैं। और सभी स्वर्गीय मदिरा से जीवन का अभिनन्दन करते हैं। काव्य के अन्त में जायसी स्वर्ग-वैभव को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं।

नित पिरीत, नित नव-नव नेहू।
नित उठि चौगुन होइ सनेहू॥
तहाँ न मिचु, न नींद दुख रह न देह महं रोग।
सदा अनन्द मुहम्मद, सब सुख माने भोग आ० क० ९।

आखिर कलाम' की कथा 'इस्लामी मजहब' के इल्म (प्रलय) की कथा है। इसकी कथा 'कुरान' पर आश्रित है।

चित्ररेखा[1] :— चित्र रेखा' एक लघु प्रेम-कथा है। आरम्भ में कवि ने 'पद्मावत' के समान ही ईश्वर वन्दना की है।

---

१ चित्ररेखा के सम्पादन में दो हस्त लिखित प्रतियों का उल्लेख मिलता है—(१) सालार-ए-जंग संग्रहालय की प्रति। (२) अहमदाबाद की प्रति। चित्ररेखा की एक हस्त लिखित प्रति उस्मानियाँ विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

आदि एक बरनौं सो राजा।
जाकर सबै जगत महँ साजा।

× × ×

कहौं राज बड़ ताकर, कनक छात मनिह पाट।
राजा नवहिं सबै ओहि, धरती छाइ ललाट।[2]

इसके पश्चात् कवि मुहम्मद तथा अपने चार मित्रों का वर्णन करता है।
इसके पश्चात् जायसी चित्ररेखा की कहानी प्रस्तुत करते हैं।

सुनहु कथा अब अंमित बानी।
कहौं चित्ररेखा बड़ रानी।
नगर चन्द्रपुर उत्तम ठाऊँ।
चन्द्रभानु राजा कर नाऊँ।
नगर अनूप इन्द्र अस छाजा।
बसै गोमती तीर सुहावा। चित्ररेखा—पृष्ठ-७८।

गोमती तट-स्थित चन्द्रपुर नगर के चन्द्रभानु राजा की सात सौ रानियों में रूपरेखा प्रधान थी। उसकी पुत्री चित्ररेखा की शशिकला के समान उसका विकास हुआ। दस वर्ष की अवस्था में उसका रूप-सौन्दर्य आकर्षण की समग्रता के साथ प्रस्फुटित हुआ।—

दसएँ बरिस कर भई जो दसा।
पुन्यो चाँद गगन परगसा।
मनि माथे दीपक रस भेदा।
भँवर भुअंग सीस भए केसा।
जोति सरग ससि पाई चोरी।
गगन देखावइ खंजन जोरी।
भौंह धारि जनु धनुक सँवारे।
बरुनि बान साधे जिम मारे।
नासक बरन सँवारे माथा।
ऊपर-अधर चाहि सँहारा।

---

२ चित्ररेखा—पृष्ठ ६५ हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय-वाराणसी।

इस प्रकार का उसका सौन्दर्य था। यौवन होने पर उसका विवाह सिंघल के राजा सिंघलदेव के कुबड़े लड़के से ही तय हुआ। परन्तु चन्द्रमा और राहु के योग के कारण विवाह न हो सकेगा, ऐसी घोषणा ज्योतिषियों ने की। कन्नौज के राजा कल्याण सिंह ने तप किया। उन्हें एक पुत्र रत्न प्राप्त हुआ। उसका नाम प्रीतम कुँवर रखा गया परन्तु जन्म के समय पण्डितों ने उसे अल्पायु बताया था। मृत्यु के ढाई दिन पूर्व माता पिता को समझा कर घोड़े पर काशी-करवत के लिए उन्होंने प्रस्थान किया। चन्द्रपुर नगर में चित्ररेखा के विवाह का उत्सव हो रहा था। मार्ग में प्रीतम कुँवर वृक्ष की छाया में विश्राम के लिए रुक गया। सिंघलदेव अपने पुत्र विवाह-हेतु उसी मार्ग से आ रहा था। वह वहीं रुक जाता है। प्रीतम कुँवर की निद्रा भंग होती है। सिंघलदेव से वह अपनी काशी-करवत का उल्लेख करता है। सिंघलदेव अपने कुबड़े बेटे की ओर से वर बनने का निवेदन करता है। प्रीतम कुँवर दूल्हा बनता है। विवाह होता है। सेज्या सज्जित हुई। प्रीतम कुँवर चित्ररेखा की ओर पीठ करके सोता है। निशा के उत्तरार्ध में प्रीतम कुँवर प्रस्थान करता है। प्रस्थान करने के पूर्व वह चित्ररेखा के अंचल-पट पर अंकित करता—

हौं कनउज राजा कर बेटा।
जो बिधि लिखा सो जाइ न मेटा।
बीस बरिस आउ हुत मोरी।
पूजी आइ को देइ बहोरी।
सहुँ चला जात हौं कासी।
पहुँचा आइ समय का रासी।
सिंघलदेव कँह आन बियाहा।
ना जानउ तुम्ह कहँ का आहा।
काल्हि दौपहरी भीतर, मैं काशी मरि मोख।
तुम कहँ भयो इतना फुरन भो मॅहँ इतना दोख।

तारों के डूबने के साथ सखियाँ चित्ररेखा के पास आती हैं। चित्ररेखा के नाभिनिहित रूप को देखकर वे आश्चर्य करती हैं। चित्ररेखा अंचल पर लिखे लेख को पढ़कर सती होने के लिए तत्पर होती है। उधर प्रीतम कुँवर मरने के

सिर उतार होता है। कहता है दान देता है। दान से प्रसन्न होकर व्याध ने उसे आशीर्वाद दिया 'चिरंजीव तुम होहु'। आशीर्वाद पाकर राजकुमार लौटा। राजकुमार के चिरंजीव होने की बात चारों ओर फैली। चित्ररेखा और प्रीतम कुँवर का मिलन हुआ।

इस प्रकार 'चित्ररेखा' सूफी प्राख्यानक काव्य परम्परा के अन्तर्गत एक प्रेम-काव्य है। और विप्रलम्भ के बाद संयोग-सुख की जीवन सापेक्ष अनुभूति के अप्रस्तुत विधान के माध्यम से कवि आत्मा और ईश्वर के मिलन-स्वरूप की अवतारणा करता है।

गई आस उपराजा सोग माहूँ सुख पोषा।
अवस तै मिले बिछोही जिन्ह हिय होई सियोग।

चित्ररेखा १०१।

सृष्टि में ईश्वर वैसे ही व्याप्त है, जैसे काष्ठ में अग्नि और दुग्ध में घी। जो साधक भ्रमर के समान केतकी के काँटे से अपना हृदय प्रेम की पीर से बिद्ध कर लेता है वही ईश्वर रस की अनुभूति कर सकता है—

अगिन काठ जिमि खीर लोक बा जो जानी जो मन देइ भया।
भँवर भए जस केतकि काँटा। सो रस पाई होइ गुर चौंटा।

चित्ररेखा ९९।

'चित्ररेखा' कड़वक शैली की रचना है जिसमें सात अर्धालियों के पश्चात् एक दोहा का क्रम है।

कहरनामा १—'कहरनामा' का सम्पादन डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 'महरी बाईसी' नाम से किया है[1]। डॉ० गुप्त को इस ग्रन्थ की एक प्रति [illegible] रिसैस्स आफिस, लन्दन से प्राप्त हुई थी। इसके सम्पादन के सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है—"महरी बाईसी नाम मेरा दिया हुआ है। स्पष्ट नामोल्लेख कृति में नहीं है। केवल महरी बाईसी का उल्लेख कृति में जहाँ तहाँ हुआ है, और इस कृति में केवल बाईस गीत हैं इसलिए यह नाम दे दिया गया है। सम्भव ही नहीं आशा भी है कि आगे की खोजों में इस कृति का ठीक नाम ज्ञात हो जायगा।

१—जायसी ग्रन्थावली (महरी बाईसी) पृ० ७११-७२१।

इस ग्रन्थ का नाम 'कहरानामा या कहारानामा' है। इस ग्रन्थ की भिन्न भिन्न प्राप्त हस्तलिखितों में यही नाम मिलता है।

कहरानामा की एक हस्तलिखित प्रति रामपुर स्टेट पुस्तकालय में है। इस प्रति के २१ पृष्ठ हैं इसमें रचना काल ९९७ हि० अंकित है। इसकी एक प्रति बिहार के मनेर शरीफ खानकाह (सैयद हसन अस्कारी) से प्राप्त हुई है। इसकी एक प्रति बिसवाँ (सीतापुर) में उपलब्ध हुई है। इसमें १२ पृष्ठ हैं। प्रत्येक पृष्ठ में १६ पंक्तियाँ है। इसकी लिपि नागरी है। इसका लिपिकाल १७७० है। इस प्रति के आरम्भ में अथ कहरनामा लिख्यते' लिखा है। इसका उपसंहार इस रूप में हुआ है—

कहरानामा भाषा कीन्हा जो गावै सो तारिहै रे।
राम नाम पर मारग महिमा रामै पार उतारिहै रे[२]।

इस ग्रन्थ का आरम्भ कवि ने इस प्रकार किया है—

सुनो बिनती मैं किरति बखानौं, महरा बस महरार्इ रे।
सयेउ केवट को नाव चलावै को खायेउ गहरार्इ रे।
कोई गुन काढ पन्थ सिर धुनहू चला ओर गुन खींचइ रे।
तीर नीर उपजे मैं सोई, पाछिरें तो फल पाँचइ रे।

जायसी ग्रन्थावली ७११

अर्थात् संसार एक सागर के समान है। इसमें धर्म नौका के समान है। नाव पर चढ़नेवाला पार उतरता है। नौका के प्रस्थान के पश्चात् जो नाविक को बुलाता है, वह मूर्ख है, कारण वह नौका लौटाता नहीं है। वर्षा में नदी का पाट मन को आतंकित कर देता है। पवन-संचालित लहरें मन को प्रकम्पित कर देती हैं। मोघ से, मन की दृढ़ता से लहरों के उद्वलन से पार जाया जा सकता है। इसके पश्चात् महरा महरी के विवाह के माध्यम से कवि आत्मा परमात्मा के मिलन-स्वरूप का प्रतिकात्मक वर्णन करता है।

कवि ने इस ग्रन्थ में आध्यात्मिक विवाह की प्रस्तावना और उसका स्वरूप विधान कहाँर जाति में प्रचलित विवाह प्रथा के अप्रस्तुत विधान के माध्यम से किया है—

२—नागरी प्रचारिणी सभा हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण १९२६ २८ पृ० ४३१।

मा मिनुसार मथिकरा होतहिं [×] पाखिम महरा रे।
दुलह बोलावहु चौक पुरावहु औ हँसि बोला महरा रे।
हुदुक तबला झाँझ मंजीरा मधुर बाँसुरि बाजे रे।
सबद सोहावा मिहरिन गावा घर घर महुरी साजे रे।
पूजा पाती दुलहिनि राती दुलह मा असवारा रे।
बाजन बाजे किमठ सब साजे मा सब ठाठ पसारा रे।
मंगल चारा मा चहुंकारा चले गरब सब केकी रे।

पृष्ठ ७२०।

इस प्रकार हुडुक तबर, झाँझ, मजीर, बाँसुरी दुलह चौक आदि विवाह-सम्बन्धी सापेक्ष क्रियाओं के माध्यम से कवि आत्मा और परमात्मा का मिलन और परिचय की भूमिका प्रस्तावित करता है।

'कहरा' या 'कहरवाँ' एक प्रकार का लोक गीत है जो कहारों में प्रचलित है। विप्रमुस' 'चौतीसा' आदि रूपों के साथ कबीर ने भी 'कहरवा' का प्रयोग किया है। सन्त साहित्य के अन्य कवियों ने भी इस विशेष विधा का प्रयोग किया है। 'कहरानामा' इसी परम्परा के अन्तर्गत की रचना है। यह गेय है जिसका गेय तत्व 'लोक धुनि' पर आधारित है।

मसला या मसला नामा —नागरी प्रचारिणी सभा में जायसी कृत 'अखरावटी' की एक हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है। इसमें 'मसला' का तीन पृष्ठों का एक हस्तलिखित अंश भी संलग्न है—

लिखा है सोतलदास मजमर कृत अखरावटी ग्रन्थ केर यह नाम औ मसला बाये लिखब[1]।

इस रचना में कवि अल्लाह से प्रेम करने का आग्रह करता है—

यह तन अलह मियाँ सो लाई। जिहि का पाई तिहि की नाई।
बात बहुत जो काहु बनाई। भूख पसोरे उड़ि उड़ि जाई।

\+ + + +

अब नाई सो नेह कर फेर न यह संजोग।
कोसहू से परि भवरी, मई अैक ही बोग।

1—नागरी प्रचारिणी सभा,—'जायसी कृत अखरावटी और मसलों की प्रतियाँ' पृ०—२५।

इस ग्रन्थ का नाम 'महुरानामा या कहारानामा' है। इस ग्रन्थ की भिन्न भिन्न प्राप्त हस्तलिखितों में यही नाम मिलता है।

कहुरानामा की एक हस्तलिखित प्रति रामपुर स्टेट पुस्तकालय में है। इस प्रति के २१ पृष्ठ हैं इसमें रचना काल ९६७ हि० अंकित है। इसकी एक प्रति बिहार के मनेर शरीफ खानकाह (सैयद हसन अस्कारी) से प्राप्त हुई है। इसकी एक प्रति बिसवाँ (सीतापुर) में उपलब्ध हुई है। इसमें १२ पृष्ठ हैं। प्रत्येक पृष्ठ में १६ पंक्तियाँ है। इसकी लिपि नागरी है। इसका लिपिकाल १८७० है। इस प्रति के आरम्भ में 'अथ महुरनामा लिख्यते' लिखा है। इसका उपसंहार इस रूप में हुआ है—

> कहुरानामा भाषा कीन्हा जो मानै सो तारिहै रे।
> राम नाम पर मारग महिमा रामै पार उतारिहै रे[२]।

इस ग्रन्थ का आरम्भ कवि ने इस प्रकार किया है—

> सुनो बिनती मैं किरति बखानौं, महरा बस महराई रे।
> गनेश कैवट को नाव चलावै जो सामेल पहराई रे।
> कोई गुन काइ पन्थ सिर धुनहु चला ओर धुन लीबइ रे।
> तीर नीर उबकै मैं सोई, पाछिरैं तौ फल पीवइ रे।
>
> जायसी ग्रन्थावली ७११

अर्थात् संसार एक सागर के समान है। इसमें धर्म नौका के समान है। नाव पर चढ़नेवाला पार उतरता है। नौका के प्रस्थान के पश्चात् जो नाविक को बुलाता है, वह मूर्ख है कारण वह नौका लौटाता नहीं है। वर्षा में नदी का पाट मन को भारकित कर देता है। पवन-संचालित लहरें मन को प्रकम्पित कर देती हैं। योग से, मन की दृढ़ता से लहरों के उद्वेलन से पार जाया जा सकता है। इसके पश्चात् महरा महरी के विवाह के माध्यम से कवि आत्मा परमात्मा के मिलन-स्वरूप का प्रतीकात्मक वर्णन करता है।

कवि ने इस ग्रन्थ में आध्यात्मिक विवाह की प्रस्तावना और उसका स्वरूप विधान कहाँर जाति में प्रचलित विवाह प्रथा के अप्रस्तुत विधान के माध्यम से किया है—

२—नागरी प्रचारिणी सभा हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का चतुर्दश त्रैवार्षिक विवरण १९२९ २८ पृ० ४२१।

मा मिपुसार मचिकरा होवहि [×] पाखिम पहरा रे।
दूलह बोलावहु लोक पुरावहु औ हँसि बोला महरा रे।
डुडुक ढमका झाँझ मंजीरा मधुवर बाँसुरि बाजै रे।
सबद सोहावा मेहरीन गावा घर घर महरी साजै रे।
पुवा पाठी बुकाहिनि राठी दूलह मा असवारा रे।
बाजन बाजे जियरा सब साजे मा सन तन पसारा रे।
मंगल चारा भा बहकारा चल परब सब केली रे।

पृष्ठ ७२०।

इस प्रकार डुडुक ढमर झाँझ, मजीर, बाँसुरी दूलह लोक आदि विवाह-सम्बन्धी सापेक्ष क्रियाओं के माध्यम से कवि आत्मा और परमात्मा का मिलन और परिणय की भूमिका प्रस्तावित करता है।

'कहरा' या 'कहरवा' एक प्रकार का लोक गीत है जो कहारों में प्रचलित है। विप्रमतीसी' 'चौतीसा' आदि रूपों के साथ कबीर ने भी 'कहरवा' का प्रयोग किया है। सन्त साहित्य के अन्य कवियों ने भी इस विशेष विधा का प्रयोग किया है। 'कहरानामा' इसी परम्परा के अन्तर्गत की रचना है। यह गेय है, जिसका गेय तत्व 'लोक भूमि' पर आधारित है।

मसला या मसला नामा —नागरी प्रचारिणी सभा में जायसी इत 'अखरावटी' की एक हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है। इसमें 'मसला' का तीन पृष्ठों का एक हस्तलिखित अंश भी संलग्न है—

लिखा है सौतकराम माहमद इन अखरावटी ग्रन्थ केर यह नाम औ मसला भाये लिखब'।

इस रचना में कवि अल्लाह से प्रेम करने का आग्रह करता है—

यह तन अल्लह मियाँ सो लाई। जिहि का भाई तिहि की भाई।
बात बहुत जो काहे बनाई। मूल पखेरै उमि उडि जाई।

+ + + +

अब लागि सो नेह कर फेर न यह संजोग।
कोल्हू के पारि बापुरी, भई बैल ही जोग।

१—नागरी प्रचारिणी सभा,—'जायसी इत अखरावटी और मसलों की प्रतियाँ' पृ०—२५।

इस ग्रन्थ का नाम 'कहरानामा या कहारानामा' है। इस ग्रन्थ की भिन्न भिन्न प्राप्त हस्तलिखितों में यही नाम मिलता है।

कहरानामा की एक हस्तलिखित प्रति रामपुर स्टेट पुस्तकालय में है। इस प्रति के २५ पृष्ठ हैं इसमें रचना काल ९९७ हि० अंकित है। इसकी एक प्रति बिहार के मनेर शरीफ खानकाह (सैयद हसन असकारी) से प्राप्त हुई है। इसकी एक प्रति बिसवाँ (सीतापुर) में उपलब्ध हुई है। इसमें १२ पृष्ठ हैं। प्रत्येक पृष्ठ में १६ पंक्तियाँ हैं। इसकी लिपि नागरी है। इसका लिपिकाल १७७० है। इस प्रति के आरम्भ में अथ कहरनामा लिख्यते' लिखा है। इसका उपसंहार इस रूप में हुआ है—

कहरानामा भाषा कीन्हा जो गावै सो तारिहै रे।
राम नाम पर मारग महिमा रामै पार उतारिहै रे[२]।

इस ग्रन्थ का आरम्भ कवि ने इस प्रकार किया है—

सुनो बिनती मैं किरति बखानौं, महरा बस महराई रे।
मयेड केवट को नाव चलावै को कावेउ महराई रे।
कोई गुन लाइ पन्थ सिर चूमहू चला और गुन खींचइ रे।
तीर नीर उपर्से नै सोई, माझिहैं तो फल पांचइ रे।

जायसी ग्रन्थावली ७११

अर्थात् संसार एक सागर के समान है। इसमें धर्म नौका के समान है। नाव पर चढ़नेवाला पार उतरता है। नौका के प्रस्थान के पश्चात् जो नाविक को बुलाता है, वह मूर्ख है कारण वह नौका लौटाता नहीं है। वर्षा में नदी का पाट मन को आतंकित कर देता है। पवन-संचालित लहरें मन को प्रकम्पित कर देती हैं। योग से, मन की दृढ़ता से लहरों के उद्वेलन से पार जाया जा सकता है। इसके पश्चात् महरा महरी के विवाह के माध्यम से कवि आत्मा परमात्मा के मिलन-स्वरूप का प्रतिकात्मक वर्णन करता है।

कवि ने इस ग्रन्थ में आध्यात्मिक विवाह की प्रस्तावना और उसका स्वरूप बिधान कहाँर आदि में प्रचलित विवाह प्रथा के अप्रस्तुत विधान के माध्यम से किया है—

२—नागरी प्रचारिणी सभा हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण १९२६ २८ पृ० ४३१।

भा मिमुशार बनिकरा होतहिं [×] पाछिल पहरा रे।
दुलहु बोलावहु चौक पुरावहु औ हँसि बोला महरा रे।
दुहुक ढवका झाँझ मंजीरा, महुवर बाँसुरि बाजे रे।
सबद सोहावा मेहुरीम गावा घर घर महरी साजे रे।
पूजा पाती दुलहिनि राती दुलहु भा असवारा रे।
बाजन बाजे छिवउ सब साजे भा सब तत्त पसारा रे।
मंगल चारा भा बहकारा चले गरब सब केली रे।

पृष्ठ ७२०।

इस प्रकार हुडुक ढवर, झाँझ, मजीर, बाँसुरी दुलह चौक आदि विवाह-सम्बन्धी वाद्य विधानों के माध्यम से कवि आत्मा और परमात्मा का मिलन और परिणय की भूमिका प्रस्तावित करता है।

'कहरा' या 'कहरवाँ' एक प्रकार का लोक गीत है जो कहारों में प्रचलित है। 'बिरहुली' 'चौतीसा' आदि रूपों के साथ कबीर ने भी 'कहरवा' का प्रयोग किया है। सन्त साहित्य के अन्य कवियों ने भी इस विशेष विधा का प्रयोग किया है। 'कहरानामा' इसी परम्परा के अन्तर्गत की रचना है। यह प्रेम है जिसका प्रेम तत्व लोक भूमि पर आधारित है।

मसला या मसलानामा —नागरी प्रचारिणी सभा में जायसी कृत 'अखरावटी' की एक हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है। इसमें 'मसला' का तीन पृष्ठों का एक हस्तलिखित अंश भी संलग्न है—

लिखा है सोतवराम महमद कृत अखरावटी ग्रन्थ केर यह नाम औ मसला बाते लिखब[1]।

इस रचना में कवि अल्लाह से प्रेम करने का आग्रह करता है—

यह तन अल्लह मियाँ सो लाई। जिहि का पाई तिहि की गाई।
बात बहुत जो काहे बनाई। भूख पछोरे उदि उदि जाई।

+ + + +

जब लाई सो नेह कर फेर न यह संजोग।
कोल्हू ते परि भतरी, गई बैल ही जोग।

१—नागरी प्रचारिणी सभा,—'जायसी कृत अखरावटी और मसलों की प्रतियाँ' पृ०—२५।

निष्प्रेम भाव के जीवन का कोई मूल्य नहीं है। यही इस कृति का प्रतिपाद्य विषय है। विषय की अपेक्षा भाषा की दृष्टि से इस कृति का विशेष महत्व है। १६ वीं शताब्दी में प्रचलित अवधी भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों के अनुपम उदाहरण इस कृति में उपलब्ध हो जाते हैं। उदाहरण—

(१) जेहि घर सासु तरुनि है, बहुअन कौन सिंगार।
(२) पुन्य पाप एक रूप मा जानी दूधक दूध पानीक पानी।
(३) प्रीतम प्रेम कोइ कहै आना आनक खेत पयारहिं खाना।
(४) अंत न समुझु करसि का बैठ आगुहि बनिमा काम्हिहिं सेठ।
(५) निरखै दोर रूप मैं हेरा मारै अंब कि खाइ पखेरा।
(६) सबकु कछु नेकी ले साथा खाया भात उड़ाया पाता।

उसमान—इनकी रचना 'चित्रावली' है। उसमान गाजीपुर के निवासी थे सूफी-काव्य-धारा के अन्तर्गत लिखे गए प्रेमाख्यानक काव्यों के कवियों ने अपने स्थान का परिचय दिया है। इस परम्परा का अनुसरण करते हुए उसमान ने भी अपने निवास स्थान गाजीपुर का परिचय इन पंक्तियों में दिया है—

गाजीपुर उत्तम स्थाना देवस्थान आदि जग जाना।
गंगा मिलि जमुना तह आई, बीच मिली गोमती सोहाई।

× × ×

ताकी पुरकी करौं बड़ाई, बानहु अमरा मीर।
सुम सुबास नगर मह, पन्नग बासी छीर।

अपने निवास-स्थान के परिचय के पश्चात् कवि अपने परिवार का परिचय देता है। उनके पिता का नाम 'सेखहुसेन' था। इनके पाँच भाई थे—

कवि उसमान बसे तेहि गाऊँ सेख हुसेन तनै जग नाऊँ।
पाँचो भाइ पाँचो बुधि होये एक एक भाँति भो पाचो कीये।
सेख अजीज भई सिधि आता, सायर सील छत्र कर बाना।
मानुल्लह बिधि मारग गहा जोग साध भो मौन होइ रहा।
सेख फैजुल्लाह पीर अपारा, पर्ने न काहु मदे इम्बिआरा
सेख हसन गाएन मम आहा गुन बिद्या कहँ गुनी सराहा।

कवि उसमान जहाँगीर के समकालीन थे। अपने युग के सम्राट के रूप में उन्होंने जहाँगीर की प्रशंसा की है—

मुकुदीन महीपति भारी जाकर आन मही मँह सारी।
आवहि अरबी और इराकी, रत मिसिरी कस्तुरी बर्ताकी।

× × ×

तपइ साह जस रवि उजियारा, ग्रीषम होइ रहा संसारा।
माथु सौंह जब जब उहरांई संमुख साह निमर न जाई।

चित्रावली' का आरम्भ कवि उसमान ने हिजरी १०२२ में किया था। इस काव्य के प्रणयन में कवि को यथेष्ठ परिश्रम करना पड़ा था। कारण यह चित्र सम्म काव्य है और कथा की संवेदनशीलता को शब्द-बद्ध करने की सफलता इस तत्व पर आधारित है कि कवि में स्वयं कितनी संवेदनशीलता है। कवि ने उसका वर्णन इस रूप में किया है—

तन सहुम पाइस जब कही, तब हम बचन चारि एक कही।
कहुत करेज कोहू मा पानी सोई जान पीर जिन्ह जानी।

अपने गुरु के रूप में कवि ने सिद्ध शाह निजाम का स्मरण किया है—

शाह निजाम पीर सिवदाता विस्व देस जिम रवि परकाता।
नार गौरि भीतर मस्ताना, जहँ अस्त कइ सब कोइ जाना।

× × × ×

मोहि भया कै एक दिन, अबा न जावहि गहि माथ।
गुरु मुख बचन सुनाय कै कवि मह कीन्ह सनाथ।

नैपाल के राजा धरनीधर तथा रानी हीरा ने शिव की तपस्या की। शिव की कृपा से एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम सुजान रखा गया। सुजान गुण शाली था कुशाग्र बुद्धि का था। अल्प आयु में उसने अनेक विद्याओं का अर्जन किया। वह एक कुशल अश्वारोही था। एक दिन मृगया के उपरान्त वह अपने अनुचरों के साथ घर लौट रहा था। मार्ग में आँधी आई। वह मार्ग भूल गया। वह एक देव-पर्वत पर पहुँचा। देवगढ़ी में उसे नींद आ गई। देव अपने देश के राजा के पुत्र की रक्षा हेतु द्वार पर बैठ गया। इस मध्य देव के मित्र ने उसे सूचित किया कि रूपनगर के राजा चित्रसेन की ग्यारह वर्षीय कन्या चित्रावली की

वर्ष उत्सव मनाया जा रहा है। दोनों मित्रों ने वहाँ के लिए प्रस्थान किया। वे सोते हुए राजकुमार को भी अपने साथ ले गए। कुँवर की निद्रा खुली। वह चित्रावली पर मुग्ध हुआ है। उसने अपना चित्र बनाया। चित्र बनाकर वह पुनः सो गया। देव उसे पुनः मढ़ी में उठा लाये। कुँवर के चित्र को देखकर चित्रा वली विकल हो उठी। सुजान घर लौटा। सुबुद्धि नामक ब्राह्मण के साथ वह पुनः उस देव मढ़ी पर पहुँचा वहाँ उसने एक अन्नसत्र की संस्थापना की। चित्रावली के दूत कुँवर की खोज करते वहाँ पहुँचे। उनके साथ सुजान रूप नगर आया। दोनों शिव मन्दिर में मिले।

चित्रावली ने एक कुटीचर का अपमान किया था। प्रतिशोध की भावना के कारण कुँवर को अन्धा कर उसने एक पर्वत की गुफा में डाल दिया।

वहाँ उसे अजगर निगल गया। राजकुमार के विरह-ताप के न सह सकने के कारण अजगर ने उसे उगल दिया। एक वन मानुष की प्रेरणा से उसके नेत्र ठीक हो गए। इसके पश्चात् एक गज ने उसे परिबद्ध किया। एक पक्षी उन दोनों को तत्पश्चात् उड़ा ले गया। भय से हाथी ने उसे समुद्र में गिरा दिया। सुजान सागर गढ़ पहुँचा। वहाँ की राजकुमारी कैलावती से उसने विवाह किया। वह तत्पश्चात् चित्रावली के देश में आया। लोक भय से चित्रावली के पिता ने राजकुँवर की हत्याका प्रयत्न किया। परन्तु राजकुँवर हत्यारों को पराजित कर, चित्रावली से विवाह कर घर लौटा।

न्यामत खाँ (जान कवि)—कवि जान का स्पष्ट परिचय अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। इस सम्बन्ध में विचार करने वालों की धारणा है कि ये शाहजहाँ के समकालीन थे। जान-रचित 'अलिफ खाँ की पैड़ी' नामक एक रचना की चर्चा की जाती है। इसके रचयिता जान कवि माने जाते हैं। इस कृति की रचना कवि ने अपने पिता अलिफखाँ की कीर्ति की स्मृति में की थी। इसमें नगर कोट के युद्ध का वर्णन है। डॉ॰ सरला शुक्ल ने इस ग्रन्थ से कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत की हैं—

> पहले अल्लह सुमरिये जिन्ह सुभट उपजाया।
> लोक त्रिसाबर्न कारनै, रचनै नहिं काया।
> मान सरै सारै मही, सो करमु माया।
> सोई जिन्हें पाल कहि, जिस दोउ पुराया।[1]

---

१ जायसी के परवर्ती सूफी कवि और काव्य पृ॰ १७२।

बान कवि के ६० ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। [१] इसमें २१ ग्रंथ प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा में आते हैं। इनमें से 'कथा रतनावली', कथा कनकावती 'ग्रन्थ बुद्धि सागर', 'कथा कमलावती सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों के सन्दर्भ की रचनायें हैं।

कवि इस सन्दर्भ की रचनाओं में सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा के अनुसार निर्गुण वन्दना करता है मुहम्मद साहब का स्मरण करता है साहेबक्त का गुणगान करता है —

सोलह से पचहत्तरे, जहाँगीर के राज।
तीस चौस में बान कहि, पहु छायी सब साज।

कथा कनकावती।

गुन बखान अब सुपती को, चिरजीव बचता कोरी को।
साहि जहाँ साहिन को साह, जहाँगीर सुत जगत पनाह।

कथा पुहुप बरिषा।

कथा नलदमन में कवि औरंगजेब का उल्लेख करता है—

औरंगजेब सब भूमि सम्भारि, औरंगजेब साहि सुधार।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि जहाँगीर, शाहजहाँ एवं औरंगजेब के काल तक कवि जीवित था। अर्थात् कवि बान का समय सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर अट्ठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक था। कवि बान ने अपनी भिन्न भिन्न रचनाओं के रचनाकाल का भी उल्लेख किया है, जिससे उनके समय का परिचय मिलता है—

संवत् सोरह सौ पच्चासी अगहन मास कथा प्रकासी।

कथा रूपमञ्जरी।

नाम धर्यो बरिषा पुहुप, सुनि रीझ अलि प्रान।
सन सहस सैतालीस मै कथा कही यह बान।

कथा पुहुप बरिषा।

---

१. इनके ग्रन्थ हिन्दुस्तानी एकेडमी में सुरक्षित हैं।

शेख नबी—इनकी कृति 'ज्ञानदीप' है। ये जहाँगीर के समकालीन थे। 'ज्ञानदीप' की रचना इन्होंने हि० सन् १०२९ में (सन् १६१९) में की थी।

मुरार दीनदिन पति जहाँगीर नित नेम।
कुल दीपक द्युति कमल की साहेब सहित सलेम।
शाहि सलेम सभापति सोभी दल के भार कंवल दल डोली।

× × ×

एक हजार सन रहे उनतीसा, राज मुकुल्ही मनहु बरीसा।
संवत् सोलह से छिहत्तरा कथा बरन कीन्ह अनुसारा।

कवि जौनपुर के अन्तर्गत मऊ का निवासी था—

मऊ दोसर पुर जाना जउनपुर सरकार सुजाना।
तहवाँ शेखनबी कवि अहीं अन्ध अमर पुन पिंगल नहीं।
और सिंगार बिरह किछु पावा पूरन पद से जोग सुनावा।

ज्ञान दीप' की कथा नैमिषार मिथिला के राजा रायसिरोमणि से सम्बन्धित है। शंकर प्रसाद से उसे ज्ञान दीप पुत्र उत्पन्न हुआ। आखेट में वह अपना मार्ग भूल गया। सिद्धनाथ योगी उसे योग में दीक्षित करने में असमर्थ रहा। फिर सिद्धनाथ ने उसे संगीत में दीक्षित किया। वह विद्याधर के राजा की सभा में संगीत से मुग्ध हुआ। सुजानी राजा की पुत्री देवयानी की सहेली थी। उसने ज्ञानदीप को देवयानी की ओर आकर्षित किया। मंत्र-बल से आकाश मार्ग से वह देवयानी के महल में प्रतिदिन उतरता था। एक दिन राजा के बाण से आहत होकर वह गिरा। ज्ञान दीप बन्दी बनाया गया। उसे वध का दण्ड मिला। मंत्री ने इस दण्ड से असहमति प्रकट की। राजा सुखदेव ने काष्ठ की पेटिका में बन्द कर उसे सरिता में प्रवाहित कर दिया। ज्ञानदीप मानराय की राजधानी मानपुर में बहता हुआ गया। राजा ने उसे अपने पुत्र के रूप में स्वीकार किया। पुनः ज्ञानदीप और देवयानी का विवाह हुआ मानराय की मृत्यु पर ज्ञानदीप मानपुर गया। देवयानी की विरह पीड़ा से खिन्न होकर सुजानी ज्ञानदीप की खोज में निकली। वनस्थलि रानी ने उसकी सहायता की। मार्ग में ज्ञानदेव देवयानी के पास पहुँचा। उसे लेकर उसने स्वदेश के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में एक वनस्पति-पूर्ण जलाशय के तट पर वे विश्राम के लिए उतरे। वहाँ का

राजा सुन्दर सेन देवयानी पर मुग्ध हुआ। उसने छल किया। हंसजवाहिर ने सुन्दर सेन पर आक्रमण कर देवयानी को मुक्त किया। इस प्रकार यह कथा सुखान्त है। उदाहरण के लिए इस कृति का एक अंश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। यह अंश विरह-वर्णन के सन्दर्भ का है। विप्रलम्भ के अन्तर्गत बारह मासा की एक परिपाटी प्रेमाख्यानक काव्यों में उपलब्ध होती है। प्रस्तुत अंश सावन मास से सम्बन्धित है—

एहि सावन बिरहिन तन तावन बरसत मेघ दुख कीन्ह अमावन।
पेखत मेघ मनोभव सैना, अंकुस चपला महावत नैना।

× × ×

दुर्द बरस बरसे चहुँ ओरा दुख मान चहि भाग हिलोरा।
सिखहि सिखन चहि बोलन दमामा कोकिल घन माचहि चढि बामा।
भरा न काम पैठि पियासी नैन भूमि अंबर सुखसुप सासी।
कमल उबारे नायक बोलन हिया दुने दुख दायक॥
एहु दुख बिरहै नायका नायक बोलहि बिसेस।
भूख सबै सिंगार रस भई जो जोगिनी भेस॥

कवि कासीम शाह—कासिम शाह की रचना 'हंसजवाहिर' है। इस रचना में कवि ने अपना परिचय इस रूप में दिया है—

है लखनऊ मध्य अभिसारा दरियाबाद नगर उजियारा।
दरियाबाद माँझ मम ठाऊँ, अमानुल्लाह पिता कर नाऊँ।
तहवाँ मोहि जन्म विधि दीन्हा, कासिम नाँव जाति का हीना।

कवि ने इस कृति की रचना हि॰ सन् ११४९ (सन् १७३६) में की थी।

बारह सै उनचास जो भाषा तब यह कथा प्रेम कवि भाखा।

यहाँ समय के रूप में कवि दिल्ली सुल्तान मुहम्मद शाह का स्मरण करता है—

मुहम्मद शाह देहली सुल्तानू, कामी गुण बहु कीन बखानू।
जाके पाट धीर दरबारा भावहि दीप जगत के राजा।

सलोम नगर के पीर मुहम्मद और पीर अशरफ के प्रति सम्मान भाव व्यक्त करता है—

सुमिरौं नाम करीम सो पीरा, जेहि की नाव चढ़े यहि तीरा।

× × ×

तेहि ज्योति में दीपक बारा पीर मुहम्मद जग उजियारा।
धर्मवन्त निरमल गुरु, मखदूम हमारे पीर।
जिन्ह पर दीपक बुझ रहा असरफ जोत शरीर॥

बलख नगर के सुल्तान बुरहानशाह को हंस नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। बुरहानशाह की मृत्यु पर देश में अराजकता फैली। बालक हंस बन्दी बना लिया गया। उसकी माँ बन्दीगृह से बालक हंस को लेकर रूम देश के शाह के पास पहुँची। चीन के शासक की रानी मुक्ताहार के गर्भ से जवाहर नामक पुत्री हुई। जवाहर ने सरोवर तट पर स्नान करनेवाली एक परी से मित्रता की। उसका नाम शम्स था। एक दिन शम्स उड़कर हंस के निकट पहुँची। हंस के मन में जवाहर के प्रति उसने आकर्षण उत्पन्न किया। इस घटना के उद्घाटन के कारण शम्स बन्दिनी बनी। हंस जवाहर के मध्य व्यवधान उपस्थित हुआ। जवाहर का विवाह दिनौर के साथ ठीक हुआ। शम्स दिनौर को विवाह मण्डप से उठा ले गई। उसके स्थान पर हंस को बिठा दिया। दोनों का विवाह हुआ। इसके पश्चात् परियों ने हंस के स्थान पर दिनौर को बैठा दिया। जवाहर ने दिनौर के साथ विवाह करना स्वीकार नहीं किया। दिनौर जोगी बनकर निकल गया। हंस अनेक बाधाओं के पश्चात् जवाहर से मिला। हंस जवाहर के साथ घर की ओर प्रत्यावर्तित हुआ। मार्ग में दिनौर के प्रयास से उनमें पुनः वियोग हुआ। वह भ्रमण करते भोला शाह के यहाँ पहुँचा। वहाँ उसकी पुत्री (दिनौर की बहन) से उसका विवाह हुआ। शम्स के प्रयत्न से उसे जवाहर भी मिल गई। जवाहर के गर्भ से उसे हुसैन नामक पुत्र हुआ, जो उसका उत्तराधिकारी हुआ।

'हंस-जवाहिर' की कथा काल्पनिक है। कथा के घटनास्थलों के रूप में बलख, चीन और रूम प्रदेशों को कवि ने चुना है। परन्तु पात्रों के नाम तथा घटना-क्रम अन्य प्रेमाख्यानक काव्यों के समान भारतीय है। विप्रलम्भ वर्णन के सन्दर्भ की कुछ पंक्तियाँ उदाहरण के लिए प्रस्तुत हैं—

नैन चुवैं जस सावन भोरी पिउ बिन नाउ को खोवै ।
सखी कन्त संग करैं किलोला राधा पहिरि भूलै हिंडोला ।
मोर सिंगार सो लागै गाहा, नहीं के बाँह गहेउ बोगाहा ।
पवन झुलावैं भकहिं मम बिरह झकोरै देव ।
गगन चढ़े उतरे अवनि पिउ बिन धाम को लेव ।

जायसी के समान कवि कासीम शाह ने भी इस कृति के रूपक-तत्व का स्पष्टीकरण किया है—

कासिम कथा जो प्रेम बखानी, बूझै सोई जो प्रेमी ज्ञानी ।
कौन जवाहिर अस सोहाई कौन हंस जो करत बड़ाई ।
कौन हंस जो दरसन लोभा, कौन दीप जेहि ऊँचे शोभा ।
कौन पंथ जो कठिन अपारा कौन समुद्र जो उतरे पारा ।
कौन मीत जिन संग जिव दीना कौन सो दुर्जन अति छल कीना ।
को ज्ञानी जिन ज्ञान सुनावा, कौन पुरुष जिन गुन चित लावा ।
कौन दुष्ट जेहि दरस न सूझा कौन भेद जेहि समझहिं बूझा ।।

नूर मुहम्मद —नूर मुहम्मद ने 'इन्द्रावती' की रचना हि० ११५७ (सं० १८०१, या सन् १७४४ ई०) में की थी । कवि किसी 'सबरहद' नामक स्थान का निवासी था । यह सबरहद जौनपुर जिले में अब भी विद्यमान है ।

कवि अस्थान कीन्ह जेहि ठाँऊ, सो वह ठाँऊ सबरहद नाऊँ ।
पूरब दिसि बनरास समाना, बहै मदीनहीं करे पाना ।
है सत पथ महं पंथिक रहना देखु ठहायो आगम कहना ।

इन्द्रावती ८२

इन्द्रावती की रचना कवि ने तरुण अवस्था में की थी । इसका उल्लेख उसने इस प्रकार किया है—

है कवि समय गई तरुनाई बूढ़ न अबहीं कवि लरिकाई ।
जाके हिये रसिक बुधि होई कहुँ बूझ कहत है सोई ।
जिनका कविताक अब कर थोरी है थोरी बुधि दुनिया मोटी ।

इसके अतिरिक्त इनकी दूसरी कृति है 'अनुराग बाँसुरी' । इस कृति का रचना काल है हि० ११७८ (संवत् १८२१)—

यह इन्द्रावत से बढ़कर, फेर सुनाएउ बचन मनोहर।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि 'नलदमन' नामक इनकी एक अन्य कृति भी है परन्तु यह कृति प्राप्य नहीं है। इन्द्रावती में कवि ने शाहे वक्त के रूप में 'मुहम्मद शाह' की प्रशंसा की है—

कहौ मुहम्मद साह बखानू । है सूरज दिल्ली सुलतानू ।
सब काहू पर दाया धरई धरम सहित सुलतानी करई ।

'इन्द्रावती की कथा पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध दो भागों में है। प्रथमार्ध प्रकाशित है उत्तरार्ध की हस्तलिखित प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित पड़ी हुई है।

कालिंजर के राजकुमार ने स्वप्न में दर्पण में किसी सुन्दरी का सौन्दर्य देखा। राजकुमार ने अपने तपस्वी गुरु नाथ को पथ प्रदर्शक बनाया। वह अपने आठ साथियों के साथ योगी होकर आगमपुर के लिए चल पड़ा। अनेक बाधाओं के पश्चात् वह आगमपुर पहुँचा। शिव मन्दिर में आकाशवाणी हुई, और राजकुमार राजकुमारी की फुलवारी में गया। वाटिका में राजकुमारी से उसका मिलन हुआ। राजकुमार मूर्छित हो गया। राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए समुद्र से मोती निकालना अनिवार्य था। इस प्रयास में वह बन्दी हुआ। उसके मन्त्री बुध सेन ने उसे मुक्त कराया। राजकुमार को मोती मिला और उन दोनों का विवाह हुआ।

कवि ने इन्द्रावती के उत्तरार्ध में कथा का आरम्भ राजकुँवर और इन्द्रावती के संयोग सुख से किया है। राजकुँवर की प्रथम रानी सुन्दर कालिंजर में कष्ट से दिन व्यतीत कर रही थी।

राजकुँवर के प्रस्थान-समय सुन्दर रानी गर्भवती थी। समय से सुन्दर रानी के कीर्तिराय नामक एक पुत्र हुआ। रानी ने एक दिन पवन से राजकुँवर के पास सन्देश भेजा। राजकुँवर ने स्वदेश के लिए इन्द्रावती के साथ प्रस्थान किया। मार्ग में ऋषि की कन्या ने राजकुँवर के प्रेम की परीक्षा की। वह अपनी परीक्षा में सफल हुआ।

आखेट में विश्राम-बेला में राजकुँवर ने वृक्ष के नीचे एक शुक से एक कथा सुनी। मदन नामक कुँवर का प्रेमा नामक राजकुमारी से विवाह हुआ। अस्त

काठ में ही मदन की मृत्यु हुई, प्रेमा सती हो गई। राजकुँवर इस कथा से आहत हुआ। इस आघात से उसकी मृत्यु हो गई। दोनों रानियाँ उसके साथ सती हो गई। इस कृति से एक अंश यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। यह उदाहरण षट्ऋतु के अन्तर्गत पावस के उद्दीपन-स्वरूप का है—

पिउ पावस पानी लै आवेउ सावन औ भादौं भरि लाएउ।
पावस ऋतु आयेउ पानी लै, सावन भादौं नीर भरीलै।
हरियर भई नीर सौं भूमी, पहिरेउ प्यारी चीर कुसुमी।
चमकै दामिनि कामिनि कारी डरै न पिय संग कामिनि प्यारी।
गड़ी बीणा मलार बजावै, प्यारी प्यारी प्यारी गावै।
बन हिंडोल औ पदमिनी नारी झूलै भवँर हिंडोल प्यारी।
पिया एक न मानहिं, मानहिं अमर हुलास।
मोप सुरत हँसि खेल सौं, बीति गएउ चौमास।

अनुराग बाँसुरी—मूरतिपुर के शील नामक राजा के अन्तःकरण नामक पुत्र के संकल्प और विकल्प नामक दो मित्र थे। साथ ही साथ बुद्धि अहंकार एवं चित्त आदि भी उससे घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित थे। अन्तःकरण महामोहनी के सौन्दर्य पर मुग्ध था। परन्तु वह सर्वमंगला नामक सुन्दरी पर भी आकर्षित हुआ। अन्तःकरण का परिचय स्नेह पुर नामक सन्यासी से हुआ। उन्होंने उसे स्नेह-मार्ग में दीक्षित किया। स्नेह नगर के मार्ग प्रदर्शन-हेतु उन्होंने एक तोते को उसके साथ कर दिया। वाम मार्ग का परित्याग कर उसने दक्षिण मार्ग का अनुसरण किया। इन्द्रियपुर की कामुकी मदमातनी नामक रमणी के आकर्षण से अप्रभावित होते हुए सनेह ने नगर में प्रवेश किया। वहाँ सुमति की प्रेरणा से अन्तःकरण और मंगला का विवाह हुआ।

अन्तःकरण पत्नी सहित स्वदेश लौटा। इस काव्य ग्रन्थ का एक अंश उदाहरण के लिए यहाँ दिया जा रहा है—यह अंश बसन्त के उद्दीपन के रूप में है—

फूला टेसू गुलअब्बास लाला फूला भरा रस सौं प्याला।
भ्रमर भरे लाला अनुरागी शोभित पिय मिलि केहि जागी।

केहि सनेह के रूप अपारा, कांचन तोहि हिरदय में हारा।
चम्पा पीत रंग ससि तेही, कहँ पीत किन कीन्हा तोही।

कवि हुसेन अली—कवि हुसेन अली ने हि० सन् ११३८ में 'पुहुपावती' नामक काव्य-ग्रन्थ की रचना की थी—

हुसेन अली कवि ते यह जाती करी कथा किमवें बहु भाँती।
जाकह ठाँउ कहीं हरि गाऊँ धरी सदानन्द कवि निगुनाऊँ।

केना निवासी केशव दास कवि के काव्य-गुरु थे—

केसवदास केना के वासी, काविवेर है बुद्धि प्रकाशी।

कवि ने इस रचना का प्रणयन हि० सन् ११३८ में किया था—

ग्यारह से अरतिस सनी, पुहुपावती कथा तब भनी।

काशी राज मानिकचन्द्र विजय दशहरा के दिन दान दे रहा था। इसी सन्दर्भ में पद्मिनी और रत्नसेन की चर्चा चली। एक ब्राह्मण ने कहा पद्मिनियाँ केवल जम्बू द्वीप में होती हैं। इस मध्य एक भाटिन ने यह सूचना दी कि जम्बू द्वीप के कनकपुर के नरेश पदमसेन और रानी कौशिल्या की पुत्री पुहुपावती पद्मिनी है। मानिक चन्द ने पुहुपावती के पास अपना चित्र भेजा। पुहुपावती मुग्ध हुई। इस कृति की प्रति खण्डित है। अत: कथा के उपसंहार का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। इस कृति का एक अंश उदाहरण के लिए यहाँ उद्धृत किया जाता है। मानिकचन्द का चित्र पुहुपावती को मिला है। इसी सन्दर्भ का वर्णन कवि यहाँ करता है—

पुहुपावति यह दसा जु देखी, ससि छवि चित्र ने मया विसेखी।
को अस माहि जगत निरदई जाहि यह चित्र दसा न कई।

× × ×

ससि छवि चित्र काम तन लागा, हुवै मनु चितरा चित्रंग रंगा।
चित्रहिं कहाँ सु होई संजोगू, मिलै न मित्र मन होइ वियोगू।
गहि कर धनुष सो पाँचौ बाना, सिव तन कठिन जानि उन ताना।
प्रथमहि बान सु मोह चलावा अस लाग्यो मन चाउ जनावा।

कवि शेख निसार—कवि शेख निसार ने 'युसुफ जुलेखा' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। कवि ने अपना परिचय इस रूप में दिया है—

सेखपूर अति गाँव सुहावा सेख निसार जनम तंह पावा ।
कादिर ओर सघन अंबराई अमय प्रवाह चहूँ दिसि छाई ।
सेख हबीबुल्लाह सोहाये सेख पर सिन्दु आय बसाये ।
पात साह अकबर सुल्ताना तेहिक राजकर करउ बखाना ।
अवध देस सुबा होइ आए बीस बरस तहं सोहाये ।
तेहि के सेख मोहम्मद बारा स्मयन्त मोमी अवतारा ।
तासु गुलाम मोहम्मद नाऊं सो मम पिता भी ताकर गाऊं ।
तेहि पर हौं विमनै औतारा चार तीन पस भी सुख बारा ।

'मेहर निसार' नामक ग्रन्थ में कवि ने लिखा है—

अवध रुदौली के मध्ठौंवा, सेखपुर अति सुन्दर गाँवा ।

इन सन्दर्भों से केवल इतना ही स्पष्ट होता है कि अकबर के समय अभी सूबा दिल्ली से अवध आये। अवध में रुदौली के निकट शेख पुरा ग्राम में वे बसे। शेख हबीबुल्ला वहाँ बीस वर्षों तक रहे। उनके पुत्र का नाम शेख मुहम्मद था, शेख मुहम्मद के लड़के शेख गुलाम मुहम्मद थे, इनके पुत्र शेख निसार हुए। शेख पुरा अवध (अयोध्या) और रुदौली के मध्य स्थित था।

जिस समय शेख निसार ने इस ग्रन्थ का आरम्भ किया उस समय दिल्ली पर शाह आलम का शासन था। कादिर खाँ रुहेले ने बादशाह की आँखें फोड़कर उसे अन्धा कर दिया था। परन्तु सूबा अवध सुरक्षित था। वहाँ का शासक आसफुद्दौला था।

आलमशाह हिन्द सुल्ताना तेहि के राज यह कथा बखाना ।
× × ×
कादिर खाँ सो अधम रुहेला सो अपराध कीन्ह बड़ पेला ।
× × ×
पातसाह कहँ आँधर कीन्हा सुत अरु नारि सबहि दुख दीन्हा ।
× × ×
चहूँ दिस अन्न सुन्य सब छावा अवध देस कहँ हरख बधावा ।
महिमा सान आसफुद्दौला जासु सहाय रहै नित मौला ।

कवि ने अपने ग्रन्थ का प्रणयन हिजरी सन् १२०२ में किया था—

हिजरी सन् बारह सेपौंचा, बरनेउ प्रेम कथा यह सौंचा।
भट्ठापहु सै सैंतालीसा सुभद्र विक्रम सैन नरेसा।
सतरह सै बारह पुनि साका, पूर्व माघ गुरुपौ ससि राका।
सत्तावन बरस बीते आठ रस उपज यह कथा क बाठ।
सात दिवस मह कीन समापत, दुर्मति नाम कहो यह संवत्।

इस कृति से एक अंश उदाहरण स्वरूप यहाँ उद्धृत है। वियोग में वसन्त के उद्दीपन-रूप के वर्णन से यह अंश लिया गया है—

फूले फूल सिखी गुंजारहि, लागी आगि अनार के डारहिं।
मैं का करूँ कहाँ अब जाऊँ मोहू मरौं नहीं बसत मंह ठाऊ।
टेसू फूल तो कीन्ह अंगोरा, लागी आगि जरै यहु मोरा।

वियोग भावना उद्दीप्त हो जाती है—

घन गरजे दामिनि लौकाहीं नारी कंत के गोद छिपाहीं।
हम केहि के गिउ लावें बाहीं पावस समय देह बस नाहीं।
घर हमार सब भीगा पानी, कंत रावा हम बहि दवरानी।

ख्वाजा अहमद—ख्वाजा अहमद का जन्म सन् १८३० में हुआ था। इनका निवास-स्थान प्रतापगढ़ के अन्तर्गत बाबू नामक गाँव था। इनकी कृति 'नूरजहाँ' है। इस प्रकार की भावना प्रचलित है कि मृत्यु के दो माह पूर्व इन्होंने 'नूरजहाँ' की रचना की थी। इनके पुत्र का नाम मोहम्मद अमीन था। 'नूरजहाँ' की रचना प्रेरणा इन्हें जायसी के 'पद्मावत' और कासिम शाह के 'हंस जवाहर' नामक कृतियों से मिली थी। इस कृति की रचना इन्होंने संवत् १९५२ में की थी।

मलिक मोहम्मद पुरुष न जाना। कथा पद्मिनी कीन्ह बखाना।
यह चितौर की लिखत बीया। छिपोउ बखान सो प्रेम सनीया।
औ कासिम कह दरिया बारी। छिपोउ हंस के कथा सो भारि।

इस रचना की कथा ईरानगढ़ के सुल्तान मलिक शाह से सम्बन्धित है। उनकी रानी गुलताज को खुरशेदशाह नामक पुत्र हुआ था। मुवम शहर के सुल्तान लवर शाह की पुत्री का नाम नूरजहाँ था। नूरजहाँ की सहेली सुमति थी। वह परी थी। सुमति खुरशेद को नूरजहाँ के पास उठा ले गई। स्वप्न में खुरशेदशाह और नूरजहाँ का विवाह हुआ है। इसके पश्चात् खुरशेद नूरजहाँ को लेकर रूम आया। अपनी

अपनी गाढ़ी पत्नी गुलफ़ोन से मिलकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। कथा के उपसंहार में कवि ने इसके रूपक का स्पष्टीकरण भी किया गया है।

देखेउ मथि काया के माँही दूसर घाट नगर कहुँ नाहीं।
काया मांझ नगर पुर पाटा देखेउ परम दीप के बाटा।
सब गढ़पति काया के माहीं, दूसर ठाँव कतहुँ कहुँ नाहीं
मुरशिदहिं काया के खोजी काया समुद दीप जहँ मोती।

कवि नसीर—कवि नसीर गाजीपुर के जमनियाँ कस्बे के निवासी थे।

गाजीपुर जिला जिहि ठाऊँ। ताके मांझ जमनिया गाऊँ॥
वही जनम भूमि है मोरा। नित मरतंद वहुँ क्षमु मोरा।

इन्होंने 'प्रेम दर्पण' कृति की रचना की। इस ग्रन्थ की समाप्ति कवि ने हिजरी सन् १३३५, संवत् १९७४ के जेकीद (?) महीने की चौबीसवीं तारीख को की थी—

हिजरी तेरह सौ पैंतीसा था जेकीद मास चौबीसा।
संवत उन्नीस सौ चौहत्तर, भादों बदी दशा दस अन्तर।
करके बहुत ही कष्ट कलेशा, मंहि लिन कथा हिन्दी में लेसा।

इस ग्रन्थ में युसुफ-जुलेखा की प्रेम-कथा सम्पादित है। इस कृति का एक अंश उदाहरण हेतु यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। युसुफ की मृत्यु के पश्चात् जुलेखा की व्यथा इस अंश में वर्णित है—

जाय अकेल एक माटी डाहा, जाय गिरी वह कहती हाहा।
फूल गुलाब जो रहे कपोला नोच लिहिस वह कंसुक फोला।

दक्खिनी हिन्दी की प्रेमाख्यानक रचनायें

दक्खिनी हिन्दी की प्रेमाख्यानक रचनायें उत्तरी भारत के प्रेमाख्यानक काव्यों से भिन्न हैं। काव्य रूप भाषा-शैली एवं छन्द प्रयोग इन सभी दृष्टियों से इन दो वर्गों की रचनाओं में भिन्नता है। परन्तु उद्देश्य की दृष्टि से इनमें अन्तर नहीं है। दक्खिनी परम्परा की प्रमुख उल्लेखनीय कृति 'कदम राव व पदम' है। इसके लेखक निजामी थे। इसका समय ई० सन् १४२७ के बाद माना गया है। निजामी अहमद शाह वलि बहमनी का समकालीन था। कहा जाता है कि यह कृति 'अंजुमन तरक्किए-उर्दू' (पाकिस्तान) में सुरक्षित है। नसीरुद्दीन हाशमी

(दकन में उर्दू मन ठब १९५२ ई०—मुईउन नयब उर्दू बाजरा लाहौर पृ० ११), ने इस रचना का परिचय देते हुए कहा है कि इसकी रचना-शैली सूफियों की मसनवी शैली की है। इसमें भी परमेसर की स्तुति की गई है। परन्तु इसका छन्द फारसी का बहर है। रचना अपूर्ण है अत इसकी समग्रता पर विचार करना सम्भव नहीं है। उदाहरण—

कि तूं सोच मेरा गुसाईं क्दम। पदम राय तुज पाँव केरा कदम॥
जहाँ तू धरे पाँव हो हर मकं। बासन सार कील कतराई कर।

दक्खिनी उर्दू के सूफी प्रेमाख्यानक काव्य। पृ० १२४।

इस परम्परा की दूसरी कृति है 'कुतुब मुश्तरी'। इसके लेखक हैं मुल्ला वजही। ये गोलकुण्डा के इब्राहीम शाह के दरबार-कवि थे। 'कुतुबमुश्तरी' की रचना इन्होंने हि० १०१८ अर्थात् सन् १६१० ई० में की थी—

तमाम इसकिया बीस बारामने। सन एक हजार ठौर अठारा मने।

कुतुब मुश्तरी दक्खिनी प्रकाशन समिति—हैदराबाद पृ ५।

इस परम्परा की तीसरी कृति है, 'सैफुल मुलूक व बदी उज्ज जमाल'। इसके रचयिता गवासी हैं। ये गोलकुण्डा के निवासी और वजही के समकालीन थे। इस कृति की रचना कवि ने १०२७ हि० या १६१७-१९ ई० के मध्य की थी। इसकी कथा का सम्बन्ध मिस्र देश से है। इसकी कथा का संगठन जायसी तथा अन्य कवियों की रचनाओं के कथा-संगठन से भिन्न नहीं है। 'मृगावती' या 'मधुमालती' की कथा के समान एक राजकुमारी की सहायता से नायक को नायिका की प्राप्ति होती है। समुद्र-यात्रा जलयान-ध्वंस तथा अन्य अलौकिक घटनाओं के समावेश के माध्यम से इसकी कथा भूमि निर्मित है।

'गवासी' के नाम से 'चन्दा और लोरक' नाम की भी एक कृति उपलब्ध हुई है। इस प्रकार की धारणा व्यक्त की गई है कि यह कृति किसी फारसी कृति का रूपान्तर है। (देखिए—दकन में उर्दू पृ० ७८)। परन्तु यह निर्णय विवादपूर्ण है। 'दक्खिनी के गद्य और पद्य (सम्पादक श्री राम शर्मा पृ० २०९ ११ १९५४ ई०) में इसके अंश संकलित हैं। इसके आधार पर यह संकेत मिलता है कि इसकी कथा मुल्लादाऊद की कथा के अनुरूप ही है। मुल्ला

इस परम्परा की एक अन्य महत्वपूर्ण कृति 'चन्दर बदन व महियार' है। इसके रचयिता मुकीमी थे। वे बीजापुर निवासी थे और इब्राहीम आदिल शाह के समकालीन थे। यह विश्वास किया जाता है कि कवि ने इस काव्य की रचना सन् ११२७ में की थी। इस कृति में मुकीमी ने पवासी का स्मरण अपने गुरु के रूप में किया है। इस कृति पर विचार करते हुए मुहम्मद अकबरुद्दीन सिद्दीकी ने कहा है 'रचना का मकसद मजहबे इस्लाम की अजमत जाहिर करना है। (देखिए—चन्दरबदन व महियार कथा-सम्पादक अकबरुद्दीन सिद्दीकी-भूमिका।) महियार नामक एक युवक चन्दर बदन के राजा की कन्या पर आसक्त होता है। परन्तु राजकन्या उसे अस्वीकार करती है। चन्दर बदन अपने प्राण त्यागता है। राजकुमारी इससे विक्षुब्ध होती है। वह भी अपने प्राण त्यागती है इस कथा का आधार ग्रहण कर 'आजिदी' नामक कवि ने एक फारसी मसनवी की रचना की थी (दक्खिनी का गद्य व पद्य पृ० ४१०) परन्तु यह कृति अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है।

गुलशने इश्क' इस वर्ग की एक अन्य महत्वपूर्ण कृति है। इसके रचयिता कवि नुसरती हैं। इस कृति की रचना इन्होंने सन् ११२८ ई० में की थी। इसमें मनोहर और मधुमालती की प्रेम-कथा वर्णित है। डॉ० एहतिशाम हुसैन ने अपने उर्दू साहित्य के इतिहास में इस कृति पर विचार किया है। इनका यह निष्कर्ष है कि यह कृति पूर्णतः ईरान की मसनवी शैली पर लिखी गई है। अन्य रचनाओं में इब्नेनिशाती कृत 'फूलबन' हाशमी कृत 'यूसुफ जुलेखा' तथा तबई कृत किस्से बहराम व गुलबदन' महत्वपूर्ण रचनायें हैं।

सूफी का अर्थ

सूफी शब्द का अर्थ 'ऊन' माना गया है। इस सम्बन्ध में यह प्रस्तावित किया गया है कि ऊनी वस्त्र धारण करके एकान्त जीवन व्यतीत करने वाले और साधना करने वाले साधकों के लिए इस शब्द का प्रयोग होता था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस्लाम की प्रथम दो शताब्दियों में सन्यास व्यतीत करने वाले साधक स्वच्छ ऊन का आवरण धारण

१—किताब-अल-लुमा—लेखक—अस अल-सरीज—जेम्स हेस्टिंग्स इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स वाल्यूम १२ से उद्धृत।

(दकन में उर्दू मगतब १६५२ ई०—मुईउन अयब उर्दू बाबरा लाहौर पृ० ११), ने इस रचना का परिचय देते हुए कहा है कि इसकी रचना-शैली सूफियों की मसनवी की ही है। इसमें भी परमेश्वर की स्तुति की गई है। परन्तु इसका छन्द फारसी का बहर है। रचना अपूर्ण है अतः इसकी समग्रता पर विचार करना सम्भव नहीं है। उदाहरण—

कि तू सोज मेरा गुसाईं क्दम। पदम राज तुज पाँव केरा पदम॥
जहाँ तू धरे पाँय हो सर पक। आयस सार कौल कटराई कक।

दक्खिनी उर्दू के सूफी प्रेमाख्यानक काव्य। पृ० १२४।

इस परम्परा की दूसरी कृति है 'कुतुब मुश्तरी'। इसके लेखक हैं मुल्ला वजही। ये गोलकुण्डा के इब्राहीम शाह के दरबार-कवि थे। 'कुतुबमुश्तरी' की रचना इन्होंने हि० १०१८ अर्थात् सन् १६१० ई० में की थी—

तमाम इसकिया बीस बारामने। सन एक हजार ठौर अठारा मने।

कुतुब मुश्तरी दक्खिनी प्रकाशन समिति—हैदराबाद पृ० ३।

इस परम्परा की तीसरी कृति है, 'सैफुल मुलूक व बदी उल जमाल'। इसके रचयिता गवासी हैं। ये गोलकुण्डा के निवासी और वजही के समकालीन थे। इस कृति की रचना कवि ने १०२७ हि० या १६१७-१८ ई० के मध्य की थी। इसकी कथा का सम्बन्ध मिस्र देश से है। इसकी कथा का संगठन जायसी तथा अन्य कवियों की रचनाओं के कथा-संगठन से भिन्न नहीं है। 'मृगावती' या 'मधुमालती' की कथा के समान एक राजकुमारी की सहायता से नायक को नायिका की प्राप्ति होती है। समुद्र-यात्रा अभ्याग-उपक्रम तथा अन्य अलौकिक घटनाओं के समावेश के माध्यम से इसकी कथा भूमि निर्मित है।

गवासी' के नाम से 'चन्दा और लौरक' नाम की भी एक कृति उपलब्ध हुई है। इस प्रकार की धारणा व्यक्त की गई है कि यह कृति किसी फारसी कृति का रूपान्तर है। (देखिए—दकन में उर्दू पृ० ७८)। परन्तु यह निर्णय विवादपूर्ण है। 'दक्खिनी के पद्य और गद्य' (सम्पादक श्री राम शर्मा पृ० २८६ से १६५४ ई०) में इसके अंश संकलित हैं। इसके आधार पर यह संकेत मिलता है कि इसकी कथा मुल्लादाऊद की कथा के अनुकूल ही है। मुल्ला दाऊद की रचना ही इसकी मूल प्रेरणा में विद्यमान लगती है।

इस परम्परा की एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति 'चन्दर बदन व महियार' है। इसके रचयिता मुकीमी थे। वे बीजापुर निवासी थे और इब्राहीम आदिल शाह के समकालीन थे। यह विश्वास किया जाता है कि कवि ने इस काव्य की रचना सन् ११२७ में की थी। इस कृति में मुकीमी ने वजही का स्मरण अपने गुरु के रूप में किया है। इस कृति पर विचार करते हुए मुहम्मद अकबरुद्दीन सिद्दीकी ने कहा है 'रचना का मकसद मजहबे इस्लाम की अजमत जाहिर करना है। (देखिए—चन्दरबदन व महियार कथा-सम्पादक अकबरुद्दीन सिद्दीकी भूमिका।) महियार नामक एक युवक चन्दर बदन के राजा की कन्या पर आसक्त होता है। परन्तु राजकन्या उसे अस्वीकार करती है। चन्दर बदन अपने प्राण त्यागता है। राजकुमारी इससे विक्षुब्ध होती है। वह भी अपने प्राण त्यागती है। इस कथा का आधार ग्रहण कर 'आजिजी' नामक कवि ने एक फारसी मसनवी की रचना की थी (दक्खिनी का गद्य व पद्य पृ० ४९०) परन्तु यह कृति अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है।

'गुलशने इश्क' इस वर्ग की एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति है। इसके रचयिता कवि नुसरती हैं। इस कृति की रचना इन्होंने सन् ११५८ ई० में की थी। इसमें मनोहर और मधुमालती की प्रेम-कथा वर्णित है। डॉ० एहतिशाम हुसैन ने अपने उर्दू साहित्य के इतिहास में इस कृति पर विचार किया है। इनका यह निष्कर्ष है कि यह कृति पूर्णत ईरान की मसनवी शैली पर लिखी गई है। अन्य रचनाओं में इब्न निशाती कृत 'फूलबन' हाशमी कृत 'यूसुफ जुलेखा' तथा तबई कृत 'किस्से बहराम व गुलबदन' महत्त्वपूर्ण रचनायें हैं।

सूफी का अर्थ

सूफी शब्द का अर्थ 'ऊन'[1] माना गया है। इस सम्बन्ध में यह प्रस्तावित किया गया है कि ऊनी वस्त्र धारण करके एकान्त जीवन व्यतीत करने वाले और साधना करने वाले साधकों के लिए इस शब्द का प्रयोग होता था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस्लाम की प्रथम दो शताब्दियों में सन्यास व्यतीत करने वाले साधक स्वच्छ ऊन का आवरण धारण

१—किताब-अल-लुमा—सैयद—अस अल-सरीज—जेम्स हेस्टिंग्स इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स वाल्यूम १२ से उद्धृत।

(दकन में उर्दू नसतव १९५२ ई०—मुईनुम मयम उर्दू बावरा लाहौर पृ० ११), ने इस रचना का परिचय देते हुए कहा है कि इसकी रचना-शैली सूफियों की मसनवी जैसी की है। इसमें भी परमेश्वर की स्तुति की गई है। परन्तु इसका छन्द फारसी का बहर है। रचना अपूर्ण है अतः इसकी समग्रता पर विचार करना सम्भव नहीं है। उदाहरण—

कि तूं सोच मेरा गुसाईं करम। परम राव तुम पाँव फेरा परम॥
जहाँ तू बार नाम हो सर बक। बायस सार कीस कदराई कक।

दक्खिनी उर्दू के सूफी प्रेमाख्यानक काव्य। पृ० १२४।

इस परम्परा की दूसरी कृति है 'कुतुब मुश्तरी'। इसके रचयिता है मुल्ला वजही। ये गोलकुण्डा के इब्राहीम शाह के दरबार-कवि थे। 'कुतुबमुश्तरी' की रचना इन्होंने हि० १०१८ अर्थात् सन् १६१० ई० में की थी—

तमाम इसकिया दीस बारामने। सन एक हजार और अठारा मने।

कुतुब मुश्तरी दक्खिनी प्रकाशन समिति—हैदराबाद पृ० ५।

इस परम्परा की तीसरी कृति है 'सैफुल मुलूक व बदी उल जमाल'। इसके रचयिता गवासी हैं। ये गोलकुण्डा के निवासी और वजही के समकालीन थे। इस कृति की रचना कवि ने १०२७ हि० या १६१७-१८ ई० के मध्य की थी। इसकी कथा का सम्बन्ध मिस्र देश से है। इसकी कथा का संकठन जायसी तथा अन्य कवियों की रचनाओं के कथा-संकठन से भिन्न नहीं है। 'मृगावती' या मधुमालती की कथा के समान एक राजकुमारी की सहायता से नायक को नायिका की प्राप्ति होती है। समुद्र-यात्रा जलयान-ध्वंस तथा अन्य अलौकिक घटनाओं के समावेश के माध्यम से इसकी कथा भूमि निर्मित है।

गवासी' के नाम से 'चन्दा और लोरक' नाम की भी एक कृति उपलब्ध हुई है। इस प्रकार की धारणा व्यक्त की गई है कि यह कृति किसी फारसी कृति का रूपान्तर है। (देखिए—दकन में उर्दू पृ० ७८)। परन्तु यह निर्णय विवादपूर्ण है। 'दक्खिनी के गद्य और पद्य' (सम्पादक श्री राम शर्मा पृ० २८९ ८९ १९५४ ई०) में इसके अंश संकलित हैं। इसके आधार पर यह संकेत मिलता है कि इसकी कथा मुल्लादाऊद की कथा के अनुकूल ही है। मुल्ला दाऊद की रचना ही इसकी मूल प्रेरणा में विद्यमान लगती है।

इस परम्परा की एक अन्य महत्वपूर्ण कृति 'चन्दर बदन व महियार' है। इसके रचयिता मुकीमी थे। वे बीजापुर निवासी थे, और इब्राहीम आदिल शाह के समकालीन थे। यह विश्वास किया जाता है कि कवि ने इस काव्य की रचना सन् १६२७ में की थी। इस कृति में मुकीमी ने गजाली का स्मरण अपने गुरु के रूप में किया है। इस कृति पर विचार करते हुए मुहम्मद अकबरुद्दीन सिद्दीकी ने कहा है 'रचना का मकसद मजहबे इस्लाम की अजमत जाहिर करना है। (देखिए—चन्दरबदन व महियार कथा-सम्पादक अकबरुद्दीन सिद्दीकी भूमिका।) महियार नामक एक युवक चन्दर बदन के राजा की कन्या पर आसक्त होता है। परन्तु राजकन्या उसे अस्वीकार करती है। चन्दर बदन अपने प्राण त्यागता है। राजकुमारी इससे विक्षुब्ध होती है। वह भी अपने प्राण त्यागती है।

इस कथा का आधार ग्रहण कर 'आतिशी' नामक कवि ने एक फारसी मसनवी की रचना की थी (दक्खिनी का गद्य व पद्य पृ० ४१०)[1] परन्तु यह कृति अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है।

'गुलशने इश्क' इस वर्ग की एक अन्य महत्वपूर्ण कृति है। इसके रचयिता कवि नुसरती है। इस कृति की रचना इन्होंने सन् १६५८ ई० में की थी। इसमें मनोहर और मधुमालती की प्रेम-कथा वर्णित है। डॉ० एहतिशाम हुसैन ने अपने उर्दू साहित्य के इतिहास में इस कृति पर विचार किया है। उनका यह निष्कर्ष है कि यह कृति पूर्णत: ईरान की मसनवी शैली पर लिखी गई है। अन्य रचनाओं में इब्ननिशात कृत 'फूलबन' हाशमी कृत 'यूसुफ जुलेखा' तथा तबई कृत 'किस्से बहराम व गुलबदन' महत्वपूर्ण रचनायें हैं।

सूफी का अर्थ

सूफी शब्द का अर्थ 'ऊन'[1] माना गया है। इस सम्बन्ध में यह प्रस्तावित किया गया है कि ऊनी वस्त्र धारण करके एकान्त जीवन व्यतीत करने वाले और साधना करने वाले साधकों के लिए इस शब्द का प्रयोग होता था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस्लाम की प्रथम दो शताब्दियों में एकान्त व्यतीत करने वाले साधक स्वच्छ ऊन का आवरण धारण

१—किताब-अल-लुमा—देखिए—नस अल-सरीज—जेम्स हेस्टिंग्स इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स वाल्यूम १२ से उद्धृत।

करते थे। इसलिए ऐसे साधकों को सूफी कहा गया।[१] कतिपय विद्वानों ने सूफी शब्द का सम्बन्ध सफा से स्थापित किया है जिसका अर्थ है पवित्र। एक अन्य प्रस्तावना के अनुसार मुहम्मद के समय मदीने की मस्जिद के सम्मुख सुफ्फ (चबूतरे) पर बैठकर साधना करने वालों को सूफी कहते थे। इसी सन्दर्भ में यह भी कहा गया है कि सूफी शब्द का सम्बन्ध सफ्फे-अव्वल से है। 'सफ्फे अव्वल' का अर्थ होता है आराधना में निरत साधकों की अग्रिम पंक्ति।[२] 'बनू सफा एक यायावर जाति थी। सूफी शब्द का सम्बन्ध इस सफा' शब्द से स्थापित किया जाता है। कुछ विचारकों की यह धारणा है कि ग्रीक शब्द 'सोफिस्टा', से 'सूफी शब्द विकसित हुआ है, जो ज्ञान का पर्यायवाची है। इन समस्त मान्यताओं से वस्तु स्थिति का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता है। परन्तु इनसे यह संकेत मिलता है कि चिन्तकों के एक विशेष वर्ग या सम्प्रदाय के लिए ही 'सूफी' का प्रयोग किया गया होगा। इस वर्ग के व्यक्ति सफेद ऊन का परिधान धारण करते थे। इस मत का समर्थन एक अन्य आधार से भी हो जाता कि फारसी रहस्यवादियों को पश्मीना पोश' कहा जाता था।

सूफी मत और तसव्वुफ

इस्लामी धर्म के अन्तर्गत रहस्यवादियों के लिए ही काल-क्रम से 'सूफी' संज्ञा का प्रयोग होने लगा था। इस्लाम धर्म के अनुसार रहस्यवादी भावना को ही तसव्वुफ की संज्ञा मिली। इस प्रकार सूफी धर्म के स्वरूप से सम्बन्धित समय-समय पर जो विचार प्रस्तावित किए गए उनमें एक रूपता नहीं है। विभिन्न विचारों का संक्षेप यहाँ दिया जा रहा है—

[क] सच्चा सूफी अपवित्रता का परित्याग कर साधना की उच्च भूमि का आधार ग्रहण करता है।—कश्फ अल महजूब-हैजवर-अलहुजविरी-अनुवादक ए० निकल्सन पृ० ३२।

[ख] ईश्वर के सत्य का साक्षात्कार और जीवन में रहते हुए जीवन से मुक्त हो जाना ही सूफी धर्म है।—संत मारूफ-अल-करखी।

२—ई० जी० ब्राउन लिटरेरी हिस्ट्री आफ परशिया १९०२ पृ० ४१६।

३—ब्राउन लाइब्स ऑफ इस्लामिक कल्चर—खण्ड २ अंक ४ पृ० १७४।

इस प्रकार अनेक रूपों में सूफी साधक की परिभाषा और सूफी धर्म के स्पष्टीकरण का प्रयास किया गया है। इस सन्दर्भ में यह कहा गया है कि सूफी ऐसे साधक को कहते हैं जो परमात्मा के संस्पर्श से अपने हृदय को पवित्र करते हैं। इन परिभाषाओं से सूफी धर्म तथा सूफी साधक की आभ्यन्तरिकता और विशिष्टता का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता है। जामी[1] ने इस धर्म तथा इस सम्प्रदाय के साधक की एक स्पष्ट व्याख्या देने का प्रयत्न किया है। इनका यह निष्कर्ष है कि 'सूफी' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अबूहाशिम (ई० ७७७) के नाम के साथ हुआ। ८१४ ई० में कूफा में इस्लामी रहस्यवादियों के एक विशिष्ट सम्प्रदाय के साधकों के लिए 'सूफी' शब्द का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार परवर्ती काल में इस शब्द का प्रयोग केवल इराक के रहस्यवादियों के लिए होने लगा था। तत्पश्चात् इस्लाम धर्म के अन्तर्गत के समग्र रहस्यवादी साधकों के लिए इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ में होने लगा।

सूफी मत का इतिहास

सूफी सम्प्रदाय का सम्बन्ध सामी विचार धारा से भी स्थापित किया जाता है। सामी विचार धारा ने इस्लाम को एक विशिष्ट सन्दर्भ में प्रभावित किया जिसका प्रस्फुटन सूफी साधना के रूप में हुआ। सामी जाति में ईश्वर के सम्बन्धों का निरूपण दाम्पत्य प्रेम और विरह के माध्यम से किया जाता था। ऐसा स्पष्ट होता है कि सूफियों ने अपनी साधना में इन प्रतीकों का प्रयोग सामी साधना के आधार पर ही किया है।

सूफी साधना में 'इस्तहाम' की अवस्था एक विशेष स्थिति मानी गई है। इस स्थिति का मूल स्रोत भी सामी संस्कार लगता है। सूफियों में उपलब्ध मादक भाव, रहस्य, हाल और इलहाम आदि अवस्थाओं के पूर्व रूप सामी साधना-प्रणालियों में मिल जाते हैं।[2]

१—नफहातुल उन्स।

२ इस्माइल अली शाह की यह धारणा है कि सूफी भावधारा का मूल रूप इस्लाम में ही निहित मिलता है। वार्तालाप में मुहम्मद ने अपनी प्रेयसी आयशा से प्रश्न किया—'तुम कौन हो?' आयेशा—'मैं आयेशा हूँ (अना आयशा)' मुहम्मद—'आयेशा कौन है?' आयेशा—'इब्नतुस सिद्दीकी की पुत्री हैं', मुहम्मद—'इब्नतुस सिद्दीकी कौन है?' 'मुहम्मद के ससुर' 'मुहम्मद कौन है—' इस सन्दर्भ में सूफियों में उपलब्ध 'हमाऊस्त (अब तुम नहीं है)' का भाव निहित है।—देखिए—जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य। पृ० २

आरम्भिक सूफी सन्तों में इब्राहीम बीन अधम (मृ० ७८१ ई०) फुजायल बिन अयाज (मृ० ८०१ ई०) राबिया अल अदाविया (मृ० ८०२ ई०) के नाम सम्मुख आते हैं। इनमें रबिया ने सूफीमत में प्रेम भावना की स्थापना की थी। एक प्रकार से इन्होंने सूफी सम्प्रदाय में माधुर्य भाव का समावेश किया। अपने विकास के आरम्भिक चरण में सूफी साधना इस्लाम की मान्यताओं से अनुशासित नहीं रही, परन्तु कालक्रम से वह इस्लामी तत्वों को स्वीकृत करने लगी थी। सूफी साधक इस्लामी चिन्तन धारा के निकटतम आने का का प्रयास करने लगे। इस प्रकार भारत में प्रवेश करने के पूर्व सूफी चिन्तन धारा निम्न भागों में विभक्त हो गई थी —

(१) उमर खैय्याम—(मृ० ११८०)।

(२) सनाई—(११८८ ई०)।

(३) निजामी—१२१० ई०।

(४) अत्तार—(१२८७ ई०)।

(५) रूमी—(मृ० १३१० ई०)।

(६) सादी—(मृ० ११४१ ई०)।

(७) शबस्तरी—(मृ० १३७७ ई०)।

(८) हाफिज—(मृ० १४४० ई०)।

(९) जामी—(मृ० १५४१)।

इन रचनाकारों ने काव्य के माध्यम से सूफी-साधना-तत्वों का प्रस्तावन किया है। इसमें प्रेम और विरह के लौकिक चित्रों द्वारा आध्यात्मिक मिलन और प्रेम की प्रस्तावना की गई। भारत में आने के पूर्व सूफी धर्म और दर्शन तथा काव्य की यही रूप रेखा रही।

भारत में सूफी मत

भारत में सूफी धर्म का प्रवेश मुसलमानों के आगमन के साथ हुआ। काल-क्रम से शेख इस्माइल (१००२ ई०) नथर शाह (१०३६ई०) शाह सुल्तान रूमी (१०१२ ई०), बाबुशाह (१०१५ ई०) दाता गन्जबख्श (१०७२ ई) आदि सूफी दरवेश भारत में धर्म प्रचार-हेतु आए। इसी परम्परा के सूफी सन्तों में हुज्विरी का नाम विशेष आदर के साथ लिया जाता है। भारत में सूफी मत

का क्रम-बद्ध इतिहास मुईनुद्दीन चिश्ती (११९०) के आगमन के पश्चात् ही मिलता है। ईसा की तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक सूफी साधना एक विशिष्ट साधना पद्धति के रूप में भारत में स्थापित हो चुकी थी।

अबुल्फ़ज़ल ने अपने ग्रन्थ 'आइने अकबरी' नामक ग्रन्थ में चौदह सूफी सम्प्रदायों का उल्लेख किया है परन्तु हमारे देश में केवल चार सम्प्रदाय ही प्रमुख रूप से विकसित हो सके —

(१) चिश्तिया (२) सुहरवर्दिया (३) कादरिया (४) नक्श बन्दिया। इनके अतिरिक्त शत्तारी और मदारी सम्प्रदायों के भी उल्लेख मिलते हैं।

(१) चिश्तिया सम्प्रदाय —इस सम्प्रदाय के संस्थापक ख्वाजा इसहाक चिश्ती माने गए हैं। हमारे देश में इनके विचारों का प्रसार ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (११४२ ई० १२३६ ई०) ने किया। इनके शिष्यों में शेख फरीदुद्दीन शकरगंज निजामुद्दीन औलिया अली अहमद साबिर और शेख सलीम चिश्ती प्रसिद्ध हुए। निजामुद्दीन औलिया औलियापन्थ के संस्थापक थे। चिश्तिया सम्प्रदाय के प्रवर्तक जहाँगीर के प्रति भक्ति मुहम्मद आमली विशेष रूप से आस्थावान थे।

(२) सुहरावर्दी सम्प्रदाय —इस सम्प्रदाय के संस्थापक शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी थे। इन्होंने अपने सम्प्रदाय की स्थापना बगदाद में की थी। हमारे देश में इसकी संस्थापना बहाउद्दीन जकरिया (मृत्युकाल १२६७ ई०) ने की थी। यह शाखा निम्नलिखित प्रशाखाओं में विभक्त मिलती है।

[क] जलाली शाखा —इस शाखा के प्रवर्तक सैयद जलालुद्दीन सुर्खपोश शाहमीर थे। इनका प्रमुख केन्द्र सिन्ध रहा।

[ख] मखदूमे-जहानियाँ —सैयद जलालुद्दीन के पौत्र अहमद कबीर थे (मृ० ११९४ ई०)। ये मखदूमे जहाँनियाँ के नाम से प्रसिद्ध थे। इन्होंने इस शाखा का प्रवर्तन किया।

[ग] मीरान शाही —सुर्खपोश अहमद कबीर के वंशज मीरान मुहम्मद शाह ने मीरान शाही शाखा का प्रवर्तन किया।

[घ] इस्माइल शाही—जकरिया की चौदहवीं पीढ़ी के हाफ़िज़ मुहम्मद इस्माइल (मृत्यु सन् १७१०) ने इस्माइल शाही शाखा का प्रवर्तन किया।

[ग] कादरी सम्प्रदाय—जकरिया की आठवीं पीढ़ी में दौलत शाह ने दौलत शाही शाखा का प्रवर्तन किया।

(३) कादिर शाही—इस शाखा के प्रवर्तक अब्दुल कादिर अल जिलानी थे। (१०७८ ११६६)। भारत वर्ष में इसका संस्थापन इनके तीन सौ वर्ष पश्चात् हुआ। हमारे देश में इसके संस्थापक सैयद मुहम्मद गौस बाला पीर थे। भारत में ये सन् १४२८ में आए थे। इनका प्रमुख केन्द्र सिन्ध था, यहीं इनकी मृत्यु सन् १५१७ में हुई। जिलानी की दसवीं पीढ़ी में शाह कुमैस ने इसकी एक प्रशाखा 'कुमैसिया' की स्थापना की थी। इसका प्रसार बंगाल में हुआ। इसकी अन्य उपधाराओं में 'मुकीम शाही' और पश्चिम भारत में प्रचलित 'हाजी मुहम्मद नौ शाही' शाखायें हैं। इनके अतिरिक्त 'मियांखेल' नाम से भी एक शाखा मिलती है इसके संस्थापक मियां मीर (सन् १५५०-१६३५) थे। इनके शिष्य मल्ले मियाँ थे। जिनकी साधना और जिनके व्यक्तित्व को विशेष ख्याति मिली।

(४) नक्शबन्दी सम्प्रदाय —इस सम्प्रदाय के संस्थापक ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबन्द माने जाते हैं (मृत्यु सं० १३८९ ईरान में)। इनकी पीढ़ी में ख्वाजा बाकी बिल्ला बेरंग (मृ० सं १६६०) ने नक्शबन्दिया सम्प्रदाय की संस्थापना भारत में की थी। कतिपय सन्तों के अनुसार भारत में इस शाखा के प्रवर्तक ख्वाजा बाकी बिल्लाह बेरंग थे। जहाँगीर के समय इस सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव था। भारत में इस सम्प्रदाय को प्रसार को अहमद फारूकी द्वारा विशेष रूप में गति मिली।

इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त शत्तारी सम्प्रदाय और मदारी सम्प्रदाय के नाम से भी दो विशिष्ट सम्प्रदायों का अस्तित्व मिलता है।

शत्तारी सम्प्रदाय—हमारे देश में इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक फारस के अब्दुल्ला शत्तारी थे। इनकी मृत्यु मालवा में १४०६ ई० में हुई मानी जाती है। मुहम्मद गौस इसी सम्प्रदाय के साधक थे जो हुमायूँ के गुरु थे। इस परम्परा में वहाउद्दीन (जौनपुरी) मीर सैयद अली कौसर आदि साधक भी आते हैं।

मदारी सम्प्रदाय—भारत में इस सम्प्रदाय की संस्थापना शाह मदारी बदीउद्दीन ने की थी। जायसी का सम्बन्ध शाह मदार से भी स्थापित किया जाता है।

सूफी काव्य में परम तत्व के जिस स्वरूप की कल्पना की गई है उसमें वह अरूप है उसके आकार नहीं है और वह शब्दों में परिबद्ध नहीं हो सकता है। उसके अस्तित्व की अनुभूति हम कर सकते हैं। इस प्रकार वह स्वयं अरूप है, परन्तु सम्पूर्ण जगत के प्रत्येक तत्व में विद्यमान है। वह जन्म धारण नहीं करता है, उसका पिता नहीं है, और न उसकी माता है। समग्र सृष्टि उसकी ही सर्जना है। ऐसे ही आदि 'पुरुष' का वर्णन जायसी 'पद्मावत' में करते हैं—

अलख अरूप अबरन सो करता। वह सब सों सब ओहि सों बरता।
परगट गुपुत सो सरब बियापी। धरमी चीन्ह चीन्ह नहिं पापी।
जना न काहु न कोई ओहि जना। जहँ लगि सब ताकर सिरजना।

+ × +

हुत पहिलेहि औ अब है सोई। पुनि सो रहिहि रहिहि नहिं कोई।
और जो होई सो बाउर अन्धा। दिन दुई चार मरइ कर धन्धा।

पदमावत पृ० २

ऐसा सभी पुराणों में वर्णित है—

एहि बिधि चीन्हहु करहु गियानू। जस पुरान महँ लिखा बखानू।८

उस प्रभु में जीव नहीं है, फिर भी वह जीवित है। उसके कर नहीं है परन्तु बिना कर के ही उसने सृष्टि की रचना की है। उसका कोई स्थान नहीं है, परन्तु ऐसा कोई स्थान भी नहीं है, जहाँ वह न हो। उसका कोई रूप नहीं है उसकी कोई रेखा नहीं है परन्तु उसका नाम अति निर्मल है

ना ओहि ठाँव न ओहि बिन ठाऊँ। रूपरेख बिन निरमल नाऊँ—८।६।

ज्ञान की दृष्टि जिसके पास है, उसके लिए वह निकट है ज्ञान-हीन के लिए वह बहुत दूर है—

पंडितन्ह कहँ नियरें अंध मुरुख कहँ दूरि ८।१

'अखरावट' में जायसी उस परम सत्ता के उस रूप का स्मरण करते हैं जो स्रष्टा है, पालक है और संहारक है—

सुन करता वह सिरजन हारा, हरता धरता सब संसारा।

अखरावट

उसमान उस परम शक्ति की कल्पना एक चित्रकार के रूप में करते हैं। सृष्टि उस चित्रकार का चित्र है उस कर्ता ने नारी और पुरुष-संयुक्त जल के ऊपर चित्र बनाया। उसने अनेक प्रकार के रूपों और वर्णों की सर्जना की परन्तु वह स्वयं अरूप और अवर्ण है—

आदि बखानौं सोई चितेरा। यह जग चित्र कीन्ह जेहि केरा।
कीन्हेसि चित्र पुरुष औ नारी। जो जल पै अस सकै सँवारी।[1]

+ × ×

कीन्हेसि रूप बरन बहु ताईं। आपु अबरन अरूप गोसाईं।

चित्रावली पृ० १

इस प्रकार सूफियों ने जिस परम सत्ता की कल्पना की है वह एक है। सृष्टि के वैविध्य में वह भिन्न भिन्न प्रतीत होता है। सृष्टि के समग्र प्रसार में वही एक गोसाइँ, वही एक ओंकार परिव्याप्त है। वह अलख निरंजन है परन्तु विविध रूपों में प्रकट है—

एक अनेक भाव परमेसा। एक रूप का धे न बहु भेसा।
तीन लोक जहवाँ लगि ताईं। मोन के अनूप रूप गोसाईं।

× × ×

अलख निरंजन करता एक रूप बहु भेसा।

× × ×

एक अहै दूसर कोइ नाहीं तेहि सब सृष्टि रूप मुख चाही।

मंझन मधुमालती ॥

इस प्रकार ईश्वर के स्वरूप-वर्णन में समस्त सूफी कवियों में एक रूपता है। सभी कवियों ने उसके एकत्व की कल्पना की है। इस 'एकत्व' के लिए इस्लाम में 'तौहीद' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'तौहीद' के सैद्धान्तिक पक्ष को ग्रहण कर सूफी कवियों ने स्वतन्त्र रूप से सिद्धान्त ग्रन्थों का प्रणयन नहीं किया है। परन्तु इस प्रकार का प्रयास केवल मलिक मुहम्मद जायसी की कृति 'अखरावट' में मिलता है। इस कृति में उस परम तत्व के अस्तित्व का वर्णन

---

१ इस्लाम धर्म में यह प्रस्तावना मिलती है कि यह पृथ्वी जल के ऊपर ही स्थित है।

किया गया है। अपने आदि या मूल रूप में वह शून्य था, उसका अस्तित्व ऐसे परिपार्श्व में था जो सूक्ष्म था। वह स्वयं अपना अस्तित्व था —

आपु अकस्त पहिले हुत जहाँ नाँव न ठाँव न मूरति तहाँ।
पुर पुरान पाप नहिं पुन्नू, गुपुत तै गुपुत सुन्न तै सुन्नू।
बिना उरेह अरंभ बखाना, हुता आपु यह आपु समाना।

मसलाबट—पृ० १०४।

परम सत्ता से ज्योति ग्रहण करके ही रवि, शशि और नक्षत्र प्रकाशवान हैं। समग्र प्रकृति उसके प्रकाश से ही आलोकित है। जायसी ने परम सत्ता के इसी रूप का वर्णन करते हुए कहा है—

रवि ससि नखत दिपहि ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती।
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहि हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोत परगसी।

पद्मावत।

सूफियों ने इस जगत को उस परोक्ष के प्रतिबिम्ब के रूप में ग्रहण किया है। अमूर्त ब्रह्म कभी-कभी अपने मूर्त रूप को देखना चाहता है। ऐसी स्थिति में प्रकृति और समग्र सृष्टि का प्रसार वह दर्पण के रूप में कर लेता है—

आपुहि आपु जो देखै चहा। आपुनि प्रभुत आपु से कहा॥
सबै जगत दर्पन कै लेखा। आपुहि दरपन आपुहि देखा।

× × ×

आपुहि पुहुप फूल बन फूले। आपुहि भँवर बास रस भूले।
आपुहि घट-घट महं मुख चाहे। आपुहि आपने रूप सँवारे।

हिन्दी सूफी काव्यों में आत्मा और परमात्मा के मध्य की द्वैत भावना के परित्याग का आग्रह मिलता है। परमात्मा और आत्मा एक है परमात्मा और जगत् एक है, इस प्रकार की भावना का प्रसार इन कवियों की रचनाओं में मिलता है। इनके अनुसार परम प्रकाश से मुहम्मद का नूर प्रकट हुआ। नूर के पोषण के लिए ही समग्र सृष्टि की रचना हुई। इस विश्वास को ही व्यक्त करते हुए जायसी ने लिखा है—

सँवरौं आदि एक करतारू। जेहँ जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू।
कीन्हेसि प्रथम जोति परगासू। कीन्हेसि तेहि पिरीत कबिलासू।

पद्मावत १

इन कवियों ने सृष्टि की उत्पत्ति का जो क्रम व्यक्त किया है, उसके अनुसार सर्वप्रथम अग्नि फिर वायु, फिर पवन और जल इन सबके बाद पृथ्वी प्रकट हुई।

कीन्हेसि अगिनि पवन जल खेहा। कीन्हेसि बहुतइ रंग उरेहा।
कीन्हेसि धरती सरग पतारू। कीन्हेसि बरन बरन अवतारू।

पद्मावत—१ १।

सूफियों ने मुहम्मद को नूर का पर्याय भी माना है। इस्लाम का आधार ग्रहण करते हुए वे यह प्रकट करते हैं कि यदि वह नूर या मुहम्मद न होता तो सृष्टि सम्भव नहीं थी—

होत न जो उनकर अवतारा। होत न सरग ओमतों पतारा।
न बैकुण्ठ नरक कछु होती। न ससि भान भखक कछु बेते।

नसीर प्रेमदरपन।

सृष्टि-रचना की बलवती अनुप्रेरणा के कारण ही मुहम्मद का जन्म हुआ। ईश्वर ने प्रथम मुहम्मद की ज्योति का निर्माण किया उसी की प्रीति में उसने सृष्टि की रचना की। यदि इस प्रकार के निर्मल पुरुष का जन्म नहीं होता तो सृष्टि अन्धकार पूर्ण रहती—

कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा। नाऊँ मुहम्मद पूनऊँ करा।
प्रथम जोति बिधि तेहि कै साजी। औ तेहि प्रीति सिरिस्ट उपराजी।
दीपक लेसि जगत कहँ दीना। भा निरमल जग मारग चीन्हा।
जौं न होत अस पुरुष उजारा। सूझि न परत पन्थ अँधियारा।

पद्मावत—८।

सूफी धर्म में आत्मा का परमात्मा में लीन हो जाना 'फना' कहा गया है। उसमें पूर्णतः विलय हो जाने को 'बका' कहा गया है। इन पदों की उपलब्धि के लिए साधना अपेक्षित है। इस सम्बन्ध में किए गए प्रयास को मार्ग कहा गया है। साधक सालिक है अर्थात् प्रेम-मार्ग का पथिक है। इस मार्ग की चार अवस्थायें मानी गई हैं—

[क] शरीअत—धर्म ग्रन्थों के विधि निषेध का पूर्ण परिपालन।

[ख] तरीकत—बाह्य क्रियाओं और आडम्बरों से मुक्त रह कर हृदय की शुद्धि का अभ्यास करना और ईश्वर की ओर उन्मुख होना।

घ] हकीकत—भक्ति और साधना के समन्वय से सत्य का सम्यक् बोध जिसके पश्चात् साधक तत्व दृष्टि-सम्पन्न हो जाता है और त्रिकाल ज्ञाता भी हो जाता है।

[च] मारिफत—सिद्धावस्था—इस अवस्था में साधक साध्य में लीन हो जाता है।

सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानक काव्यों में प्रेम प्राप्ति हेतु किए गए प्रयासों में साधना की इन चार अवस्थाओं का स्पष्ट निरूपण किया है। प्रेमी के मार्ग में कठिनाइयों के निरूपण वाले सिद्धान्त का भी आधार इनकी रचनाओं में मिल जाता है। रत्नसेन 'पद्मावती' की प्राप्ति का प्रयास करता है। इस प्रयास में वह सिंहल द्वीप की यात्रा करता है। यात्रा में उसे विभिन्न व्यवधान मिलते हैं। सिंहल-यात्रा में रत्नसेन को सात समुद्र पार करने पड़ते हैं। इन समुद्रों को जायसी ने मार्ग में पड़ने वाले बाधाओं के रूप में चित्रित किया है—

मालेक काम पसत बैहि बाटीं। उतरे जाइ समुन्द के घाटीं।

गजपति रत्नसेन के सम्मुख समुद्रों के पार करने की कठिनाइयों का वर्णन करता है—

पै गोसाइं सौं एक बिनाती। मारग कठिन जाब केहि भाँती।
सात समुन्द असूझ अपारा। मारहिं मगर मच्छ घरियारा।

× × ×

विषम दीप जाइ जो कोई। हाथ बिहै बिझ आपन होई।
खार खीर दधि उदधि सुरा जल पुनि किलकिला अकूत।
को चढ़ि नाँघहि समुन्द ये ताहीं है काकर अस बूत। १४१।१२२।

इस अवस्था को शरीअत का प्रतीक माना गया है। रत्नसेन जानता है कि उसने जिस प्रेम-पन्थ को स्वीकार किया है उसमें क्षेम नहीं है। वह खीर (क्षीर) समुद्र में प्रवेश करता है। वस्तुतः यह अवस्था शरीअत की है जिसमें साधक परम तत्व के गुणों के साथ तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास करता है और सांसारिक आकर्षण उसके प्रलोभन बनते हैं।

खीर समुन्द का बरनौं नीरू। सेत सरूप पियत जस खीरू।

मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत की कथा के सन्दर्भ में शुक को गुरु रूप में ही प्रस्तावित किया है। शुक की प्रेरणा से ही रत्नसेन नागमती की ओर आकर्षित होता है—

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पदमिनि चिन्हा।
गुरु सुआ जेहि पन्थ देखावा। बिन गुर जगत को निरगुन पावा।
जायसी ग्रन्थावली।

नूर मुहम्मद की 'अनुराग बाँसुरी' में भी शुक ही अगुआ बनता है कारण वह पथ जानता है—

अगुआ भएउ सुआ उपदेशी, अगुआई को दीपक लेसी।
अगुआ सोइ पन्थ जो जाना अगुआ उचित न फिरे भुलाना।
अनुराग बाँसुरी।

सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में योग-साधना

सूफी काव्यकारों ने अपने काव्य-नायकों को साधक-रूप में प्रस्तावित किया है। नायक प्रेम के प्रति जब आकर्षित होता है तब वह साधक की भूमिका ग्रहण करता है। और इस सन्दर्भ में वह नाथ योगी का वेष ग्रहण करता है। 'पद्मावत' में रत्नसेन नागमती के सांसारिक पाश का परित्याग कर सिंहल की यात्रा के लिए जब तत्पर होता है तब वह नाथयोगी की भूमिका धारण करता है। सिद्धि प्राप्ति हेतु वह गोरख के नाम का स्मरण करता है। वह मेखला शृंगी चक्र, खप्पर ग्रहण कर लेता है।[1]

---

१ मेखलि सिंघी चक्र धंधारी। जोगौटा रुद्राछ अधारी।
कंथा पहिरि दंड कर गहा। सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा।
मुंद्रा स्रवन कंठ जपमाला। कर उदपान काँध बघछाला।
पाँवरि पाँव लीन्ह सिर छाता। खप्पर लीन्ह भेस कै राता।
पद्मावत—१२६।११२।

मधु मालती का नायक मनोहर मधु मालती के वियोग में घर का त्याग करता है। इस अवसर पर वह नाथ योगी का वेश धारण करता है।[1] उसमान 'चित्रावली' में सुजान का रूप इसी वेश में प्रस्तावित करते हैं। जायसी मंझन उसमान की रचनाओं में नाथ योगियों के रूप का वर्णन उनके शब्दों में मिलता है, परन्तु परवर्ती कवियों में इस स्वरूप निर्धारण के प्रति विशेष आग्रह नहीं मिलता है।

सूफी कवियों ने काम-भावना के सन्दर्भ का भी आधार ग्रहण किया है। इनकी कृतियों के कथा नायक योगी का वेश धारण करते हैं और साधना की भूमिका में ही महा ज्योति या परम तत्व रूपी नायिका की उपलब्धि का प्रयास करते हैं। जायसी के 'पद्मावत' में सिंहल गढ़ काया या तन का प्रतीक है। राजा रत्नसेन मन है पद्मावती परम तत्व है। इस परम तत्व की उपलब्धि हेतु काम-भावना अपेक्षित हो जाती है। पद्मावती दिव्य ज्योति है चन्द्रमा है जो आकाश में प्रकट होती है जो आकाश (ब्रह्म रंध्र) शिव लोक है। वह ज्योति शिव लोक में प्रकाशित रहती है। जायसी ने रतन सेन को 'सूर्य' रूप में ग्रहण किया है। पद्मावती इस सन्दर्भ में चन्द्रमा है। इस प्रकार के प्रयोग सिद्धों नाथों और सन्तों की रचनाओं में मिलते हैं। इस प्रसंग पर विचार किया जा चुका है। रत्नसेन और पद्मावती का मिलन वस्तुतः 'रवि' और 'शशि' का मिलन है। यह वह स्थिति है, जिसमें द्वैत स्थिति समाप्त होकर अद्वैत की स्थिति आती है जिसे 'समरसता' की अवस्था कहा गया है। रत्न सेन इसी सन्दर्भ के अनुरूप कहता है—

अब हौं सुरुज चाँद वह छाया। जल बिनु मीन रकत बिनु काया।
किरन करा भा प्रेम अँकूरू। जौं ससि सरग, मिलौं होइ सूरू।
सहसौं करा रूप मन भूला। जहँ-जहँ दीठ कँवल जनु फूला।
जायसी पद्मावती ४ १६।

रत्न सेन और पद्मावती विवाह के पश्चात् शैय्या पर मिलते हैं। इस संयोग

१—कठिन विरह दुख काय सँभारी मौन्यो नगर राज अवतारी।
कर हाथ मुख भस्म चढ़ाई, सीस जटा धरि उदासी।
कंथा मेखली आरम्भा पाय खड़ाई भेस।
गल कटोरी बाँध के, पैठो गोरख वेश।—मधुमालती।

में सामरस्य भाव निहित है। शशि की सोलह कलायें रवि की कलाओं को जब आत्मसात कर लेती हैं तभी इस सामरस्य की अवस्था की सम्भावना होती है। पद्मावती रत्नसेन को अपने सौन्दर्य से विमुग्ध कर देती है अर्थात् शशि रवि को अपने में समाहित कर लेता है। इस पक्ष का आधार ग्रहण कर ही जायसी ने पद्मावती और रत्न सेन के मिलन की भूमिका का सम्पादन किया है—

मिली गोहने सखी तराईं। लेइ चाँद सूरज पहँ आईं।
पारस रूप चाँद देखराई। देखत सूरुज गा मुरछाई॥
सोरह कला दिस्टि ससि कीन्ही। सहसो कला सूरुज कै लीन्ही।
भा रवि अस्त तराईं हँसी। सूर न रहा चाँद परगसी।

जायसी ग्रन्थावली १११।

कुण्डलिनी-साधना के प्रतीकों या पर्यायों के सम्पादन भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। सिद्धों और उनके परवर्ती साधकों ने ईड़ा पिंगला को गंगा यमुना कहा है और इन्हें 'चन्द्र' और 'सूर्य' का पर्याय भी माना है। जायसी तथा अन्य सूफी कवियों ने प्रेम निरूपण और उसकी उपलब्धि के सन्दर्भ में इन प्रतीकों का प्रयोग किया है—

धूप छाँह दुइ पिय के रंगा दूनौ मिली रहहु एक संगा।
तुम गंगा-जमुना दुई नारी लिखा मुहम्मद जोग।
सेवा करहु मिलि दूनौं, लिखा मुहम्मद भोग।

जायसी ग्रन्थावली।

परम तत्व के साथ एकाकार होने के लिए प्राणायाम-साधना नाड़ी-साधना और चक्र-भेदन की क्रिया का उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया गया है। सूफी कवियों ने इस साधना-प्रणाली के माध्यम से अद्वैत-स्थिति की सम्भावना के प्रति विश्वास प्रकट किया है। सिंहल गढ़ में नौ पौरियाँ (आयाम-या-विश्राम स्थल) हैं। सूर्य-शशि उस गढ़ को बचाकर चलते हैं। उसमें नौ पौरियाँ हैं जो वज्र से सज्जित हैं। उस गढ़ के नौ खण्डों में नव पौरियाँ हैं उनमें वज्र के किवाड़ लगे हैं। चार आयामों को पार कर ही साधक उस गढ़ में प्रवेश कर सकता है—

निति गढ़ बाँचि चलै ससि सूरू। नाहिं त बाजि होइ रथ चूरू।
पँवरी नवौ बज्र कै साजी। सहस सहस तहँ बैठे पाजी।

× × × ×

नवौ खंड नव पँवरी। औ तहँ बज्र केवार।
चारि बसेरे सौं चढ़ै। सत सौं चढ़ै जो पार।

पदमावत—३१।४१।

इस प्रकार सिंहल गढ़ काया-गढ़ है। इसमें इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ नीर और खीर की सरितायें हैं। सुषुम्ना मोती-कुण्ड है। चेतना कंचन-वृक्ष है जो पाताल (मूलाधार) से लेकर आकाश (सहस्रार) तक प्रसरित है। ज्ञान इस वृक्ष का फल है। जरा-मरण के भय से ऊपर उठने वाला व्यक्ति ही इस फल को प्राप्त कर सकता है—

गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी। पानी भरहिं जैसी दुरपदी।
और कुण्ड एक मोती चूरू। पानी अमृत कीच कपूरू।

× × × ×

कंचन बिरिछ एक तेहि पासा। जस कलपतरु इन्द्र कबिलासा।
मूल पतार सरग ओहि साखा। अमर बेलि को पाव को चाखा।

× × × ×

यह फर पावै तपि कै कोइ। बिरधहि खाइ नव जोबन होई। पद्मावत।४२।

इस प्रकार नौ पौरियों को कवि ने शरीर के नव द्वारा के रूप में या नौ चक्र के रूप में अंकित किया है। और पाँच कोटवाल पंच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। दसम द्वार ब्रह्मरंध्र है जिस पर अनाहत नाद ध्वनित रहता है।

नवौं पँवरि पर दसौं दुआरू। तेहि पर बाज राज घरियारू।
घरी सो बैठि गनै घरियारी। पहर-पहर सो आपनि बारी।

इसी सन्दर्भ में कवि जीवन की क्षणभंगुरता का निरूपण भी करता है।[1]

१—तुम्ह तेहि चाक चढ़े हौ काँचे। आएहु फिरै न थिर होइ बाँचे।
घरी जो भरै घटै तुम्ह आऊ। का निचिंत होवहि रे बटाऊ।
पहरहि पहर गजर निति होई। हिया निसोगा जाग न सोई।
मुहमद जीवन जल भरन रहँट घरी कै रीति।
घरी सो आई ज्यों भरी ढरी जनम गा बीति।४२५

हठयोग में शून्य के साथ या परम तत्व के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेने को मरण योग कहते हैं। कबीर ने इसे 'स्व' को 'पर' में समाविष्ट हो जाना कहा है। रत्नसेन का पद्मावती के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेना 'स्व' को 'पर' में समर्पित कर देने की भावना से भिन्न नहीं है। कबीर ने सुरति को 'निरति' में समाविष्ट होने की भावना का वर्णन किया है। रतनसेन' का पद्मावती' के साथ एकात्म-हो जाना इसी विधि की साधनात्मक व्यञ्जना है।

दसवाँ दुआर तार का लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा।
जाइ सो जाइ साँस मन बन्धी। जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिन्दी।

मन को मारकर, नष्ट कर, साँस को अधिकार में करने के पश्चात् अहं भाव का लोप होता है। जो जीवित रह कर मृतक हो जाता है उसके लिए संसार की नश्वरता का कोई अर्थ नहीं होता। ऐसी स्थिति में साधक स्वयं अपना गुरु हो जाता है—

जियतहि जो रे मरै एक बारा
पुनि कत मीचु को मार पारा।
आपुहि गुरु सो आपहु चेला
आपुहि सब सो आपु अकेला।

पद्मावत १५६।

शंकर से इस प्रकार का उद्बोधन प्राप्त करने के पश्चात् ही रत्नसेन अपने सहयोगियों के साथ सिंघल गढ़ को घेर लेता है। जायसी तथा अन्य सूफी प्रेमाख्यानक कवियों ने नाथ पन्थ में प्रचलित योग साधना का समन्वय प्रेम तत्व के साथ किया है। यह उनका बड़ा समर्थ प्रयोग है। प्रेम की तीव्रता काव्य में अप्रस्तुत विधान के रूप में निरन्तर विद्यमान रहती है। इन रचनाकारों ने इस्लाम अथवा सूफी धर्म के अनुसार ईश्वर या ब्रह्म के स्वरूप के साथ सिद्धों-नाथों और सन्तों की चिन्तन-धारा में उपलब्ध शून्य के स्वरूप को समाविष्ट करने का प्रयास किया है। अतः अपने परम तत्व को शून्य में निहित देखने का प्रयास उन्होंने किया है। गुरु ने रत्नसेन को 'चाँद' और 'सूर्य' की कथा में ही दीक्षित किया था—

चाँदहुँ मारि सुरुज अँजित मेला। सुर होइ आपु कीन्ह गहु चेला।
सुरुज चाँद के कथा कहा। प्रेमक गहन लाइ चित रहा।

पद्मावत ७३।८३।

इस 'सूर्य' और 'चाँद' की कथा हेतु प्रेम-तत्व को माध्यम रूप में उसने ग्रहण किया है। प्रेम भावना के साथ योग-तत्व को संयोग की अनुप्रेरणा जायसी के के परवर्ती कवियों में भी नियमित रूप में मिलती है। 'हंस जवाहिर' (कासिम शाह) में यह स्पष्टीकरण मिलता है कि जवाहिर परम सिद्धि है हंस साधक है। उसकी सिद्धि हेतु वह योग-साधना करता है।

जो तौं चहत जवाहर कीन्हा। तू कर योग गुरु जस कीन्हा।
कहुँ योग को योगाचारी, ठाढ़ किया आँखों दुख भारी।

हंस जवाहिर पृ० ११६।

'मधुमालती' का नायक मनोहर ने गोरख के मार्ग का अनुसरण कर मधु मालती का दर्शन किया और उसमें अनहद नाद प्रस्फुटित हुआ—

दरसन बाम दह सब कीन्हेसि, मग गोरख का काम।
कर दरसन त्यों के उपराजी सहस अनाहद केकरी बाजी।

मधु मालती।

सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में नायिका के निवास-स्थल के लिए कवियों ने कविलास (कैलाश) शब्द का प्रयोग किया है। कैलाश साधना की वह उच्चतम भूमि है, जहाँ पहुँच कर साधक परम तत्व के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। सूफियों का 'कविलास' वस्तुतः गोरखनाथ या सन्तों का सहस्रार या ब्रह्म रंध्र है—

(१) सात खण्ड ऊपर कविलासू, तहवाँ नारि सेज सुख बासू।

पद्मावत।

(२) कनक जो कौतुक खेल सब नखत सखी चहुँ पास।
तन्मे सो मानिनि दुख्खहरी, भई मोक्ष कैलास।

हंस जवाहर पृ० ८१।

मन की साधना इस चिन्तन धारा की आधार शिला है। सिद्धों की अन्तर मुखी साधना प्रणाली को गोरखनाथ ने अपने सन्दर्भ के अनुसार रूपान्तरित किया है। कबीर तथा अन्य सन्तों ने भी मन की साधना पर विश्वास प्रकट किया है। जायसी तथा अन्य सूफी कवियों ने भी मन की साधना के प्रति प्रबल आग्रह-भाव व्यक्त किया है। मन की दृढ़ता ही साधना शक्ति है। मन की दृढ़ता से ही रत्न

सेन ने मार्ग के विरोधों के बीच अपना विकास किया और परम तत्व 'पद्मावती' के साथ तादात्म्य स्थापित किया। मन के इसी स्वरूप का परिचय प्रदान करते हुए रत्न सेन ने गजपति से कहा—

गजपति यह मन सकती यह मन सीऊ। पै जेहि पेम कहाँ तेहि जीऊ।
जौ पहिलें सिर दै पगु धरई। मुए केर मीचुहि का करई।

अर्थात्, यह मन ही शक्ति है यह मन ही शिव है जिसे प्रेम होता है उसमें प्राण नहीं होते। जो अपना प्राण देकर प्रेम-पंथ पर अग्रसर होता है उसकी मृत्यु कुछ नहीं कर सकती है।

रत्नसेन ने मन की दृढ़ता का परिचय प्रत्येक आयाम में दिया। केवट एवं सेन के शिष्यों (राजकुमारों) की गर्वोक्ति पर इंसात है मार्ग का परिचय देते हुए उसने कहा—

गरजै गैंगन पंखि जौ बोलहिं। डोलै समुद डहन जौं खोलहिं।
तहाँ न चाँद न सुरुज असूझा। चढ़ै सो जो अस अगुमन बूझा।
पद्मावत —१४८।१११।

इस प्रसंग पर रत्नसेन ने अपने मन की दृढ़ता का परिचय दिया —
जौ सत हिऐं तौ नैनन्ह दिया। समुँद न डरै पैठ मरजिया।
तहँ लगि हेरौं सँमुद ढँढोरी। जहँ लगि रतन पदारथ जोरी।

सपत पतार खोजि जस काढ़े बेद गरंथ।
सात सरग चढ़ि धावौं पदुमावती जेहि पंथ।

अर्थात् उसके हृदय में सत्य है नैनों में दीपक है। उस समय तक वह समुद्र में खोजता रहेगा जिस समय तक वह अपनी उपलब्धि नहा लेगा। जिस प्रकार सप्त पाताल में (मत्स्य अवतार में) विष्णु ने वेद-ग्रन्थ निकाला उसी प्रकार सप्त आकाश पर चढ़कर वह पद्मावती के मार्ग की ओर अग्रसर होगा। मन की दृढ़ता दर्पण के समान है जिसमें परम तत्व का स्वरूप अति स्पष्ट है। इस हृदय की दृढ़ता के कारण ही सिद्धों को अभीष्ट की उपलब्धि हो सकी थी। वह तत्व हमसे भिन्न नहीं है, वह इसी मन में समाया है—

यह दरपन तुम देखु उम्हारी जेहि सम देखहु दरसु पियारी।
मेही मुकुर सिद्धन कर गहा मन की इच्छा इहि महि चहा।
चौदह भुवन रहहिं मन माहीं तिल समान कछु बाहर नाहीं।

चित्रावली पृ० १०२।

प्रेम मार्गीय साधना

सूफ़ियों की साधना प्रेम मूलक है। उसके अनुसार परमात्मा प्रेम-स्वरूप है। वह दिव्य सौन्दर्य रूप भी है। सौन्दर्य प्रेम का प्रमुख तत्व है। अतः सौन्दर्य तथा प्रेम-उपासना के प्रति वे आस्थावान रहे हैं।[1] 'जामी' ने इस प्रकार की प्रस्तावना की है कि ईश्वर परम सत्ता है। उसका सौन्दर्य अपनी सम्पूर्णता के साथ समग्र सृष्टि में प्रतिभासित है। प्रसिद्ध सूफी साधक गज़ाली ने प्रेम के उन्माद की चर्चा की है। बेसुध बनाने वाली प्रेम भावना का विकास हिन्दी सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में मिलता है। हिन्दी सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में परम तत्व का सौन्दर्य—बुद्धि, प्रेम और प्रकाश—इन सभी रूपों में वर्णित किया गया है। इन आख्यानक काव्यों में नायिकायें अलौकिक सौन्दर्य के पर्यायवाची रूप में ग्रहण की गई हैं। इनकी नायिकायें यद्यपि लौकिक हैं, परन्तु लौकिक में ही कवियों ने अलौकिक सौन्दर्य की प्रतिस्थापना की है। इनमें 'इब्नेसामी' और 'इब्नेजामी' के सौन्दर्यवाद का समावेश किया गया है। सूफी साधक ब्रह्म की स्थिति हृदय में मानते हैं। इस प्रकार इन आख्यानक काव्यों में लौकिक प्रेम अप्रस्तुत है। प्रस्तुत है अलौकिक प्रेम। इन रचनाओं में प्रेम का आरम्भ गुण श्रवण चित्र दर्शन या साक्षात दर्शन से होता है। 'पद्मावत' 'हंस जवाहर' 'अनुराग बाँसुरी' आदि रचनाओं में प्रेम का आरम्भ गुण श्रवण से होता है। 'चित्रावली' और 'रतनावली' में चित्र दर्शन की योजना मिलती है। 'कनकावती' 'कामलता' 'इन्द्रावती' और 'यूसुफ जुलेखा' में स्वप्न-दर्शन की परम्परा का निर्वाह किया गया है। 'मधुमालती' में प्रत्यक्ष दर्शन की पद्धति का नियोजन मिलता है।

१—सौन्दर्यवाद के पोषक सूफी इब्नेसिना थे। प्रेमवाद के प्रवर्तक मंसूर हल्लाज थे। इसके अतिरिक्त एक अन्य धारा है, जिसके अनुसार ईश्वर नूर या प्रकाश है। एक अन्य धारा के अनुसार ईश्वर बुद्धि का पर्याय है।

इस प्रकार सूफियों ने प्रेम और रूप के पारस्परिक सम्बन्धों का निरूपण करते हुए अपने काव्यों में उसकी महत्ता का संस्थापन किया है। उनकी प्रेम-पद्धति में विरह एक अनिवार्य तत्व माना गया है। रूप और प्रेम के पश्चात् विरह एक स्वाभाविक धर्म के रूप में प्रस्फुटित होता है। यथा—

रूप पेम मिलि जो सुख पावा दुखहु मिलि बिरहा उपजावा।
जहाँ प्रेम तहँ बिरहा आगू बिरह आग जग लगु कर मागू।
जहि तन प्रेम आमि सुलगाई, बिरह पौन होइ दे सुलगाई।
रूप प्रेम बिरहा चपल, मूल सृष्टि के धम्म।
हौं तीनहु के भेद कहु, कथा करौं आरम्भ।

उसमान चित्रावली १। १४।

प्रिय का सौन्दर्य 'मधु' (मदिरा) के समान है। इसे पाकर साधक 'बावला' होने की कामना करता है।

दै मद अपने हाथ सों पियउ देखि मुख तोर।
चाहसि तो मतवारा कै प्रान पियारा मोर।
बिना कदम्बरि के पिए, आस न मन सों जात।
रूपावती होइ दीजिए, होलिका लागी प्रात।

नूर मुहम्मद-इन्द्रावती।

परम ज्योति स्वरूप परमात्मा दीपक की ज्योति है। साधक उस ज्योति के साथ पतंग के समान तादात्म्य स्थापित करता है। साधक अपने अस्तित्व को उस परम में समर्पित करता है। इस प्रकार अपने अस्तित्व के मरण की भावना उसकी साधना का उद्देश्य है। इस मरण के पहले साधक को अपनी चित्तवृत्तियों को मारना पड़ता है। इस प्रकार साधक के सम्मुख मरण की दो अवस्थायें हैं। प्रथम अपनी चित्तवृत्तियों के मरण की अवस्था द्वितीय उसके स्व के मरण की। इस स्थिति को 'फ़ना' की अवस्था कहते हैं।

'पद्मावत' में रत्नसेन 'पद्मावती' के रूप सौन्दर्य का परिचय प्राप्त कर उद्विग्न हो उठता है। शुक उससे कहता है यह प्रेम कोई साधारण खेल नहीं है। इस प्रेम के लिए प्राणों का उत्सर्ग अपेक्षित है। रत्नसेन कहता है, प्रेम के इस स्वरूप से वह परिचित है। यद्यपि प्रेम 'मरण योग' है परन्तु प्रेम-अर्जित व्यक्ति

का संसार में आना व्यर्थ है। शुक प्रेम मार्ग की कठिनाइयों का उल्लेख करता है—

जानहिं भवर जो तेहि पथ लूटे, जीउ दीन्ह औ दिए न छूटे।

अर्थात् प्रेम पंथ की कठिनाइयों को वे ही जानते हैं जिन्होंने प्रेम-पथ पर अपना सर्व बलिदान कर दिया है। प्राणोत्सर्ग के बाद भी जो प्रेम का परित्याग नहीं करते वे ही सफल हैं। प्रेम की साधना संसार के वैभव के परित्याग के बाद ही हो सकती है। प्रेम तो योग और तप की साधना है।

साधन्ह सिद्धि न पाइअ जौ लगि साध न तप्प।
सोइ जानहिं बापुरे, सीस जो करहिं कलप्प।

योग की कथा कहने से ही प्रेम उपलब्ध नहीं होता। साधना के क्रियात्मक स्वरूप के द्वारा ही प्रेम प्राप्ति सम्भव है—घृत के लिए दधि-मन्थन की आवश्यकता है, प्रेम के लिए साधना की क्रियात्मकता की—

का भा जोग कहानी कथे, निकसै घिउ न बाजु दधि मथे।

इसके लिए अपने तन का समर्पण अनिवार्य है। प्रेम दुर्गम पर्वत है उस पर शूल अंकुरित हैं। इन शूलों पर मंसूर (प्रेम मार्गी) ही चढ़ सकता है। कंथा धारण करने से ही योग मार्ग का पथी नहीं बना जा सकता है। शरीर में ही दश मार्ग हैं काम क्रोध, तृष्णा मद और माया, ये पाँच चोर क्रियाशील रहते हैं। दश द्वारों को बन्द करना होगा पांच चोरों को अपने नियंत्रण में करना होगा।

जौ लगि आप हेराइ न कोई। तौ लहि हेरत पाव न सोई।
पेम पहार कठिन विधि गढ़ा। सो पै चढ़ै सीस सौं चढ़ा।
पन्थ सूरिन्ह कर उठा अंकूरू। चोर चढ़ै कि चढ़ै मंसूरू।
तू राजा का पहिरसि कंथा। तोरैं घटहिं माह दस पन्था।
काम क्रोध तिस्ना मद माया। पाँचौ चोर न छाड़हिं काया।

१२५।१११।

इस वक्तव्य से रत्नसेन उद्विग्न हो उठता है। उसकी स्थिति समाधिपूर्ण हो जाती है। उसके नेत्रों से मूँगा और मोती गिरते हैं। शुक गुरु की भूमिका में प्रेम चिनगारी डालता है और शिष्य रूप में रत्नसेन उस चिनगारी को प्रज्वलित कर लेता है। वह कीट-भृंगी के समान हो जाने के लिए तत्पर हो

रहता है। जिस प्रेम से वह दग्ध होता है उसकी प्राप्ति के लिए वह आकुल हो रहता है—

गुरु बिरह चिनगी कै मेला । जो सुलगाइ लेई सो चेला ।
अब के फनिग भृंगि कै करा, भँवर होउ जेहि कारन जरा ।
फूल-फूल फिरि पूछौं जौं पहुँचौं ओहि केत ।
तन नेवछावर कै मिलौं ज्यों मधुकर जिउ देत । १२५।११२।

रत्नसेन प्रेम-पथ पर प्रस्थान के लिए तत्पर है। ज्योतिषी आज के प्रस्थान को अशुभ मानता है। दिन शुभ नहीं है। रत्नसेन उत्तर देता है कि प्रेम पथिक दिन और घड़ी नहीं देखता। जिसके शरीर में प्रेम का प्रवेश हो जाता है, उसमें रक्त और मांस नहीं रह जाता। प्रेमी तो पथ पर पक्षी के समान है। *जिस वन में उसे विश्राम मिलता है, उसीमें वह विश्राम करता है।*

सगुन कहहिं कछु न गवन आजू । दिन लै चलहिं परै सिध काजू ।
प्रेम पंथ दिन घरी न देखा । तब देखै जब होइ सरेखा ।

× × × ×

हौं रे पथिक पँखी जेहि बन मोर निबाहु ।
खेलि चला तेहि बन कहँ तुम्ह आपन घर जाहु । १२७।११४

रत्नसेन कहता है प्रेम-पन्थ अगम्य है। प्रेम समुद्र पार करने वाला 'हंस' के समान तिर जाता है। नश्वर काया की मृत्यु की वहाँ चिन्ता नहीं। इस समुद्र के जल में (भव सागर में) मृत होकर जब वह लहरों के साथ बहेगा तो लहर उसे कहीं ले जायें यह समझ कर ही वह समुद्र में समर्पित हो रहा है।

शिव मन्दिर में रत्न सेन पद्मावती को देखकर मूर्छित हो जाता है। पद्मावती लौटकर घर आती है। पुन. शुक रतन सेन का सन्देश लेकर पद्मावती के पास आता है। पद्मावती को रतन सेन का पत्र मिलता है। विरह का पत्र तप्त है। पत्र के ताप से शुक-कण्ठ भी लाल हो गया है। शुक कहता है—

अगिनि स्वाँस सँग निकसै ताती । तरिवर जरहिं तहाँ का पाती ।
जरि जरि हाड़ भए सब चूना । तहाँ मासु का रकत बिहूना ।
रोइ रोइ सुएँ नहीं सब जाता । रकत कै आँसुन्ह मा मुख राता ।

देसु कंठ बरि लाग सो येरा। सो कस बिरै नयह मस येरा।
औरु तेहि लाग कमा बसि बारी। तपत कीस कस बैर न जारी।
२३०। १८७।

शुक का उत्तर देती हुई पद्मावती कहती है—शुक उससे मिलने की मेरी अभिलाषा अति प्रबल है। परन्तु वह प्रेम का मर्म नहीं जानता। वह अपरिपक्व है। प्रीति के रंग में वह पूर्णतः रंजित नहीं है। उसका अन्तर प्रेम-मलयगिरि से सुवासित नहीं है। वह भ्रमर के समान नहीं हुआ है। दीपक पर पतंग की गति की अनुभूति उसे नहीं हुई है।

कहेसि सुआ मोसों सुन बाता। चहौं तो आज मिलौं जस राता।
पै सो मरम न जानै मोरा। जानै प्रीति जो मरि कर जोरा।
हौं जानति हौं अबहूँ काँचा। न जनु प्रीति रंग थिर राँचा।
न जनु होइ भँवर कर रंगू। न जनु दीपक होइ पतंगू।
२३१।१८८।

पद्मावती रत्न सेन के पत्र का उत्तर देती है, प्रीति में कंचन और सोहागे का व्यवहार होना चाहिए। स्वप्न में तुम मूर्छित हो गए। खेल के मिस जागृत कर मैंने तुम्हें जयमाल देना चाहा। तुम्हें चन्दन लगाया। परन्तु तुम सोये रहे। मिलन जागृत अवस्था में होता है। अब यदि तुम सूर्य के समान आकाश (सिंहल द्वीप) पर आ सको तो तुमसे मिल सकती हूँ। भ्रमर! यदि तू मालती से प्रीति निर्वाह करना चाहता है तो कष्टों से न डर। पतंग बनकर अंगारों से दीपक धारण कर। तू पिपासित चातक के समान मुझे पुकार। तू उस सारस के समान बन, जिसकी जोड़ी बिछुड़ गई है, चकोर के समान अपनी दृष्टि शशि पर केन्द्रित कर।
(२३४ २०१)।

इस प्रकार प्रेम में आत्मसमर्पण अपेक्षित है। रत्न सेन सिंहल गढ़ में अपने शिष्यों के साथ बन्दी बनाया जाता है। उसके शिष्य युद्ध हेतु तत्पर होते हैं। परन्तु रत्न सेन वर्जित करता है। वह उपदेश देता है कि प्रेम में शस्त्र-धारण की आवश्यकता नहीं शत्रु के सम्मुख नतमस्तक होने का उपदेश देता है। जल के समान प्रवाहित हो जाने को कहता है। ऐसी स्थिति में चाहे बारी पानी-पानी हो जाता है। जल से तो अग्नि भी बुझ जाती है। प्रेम के द्वार पर प्रिय से बड़ा

और कोई आकर्षण नहीं है। रत्न सेन सूलो पर चढ़ने जा रहा है। बधिक कहता है जिसे स्मरण करना चाहते हो कर लो। रत्न सेन उत्तर देता है मैं प्रत्येक साँस में उसी का स्मरण करता हूँ। काया में रक्त की एक-एक बूँद पद्मावती का नाम स्मरण कर रही है।

कहेसि ओहि सँवरौं हर फेरा। मुएँ जिअत आहौं जेहि केरा।

× × × ×

रकत क बूँद कया जत अहही। पदुमावति पदुमावति कहही।२६१।२२१

इस प्रकार जायसी तथा अन्य सूफी कवियों ने अद्वैत की प्राप्ति के लिए मरण मौम को स्वीकार किया है। संसार से विमुख होकर अद्वैत की भूमिका में आजाना ही मरण है। प्रेम-पंथ पर अनेक बार मरण की अवस्था आती है। सिद्धि-अवस्था ही अद्वैत अवस्था है, मरण-अवस्था है। इस स्थिति के रक्षण की निरन्तर आवश्यकता रहती है। असावधानी से पुनः द्वैत स्थिति आ जाती है। और साधक पुनः संसार के साथ सम्बद्ध हो जाता है। अपनी उपलब्धि वह उसी प्रकार खो देता है, जिस प्रकार रत्न सेन चित्तौर लौटते समय (समुद्र में) पद्मावती को खो देता है—

पदुमावति संसार रूप मनि कहँ मनि कहाँ सुहेल।
एत सब आइ समुँद महँ खोएउ हौं का जियौं अकेल। ४१०।

रत्न सेन साधना को पूर्णता पर नहीं पहुँच सका था इस कारण ही समय समय पर पद्मावती से अलग होकर वियोग की अनुभूति करता है। पण्डित रत्नसेन से कहता है मृत (संसार की माया के प्रति मृत) पुनः मरने की अभिलाषा नहीं करता है। मृत जल में (संसार में) डूबता नहीं है। वह तो निरन्तर जलधारा के साथ बहता जाता है और एक तट पर लग जाता है। दशरथ सुत राम भी नारी विरह में पीड़ित होकर तुम्हारे ही समान इसी समुद्र में आए थे। राम अपने रामत्व को खोकर ही सीता को प्राप्त कर सके थे। अतः मृत होकर ही पदुमावती को प्राप्त कर सकते हो। रत्न सेन इस सन्देश को ग्रहण करता है। वह उस तट पर पहुँचता है, जहाँ पद्मावती थी।

जो नर भया जी छोड़ेसि माया । बहुरि न करै मरन कै दाया ।
जौं नर भया न बूझै पीरा । बहुत आइ कापै पै सीरा ।
जहुँ एक बाजर मैं भेंटा । जैस राम दसरथ कर बेटा ।
ओहू मेहरी कर परा बिछोवा । एहि समुंद महँ फिरि फिरि रोवा ।
पुनि जो राम ओह मा मरा । तब एक भ त भएउ विधि तरा ।
तब नर होइ मुँहु अब ओछी । नाथी टेकु धीर बैराखी ।
बाजर अब प्रेमकर सुधुआ सुमन सोंहि भा आट ।
मिलिब एक यहि प्रेमा, पदुमावति जेहि बाट । ४१३ । १४६ ।

रत्नसेन अनेक संघर्षों में 'मरण' प्राप्त करता है परन्तु प्रत्येक उपलब्धि के पश्चात् उसका मन अस्थिर होता है। अतः मन के मारने की समस्या उसके सम्मुख निरन्तर विद्यमान रहती है।

डॉक्टर माता प्रसाद गुप्त जायसी को प्रेम तत्व को भक्तिमूलक नहीं मानते हैं। इस प्रकार इनके अनुसार समस्त सूफी प्रेमाख्यानक काव्य लौकिक प्रेम-मूलक हैं। इस प्रकार इनका विचार भ्रान्तिमूलक है। यदि इनके निष्कर्ष को ग्रहण कर लें तो सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों पर किये गए समस्त वक्तव्यों में परिवर्तन करना होगा। इस दृष्टि को सम्मुख रखते हुए इनके वक्तव्य पर यहाँ विचार किया जा रहा है। डॉक्टर गुप्त के निष्कर्ष निम्नलिखित हैं —

(क) जायसी की कथा प्रतीकात्मक नहीं है। जिस प्रेम का विकास उन्होंने रत्नसेन और पद्मावती के बीच किया है। वह जीव और ईश्वर के प्रेम का प्रतीकात्मक रूप नहीं है। वह विशुद्ध रूप में नारी और पुरुष का प्रेम है जो परमेश्वर की ज्योति लेकर अवतीर्ण होते हैं।

(ख) प्रेम मात्र को जायसी दिव्य मानते हैं। अतः उनके अनुसार पुरुष और नारी का प्रेम भी दिव्य है यदि वह शुद्ध काम मात्र न हो अर्थात् उसमें प्रेम पद की प्राप्ति के लिए जीवनोत्सर्ग की भावना हो। इस प्रकार का प्रेम मनुष्य के जीवन को लौकिक बनाता है और उसे सार्थक करता है।

(ग) जीव और ईश्वर का प्रेम पुरुष और नारी के प्रेम से किंचित भिन्न है। जीवन में उसका स्थापित और महत्व है। किन्तु पुरुष और नारी की सहायता से जायसी ने उसकी ओर जो संकेत मात्र किए हैं, वह प्रस्तुत कृति में जायसी का वर्ण्य नहीं है।

(ख) पुरुष-नारी के प्रेम में काम के लिए भी विहित स्थान है, वह निषिद्ध नहीं है ऐसा जायसी का स्पष्ट मत है।[1]

इन के अनुसार जायसी ने लौकिक प्रेम के आदर्शीकरण की भावना से 'पद्मावत' की रचना की है। अपने मन्तव्य के स्पष्टीकरण के लिए वे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के एक मन्तव्य का सन्दर्भ ग्रहण करते हैं और उसका विश्लेषण करते हैं। आचार्य शुक्ल ने इस ओर संकेत किया है कि जायसी के प्रेम का प्रारम्भ लोभ से होता है—सुए के मुख से पद्मावती की प्रशंसा सुनते ही बिना उसे देखे रत्न सेन उसे प्राप्त करने दौड़ पड़ता है। यह उसका रूप लोभ है प्रेम नहीं।[2] डॉ॰ माता प्रसाद गुप्त ने इसका समाधान इस रूप में देने का प्रयत्न किया है 'ऐसा नहीं कि जायसी ने इसका कोई समाधान दिया है किन्तु वह बहुत संक्षिप्त है, कि कदाचित इस लिए इतना संक्षिप्त है कि वे अपने प्रेम रस के रसिक और विज्ञ पाठकों से यह अपेक्षा करते थे कि उनके लिए वही पर्याप्त होगा। सम्भव है कि जिन्हें वे अपने काव्य का पाठक समझते थे उनके सामने यह समस्या उस प्रकार की रही भी न हो जिस प्रकार यह हमारे सामने है।[3]

रत्न सेन पद्मावती से विवाह के बाद प्रथम मिलन के वार्तालाप में कहता है—

अनु धनि तू ससि अर निसि माहाँ। हौं दिनअर तेहि की तू छाहाँ।
चाँदहि कहाँ ज्योति औ करा। सुरुज की ज्योति चाँद निरमरा।

पद्मावती भी इस कथन का समर्थन करती हुई कहती है—

हीरा दिपै जो सुरज उदोती। नाहीं त कित पाहन कहँ जोती।
रवि परगासे कँवल बिगासा। नाहि त कित मधुकर कित बासा। ३१२।

इनके इन कथनों का स्पष्टीकरण तब होता है जब हम इब्नुल अरबी (मृत्यु सन् १२४०) के सिद्धान्तों पर विचार करते हैं। उसने 'फुसूसुल हिकाम' में

१—पद्मावत-डॉ॰ माता प्रसाद गुप्त भारती भण्डार-भूमिका पृष्ठ ४३।

२—जायसी ग्रन्थावली भूमिका चतुर्थ संस्करण पृ॰ ३१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

३—पद्मावत डॉ॰ गुप्त ४३।

लिखा है कहा है, 'जिस प्रकार ईश्वर की प्रतिच्छाया के रूप में मनुष्य का निर्माण हुआ है, उसी प्रकार ईश्वर की प्रतिच्छाया के रूप स्त्री की रचना हुई है। इसलिए पुरुष ईश्वर और स्त्री दोनों से प्रेम करता है। स्त्री का पुरुष से वही सम्बन्ध है जो प्रकृति का ईश्वर से है। अतः इस अर्थ में जब स्त्री से प्रेम किया जाता है तो वह प्रेम ईश्वरीय ही होता है। जायसी ने रत्नसेन और पद्मावती के वार्तालाप में इस मत को 'सूर्य' और 'चन्द्र,' 'सूर्य' और 'हीरा' तथा 'सूर्य' और 'कमल' के प्रतीकों को लेकर प्रस्तुत किया है। मंझन ने अपनी रचना 'मधुमालती' में इस प्रेम के रहस्य का उद्घाटन और भी विस्तार के साथ किया है। प्रथम दर्शन में ही उनकी कथा का नायक मनोहर मधुमालती से अपने इस प्रथम दर्शन-जनित प्रेम का रहस्य स्पष्ट करता है। वह इस प्रकार कहता है—

कहै कुंवर सुनु पेम पियारी। तोहि मोहि प्रीति पुरुब विधि सारी।
एहि जग जीवन मोहि तोहि लाहा। मैं जिउ दै तोर दुख बेसाहा।
मैं न आज तोरे दुख दुखारी। तोरे दुख लेउ मोहि जामि पिन्हारी।
जेहि दिन सिरेउ आद विधि मोरा। तेहि दिन मोहि सरचेउ दुख तोरा।
वर कामिनि तोहि प्रीति के नीर। मोहि माँटी मा सानि सरीर।
पुरुब विधन सिर्जे आमुहि तुम्हरी प्रीति के नीर।
मोहि माटी विधि सानि के तो यह सिरेउ सरीर।।११।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य-सौन्दर्य के सन्दर्भ में 'पद्मावत' की प्रेम-पद्धति पर विचार किया है। उन्होंने काव्य में दाम्पत्य प्रेम-वर्णन प्रणाली के सन्दर्भ को ग्रहण करते हुए कहा है कि पद्मावत का प्रेम वर्णन गुण-श्रवण, स्वप्न-दर्शन और चित्र-दर्शन की कोटि का है। इसका यह तात्पर्य नहीं निकलता कि पद्मावत का प्रेम पूर्णत: लौकिक कोटि का है। इसी सन्दर्भ में आचार्य यह स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि जायसी के शृंगार में मानसिक पक्ष प्रधान है शारीरिक गौण है। काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से विचार करते हुए आचार्य ने दो तत्वों के आधार पर अपना निष्कर्ष प्रदान किया है। प्रथम आचार्य शुक्ल, 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था' वाले सिद्धान्त के आधार पर इस प्रेम-विधा का मूल्यांकन करते हैं। उनका कथन है कि भारतीय प्रेम-पद्धति लोक-सम्बद्ध और व्यवहारात्मक थी। जायसी के

काव्य में प्रेम का यह लोक मंगलात्मक स्वरूप नहीं मिलता है। दूसरा, फारसी मसनवियों का प्रेम एकान्तिक, लोक-बाह्य और भावप्रधान होता है, उसमें जो घटनायें आती हैं वे केवल प्रेम मार्ग की होती हैं संसार के और व्यवहारों से उत्पन्न नहीं। साहस धीरता दृढ़ता और वीरता भी कहीं-कहीं दिखाई पड़ती है तो प्रेमोन्माद के रूप में लोक कर्तव्य के रूप में नहीं। अतः काव्य के लोक धर्मी स्वरूप के आधार पर ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जायसी के प्रेम-स्वरूप की चर्चा करते हैं। गुण-श्रवण से रत्न सेन में प्रेम जाग्रत होता है। इस प्रकार के प्रेम-जागरण की विधा को शुक्लजी अस्वाभाविक मानते हैं। अज्ञात के प्रति जिज्ञासा हो सकती है प्रेम नहीं। इस मान्यता के आधार पर 'काव्य में रहस्य वाद' की सम्भावनाओं का विश्लेषण शुक्ल जी ने किया है। 'पद्मावत' की प्रेम पद्धति के निरूपण के समय भी यही विचार उनके सम्मुख था। काव्य में वे वस्तु की सापेक्षता का होना अनिवार्य मानते हैं। काव्य का विषय प्रस्तुत हो सकता है, अप्रस्तुत नहीं। रत्न सेन ने पद्मावती को देखा नहीं। उसके विषय में पहले से भी उसने कुछ सुना नहीं। 'अतः तोते के मुँह से पहले ही पहल पद्मावती का वर्णन सुनते ही रत्नसेन का मूर्छित हो जाना पूर्ण वियोगी हो जाना अस्वाभाविक लगता है। शुक्ल जी यह संकेत करना चाहते हैं कि तोते ने रत्नसेन के मन में पद्मावती के प्रति जिज्ञासा जाग्रत की (और इसका वर्णन इसी रूप में होना चाहिये था।) उसके सारे प्रयास इस जिज्ञासा की पूर्ति हेतु ही हुये। इस निष्कर्ष का स्पष्टीकरण शुक्ल जी के इस कथन से हो जाता है 'रत्नसेन में प्रेम स्वभाव उसी समय दिखलाई पड़ता है जब वह शिव मन्दिर में पद्मावती की झलक देख बेसुध हो जाता है। इस प्रेम की पूर्णता उस समय स्फुट होती है जब पार्वती अप्सरा का रूप धारण कर उसके सामने आती हैं' और वह उनके रूप की ओर ध्यान न देकर कहता है—

मनेहि रंग अछरी तौर राता। मोहि दुसरे सो भाव न बाता।'[1]

वास्तविकता यह है कि सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में लौकिक प्रेम अप्रस्तुत है, प्रस्तुत है अलौकिक प्रेम निरूपण। लौकिक पात्रों में लौकिक प्रेम की नैसर्गिकता विद्यमान है। लोक सापेक्ष अप्रस्तुतों से लोक निरपेक्ष प्रस्तुत में साधारणीकरण की क्षमता है।

---

१ जायसी ग्रन्थावली—

सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों का काव्य पक्ष

सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में किसी राजकुमार और राजकुमारी की प्रेम-कथा वर्णित रहती है। इन राजकुमार और राजकुमारियों की प्रेम कथाओं को कवि माध्यम रूप में ग्रहण करते हैं। इनके माध्यम से सूफी प्रेम-मूलक साधना के निरूपण का प्रयास किया गया है। इस प्रकार इन रचनाओं में लौकिकता के माध्यम से अलौकिकता के निरूपण का प्रयास मिलता है। सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों के कवि एक निश्चित प्रकार की परिपाटी का प्रयोग करते हुए मिलते हैं। कवि आरम्भ में नायक और नायिका के माता पिता का परिचय देते हैं नायक और नायिका के जन्म की कथा कहते हैं। इनमें प्रेम का संचरण शुक परी या किसी अन्य पात्र द्वारा नायक-नायिका के सम्मेलन की पृष्ठभूमि, मार्ग में कठिनाइयों का उदय और उसके पश्चात् नायक-नायिका का मिलन और उनका विवाह की योजना करते हैं। कथा संगठन की इस स्थूल योजना को रचनाओं के सन्दर्भ में प्रस्तावित कथा-भूमि में देखा जा सकता है।

प्रेमाख्यानक काव्यों की मुख्य विशेषता प्रेम-मूलक है। अतः इसमें शृंगार की प्रधानता है। इन कथाओं में कवि जीवन के व्यापक सन्दर्भों को ग्रहण करते हैं। अतः इनमें भावनाओं और अनुभूतियों के अपरिमित अन्त-चित्र उभर कर आये हैं। कथा नियोजन और उसके विकास में कवि सम्पूर्ण रूप से जीवन की भूमि ग्रहण करते चलते हैं। कथा के मध्य स्थल-स्थल पर यदि वे इनमें निहित आध्यात्मिक तत्त्व की ओर संकेत न करें, तो हमें आभास न हो कि कवि का उद्देश्य आध्यात्मिक है। मधुमालती' में रात्रि में नायक-नायिका में मिलन होता है। दोनों में प्रेमोदय होता है। वियोग होने पर नायक मनोहर और नायिका मधुमालती वियोग की व्यथा को तीव्रता सहन कर जीवित हैं। विरह-वेदना के मध्य मधुमालती की अवस्था का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

मधुमालती जो सोवत जागी, विरह अगिनि नख सिख तन लागी।
नैन जरत चार जनु छूटी जैन पवरि जनि नीर बहूटी।
कबहिं दरस दुःखद जोसा, दामिनि चमक चमक जनि जोखा।
निकलित नैन रैन अंधियारी सहज भाव जानी छिट भारी।
रोवति करति मधुमालति, विरह किया तनु साथ।
सोवहिं जबरज बरखा धरा. अब बरखा बड़ काठ—मधुमालती।

जायसी ने अपने 'पद्मावत' को दो भागों में नियोजित किया है। प्रथम अंश में रत्नसेन और पद्मावती की प्रेम-मूलक कथा कल्पना पर ही आधारित है। उत्तरार्ध की कथा में अलाउद्दीन और पद्मिनी की ऐतिहासिक कथा का नियोजन किया गया है। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों या इनकी अन्विति पर आगे विचार किया गया है। यहाँ मात्र संवेदना पर ही विचार किया जा रहा है। 'पद्मावत' में शृंगार भावना की प्रधानता है, और इस प्रकार कहा गया है कि शृंगार उसका अंगी रस है। परन्तु रत्नसेन की मृत्यु के पश्चात् नागमती और पद्मावती सती हो जाती हैं और इस प्रकार उसका अन्त शान्त में होता है। अत इस सन्दर्भ के अनुसार इसका अंगी रस शान्त हो जाता है। वस्तुस्थिति यह है कि जायसी की दृष्टि काव्य-शास्त्र के विधान की ओर नहीं है। कवि अपने कथन की ओर ही केन्द्रित रहा है और प्रेम में विरह की अनिवार्यता के सिद्धान्त के प्रतिपादन में वह शृंगार के संयोग और वियोग, इन दोनों पक्षों की प्राणवन्त उद्भावना में सचेष्ट रहा है। कवि ने एक निश्चित धर्म-दर्शन की प्रस्तावना की है। अपनी चिन्तन धारा के प्रतिपादन हेतु कवि दार्शनिक नियोजन प्रणाली के विपरीत काव्य को माध्यम रूप में ग्रहण करता है। अतः वह काव्यात्मक अनुबन्धों का संगठन करता है। आख्यान की इतिवृत्तात्मकता के नियमित संरक्षण में ही कवि अपने काव्य का विकास करता है।

'पद्मावत' की मूल संवेदना की उद्भावना उस स्थल पर होती है जहाँ बारह वर्ष की आयु में पद्मावती यौवना हो जाती है। पद्मावती रूपी वाटिका पल्लवित हो जाती है, उसके अंग प्रत्यंग विकसित हो जाते हैं (५५)। पद्मावती का पिता शुक पर सन्देह करता है, कारण यह चन्द्रमा (प्रेमिका) का सन्देश सूर्य (प्रेमी) तक अवश्य ले जायेगा। वह शुक के वध की आज्ञा देता है। शुक तो बच जाता है। परन्तु जीवन की व्यापकता में वह जीवन के नश्वर स्वरूप को ग्रहण कर लेता है। इस सन्दर्भ में कवि जीवन-दर्शन का सन्निवेश करता चलता है। इसी सन्दर्भ में पद्मावत के उस अंश की ओर हमारा ध्यान जाता है, जहाँ कवि मान सरोवर में पद्मावती की जल-क्रीड़ा का वर्णन करता है। नव यौवनाओं के साथ जल क्रीड़ा के लिए उत्सुक सखि सहित पद्मावती की भावनाओं का अति सजीव और सापेक्ष रूप कवि प्रस्तुत करता है। इस वर्णन में कवि लोक जीवन में व्याप्त प्रथा

के अनुकूल ही वर्णन करता है। फलत इस वर्णन के साथ हमारा सहज में ही तादात्म्य स्थापित हो जाता है। सरोवर में क्रीड़ा के समय पद्मावती की कुछ सहेलियाँ उससे कहती हैं—

ऐ रानी मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी।
जौ लगि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जौ खेलहु आजू।
पुनि सासुर हम गवनब काली। कित हम कित एहु सरवर पाली।
कित आवन पुनि अपने हाथों। कित मिलि कै खेलब एक साथों।
सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेहीं। दारुन ससुर न आवै देहीं।
पिउ पियार सब ऊपर सो पुनि करै दहुँ काह।
दहुँ सुख राखै की दुख दहुँ कस जरम निबाहु।६०।

इस अंश में अनुभूतियों की यथार्थता का वर्णन विशेष सौन्दर्य है। पिता-गृह में उन्मुक्त वातावरण है। विवाह होने पर जीवन पति-गृह की मर्यादाओं से अनुशासित होगा। एक अनिश्चित भविष्य के बीच वे सोचती हैं कि सास और ननदें व्यंग से जीवन कठिन कर देंगी, निष्ठुर श्वसुर पिता के घर लौटने नहीं देगा और इन सब सम्भावनाओं के पश्चात् प्रिय के अनिश्चित व्यवहार की आशंका है। प्रिय पति का प्यार उन्हें मिल सकेगा या नहीं इस कौतूहल और जिज्ञासा में वे उन्मुक्त उल्लास के लिए अनुप्रेरित हैं। कवि जायसी ने सांकेतिक रूप में इस लोक को 'नैहर' और परलोक को 'सासुर' कहा है। प्रिय परम तत्व है।

इस प्रकार कवि मानसरोवर में पद्मावती और उसकी सखियों का अत्यन्त मोहक वर्णन करता है। सरोवर में वे सभी अप्सरियों के समान लग रही हैं। उनकी क्रीड़ा से सरोवर उल्लसित हो रहा है, अपनी सीमायें तोड़ रहा है कारण उसके जल में चन्द्रमा तारों के साथ स्नान करने उतरा है। इस सन्दर्भ में कवि पद्मावती का नख शिख वर्णन करता है। रूप-सौन्दर्य-वर्णन में कवि सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति का प्रयोग अप्रस्तुत विधान के रूप में करता है। यथा—

सरवर तीर पदमिनी आई। खोंपा छोरि केस मोकराई।
ससि मुख अंग मलै गिरि रानी। नागन्ह झाँपि लीन्ह अरघानी।
ओनए मेघ परी जग छाहीं। ससि की सरन लीन्ह जनु राहीं।
छपि गै दिनहिं भानु कै दसा। लै निसि नखत चाँद परगसा।

भूमि चकोर दिस्टि तहँ आवा। मेघ घटा महँ चाँद देखावा।
नैन खंजन भुई केलि करेही। कुच नारंग मधुकर रस लेहीं ॥६१॥

इस प्रकार के वर्णनों में कवि भारतीय साहित्य में उपलब्ध परम्परा-पूर्ण उपमानों का प्रयोग करता है। ये प्रकृति-गृहीत उपमान हैं जो रूप साम्य, गुण साम्य व्यापार साम्य और प्रभाव साम्य पर आधारित हैं।[1] रूप-सौन्दर्य का वर्णन समस्त सूफी काव्यों में प्राय एक रूप में पाया जाता है। रूप ही प्रेम की अनुभावना करता है। मंझन की 'मधुमालती' उसमान की चित्रावली' एवं अन्य सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में रूप-वर्णन की प्रणाली काव्य रूढ़ियों के अनुसार है—यथा—

सिर कर्लक ससि दुइज लीलारा। भव सम्य दीन भुवन उज्यारा।
बदन पसीन बूँद कहुँ पासा। जन पैठे जनु चाँद बतासा।
मृग मद तिलक ताहि पर धरा। जानहि चाँद राहु बस परा।
मधुमालती।

यह अति स्पष्ट है कि जायसी तथा अन्य प्रेमाख्यानक कवियों ने लौकिक कथा के वर्णन के सन्दर्भ में ही अलौकिक सत्ता की ओर संकेत किया है। परन्तु इनमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत (अलौकिक और लौकिक) के मध्य पर्याप्त संतुलन मिलता है। कथा विकास के सन्दर्भ में काव्यात्मक तत्वों के समावेश से हम यह नहीं सोच पाते कि 'पद्मावत' में रतनसेन और पद्मावती अथवा 'मधुमालती' में

---

१ जायसी के पद्मावत में इस प्रकार के नख सिख वर्णन के आठ अवसर मिलते हैं—

(क) सिंहल की वेश्याओं का नख सिख वर्णन (ख) यौवन भार से भारित पद्मावती का नख सिख वर्णन (ग) मानसरोवर के सन्दर्भ में पद्मावती का नख सिख वर्णन (घ) रतनसेन से हीरामन द्वारा पद्मावती का नख सिख वर्णन (ङ) समुद्र के सन्दर्भ में बलान्त पद्मावती का नख सिख वर्णन (छ) नागमती से पद्मावती का नख-सिख वर्णन (ज) अलाउद्दीन के सम्मुख राघव चेतन द्वारा पद्मावती का नख सिख वर्णन।

राजकुंवर और मधुमालती की प्रेम कहानी के अतिरिक्त अन्य तत्व भी नियोजित है। 'पद्मावती' में कवि ने रत्नसेन-नागमती रत्नसेन-पद्मावती को आलम्बन मानकर संयोग और वियोग के रसात्मक सन्दर्भों की सफल उद्भावनायें की हैं।

श्रृंगार के सन्दर्भ में हमारा ध्यान सर्वप्रथम संयोग श्रृंगार की ओर जाता है। संयोग श्रृंगार-वर्णन की एक परिपाटी भारतीय काव्य-परम्परा में मिलती है। 'कुमार सम्भव' 'नैषध महाकाव्य' तथा 'चौर पंचाशिका' आदि ग्रन्थों में श्रृंगार के अन्तर्गत सम्भोग के चित्र मिलते हैं। असूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में भी कवियों ने इस विधा को अपनाया है। 'ढोला मारू रा दूहा' छिताई वार्ता' 'सत्यवत्स सवलिंग' 'माधवानल काम कन्दला' आदि कृतियों में संयोग-चित्रण के निश्चित प्रयास मिलते हैं—

मदन बाण तन लाइ न सहा। उठि सुरसी आँचल गहा।
मारग कर कंचुकी छपाई। फूकर दृष्टि दीपा बुझाई।
अवर अकार कुच गहन न देइ। चुम्बन न अंग छिताई देई।
छिताई वार्ता नागरी प्र० स० ११२ ६६।

जायसी मंझन तथा अन्य सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों के कवियों की रचनाओं में संयोग चित्रण इसी परम्परा के अन्तर्गत आता है। परन्तु इन कवियों ने लौकिक-चित्रण में अलौकिक संकेतों का नियोजन भी किया है। विवाह के पश्चात् रत्नसेन और नागमती मिलते हैं। उनके संयोग चित्रण में जायसी अपनी पूर्व परम्परा का ही अनुसरण करते हैं। पद्मावती धवल गृह पर चढ़कर अपनी सहेली से रत्नसेन के विषय में जिज्ञासा करती है। सहेली रत्नसेन को दिखलाती है। रत्नसेन के दर्शन के पश्चात् पद्मावती में एक नैसर्गिक उल्लास भाव जागृत होता है। उसका वर्णन कवि इस रूप में करता है—

देखा चाँद सूरज जस साजा। अस्टौ भाव मदन तन गाजा।
हुलसे नैन दरस मद माते। हुलसे अधर रंग रस राते।
हुलसा बदन ओप रवि आई। हुलसी हिया कंचुकी न समाई।
हुलसे कुच कसनी बँद टूटे। हुलसी भुजा बलय कर फूटे।
× × ×
जानु चाँद घर आवै सूरू। साज सिंगार होइ सब पूरू।
अंग अंग सब हुलसे कोउ कतहूँ न समाई।
ठावहिं ठाँव बिमोहा गइ मुरछा मति आइ।२८०।

विवाह के पश्चात् रत्नसेन की शैय्या सज्जित होती है। इस सन्दर्भ में जायसी दर्शन के कवि नहीं अपितु भावनाओं और अनुभूतियों के कवि हैं। नव दम्पति के मानसिक भाव परस्पर मिलने की उत्सुकता और हृदय की रसपूर्ण स्थिति, इस सब को कवि ने अपने वर्णन में समीकृत कर लिया है। लोक-प्रचलित प्रथाओं के संरक्षण से वर्णन अधिक सापेक्ष और तादात्म्यपूर्ण हो गया है। रत्नसेन पद्मावती से मिलने के लिए उत्सुक है। सखियाँ कहती हैं, यहाँ की प्रथा के अनुसार हम कुमारी का शृंगार करेंगी। उसके अंग पर लगी हुई हल्दी के ऊपर रंग चर्चित करेंगी तब रात्रि में चन्द्र और सूर्य का साहचर्य होगा। इस वर्णन के मध्य कवि अपने दार्शनिक अभिप्रायों की ओर भी संकेत करता है। रत्नसेन पद्मावती से मिलने के लिए उत्सुक है। इस उत्सुकता के सन्दर्भ में कवि आध्यात्मिक मिलन की उत्सुक भावनाओं की ओर भी संकेत करता है।

> अस तप करत गए दिन भारी। चारि पहर बीते जुग चारी।
> परी साँझ पुनि सखी सो आईं। चाँद सो रहै न उई तराईं।
> पूछेन्हि गुरु कहाँ रे चेला। बिन ससिअर कस सुर अकेला।
>
> × × ×
>
> नैन कौड़िया हिय समुँद गुरु सो तेहि महँ जोति।
> मन मर जिया न होइ परै हाथ न आवै मोति।२६१।

'मरजीवा होकर ही 'मोती' मिलने की बात यहाँ भी कही गई है। परन्तु इन पंक्तियों के पश्चात् कवि पुन लौकिक भूमि पर आ जाता है। वर्णन की सरसता से वह हमें पुनः परिप्लावित कर देता है। पद्मावती के मिलन-पर्व पर उसकी सखियाँ उसका शृंगार करती हैं। सुन्दर अंजन रंजित नेत्र खंजन के समान हैं। कपोलों के तिल पद्म पर बैठे भ्रमर के समान (२९८) हैं। मिलन की भूमिका में रत्नसेन और पद्मावती में वार्ता होती है। इस वार्ता में दाम्पत्य की अनुभावनायें और उत्सुकता के साथ-साथ दार्शनिक संकेत भी नियोजित हैं। पद्मावती कहती है—

> जोगी तोरि तपसी के काया। लागी चहै अंग मोहि छाया।
> बार भिखारी न माँगसि भीखा। माँगे आइ सरग चढ़ि सीखा।

अर्थात्, जोगी तेरी काया तपस्वी की है। मेरे कोमल अंगों पर उसके संस्पर्श की छाया कष्ट पूर्ण होगी। तुम भिखारी हो, द्वार पर भिक्षा लेनी चाहिए, तुम स्वर्ग पर चढ़ कर भिक्षा लेना चाहते हो। (१०४) रत्नसेन उत्तर देता है—

मोहि तुम्हार जो हिए समाना। चित उर मोहि न सुमिरेउँ आना।
जस मालति कहँ भँवर वियोगी। चढ़ा वियोग चलेउँ होइ जोगी।

× × ×

एक बार मरि मिले जो आई। दोसरि बार मरै कत जाई।
कत तोहि मोषु जो मरि कै जिया। भा अम्मर मिलि कै मधुपिया।
भँवर जो पावै कँवल कहँ बहु आरति बहु आस।
भँवर होइ नेवछावर कँवल देइ हँसि बास।।१०५।।

पद्मावती और रत्नसेन के उत्तर प्रत्युत्तर से वातावरण अति स्निग्ध बन जाता है। पद्मावती पर मुग्ध रत्नसेन उसकी प्रत्येक जिज्ञासा का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न करता है। वह उन्मत्त और आकुल है। पद्मावती को वह कमल सम मानता है, ऐसा कमल जो प्रत्येक वन में नहीं होता। और अपने को पद्मावती से हीन भी नहीं मानता कारण वह कहता है कि प्रत्येक तन में विरह नहीं व्याप्त होता है—

बन बन बिरिछ चँदन नहिं होई। तन तन बिरह न उपजै सोई।

× + +

जस अंबुज रवि दी अकासा। प्रीति जो जाम्हूँ एकहिं पासा।।१११

× × ×

पद्मावती आत्मसमर्पण करती है यह नारी का आत्मसमर्पण है और इस समर्पण में अद्वैत या समरसता की स्थिति है। वह कहती है—

कवनि मोहिनी दहुँ हुति तोही। जो तोहि बिथा सो उपनी मोही।
बिनु जल मीन तपी तस जीऊ। चातिक भइउँ कहत पिउ पिउ।

× × ×

दाहौं कमल भँवर पट जो बस प्रीतम पिउ।
नेवछावरि कै आपे तन मन जोबन जीउ। ११२

मिलन-रात्रि में रत्नसेन मिलनसुख से उन्मादित है। पद्मावती कहती है—

पिउ आएसु माँथे पर लेऊँ जो मागै नै नै सिर देऊँ।

पै पिय वचन एक सुन मोरा। चाखि पियहु पिय थोरहु थोरा।२७२।

परन्तु रत्नसेन प्रेमपथ का यात्री है। वह स्पष्ट कहता है प्रेम-सुरा पीने वाले के लिए मृत्यु-भय का कोई तात्पर्य नहीं है।

सुनि धनि पेम सुरा के पिएँ। मरन जीवन डर रहै न हिएँ।

जहँ मद तहाँ कहाँ संमारा। कै सो खुमरिहा कै मतवारा। १२०

रत्नसेन और पद्मावती के मिलन-सुख के सन्दर्भ में कवि जायसी ने षट्ऋतु वर्णन की योजना की है। यह वर्णन संयोग शृंगार के उद्दीपन रूप में है।

यह वर्णन बसन्त से आरम्भ होता है। बसन्त के उल्लास में पद्मावती अपने उल्लास का प्रतिबिम्ब देखती है।

पिय संयोग धनि जोबन बारी। भँवर पुहुप संग करहिं धमारी।

होइ फागु मिलि चाँचरी जोरी। बिरह जराइ दीन्ह जस होरी।

इस प्रकार बसन्त में पद्मावती को अभिनव जीवन का सन्देश मिलता है। संयोग में प्रकृति रत्नसेन और पद्मावती के हर्ष को विकसित करती है।

रत्नसेन और पद्मावती के संयोग-सुख सम्पादन में षट्ऋतुएँ विशेष सहयोग देती हैं। परन्तु नागमती की स्थिति इससे भिन्न है। उसका जीवन वियोग में ही बीत रहा है। जायसी ने नागमती की विरह-वेदना को व्यक्त करने की भावना से 'बारहमासा' का आयोजन किया है। विप्रलम्भ वर्णन के सन्दर्भ में 'बारहमासा' अपभ्रंश काव्य की एक विशेष विधा है। अपभ्रंश में उत्कृष्ट विप्रलम्भ भावना से पूरित काव्यों में 'बारहमासा' की नियमित योजना मिलती है। इस सन्दर्भ की प्रमुख कृतियों में विनयचन्द्र सूरि कृत 'नेमिनाथ चउपई' एक अज्ञात कवि का 'नेमिनाथ बारहमासा' समधर का 'नेमिनाथ फागु' राजशेखर सूरि का 'नेमिनाथ फाग' विशेष रचनायें हैं। 'नेमिनाथ चउपई' में नेमिनाथ के वैराग्य ले लेने पर राजमती वियोग-पीड़िता है। उसकी व्यथा के सन्दर्भ में कवि बारहमासा की योजना करता है। यथा—

राजमती—सावणि सरवणि कडुय मेहु गज्जइ विरहि रिझिज्जइ देहु।
विज्जु झबक्कइ रक्खसि जेव। नेमिहि विणु सहि सहियइ केम।

सखी— सखी कुब बीसरिया मचइ। संमणि ममरव किम सम मुझाई।
    दीस पंचमिर बोभनु होइ। लाज नियत्र मिमसब सहु कोइ।

राजमती—भावथि हरवनि कमुए मेहु। मम्मह विरहि रिम्झिमइ देहु।
    विम्भ ममकड़इ रमसि लेव। नेमिहि विमु सहि सहिमभि केवि।

सखी— सखी मणइ समिथि मति भूरि। दुम्मम तण मन बंछित पूरि।
    भवउ नेमि तजबिम ठव काइ। बाबह बमेरा मयइ समाइ।

राजमती—बोलइ राजुल तउ इह भवणु। नत्थि नेमि वर सम रमणु।
    मरइ तेज महुमण समिताउ। पर्नामि न उमाइ दिणयर जाउ।

हिन्दी काव्य में 'बारहमासा' की परम्परा का मूल स्रोत अपभ्रंश काव्य है। जायसी तथा अन्य सूफी काव्यकर्ताओं ने इस परम्परा का अनुसरण किया है।

'बारहमासा' का उद्देश्य है विरहिणियों का विरहोद्दीपन। नागमती चित्तौर के पथ की ओर देखती है। और कहती है किसी नारी के वशिकार में जाकर ही मेरा 'नागर' मुझे भूल गया है।

    नागर चोरी किमि हरी, नारि मयउ किमि जाय।
    झुरि झुरि पींजरि भइ भई, बिरह कै लागी अग्नि।

प्रिय के वियोग में उसकी स्थिति पपीहे के समान हो गई है। और उसकी अवस्था इस प्रकार की हो गई—

    बिरह बान तस लाग न डोली। रकत पसीज भीजि गइ चोली।

१५३।

'पद्मावत' में बारहमासा असाढ़ से आरम्भ होता है। कवि पहले प्रकृति के रूप का चित्रण करता है। प्रकृति के क्रियात्मक रूप का अंकन करता है, और उसके पश्चात् वियोगिनी पर पड़े हुए प्रभावों की उद्भावना करता है। सावन में समस्त प्रकृति वर्षा से पूरित है। धरती सुसज्जित है। केवल नागमती व्यथित है।

    सावन बरिस मेह अति पानी। भरनि परत हौं बिरह झुरानी।

इस सन्दर्भ में कवि वर्णसाम्य और व्यापार साम्य के आधार पर अप्रस्तुत विधान के माध्यम से वियोगिनि की तीव्र आकुलता को मुखर करता है—

    रकत क आँसु परे भुइँ टूटी रेंगि चली जनु बीर बहूटी ।।१५४।

प्रकृति व्यापार तो उद्दीपन का कार्य करते ही हैं। साथ-साथ संयोग-क्रीड़ा की भूमिका से प्रतिपादित लोकोत्सव भी उद्दीपन का कार्य करते हैं—

सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला। हरियर भुइँ कुसुंभि तन चोला।
हिय हिंडोला अस डोलै मोरा। बिरह भुलावे देइ झकोरा।

नागमती की विरह-अनुभूतियों में समष्टि की भावना ध्वनित है। सामान्य लोक में प्रचलित व्यञ्जना विधा के अवलम्ब को ग्रहण करने के कारण भावों के साधारणीकरण की क्षमता अति व्यापक हो गई है। नागमती सावन में जल प्लावित पृथ्वी को देखती है। प्रिय जिस देस में है, वह अनन्त दूरी पर है पहुँचने में वह असमर्थ है। अपनी असमर्थता को वह इस प्रकार व्यक्त करती है—

परबत समुद अगम बिच बीहड़ घन बन ढंख।
किमि करि भेटौं कन्त ना मोहि पाँव न पंख। ३४५

जायसी इस वर्णन में प्रत्येक ऋतु का संश्लिष्ट चित्र अंकित करते हैं। प्रत्येक ऋतु में लोकपर्व और लोकोत्सव का वर्णन करते हैं और विरहिणी पर ऋतु के उद्दीपन पूर्ण प्रभावों का अंकन करते हैं—यथा—

चैत बसंता होई धमारी। मोहि लेखे संसार उजारी।
पंचम बिरह पंच सर मारै। रकत रोइ सगरौ बन ढारै।
बूड़ि उठे सब तरिवर पाता। भीजि मजीठ टेसु बन राता।
मौरे आँब फरे अब लागे। अबहूँ सँवरि घरि आउ सभागे।
सहस भाव फूली बनसपती। मधुकर फिरे सँवरि मालती।
मो कहँ फूल भए सब काँटे। दिस्टि परत तन लागहि चाँटे।
भर जोबन एहु नारँग साखा। सोवा बिरह अब जाइ न राखा।
घिरिनि परेवा आव जस आइ परहु पिय टूटि।
नारि पराएँ हाथ है तुम्ह बिन पाव न छूटि। ३५१

मंझन की 'मधुमालती' अथवा अन्य सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में यह परम्परा अपरिवर्तित रूप में मिलती है—

चैत करहु निसरे बन बारी। °मसपती पहिरे नव सारी।
चहुँ दिसि भा मधुकर गुंजारा। पाँखुरि फूल डारिन्ह अनुसारा।
कुसुम सीस डारिन्ह सेउ काढे। तरवर नवे साखा भी बाढ़े।

फागुन हुते जो तरु पतझारे। ते सब भए पैत हरियारे।
मोहि पतझार जो बिनु साई। सीम सबी मौल मसताई।
दुख दै प्रीतम छाड़िया जनलि दीन्ह बनबास।
जो रवि आठो मैं तपा के मोहि फिर परगास।

मधुमालती ।४१०।

विरह के सन्दर्भ के वर्णन में कवि ने विवशता और मानसिक आवेग का अति नैसर्गिक रूप प्रस्तावित किया है। अपने वर्णनों में ये कवि अतिशयोक्ति की सीमा का भी संस्पर्श करते हैं परन्तु इनमें संवेदना की तीव्रता भी व्यक्त होती है, अस्वाभाविकता ही नहीं। उदाहरण स्वरूप नागमती रुदन में बारहमास व्यतीत करती है। उसका प्रत्येक पल एक वर्ष के समान व्यतीत होता है। परन्तु जिस प्रिय से नारी सौभाग्य पाती है, वह लौटकर नहीं आया। संध्या होने पर वह संतप्त होकर उसका मार्ग देखती है। इस संदर्भ में नागमती की वेदना के साथ हमारी भावनाओं का तादात्म्य स्थापित हो जाता है। कवि विरह-वेदना की तीव्रता की व्यञ्जना के लिए *ऊहात्मक-वस्तु-व्यञ्जना का सहारा लेता है।* ऐसे सन्दर्भ में अन्तर-व्यथाओं या सूक्ष्म भावनाओं को मूर्तित करने के लिए प्रकृति का प्रयोग अति सार्थक और संवेदनशील रूप में हुआ है। उदाहरण—

कुहुक कुहुक जस कोइलि रोई। रकत आँसु घुँघुची बन बोई।
भै करमुखी नैन तन राती। को सिराव बिरहा दुख ताती।
जहँ जहँ ठाढ़ होय बनबासी। तहँ तहँ होई घुँघुचिन्ह कै रासी।
बूँद-बूँद महँ जानहुँ जीउ। गुंजा गूँज करहिं पिउ पिउ।
तेहि दुख हरे परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे परभाते।
राते बिंब भए तेहि लोहू। परवर पाक फाट हिय गोहूँ।
देखिअ जहाँ सोइ होइ राता। जहाँ सो रतन कहै को बाता।
ना पावस ओहि देसरे ना हेवंत बसंत।
ना कोकिल न पपीहरा, केहि सुनि आवहि कंत। ३५९।

इस वर्णन से भावनायें अवश्य सिक्त हो उठती हैं। उसके कोकिल के समा
रुदन करने से रक्त के अश्रु गिरे। ऐसा प्रतीत होता है घुँघची बो दी गई है।
उसके खड़े होने से घुँघचियों की राशि बन जाती है। अश्रु के कण रूप में जी

है, जिनसे प्रिय प्रिय शब्द निकल रहे हैं। दुख से दग्ध होकर पलाश पत्रहीन हो जाते हैं। उसके रुधिर के कारण ही पलाश रक्तिम हो उठते हैं। फिर भी रत्नसेन नहीं लौटता है। ऐसा लगता है कि उस देश में वर्षा नहीं होती है, न हेमन्त और न बसन्त। वहाँ कोकिल और पपीहे नहीं होते हैं, जिनसे उद्दीप्त होकर वह प्रिय लौटे।

कथा विकास की योजना इन आख्यानक काव्यों में अति वैज्ञानिक है। कार्य-कारण के सम्बन्धों से परिबद्ध घटनायें कथा-मार्ग परिवर्तित करती हैं। उदाहरण स्वरूप 'पद्मावत' में सिंघल द्वीप से रत्न सेन चितौर को लौटता है। पद्मावती के वियोग की तीव्रता से रत्न सेन चितौर छोड़ता है। और नागमती की स्मृति के उद्बोधन से वह सिंघल से पुन चितौर के लिए प्रत्यावर्तित होता है। परन्तु इस भावनात्मक परिवर्तन के लिए कवि अति स्पष्ट पृष्ठिभूमि की रचना करता है। एक विहंगम पद्मावती और रत्नसेन की माता सरस्वती का सन्देश लेकर सिंघल द्वीप जाता है। वह एक वृक्ष पर विश्राम करता है। आखेट के श्रम से थक कर रत्नसेन उसी वृक्ष की छाया में विश्राम करता है। पक्षी आपस में वार्तालाप करते हैं। उनमें चितौर से आया पक्षी भी है। तरुवर के अन्य पक्षी उससे प्रश्न करते हैं 'कहो मीत काहें तुम स्यामा। शुक उत्तर देता है—

कहेसि मीत मासेक दुइ भए, जम्बू दीप तहाँ हम गए।
नगर एक हम देखा गढ़ चितउर ओहि नाउँ।
सो दुख कहौं कहाँ लगि हम बाधे तेहि ठाउँ। ११७।११२।

यहीं रत्नसेन के सिंघल प्रस्थान और नागमती के वियोग की कथा चलती है। रत्नसेन आकुल होता है। 'स्वर्ण सन्देशी' विहंगम से सन्देश पाकर रत्नसेन चितौर लौटता है। नागमती को बारह मासे या अन्य कवियों के बारहमासे में भावना उपमान और वर्णन प्रणाली लोक जीवन के हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है 'नागमती के विरह वर्णन के अन्तर्गत वह प्रसिद्ध बारहमासा है, जिसमें वेदना का अत्यन्त निर्मल और कोमल स्वरूप, हिन्दू दाम्पत्य-जीवन का अत्यन्त मर्मस्पर्शी माधुर्य अपने चारों ओर की प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के साथ विशुद्ध भारतीय हृदय की साहचर्य भावना तथा विषय के अनुसार भाषा का अत्यन्त स्निग्ध, सरल, मृदुल और अकृत्रिम प्रवाह देखने योग्य है[1]।"

१—जायसी ग्रन्थावली—पृ० ४४।

सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों का काव्य रूप

अपभ्रंश-साहित्य में चरित काव्यों की एक स्पष्ट परम्परा मिलती है। इन चरित काव्यों में प्रबन्ध काव्य एवं आख्यानक काव्य इन दोनों के तत्व मिलते हैं। हिन्दी में उपलब्ध सूफी प्रेमाख्यानक काव्य रचना-तन्त्र की दृष्टि से अपभ्रंश के इन चरित और आख्यानक काव्यों की परम्परा में आते हैं। अपभ्रंश रचनाओं के समान इन कृतियों में लोक गाथात्मक अंश भी मिलते हैं। उदाहरण स्वरूप जायसी ने 'पद्मावत' में रत्नसेन और पद्मावती की कथा इतिहास की अपेक्षा लोक जीवन से ग्रहण की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह प्रस्तावना की थी कि 'पद्मावत' तथा अन्य सूफी काव्य-ग्रन्थों का प्रणयन फारसी की मसनवी शैली के अनुसार हुआ है। शुक्लजी के इस प्रस्तावन के अनुसार ही उनके परवर्ती आलोचकों ने 'पद्मावत' के रचना-तन्त्र को अभारतीय कहा है। मसनवी शैली के प्रेमाख्यानक काव्यों में कवि घटना के अनुसार काव्य को शीर्षकों में वर्गीकृत रखते हैं। आरम्भ में ईश्वर की स्तुति रहती है। कवि पैगम्बर का स्मरण करते हैं उसके पश्चात् पैगम्बर के मीराज का स्मरण करते हैं। शाहे वक्त अथवा अपने युग की किसी श्रेष्ठ प्रतिमा की प्रशंसा करते हैं। कवि काव्य रचना के कारण का उल्लेख करते हैं। वे आत्म-निवेदन करते हैं, अपने मित्रों की चर्चा करते हैं तत्पश्चात् मूल कथा आरम्भ करते हैं।

भारतीय चरित्र काव्यों में भी प्रायः इसी प्रकार की मिलती-जुलती प्रबन्ध रूढ़ियाँ मिलती हैं। कवि ईश्वर-स्तुति यदि जैन प्रबन्ध काव्य है, तो जिन-स्तुति करता है, वह आश्रय दाताओं के यश का वर्णन करता है फिर सज्जन प्रशंसा और दुर्जन-निन्दा करता है, और अपने पूर्व के कवियों की प्रशंसा करता है। आचार्य शुक्ल ने इन कृतियों को 'मसनवी शैली' के अन्तर्गत स्वीकार करते हुए कहा है, 'इन प्रेम गाथा काव्यों के विषय में पहली बात ध्यान देने की यह है कि इनकी रचना चरित काव्यों की सर्गबद्ध शैली पर न होकर, फारसी की मसनवियों के ढंग पर हुई है। जिनमें कथा सर्गों या अध्यायों में विस्तार के हिसाब से विभक्त नहीं होती बराबर चलती है केवल स्थान-स्थान पर घटनाओं या प्रसंगों का उल्लेख शीर्षकों के रूप में दिया रहता है। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय यह है कि अनेक सूफी प्रेमाख्यानक काव्य शीर्षकों में विभक्त नहीं है। कथा अबान्तर

चलती रहती है। 'पदुमावत' अथवा 'मधुमालती' की कतिपय प्रतियों में शीर्षक विभाजन की विधा नहीं मिलती। यह परम्परा प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों में भी मिलती है। यहाँ दो प्रकार की रचनायें मिलती हैं। एक प्रकार की वे रचनायें हैं, जिनमें सर्गों के विभाजन की विधा मिलती है। उदाहरणस्वरूप, विमल सूरि की रचना 'पउम चरिउ' 'उद्देसओ' में विभक्त है। पुष्प दन्त कृत णय कुमार चरिउ' सन्धियों में विभक्त है। हेमचन्द्र रचित 'कुमार पाल चरित' सर्गों में विभक्त है। मुनि कनकामर कृत करकण्ड चरिउ' सन्धियों में विभक्त हैं। ये सन्धियाँ कड़वक में विभाजित हैं। प्रत्येक कड़वक के अन्त में एक घत्ता का क्रम है।

दूसरे प्रकार की रचनायें उद्योतन सूरि कृत 'कुवलयामाला' और 'तरंग लोल' तथा 'लीलावइ कहा' हैं। इनका विभाजन सर्गों में, या सन्धियों में नहीं हुआ है। इनकी विधा कड़वक की है। इस प्रकार हिन्दी सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में ईश्वर स्तुति, चाहे वस्तु प्रशंसा ही मसनवी शैली से गृहीत हैं। परन्तु काव्य रूप की दृष्टि से ये रचनायें भारतीय हैं। डाक्टर माताप्रसाद गुप्त ने खण्ड में विभाजित प्रतियां को प्रक्षिप्त माना है। परन्तु हम इसका निर्णय नहीं कर सकते कि इनके कवियों ने अपनी कृतियों का विभाजन खण्डों में अथवा सर्गों में किया था या नहीं।

सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों की रचना चौपाई और दोहा के योग से हुई है। यह रचनातन्त्र कड़वक शैली का है। 'पदुमावत' में सात चौपाइयों के युग्म के पश्चात एक दोहे का घत्ता नियोजित है। मधुमालती' में पाँच अर्धालियों के बाद एक दोहे का घत्ता नियोजित है। नूर मुहम्मद कृत इन्द्रावती में सात अर्धालियों के पश्चात् दोहे का घत्ता है। हुसेन अली कृत 'पुहुपावती' में छ अर्धालियों के बाद एक दोहे का घत्ता है।

अपभ्रंश के कड़वक-बद्ध काव्य पज्झटिका या अरिल्ल में हैं, और घत्ता के लिए ध्रुवक की योजना मिलती है। यहाँ भी दोहे का घत्ता मिलता है। 'भविस यत्त कहा' इस सन्दर्भ की आदर्श रचना है। चौपाई के साथ दोहे के संयोग से निर्मित कड़वक की विधा पुष्पदन्त कृत 'पउम चरिउ' में मिलती है। इस प्रकार की शैली के प्रचलन के संकेत पूर्वी अंचल में सिद्धों की रचनाओं में भी उपलब्ध हो जाते हैं—

भक्ति मो ! मन्त महासुह पसाइ । अवरी विधि पावहि सिधिआइ ।
मण्डाह मन्ते शन्ति न होइ । पडिल भित्ति की उप्फिल होइ ।
तरुफल दरिसण णव अग्घाइ । वेज देक्खि का रोग पसाइ ।
भाव ण भाप अभियाइ पाव ण तिस्सा करेइ ।
अन्यौं धम्म मग्गाण लिम, वैज्ज कि मूल पदइ ।

दोहा कोष ७ ८ ।

कबीर के नाम से प्रचलित रचनाओं में भी इस शैली का प्रयोग मिलता है ।

अन्योक्ति या समासोक्ति

जायसी कृत 'पद्मावत' और अन्य सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों की आलोचना के सन्दर्भ में एक प्रश्न उठाया जाता है—ये कृतियाँ समासोक्तिमूलक हैं[1] अथवा अन्योक्ति मूलक[2] । 'पद्मावत' के सन्दर्भ में एक प्रकार की यह धारणा मिलती है कि जायसी ने अपनी मौलिक भावनाओं पर आध्यात्मिकता का आवरण चढ़ाने के लिए अपनी कथा के अन्त में एक अन्योक्ति दी है, और पद्मावत में सचमुच कोई निश्चित अन्योक्ति है, यह सन्देहपूर्ण है ।[3] इसी प्रकार 'पद्मावत' का काव्य अन्योक्ति माना जाता है । इसके अतिरिक्त 'पद्मावत' को समासोक्ति काव्य भी कहा

---

१ जहाँ प्रस्तुत के वर्णन द्वारा समान विशेषणों से अप्रस्तुत का बोध कराया जाय वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है ।

२ जब अप्रस्तुत वर्णन द्वारा प्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना की जाय वहाँ अन्योक्ति अलंकार माना गया है ।

३ I doubt very much whether he (the poet) had any definite allegory present to his mind throughout the key *which* he gives us in the first stanza of the Envoy does *not by* any means fit the lock. A G Sheriff Padumavti Introduction Page 8-1944

गया है ।[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की जायसी ग्रन्थावली में 'पद्मावत' के उप संहार-रूप में जो अंश है उसके कारण यह प्रश्न और भी स्पष्ट वक्तव्य की अपेक्षा रखता है—

मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा । कहा कि हम्ह किछु और न सूझा ।
चौदह भुवन जो तर उपराहीं । ते सब मानुष के घट माहीं ।
तन चितउर मन राजा कीन्हा । हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा ।
गुरु सुआ जेहि पन्थ देखावा । बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ।
नागमती यह दुनिया धन्धा । बाँचा सोई न एहि चित बंधा ।
राघव दूत सोई सैतानू । माया अलाउदी सुलतानू ।
प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु । बूझि लेहु जो बूझै पारहु ।
तुरकी अरबी हिंदुई भाषा जेती आहि ।
जेहि महँ मारग प्रेम कर सबै सराहैं ताहि ।

इस अंश के अनुसार—पद्मावती परमात्मा, परम ज्योति है रत्नसेन जीवात्मा है। सिंहल हृदय है हीरामन गुरु है नागमती दुनिया धन्धा है अलाउद्दीन माया है राघव चेतन शैतान है सात समुद्र माया के आयाम है मानसरोवर ब्रह्म रंध्र है । 'पद्मावत' की सम्पूर्णता पर जब हम विचार करते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि कवि अप्रस्तुत और प्रस्तुत के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर सका है । इस सत्य की ओर संकेत करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है यदि कवि के स्पष्टीकरण के अनुसार व्यंग अर्थ को ही प्रस्तुत या प्रधान मान लें तो जहाँ दूसरे अर्थ निकलते हैं वहाँ-वहाँ अन्योक्ति माननी पड़ेगी । पर ऐसे स्थल अधिकतर कथा के अंग हैं और पढ़ते समय कथा अप्रस्तुत होने की धारणा किसी पाठक को हो नहीं सकती । अतः इन स्थलों के वाच्यार्थ के अप्रस्तु होने से ऐसी जगह समासोक्ति ही माननी चाहिए'[2] परन्तु पद्मावत में अन्योक्ति मूलक शिल्प का भी संगठन मिलता है ।

---

१ डॉ॰ पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने इस प्रश्न को एक अन्य रूप में सोचा है—'हम तो नागमती की अवहेलना कर पद्मावती' प्राप्त के प्रयत्न को उसी दृष्टि से देखते हैं जिस दृष्टि से नाथपंथी मछंदर नाथ को सिंहल जाकर पदमिनी स्त्रियों के फाँस में पड़ जाने को । वह पतन है उत्थान नहीं । नागमती का प्रेम जितना दिव्य है उतना पद्मावती का नहीं ।' द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ—पद्मावती की कहानी और जायसी का अध्यात्मवाद पृ॰ १९२ ४०१ ।

२ जायसी ग्रन्थावली—भूमिका ५६ ५७ ।

कँवल जो बिकसा मानसर बिन जल गएउ सुखाय।
अबहुं बेलि फिर पलुहै जौ पिउ सींचै आइ।

यहाँ प्रस्तुत है विरहिणी का विरह वर्णन, जल-कमल अप्रस्तुत हैं। अतः यह प्रभावी अन्योक्ति मूलक है। नागमती को कवि ने दुनियाँ धन्धा के रूप में प्रस्तावित किया है। इस सन्दर्भ में उनके द्वारा अन्योक्ति का निर्वाह नहीं हो सका है। एक ओर कवि उसे गोरखधन्धा कहता है दूसरी ओर आदर्श भारतीय नारी के समान रत्नसेन की मृत्यु के पश्चात् पद्मावती के साथ वह सती हो जाती है।

डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त इस अंश को प्रक्षिप्त मानकर समस्या का समाधान करते हैं। अपनी जायसी ग्रन्थावली के सम्पादन में लेखक ने २१ प्रतियों का का उपयोग किया है। इनमें से केवल तीन प्रतियों में यह अंश उपलब्ध हुआ है। परन्तु इन तीन प्रतियों की अप्रामाणिकता जब तक स्थापित न हो जाय तब तक इस प्रकार के निर्णय से समस्या का समाधान नहीं होगा। जायसी अपनी इस कृति को अन्योक्ति मूलक नहीं कर सके हैं। इसके लिए निम्नलिखित सम्भावित कारण हो सकते हैं—

(१) काव्य के अर्थ विस्तार की ओर सचेष्ट रहने के कारण अन्योक्ति पर वे केन्द्रित नहीं रह सके हैं।

(२) पद्मावत में सूफी भावना के अतिरिक्त कवि ने हठयोग और वेदान्त दर्शन के सन्दर्भों को भी ग्रहण किया है। इस कारण भी अन्योक्ति-क्रम खण्डित हुआ है।

(३) पद्मावत में अप्रस्तुत (कथा और ग्यानकथा) प्रस्तुत (दर्शन) से अधिक शक्तिपूर्ण है। इसका प्रभाव भी सम्भवतः अन्योक्ति पर पड़ा है।

समासोक्ति

इस प्रकार हमने देखा कि पद्मावत पूर्णतः अन्योक्ति मूलक काव्य नहीं है। इस कृति में वाच्यार्थ व्यग्यार्थ दोनों का महत्त्व है। ऐसा भी कहा जाता है कि पद्मावती में चार प्रकार की शैलियों का प्रयोग हुआ है—

(क) प्रस्तुत की अपेक्षा अप्रस्तुत के प्रति आग्रह पूर्ण शैली—

गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी। पानी भरहिं जैस दुर पदी।
और कुंड एक मोती चूरू। पानी अंब्रित कीच कपूरू।

(ख) समासोक्ति मूलक अभिव्यक्तियाँ—

ऐ रानी मन देखु विचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी।
जो लहि अहैं पिता कर राजू। खेलि लेहु जो खेलहु आजू।
पुन सासुर हम गवनब काली। कित हम कित यह सरवर पाली।

(ग) लौकिक पक्ष का अभिधा मूलक वर्णन—जिसमें कोई दूसरा अर्थ नहीं है।

(घ) केवल आध्यात्मिक पक्ष का अभिधामूलक और उपदेशात्मक अर्थ जिसकी प्रस्तुत कथा में कोई उपयोगिता या अर्थ नहीं है।

दसवों दुवार तार कै लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा।
तू मन नाथु मारि कै स्वाँसा। जौ पै मरहि आपहु करि नासा।[1]

डॉ० शम्भूनाथ सिंह पद्मावत को एलीगोरी' कहते हैं जिसे वे प्रतीक कथा का पर्याय वाची मानते हैं। 'पद्मावत' के पात्र तथा अनेक घटनायें प्रतीकों के रूप में प्रस्तुत की गई हैं। अतः यह प्रतीकात्मक काव्य है। परन्तु 'पद्मावत' न तो एलीगरी है और न तो सिम्बालिक काव्य। इसकी शैली समासोक्ति की है। इस प्रकार की भावना भी व्यक्त मिलती है कि 'पद्मावत' का कुछ अंश ही समासोक्ति के अन्तर्गत आता है इसकी अधिकांश कथा लौकिक ही रह गई है। 'इस प्रकार पद्मावत के पहले ग्यारहवें खण्ड तक ही प्रतीत होता है कि मानो यह कथा अपनी आध्यात्मिक समासोक्ति रखती है ग्यारहवें खण्ड तक तो कहीं-कहीं प्रेम की अनुभूति दिव्य सी है। किन्तु इसके पश्चात् यह लौकिकता की ओर झुक पड़ती है।[2] परन्तु पद्मावत के सन्दर्भ में समासोक्ति का क्या अर्थ है, ऐसा लगता है कि आलोचक इसे ग्रहण नहीं कर सके हैं।

---

१ हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास—४७२।
२ मलिक मुहम्मद जायसी—पृ० १०२ १०३।

हम यह भूल जाते हैं कि जायसी एक गाथा कह रहे हैं। यहाँ यह गाथा ही प्रस्तुत है, और इस प्रस्तुत के माध्यम से ही आध्यात्मिक तत्व का बोध कराने का प्रयास किया गया है। यह आवश्यक नहीं है कि कवि प्रत्येक स्थल पर समासोक्ति का स्पष्टीकरण करे। अतः समग्रता से वञ्चित होकर हम समस्या पर विचार नहीं कर सकते। डॉ० माता प्रसाद गुप्त भी कमल कुलश्रेष्ठ के समान ही सोचते हैं, रचना में अन्योक्ति बहुत कम आई है, और समासोक्तियाँ अवश्य ही अधिक आई हैं, फिर भी सर्वत्र समासोक्ति मिलती है ऐसी बात नहीं, रचना के उत्तरार्ध में वाच्यार्थ ही अभिप्रेत है और पूरी रचना में किसी अन्योक्ति या समासोक्ति माला का निर्वाह करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है।[1] ऊपर डॉ० गुप्त के इस विचार की चर्चा की गई है जिसमें उन्होंने उपसंहार वाले अंश को प्रक्षिप्त माना है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि यदि यह जायसी लिखित न भी हो तो 'पदमावत' के समासोक्ति होने में कोई बाधा नहीं पहुँचती। यही बात 'पदमावत' के उत्तरार्ध में समासोक्ति के होने की तो उत्तरार्ध में भी इस तत्व का संरक्षण मिलता है।

अलाउद्दीन पद्मावती के मन हरण के लिए अथवा उसे अपने निकट आने की प्रेरणा देने के लिए एक योगिनी को भेजता है। पद्मावती योगिनी से इस यौवन में ही योग-धारण का कारण पूछती है। योगिनी अपने विरह का वर्णन करती है—

तब बैस तुम्ह लाग न जोगू। केहि कारन अस कीन्ह बियोगू।
कहेसि बिरह दुख जान न कोई। बिरहिनि जान बिरह जेहि होई।
कंत हमार गए परदेसा। तेहि कारन हम जोगिनि भेसा।
काकर जिउ जोबन औ देहा। जौ पिउ गएउ भएउ सब खेहा।
फारि पटोर कीन्ह मैं कंथा। जहँ पिउ मिलै लेहुँ सो पंथा।
फिरा करौं चहुँ चक पुकारा। जटा परीं सो सीस सँभारा।
हिरदै भीतर पिउ बसै मिलै न पूँछौ काहि।
सून जगत सब लागै पिय बिन किछौ न आहि। १०२। ४११

१ पदमावत—भूमिका—२१

अर्थात्, वियोग की पीड़ा केवल वियोगिनी ही अनुभव कर सकती है। मेरे प्रिय परदेस गए हैं अतः मैंने योगिनी का रूप धारण कर लिया है। यदि प्रिय निकट नहीं हैं तो यौवन व्यर्थ है। मेरे हृदय में निवास करने वाला प्रिय नहीं मिलता है उसके बिना यह संसार शून्य है। इस अंश में प्रस्तुत है वियोगिनी का वियोग-वर्णन। परन्तु आध्यात्मिक प्रेम और विरह की ओर भी इसमें संकेत है। इस प्रकार के अंश 'पद्मावत' के उत्तरार्ध में अनेक स्थलों पर मिलते हैं। इन समासोक्तियों का मूल्यांकन 'पद्मावत' की कथा की समष्टि में ही सम्भव है। 'पद्मावत' में रत्नसेन और पद्मावती की कथा प्रस्तुत है, जो लौकिक है। इस प्रस्तुत में ही अप्रस्तुत की व्यञ्जना होती है, अतः पद्मावत समासोक्ति है।

सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में कथानक रूढ़ियाँ

इस ओर संकेत किया जा चुका है कि अपभ्रंश चरित काव्यों अथवा प्रेमाख्यानक काव्यों में कवि जब कथा में प्रस्तार देना चाहते हैं अथवा उसे अभिलाषित दिशा की ओर मोड़देना चाहते हैं तो विशिष्ट अभिप्रायों अथवा विषय परक विश्वासों का प्रयोग करते है।[1] ये काव्यकार ऐतिहासिक पात्रों का प्रयोग निजंधरी पात्रों के रूप में करते हैं। इन दृष्टियों से लीलावइ कहा' 'करकण्ड चरिउ' 'सदय वत्ससवलिंग' 'पद्मावत मधुमालती 'मिरगावती 'मृगावती' आदि कृतियां एक सन्दर्भ के अन्तर्गत आती हैं। पुस्तक के आरम्भिक वक्तव्य में उसका उल्लेख किया गया है। श्री हर्षदेव की 'रत्नावली' में सिंघल देश की पद्मिनी का वर्णन मिलता है। 'लीलावइ कहा' कि नायिका सिंघल देश की राज कन्या है। 'करकण्ड चरिउ' में करकण्ड सिंघल की राजकुमारी रतिवेगा से विवाह करते हैं। जायसी अपने 'पद्मावत' में इसी सिंघल द्वीप की पद्मिनी की कथा कहते हैं—

सिंघल द्वीप कथा अब गावौं। औ सो पद्मिनी बरनि सुनावौं।
बरनक दरपन भाँति बिसेखा। जहि जस रूप सो दखिइ देखा।
धनि सो दीप जहँ दीपक नारी। औ सो पदुमिनी दइयँ अवतारी।
पद्मावत २१।१६

---

१ पाश्चात्य विद्वानों ने इन्हें मोटिफ' कहा है। हिन्दी में इन्हें कथा परिमान' अथवा 'कथानक' कहा गया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे कथा नककनि कहा है।

जायसी ने सिंघल द्वीप का नाम लोक जीवन से और अपने पूर्व की काव्य कृतियों से प्राप्त किया था। अतः द्वीप की भौगोलिक स्थिति और उसकी ऐतिहासिक संस्थापना का कोई अर्थ नहीं है। सिंघल और लंका को हम एक ही मानते हैं। परन्तु जायसी के सम्मुख उस सिंघल द्वीप की कल्पना भी जो लंका से भिन्न था—

जंबू दीप कहौं तस नाहीं। पूज न लंक दीप परिछाहीं।

'जम्बू दीप को मैं उसके समान नहीं कह सकता, लंका द्वीप उसकी परछाहीं के समान भी नहीं है। 'मधुमालती' में वर्णित 'महारस' की जायसी के सिंघल के समान ही अद्भुत स्थिति स्थान है।

'पद्मावत' में कथा को विकसित करने के लिए शुक का प्रयोग किया गया है। 'करकण्ड चरिउ' में भी शुक का प्रयोग मिलता है। यह शुक विद्याधर और विद्वान है। पद्मावत का शुक भी पंडित और ज्ञानी है, वह मानवीय गुणों से अलंकृत है—वह अपना परिचय देता है—

जब गुन कवन जो बँधी बनमाला। जाति मंजूषा बेचै माला।
पंडित होइ सो हाट न चढ़ा। चहौं बिकाइ भूलिगा पढ़ा।
दुइ मारग देखौं एहि हाटा। दैव चलावै दहुँ केहि बाटा।
रोवत रकत भयउ मुख राता। तन भा पियर कहौं का बाता।

इस प्रकार की रूढ़ि का प्रयोग प्रेमाख्यानक काव्यों में मिलता है। मंझन की 'मधुमालती' में मधुमालती अपनी माता के शाप से पक्षी हो जाती है। मान मद के राजकुमार के बधिक उसे जाल में फँसाकर राजकुमार के पास ले जाते हैं। तीन दिनों तक पक्षी और राजकुमार कुछ नहीं खाते हैं इस पर पक्षी प्रश्न करता—

मैं पंछी बिछ जोबन दै करि, यह दुख लियउ बेसाहि।
तैं तो राजकुंवर सुख भोगी, दुख केहि कारन सहाहि।

'मैं पक्षी हूँ, बीत गये यौवन देकर मैंने यह दुख मोल लिया है, किन्तु तुम तो राजकुमार हो, सुख भोग करने वाले हो, तुम्हारे दुःख का प्रयोजन क्या है?'

तुम तो राजकुंवर सुख भोगो। मैं बैरागिनि पंखि बिसोगी।
कौन प्रीति अपनि मोहि जागी। तीनि दिवस खाइहि जल पानी।
पहिले अस जौ देखतहु मोरा। तौ बैठ सिधु करतेहु छम ओरा।

रूप राय हर लीन्हा। पंखि कीन्ह करतार।
औ पुनि आँपु न जाने, यहि का लिखा लिलार।

राजकुमार प्रश्न करता है—

बहुरि सपत दै पूछेसि बाता। कहु आपनि सत बात निपाता।
सपत तेहि औ पुरुख कहाही। पसु पंखी कै मानुस आही।
औ भा पंखि रूप जिमि तोही। सपत तेहि फुर भा सुन मोही।
कौन नाउँ औ ठाउँ कहाँ तोर बाप केहि देस।
कौने पाप केहि अवरस भइसि पंखि के भेस।

मधुमालती १११ । ११८

इस प्रकार पक्षी-सम्बन्धी रूढ़ि और वार्ता प्रणाली की रूढ़ि का अनुसरण इस कृति में भी मिलता है

समुद्र-यात्रा से सम्बन्धित कथानक रूढ़ि का प्रयोग अपभ्रंश काव्यों के समान प्रेमाख्यानक काव्यों में भी मिलता है। रत्नसेन समुद्र-यात्रा करता है। मधुमालती के लिए मनोहर भी समुद्र-यात्रा करता है। बोहित के टूटने से मनोहर अपने साथियों से अलग हो जाता है। 'चित्रावली' में कुँवर चित्रावली के साथ अपने देश लौटता है। समुद्र में भयंकर तूफान से इन्हें भी संघर्ष करना पड़ता है। वसन्तोत्सव के समय पद्मावती के दर्शन से रत्नसेन मूर्छित हो जाता है। 'चित्रावली' में चित्रावली शिवरात्रि के दिन कुँवर को दर्शन-लाभ देती है दर्शन से कुँवर मूर्छित हो जाता है।

इस प्रकार परकाय प्रवेश शाप रूप-परिवर्तन आखेट के समय निर्जन वन में नायक का मार्ग भूलना सरोवर पर नायक का किसी सुन्दरी से मिलना प्रिया की दोहद कामना पूर्ति का संकल्प—इन कथानक रूढ़ियों का प्रयोग किसी न किसी रूप में सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में मिलता है।

'पद्मावत' में प्रयुक्त विशिष्ट कथानक रूढ़ियों का निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है—

[क] सिंघल द्वीप की पद्मिनि।
[ख] हीरा मन सुक।
[ग] नौका से समुद्र यात्रा।

[च] शिव मन्दिर में राजा का तपस्या करना। बसन्त के दिन पद्मावती का दर्शन देना। रत्नसेन का मूर्छित होना।

[छ] पार्वती द्वारा रत्नसेन के प्रेम की परीक्षा।

[ज] गन्धर्व सेन और योगियों का संघर्ष।

[झ] नागमती का रत्नसेन के पास पक्षी के माध्यम से संदेश भेजना।

[ञ] चित्तौर लौटते समय रत्नसेन के बोहित का खण्डित होना।

[ट] राघव चेतन की प्रेरणा से अलाउद्दीन का चित्तौर पर आक्रमण।

[ठ] नागमती और पद्मावती का रत्नसेन के साथ सती होना। इन कथा रूढ़ियों का प्रयोग जायसी ने एक गाथा के निर्माण हेतु किया है—

आदि अन्त जस गाथा अहै लिखि भाषा चौपाई कहै।

प्रबन्ध कल्पना और महाकाव्यत्व

प्रबन्ध-कल्पना की दृष्टि से सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में प्रायः एक समता है। इन रचनाओं के कवि अपनी सम्पूर्ण नियोजना को तीन भागों में विभाजित करते हैं प्रारम्भिक अंश में कवि कथा प्रस्तावना के सन्दर्भ में नायक और नायिका के मातृ-पिता का परिचय देते हैं। नायक और नायिका के जन्म की कथा कहते हैं। युवा होने पर नायक गुण-श्रवण प्रत्यक्ष-दर्शन स्वप्न-दर्शन, अथवा चित्र दर्शन के माध्यम से नायिका का परिचय प्राप्त करता है। नायक नायिका से प्रेम करने लगता है, और उसकी प्राप्ति हेतु गृह-त्याग करता है। द्वितीय अंश में नायक के सम्मुख उपस्थित मार्ग के संघर्ष चित्रित मिलते हैं। तृतीय अंश में नायक और नायिका के मिलन के पश्चात्, नायिका के साथ उसके स्वदेश लौटने की कथा वर्णित मिलती है। इन काव्यों में 'पद्मावत' की स्थिति कुछ भिन्न है। इसका मूल्यांकन महाकाव्य के रूप में किया जाता है।

सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों विशेषकर 'पद्मावत' के महाकाव्य-स्वरूप पर जब हम विचार करते हैं, तो महाकाव्य की तीन विधायें सम्मुख आती हैं।

(१) शास्त्रीय शैली के महाकाव्य।

(२) विकसनशील शैली के महाकाव्य।

(३) रोमांचक शैली के महाकाव्य।

हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन के सन्दर्भ में तथा 'पद्मावत' के शास्त्रीय विवेचन के सन्दर्भ में यह आग्रह प्रकट किया जाता है कि 'पद्मावत' शास्त्रीय पद्धति का महाकाव्य है। परन्तु यह आग्रह अतिरम्यता और मोह पर आधारित है। महाकाव्य-सम्बन्धी मान्यतायें काव्य-रूपों के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होती रहती हैं। महाकाव्य के शास्त्रीय विधान के सन्दर्भ के प्रथम ग्रन्थ काव्यालंकार (भामह) के अनुसार महाकाव्य में सर्गबद्धता अनिवार्य है। पद्मावत में सर्गबद्धता का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। यह अपभ्रंश की कड़वक शैली का काव्यरूप है। महाकाव्य की दूसरी मान्यता है कि उसका नायक महान् हो और विजयी हो। 'पद्मावत' का नायक महान् है। परन्तु उसके व्यापारों में युग-जीवन की समष्टि करने का प्रयास नहीं है और वह विजयी भी नहीं होता है। अंलकृत प्रणाली की ओर स्पष्ट संकेत करते हुए भामह ने कहा है 'अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च सालंकारसदाश्रयम्' अर्थात् भामह ने महाकाव्य के लिए ग्राम्य शब्दों के प्रयोग का समर्थन नहीं किया है। साथ ही साथ उन्होंने महाकाव्य में अलंकरण के प्रति एक निश्चित आग्रह-भाव व्यक्त किया है। पद्मावत में ग्राम्य शब्दों के न होने का कोई प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता क्योंकि 'पद्मावत' संस्कृत का काव्य नहीं है। साथ ही साथ इसमें अलंकरण के प्रयास भी नहीं मिलते हैं। जीवन के विविध रूपों और अवस्थाओं के चित्रण के प्रति भी इसमें व्यापक आग्रह नहीं मिलता है। नाटकीय कार्य अवस्थाओं और सन्धियों के नियोजन के प्रयास भी यहाँ नहीं मिलते हैं। संपठित कथानक और प्रभाव की अन्विति इसमें अवश्य मिलती है।

इस प्रकार महाकाव्य में कथा की सर्गबद्धता और उसमें नाटकीय तत्वों के प्रति आग्रह की प्रेरणा दण्डि तथा उनके पश्चात् बनी रही। कथा के सम्बन्ध में उदात्त अनुप्रास रूपों के प्रति आग्रह व्यक्त किया गया और जीवन की समग्रता के समीकरण को अनिवार्य तत्व माना गया। अलंकृत वर्णन, प्रकृति चित्रण, नगर और देश वर्णन प्रतिनायक और युद्ध कुछ का वर्णन, नायक की विजय अनिवार्य तत्व माने गए। महाकाव्य का कोई महदुद्देश्य हो, चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति और समग्र रसों का समन्वित रूप उसमें उपलब्ध हो। हेमचन्द्र ने काव्यानुशासनम् में इस प्रकार की प्रस्तावना की है—

पर्व प्रायः संस्कृत प्राकृतापभ्रंश ग्राम्यभाषा निबद्ध भिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वास संध्यवस्कन्धक बन्धं सत्संधिशब्दार्थ वैचित्र्योपेतं महाकाव्यम् काव्यानुशासन आठवाँ अध्याय। इस प्रकार हेमचंद्र ने प्राकृत और अपभ्रंश महाकाव्यों का भी उल्लेख किया है। संस्कृत में सर्गबन्ध प्राकृत में आश्वासक बन्ध, अपभ्रंश में संधि-बन्ध और ग्राम्य अपभ्रंश में अवस्कन्धक बन्ध महाकाव्य होते हैं।

इस प्रकार संस्कृत महाकाव्य-सम्बन्धी मान्यताओं के अनुसार 'पद्मावत' की विवेचना नहीं हो सकती। जहाँ तक सर्ग बद्धता का सम्बन्ध है, इसके प्रति आग्रह शीघ्र होना दुराग्रह मात्र होगा। 'पद्मावत' की कथा मूलतः एक प्रेम-कथा है जिसमें कवि आध्यात्मिक सन्दर्भों का समावेश करता है। यह कथा लोक कथाओं के आधार पर लिखित है। 'पद्मावत' का कथानक सानुबन्ध और प्रवाह पूर्ण है। परन्तु सानुबन्ध और प्रवाहपूर्ण हो जाने से ही कोई कृति शास्त्रीय महाकाव्य-परम्परा की कृति नहीं हो जाती। कवि जब कथा के माध्यम से अपने मन्तव्य की ओर अग्रसर होता है, तो रचना-तन्त्र की दृष्टि से उसे कथा संगठन और उसकी मत्यात्मकता का संरक्षण करना ही पड़ता है। आचार्यों ने परम्परा के अनुसार 'पद्मावत' में आधिकारिक कथा के साथ प्रासंगिक कथाओं के भी वर्णन किए हैं उदाहरण स्वरूप गणपति कथा या 'ब्राह्मण कथा'। इस दृष्टि से 'पद्मावत' की समग्र समान्तर कथाओं को प्रासंगिक कथा के अन्तर्गत मानना चाहिए। परन्तु 'पद्मावत' में प्रासंगिक कथायें नहीं हैं। प्रत्येक उपकथा का साक्षात सम्बन्ध रत्नसेन से है। कथा को गति प्रदान करने के लिए अनेक कथाओं का प्रयोग इस दृष्टि से विचारणीय है। इसके विपरीत 'पद्मावत' की सम्पूर्ण कथा लगभग चार आयामों में पूर्ण होती है। 'पद्मावती के गुण-श्रवण से रत्नसेन गृहत्याग कर सिंहल की यात्रा करता है। यह प्रथम आयाम हो सकता है। समुद्र की यात्रा के पश्चात् वह सिंहल पहुँचता है और पद्मावती से विवाह करता है, यह कथा का द्वितीय आयाम हो सकता है। रत्नसेन चित्तौर लौटता है। यह तृतीय आयाम है। रत्नसेन राघवचेतन को निर्वासित करता है। अलाउद्दीन के आक्रमण और पद्मावती तथा नागमती के सती हो जाने का सन्दर्भ कथा का चतुर्थ आयाम है। कथा के इन स्पष्ट आयामों के कारण भी कहा गया है कि 'पद्मावत' में शास्त्रीय महाकाव्यों के लिए अपेक्षित सर्गों, आश्वासों और

सन्धियों के नियोजन की स्पष्ट योजना उपलब्ध होती है। कार्य अवस्थाओं के अन्तर्गत रत्नसेन के पद्मावती के गुण श्रवण तक के अंश में आरम्भ नामक कार्य अवस्था की स्थिति बतलाई गई है। रत्नसेन समुद्र यात्रा के पश्चात् सिंहल द्वीप पहुँचता है। इस अंश में प्रयत्न नामक कार्य अवस्था की प्रतिध्वनि मिलती है। बसन्त के अवसर पर पद्मावती और रत्नसेन के मिलन से प्राप्त्याशा की सम्भावना बनती है। नायक मूर्छित होता है और फिर गन्धर्वसेन के अवरोधों से नियताप्ति नामक कार्य अवस्था की सम्भावना निर्मित होती है। इसके पश्चात् रत्नसेन और पद्मावती के मिलन में फलागम की स्थिति मानी जाती है। इन्हीं कार्य अवस्थाओं में पंच सन्धियों का भी नियोजन स्वीकार किया गया है। परन्तु कथा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। कथा इसके आगे भी प्रसरित है। इस समस्या के निदान की चेष्टा की गई है। पद्मावत में दो कथायें हैं। पहली कथा में नायक का उद्देश्य पद्मावती को प्राप्त करना है और इसमें प्रारम्भ प्रयत्न प्राप्त्याशा नियताप्ति और फलागम नामक कार्य अवस्थायें एवं मुख प्रतिमुख आदि सन्धियाँ मिलती हैं। उत्तरार्ध की कथा को हम कार्य अवस्थाओं और सन्धियों की दृष्टि से शिथिल पाते हैं।

हम समस्त प्रस्तावनाओं में इस एक सत्य को भूल जाते हैं कि 'पद्मावत' समासोक्तिमूलक काव्य है इसमें वाच्यार्थ प्रस्तुत है व्यंग्यार्थ अप्रस्तुत। वाच्यार्थ की दृष्टि से कथा की पूर्णता रत्नसेन की मृत्यु और अलाउद्दीन की विजय तथा 'पद्मावती और नागमती के सती होने पर होती है। व्यंग्यार्थ की दृष्टि से भी विचार करना अपेक्षित है। रत्नसेन और नागमती के प्रेम में अनेक बाधायें उपस्थित होती हैं प्रथम बार बसन्तोत्सव के अवसर पर, फिर चित्तौर गढ़ के लिए प्रस्थान करते समय समुद्र में नौका के खण्डित होने पर। रत्नसेन दुनियाँ के धन्धे (नागमती) के परित्याग के पश्चात् ही पद्मावती की ओर अग्रसर होता है। दुनियाँ धन्धा (नागमती) के सम्पर्क में आकर वह पुन पद्मावती से वंचित होता है। अलाउद्दीन माया है। साधक और साध्य के मध्य माया है। रत्नसेन उस तत्व (पद्मावती) की प्राप्ति हेतु पुन: प्रयास करता है। इस प्रयास में वह अन्तिम मरण की उपलब्धि करता है। यहीं उसका सम्पूर्ण भौतिक मरण होता है। कथा के इस सन्दर्भ में कवि के सम्मुख वाच्यार्थ और

यथार्थ, इन दोनों के निर्वाह की समस्या थी। रत्नसेन के साथ पद्मावती और नागमती दोनों सती होती हैं। पद्मावती अपनी परम उपलब्धि के साथ शाश्वत बन जाती है, दुनिया के बाद के रूप में नागमती भी अमर है। अलाउद्दीन रह जाता है। उसकी उपलब्धि का उल्लेख कवि इस रूप में करता है—

ओर बहुगमन भई अगवाई। पातसाहि गढ़ छेंका आई।
तब लगि सो औसर होइ बीता। भए अलोप राम औ सीता।
आइ साहि सब सुना अखारा। होइ गा राति देवस जो बारा।
छार उठाइ लीन्हि एक मूठी। दीन्ही उड़ाइ पिरिथमी झूठी।
जौ लगि ऊपर छार न परई। तब लगि नाहिं जो तिस्ना मरई।

पद्मावत—६५१।२११।

जायसी ने कथा नियोजन में कल्पना और इतिहास का समन्वय किया है। इस प्रकार उनकी कथा मिश्र है। परन्तु इस निर्माण में उनकी दृष्टि कथा के शास्त्रीय विकास की ओर रही है इसमें सन्देह है।

महाकाव्य की दूसरी परम्परा विकसनशील है जिसकी चर्चा 'पृथ्वीराज रासो' के सन्दर्भ में हो चुकी है। इसके पश्चात् रोमांचक शैली के महाकाव्यों का उल्लेख किया जाता है। इस प्रकार के महाकाव्य एक कवि की रचना होते हैं और इनमें विकसनशील महाकाव्यों के गुणों का भी पर्याप्त समन्वय रहता है। इस प्रकार के काव्य अपभ्रंश साहित्य में उपलब्ध होते हैं। अतः इन महाकाव्यों की शिल्पविधि शास्त्रीय महाकाव्य से भिन्न प्रकार की है। 'भविसयत्त कहा' (धनपाल), 'सुदंसण चरिउ' (नयनंदि) 'विलासवइ कहा' (साधारण कवि) 'करकण्ड चरिउ' (कनकामर) इस सन्दर्भ की विशिष्ट कृतियाँ हैं। इनकी शिल्पविधि एक प्रकार ही है। इनमें सांसारिकता और धर्म का समन्वय मिलता है। 'करकण्ड चरिउ' या 'भविसयत्त कहा' और 'पद्मावत' तथा अन्य सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में एक निश्चित प्रकार की समानता मिलती है। 'भविसयत्त कहा' में जिन की वन्दना के पश्चात् कवि अपनी विनम्रता का प्रकाशन करता है। सज्जन प्रशंसा और दुर्जन निन्दा करता है। फिर कुरु जंगल देश और गजपुर नगर का वर्णन करता है। भूपाल नामक राजा और धनवाल नामक राज श्रेष्ठी के वर्णन से कथा का आरम्भ होता है। पूरा ग्रंथ रोमांचक तत्वों और निजन्धरी कथाओं से परिपूर्ण

है। यात्रा और मति प्राकृतिक वर्णनों से यह ग्रंथ पूर्ण है। उत्तरार्ध में युद्धों का वर्णन है। रोमांचक तत्वों के साथ अन्य कथानक रूढ़ियों के प्रयोग इस भी रचना में मिलते हैं। इस सन्दर्भ की अन्य रचना 'करकण्ड चरित' को लीजिए। इसके प्रथम कड़वक में जिन वन्दना तथा सरस्वती वन्दना है, सज्जन प्रशंसा दुर्जन निन्दा कवि की विनम्रता प्रकाशन तथा पूर्व कवि-स्मरण है। इसके पश्चात् कथा आरम्भ होती है। कवि अंग देश का वर्णन करता है चम्पानगरी का वर्णन करता है और करकण्ड और मदनावली के विवाह की कथा कवि कहता है। विद्याधर मदनावली का हरण करता है। करकण्ड सिंहल की यात्रा करते हैं। सिंहल की राजकन्या रतिवेगा से विवाह करते हैं। अन्त में करकण्ड संसार त्याग कर मुनि हो जाते हैं। 'पद्मावत' तथा अन्य सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों के रचना-तन्त्र का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इन दोनों विधाओं में शिल्प की दृष्टि से अन्तर नहीं है। इन दोनों विधाओं में धर्म-कथा रोमांचक कथा और काव्य, इन तीनों तत्वों का समन्वय मिलता है। इस प्रकार 'पद्मावत' 'मधुमालती' तथा अन्य सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों के महाकाव्यत्व का निर्धारण अपभ्रंश महाकाव्यों के रचना-तन्त्र और भाव संवेदना के आधार पर ही अपेक्षित है। चतुर्वर्ग फल प्राप्ति के अन्तर्गत इसमें काम और मोक्ष के प्रति आग्रह मिलता है। अपभ्रंश के जिन काव्यों का वर्णन किया गया है उनमें फल-प्राप्ति के सुख के पश्चात् जगत की नश्वरता के सत्य के उद्घाटन हेतु किसी सबल घटना की अवतारणा मिलती है। पद्मावत' के वाच्यार्थ का उद्देश्य जैन काव्यों से भिन्न नहीं लगता है—

कहाँ सो रतन सेनि असराजा। कहाँ सुआ असि बुधि उपराजा।
कहाँ अलाउदीन सुलतानू। कहँ राघौ जेइँ कीन्ह बखानू।
कहाँ सुरूप पद्मावति रानी। कोइ न रहा जग रही कहानी।
धनि सो पुरुष जस कीरति जासू। फूल मरै पै मरै न बासू।
केइँ न जगत जस बेंचा, केइँ न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी, हम सँवरै दुइ बोल।

आलोचना के आधुनिक स्वरूप के अनुसार महाकाव्य के कतिपय सामान्य लक्षण हैं जिनका समावेश सर्वयुग और सर्वदेश के महाकाव्यों में उपलब्ध होता है। वे इस प्रकार हैं[१]।

१—देखिए-हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास पृ० १०८ १२१।

(१) महदुद्देश्य महदुद्देश्य और महती काव्य प्रतिभा ।

(२) गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व ।

(३) महत्कार्य और युग-जीवन का समग्र चित्र ।

(४) सुसंघटित और जीवन्त कथानक ।

(५) महत्त्वपूर्ण नायक ।

(६) गरिमामयी उदात्त शैली ।

(७) तीव्र प्रभावान्विति और गम्भीर रस व्यंजना ।

'पद्मावत' तथा अन्य सूफी आख्यानक काव्यों का महदुद्देश्य क्या हो सकता है, यह एक ज्वलन्त प्रश्न है। 'पद्मावत' का उद्देश्य प्रेम-कहानी कहना है, और सूफी दर्शन का प्रतिपादन करना है तथा काम और मोक्ष-प्राप्ति के साधनों की प्रस्तावना करना है। ये तत्त्व अपने आप में कितने महान् हैं यह विचारणीय प्रश्न है। इस ओर इंगित करते हुये आचार्य शुक्ल ने कहा है, "अपनी कहानियों द्वारा इन्होंने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक सामान्य प्रभाव दिखाई पड़ता है। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखलाया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का आभास नहीं दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी रही। यह जायसी द्वारा पूरी हुई।" परन्तु इन तत्त्वों के अतिरिक्त जायसी का 'पद्मावत' एक श्रेष्ठ कविता (A Great Poetry) है। यह विचारों की अपेक्षा भाव भावों का काव्य है। प्रेम एक भाव है। जीवन का एक नैसर्गिक स्वरूप है। जायसी प्रेम तत्त्व के गायक हैं। प्रेम-स्वरूप को कवि ने आख्यानक काव्य के आकार की विशालता में व्यंजित किया है। और यह लोक जीवन के निकट का काव्य है। इस तत्त्व के कारण ही इसकी गरिमा सुरक्षित रहेगी। प्रेम मार्ग में 'काम' के प्रति कवि विशेष आस्था भाव व्यक्त करता है—

मुहमद चिनगी प्रेम की सुनि महि गगन डेराइ।
धनि बिरही औ धनि हिया जहँ अस अगिनि समाइ ।२०२।

परन्तु काम की साधना को कवि योग साधना के समकक्ष मानता है—पंच पवनों को बाँधनेवाला योगी सती होता है, उसी प्रकार पंच बाणों को बाँधनेवाली कामिनी सती होती है—

जोबन तुरै हाथ गहि लीजै जहाँ जाइ तहँ जाइ न दीजै।
× × × ×
कहेसि पेम जौं उपना बारी। बाँधु सत्त मन डोल न भारी।
× × ×
सती जो जरै पेम पिय लागी। जौं सत हिऐँ सीतल आगी।
× × × ×
पवन बंध होइ जोगी जती। काम बंध सोइ कामिनि सती।

'पद्मावत' भाव-सौन्दर्य और भाव चेतना का काव्य है। अनुभूतियों का वैविध्य इसका विशेष सौन्दर्य है। प्रेम के अनेक उन्मेषपूर्ण चित्र इस काव्य में नियोजित हैं। इस सन्दर्भ में शृङ्गार के संयोग और वियोग इन दोनों पक्षों की चर्चा की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त जीवन के व्यापक सन्दर्भ में उपलब्ध होनेवाले करुण वात्सल्य वीर-आदि रसों का उद्भावन कवि ने नैसर्गिक रूप में किया है। करुण रस के सन्दर्भ के दो स्थलों को यहाँ उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है—रत्नसेन योगी होकर सिंघल के लिए प्रस्थान कर रहा है। नागमती रो रही है रत्नसेन का रनिवास रो रहा है—

रोवै नागमती रनिवासू। केइ तुम्ह कन्त दीन्ह बन बासू।
अब को हमहि करिहि भोगिनी। हमहूँ साथ होइब जोगिनी।
कै हम लावहु अपने साथाँ। कै अब मारि चलहु एहि हाथाँ।
× × × ×
मलेहिँ पदुमिनी रूप अनूपा। हमतें कोइ न आगरि रूपा। १९१।

इस प्रकार का एक दूसरा सन्दर्भ है। रत्नसेन सिंघल से चितौर गढ़ के लिए प्रस्थान कर रहा है। इस सन्दर्भ में विदा होते समय पद्मावती प्रियजनों के वियोग की व्यथा से रो उठती है। सखियों से माता पिता और भाई से वह विदा होती है। करुण सन्दर्भ का अति नैसर्गिक वर्णन कवि प्रस्तुत करता है—

रोवहिं मातु पिता औ भाई। कोइ न टेक जौं कन्त चलाई।
रोवै सब नैहर सिंघला। लै बजाइ कै राजा चला।

फिरी सखी भेंटन चलि भीरा । अंत कंत सो भएउ किरीरा ।
कोउ काहू कर नाहिं नियाना । माया मोह बौंधा अरुझाना ।

पद्मावत १२७।६८४

पद्मावत में वीर रस के सन्दर्भ सिंहल पर के आक्रमण और अलाउद्दीन के युद्ध के प्रसंग में है । इन प्रसंगों में वीर भावना का अति उद्दीप्त रूप देखने को मिलता है । गोरा के युद्ध का एक अंश यहाँ प्रस्तुत है—

गोरै देख साथ सब जूझा । आपन काल नियर भा बूझा ।
कोपि सिंघ सामुँह रन मेला । लाखन्ह सौं नहिं मुरै अकेला ।
लई हाँकि हस्तिन्ह कै ठटा । जैसे सिंघ बिडारै घटा ।
जेहि सिर देइ कोपि कर बारू । सिउँ घोड़ा टूटै असवारू ।
× × × ×
खेलि फागु सेंदुर छिरियाव । चाँचरि खेलि आगि रन लावै ।
हस्ती घोर आइ जो चूका । उठै देह तिन्ह रुहिर भभूका ।

पद्मावत ६३३।२१६।

पद्मावत के महाकाव्यत्व की ओर संकेत करते हुए आचार्य शुक्ल का यह निष्कर्ष है कि इस कृति का महत् कार्य है पद्मावती का सती होना । परन्तु इसे हम एक दूसरे प्रकार से कह सकते हैं । पद्मावती की प्राप्ति हेतु रत्नसेन का बलिदान हो जाना ही इसका महत्कार्य है । और व्यंग्यार्थ में माया से मुक्त होकर पद्मावती के साथ समरसता की स्थिति में आ जाना ही रत्नसेन की क्रियाओं का लक्ष्य है इस लक्ष्य के प्रतिपादन के लिये कवि ने भारतीय इतिहास की एक विशिष्ट तथा महान् घटना का आधार ग्रहण किया है । आचार्य शुक्ल ने इसके महत् कार्य और उद्देश्य के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह कहा है कि पद्मावत एक प्रेम गाथा मात्र है, जीवन गाथा नहीं । 'दाम्पत्य के अतिरिक्त मनुष्य की और भी वृत्तियाँ जिनका कुछ विस्तार के साथ समावेश है युद्ध सम्बन्धी उत्साह, मातृ स्नेह, स्वामिभक्ति, यात्रा कष्टसहता, छल और सतीत्व है पर इसके होते हुए भी पद्मावत को हम शृङ्गार प्रधान काव्य ही कह सकते हैं । रामचरित' के समान मनुष्य जीवन की भिन्न भिन्न बहुत-सी परिस्थितियों और सम्बन्धों का इसमें समन्वय नहीं है । (जायसी ग्रन्थावली भूमिका—पृ० ६२ ६३ ।) शुक्लजी

परन्तु काम की साधना को कवि योग साधना के समकक्ष मानता है—पंच पवनों को बाँधनेवाला योगी सती होता है, उसी प्रकार पंच बाणों को बाँधनेवाली कामिनी सती होती है—

जोबन तुरें हाथ गहि लीजै जहाँ जाइ तहँ जाइ न दीजै।
× × × ×
कहेसि पेम जौ उपना बारी। बाँधु सत्त मन डोल न भारी।
× × ×
सती जौ जरै पेम पिय लागी। जौं सत हिएँ सीतल आगी।
× × × ×
पवन बंध होइ जोगी जती। काम बंध सोइ कामिनी सती।

'पद्मावत' भाव-सौन्दर्य और भाव चेतना का काव्य है। अनुभूतियों का वैविध्य इसका विशेष सौन्दर्य है। प्रेम के अनेक उन्मेषपूर्ण चित्र इस काव्य में नियोजित हैं। इस सन्दर्भ में शृङ्गार के संयोग और वियोग इन दोनों पक्षों की चर्चा की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त जीवन के व्यापक सन्दर्भ में उपलब्ध होनेवाले करुण वात्सल्य वीर-आदि रसों का अनुभावन कवि ने नैसर्गिक रूप में किया है। करुण रस के सन्दर्भ के दो स्थलों को यहाँ उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है—रत्नसेन योगी होकर सिंघल के लिए प्रस्थान कर रहा है। नागमती रो रही है रत्नसेन का रनिवास रो रहा है—

रोवै नागमती रनिवासू। केइ तुम्ह कन्त दीन्ह बन बासू।
अब को हमहि करिहि भोगिनी। हमहूँ साथ होइब जोगिनी।
कै हम लावहु अपने साथा। कै अब मारि चलहु एहि हाथा।
× × × ×
भलेहिं पदुमिनी रूप अनूपा। हमते कोइ न आगरि रूपा। १९१।

इस प्रकार का एक दूसरा सन्दर्भ है। रत्नसेन सिंघल से चित्तौर गढ़ के लिए प्रस्थान कर रहता है। इस सन्दर्भ में विदा होते समय पद्मावती प्रियजनों के वियोग की व्यथा से रो उठती है। सखियों से माता पिता और भाई से वह विदा होती है। करुण सन्दर्भ का अति नैसर्गिक वर्णन कवि प्रस्तुत करता है—

रोवहिं मातु पिता औ भाई। कोइ न टेक जौं कन्त चलाई।
रोवै सब नैहर सिंघला। लै बजाइ कै राजा चला।

कि इस वक्तव्य का खण्डन करते हुए डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त ने यह कहा है कि यह कथन 'पद्मावत' के पूर्वार्ध तक के लिए ही सत्य है। इनकी यह धारणा है उत्तरार्ध में आने वाली परिस्थिति सम्बन्ध वैविध्य में 'रामचरित मानस' से कम नहीं है। इस प्रकार इस विशेष दृष्टिकोण के अनुसार 'पद्मावत' को वे राम चरित मानस के समकक्ष की रचना मानते हैं। अपने कथन के निष्कर्ष रूप में वे कहते हैं कि 'मानस' और पद्मावत', दोनों ही जीवन-गाथायें हैं एक भक्ति प्रधान जीवन-गाथा है, दूसरी प्रेम-प्रधान।[1]

'पद्मावत' के रचनातन्त्र और भाव परिवेश में कवि जायसी की महती प्रतिभा का परिचय मिलता है। वस्तु-वर्णन और भाव नियोजन के माध्यम से कवि मानव की रागात्मिका वृत्तियों का उद्घाटन करता है।[1] प्रेम उत्साह, वैराग्य शोक, करुणा भक्ति आदि स्थायी भावों की व्यंजना से कवि 'पद्मावत' को जीवन-काव्य की गरिमा से मण्डित करता है। 'पद्मावत' में सशक्त प्राणवत्ता है। कवि की विराट कल्पना में यह प्रेमगाथा जीवन गाथा के रूप में प्रस्फुटित हुई है। यही कवि-प्रतिभा की श्रेष्ठतम उपलब्धि है।

रहस्यवाद

जायसी तथा अन्य सूफी प्रेमाख्यानक काव्य के कवियों ने परमात्मा को प्रियतम रूप में देखा है। जगत् के समग्र व्यापारों में वे उस प्रियतम के रूप और उसके माधुर्य तथा उसकी छाया को देखते हैं। प्रकृति के समग्र शृ गार और वैभव को पुरुष के समागम की विकलता का प्रतिरूप भी वे मानते हैं। ये भावनायें 'पद्मावत' में अधिक प्रबल रूप में व्यक्त मिलती हैं[2]। जायसी में प्रकृति मूलक रहस्यवाद मिलता है। प्राकृतिक-सौन्दर्य के द्वारा अहम् से इदम के सम्बन्ध स्थापन की भावना इस रहस्यवादी भावना की मुख्य अनुभावना है। प्रकृति के समस्त तत्व परम सत्ता की प्रेरणा से गतिशील हैं रूप-सौन्दर्य धारण करते हैं। इदम जगत् उसकी सर्जना है—

१—देखिए-पद्मावत भूमिका पृष्ठ ४६ ५०।
२—देखिए-जायसी ग्रन्थावली की भूमिका-पृ० १६२ १६३।

साम साजि कै धरती साजी। बरन-बरन सृस्टि उपराजी।
साजै चाँद सुरुज औ तारा। साजे बन कहँ समुद पहारा।
चित्ररेखा। पृष्ठ ११।

सृष्टि के कण-कण में परम तत्व का प्रतिबिम्ब है। उस शक्ति के साथ तादात्म्य स्थापित करने की भावना से ही हम विरह की अनुभूति से पीड़ित हैं। अब जीवन प्रेम की कहानी के माध्यम से इसी आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में हुई है। जायसी ने प्रकृति के माध्यम से परोक्ष सत्ता की ओर संकेत किया है। सिंहल द्वीप की सुन्दर छाया में आध्यात्मिक सुख की व्यंजना की गई है—

घन अमराउ लाग चहुँपासा। उठा भूमि हुत लागि अकासा।
तरिवर सबै मलय गिरि लाई। भइ जग छाँह रैनि होइ आई।
मलय समीर सोहावन छाहाँ। जेठ जाड़ लागै तेहि माहाँ।
× × × ×
पथिक जो पहुँचै सहि कै घामू। दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू।
जेइ वह पाई छाँह अनूपा। फिरि नहिं आइ सहै यह धूपा।

प्रकृति मानवीय चेतना के रूप में उस परम तत्व की साधना में ही लिप्त है। मान सरोवर-वर्णन में कवि जायसी प्रकृति चेतना के इसी सन्दर्भ का उद्घाटन करते हैं। पद्मावती विराट शक्ति है। सरोवर का साधक-मन उसके रूप सौन्दर्य और संस्पर्श से मुग्ध है—

सरवर रूप बिमोहा हिएँ हिलोर करेइ।
पाव छुवत मकु पावौं तेहि मिसु लहरैं देइ।६।१२।१।

सरोवर पद्मावती के चरण स्पर्श से निर्मल हो गया।

कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई।
भा निरमल तिन्ह पायन परसे। पावा रूप-रूप के दरसे।
मलय-समीर बास तन आई। भा सीतल गै तपनि बुझाई।

साधनात्मक रहस्यवाद के लौकिक पक्ष में प्रेम की भाव-संवेदना के योग से इसी से सूफी कवियों ने रहस्यवादी साधना को रसात्मक रूप दिया है। इनकी रचनाओं में रूप के प्रति प्रबल आसक्ति मिलती है। सूफियों ने रूप-आसक्ति का

उल्लेख किया है। जायसी तथा अन्य कवियों में पद्मावती या अन्य नायिकाओं में रूप के वर्णन की पृष्ठि भूमि में यही तत्व विद्यमान है।

अपनी रहस्य-साधना के लिए इन कवियों ने प्रतीकों का भी प्रयोग किया है। पद्मावती नागमती रत्नसेन इत्यादि से सम्बन्धित प्रतीकों की चर्चा पीछे की जा चुकी है। सिद्ध नाथ और सन्त साहित्य में प्रयुक्त प्रतीकों का प्रयोग भी यहाँ मिलता है। 'पद्मावती' को सोलह कलाओं से परिपूर्ण चन्द्रमा' की संज्ञा भी जायसी ने दी है। पद्मावती सूर्य भी है। जिसके स्पर्श से रत्नसेन स्वयं सूर्य और चन्द्रमा हो जाता है—

अब हौं सुरज चाँद वह छाया। जल बिनु मीन रकत बिनु काया।
किरिन करा भा प्रेम अँकूरू। जौ ससि सरग मिलौं होइ सूरू।

सूर्य और चन्द्रमा के इस सन्दर्भ की मूल प्रेरणा की चर्चा पीछे हो चुकी है। उस सन्दर्भ का प्रतिपादन भी इस रहस्यवाद में मिलता है। गंगा यमुना इड़ा पिंगला आदि से सम्बन्धित प्रतीको का प्रयोग भी इस सन्दर्भ में हुआ है।

धूप छाँह दुइ पियके रंगा। दूनौ मिली रहहु एक संगा।
तुम्ह गंगा जमुना दुइ नारी। लिखा मुहम्मद जोग।

रत्नसेन और पद्मावती के मिलन के मध्य कवि सूर्य और चन्द्रमा के सम स्वरूप के सिद्धान्त का स्थापन करता है। यह समरसता की स्थिति है।

[ग] कृष्ण भक्ति काव्य-धारा

कृष्ण भक्ति तथा काव्य का स्वरूप विश्लेषण

उत्तर भारत में ज्ञान-मार्ग, योग-मार्ग और भक्ति-मार्ग की धारायें स्वतन्त्र रूप में प्रवाहित होती रही हैं और समय-समय पर वे एक दूसरे को संस्पर्शित और प्रभावित भी करती रही हैं। परन्तु इस प्रकार की भावना विश्वास पा चुकी है कि उत्तर भारत में भक्ति की धारा दक्षिण भारत से प्रवाहित हुई है। वास्तविकता ऐसी नहीं है। उत्तर भारत में भागवत धर्म के रूप में भक्ति का अस्तित्व अति प्राचीन काल से ही मिलता है। परन्तु काल-क्रम से यह धारा अति क्षीण हो चुकी थी और उत्तर भारत की अपेक्षा इसका प्रसार दक्षिण भारत में अति व्यापक रूप में हुआ। आड़वार भक्तों के तामिल गीतों से यह स्पष्ट होता कि दक्षिण में ईसा की चौथी शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक भागवत भक्ति का प्राधान्य रहा। दक्षिण भारत के आचार्य मुख्यतः, श्री रामानुजाचार्य श्री विष्णु स्वामी, श्री निम्बार्काचार्य और श्री मध्वाचार्य ने आड़वार भक्तों से वैष्णव भक्ति की प्रेरणा प्राप्त की और इन्होंने भागवत भक्ति को उत्तर भारत में पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया। आड़वार भक्तों के गीत प्रबन्धम्' और 'ब्रह्मसूत्र' ग्रन्थों से भी इन्होंने प्रेरणा ग्रहण की।

इन आचार्यों ने शंकराचार्य के मायावाद का खण्डन किया जीव तथा जगत् की सत्यता की स्थापना की। ब्रह्म के सगुण रूप के प्रति इनमें आग्रह मिलता है। विष्णु के भिन्न भिन्न अवतारों में केवल राम और कृष्ण तथा उनकी शक्तियों के रूप में सीता और राधा के प्रति ही इनमें आस्था और विश्वास के भाव मिलते हैं। जीव और ब्रह्म की सत्यता-स्थापन के सन्दर्भ में इन आचार्यों ने विशिष्टाद्वैत शुद्धाद्वैत द्वैताद्वैत और अचिन्त्य भेदाभेद के सिद्धान्तों की कल्पना की। वेद पुराण संहिता उपनिषद् ब्राह्मण ब्रह्म-सूत्र और भागवत पुराण के प्रमुख अंशों का भी इन्होंने समन्वय किया। साथ ही साथ इतिहास और लोक विश्वासों से भी ये प्रभावित होते रहे। वाल्मीकिरामायण अध्यात्मरामायण, हरिवंश पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण आदि पर लिखे गये भाष्यों से]

भी से प्रभावित थे। नारद भक्ति सूत्र शाण्डिल्य भक्ति सूत्र तथा नारायणीयोपाख्यान भी वैष्णव भक्ति आन्दोलन में विशेष सहयोगी रहे हैं।

वैदिक साहित्य में कर्म ज्ञान और उपासना की ओर यत्र-तत्र संकेत मिलते हैं। ऋग्वेद में विष्णु शब्द का प्रयोग भिन्न भिन्न अर्थों में हुआ है। वहीं विष्णु के लिए 'महतस्य परमम्' का भी प्रयोग किया गया है। वेद-मंत्रों में विष्णु का वर्णन लोक रक्षक के रूप में हुआ है। इस प्रकार वैष्णव भक्ति का आदि स्रोत वैदिक वाङ्मय माना जाता है। वैष्णव भक्ति में नवधा भक्ति की कल्पना की गई है। इस प्रकार की धारणा व्यक्त मिलती है कि नवधा भक्ति का सांकेतिक उल्लेख ऋग्वेद के कतिपय मंत्रों में मिलता है। उदाहरण—

श्रवण—यो जातमस्य महतो महि ब्रवत्सेदु श्रवोभिर्युज्यं चिदभ्यसत् ।

ऋग्वेद १ १५६ २।

कीर्तन—विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।

ऋग्वेद १ १५४ १।

स्मरण—प्रविष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे ।

ऋग्वेद १ १ १५४ ३।

ऋग्वेद में इन्द्र शक्ति के प्रधान रूप हैं। परन्तु यह भी स्पष्ट प्रकट होता है कि इन्द्र की प्रधानता के स्थान पर विष्णु को क्रमशः प्रधानता मिलने लगी थी। और विष्णु के प्रति इस प्रकार की भावना का विकास होता है कि जो समस्त चराचर जगत को व्याप्त करता है, वह विष्णु है। वैष्णव धर्म में विष्णु के लिए नारायण शब्द का भी प्रयोग होता है। ऋग्वेद में सृष्टि-रचना के सन्दर्भ में नारायण का प्रयोग मिलता है। 'महाभारत' में विष्णु के लिये नारायण का प्रयोग किया गया है। समुद्र-मन्थन में नारायण की प्रेरणा का उल्लेख मिलता है। वैष्णव भक्ति में विष्णु और नारायण के पश्चात् वासुदेव का उल्लेख मिलता है। महाभारत के शान्ति पर्व के अठारह अध्यायों में और भीष्म पर्व में वर्णित नारायणीयोपाख्यान में वासुदेव-उपासना मिलती है। शान्ति पर्व में विष्णु और वासुदेव में अन्तर नहीं माना गया है।

परन्तु वैष्णव भक्ति या कृष्ण भक्ति का साक्षात सम्बन्ध इन सूत्रों से स्थापित नहीं हो पाता है। श्रीकृष्ण भक्ति का स्पष्ट सम्बन्ध पुराणों से ही स्थापित हो

पाता है। कृष्ण के जिस माधुर्य स्वरूप के दर्शन हम भारतीय साहित्य में करते हैं उसका आदि रूप हम पुराणों में ही देख पाते हैं। महाभारत में कृष्ण के ऐश्वर्य पूर्ण रूप को ही हम देखते हैं। महाभारत का ऐश्वर्यपूर्ण रूप पुराणों में माधुर्य में परिवर्तित हो उठता है। नवधा भक्ति के जिस स्वरूप का विकास हम परवर्तीकाल में देखते हैं, उसका अति विकसित रूप भी पुराणों में उपलब्ध मिलता है। सख्य और वात्सल्य भावों के साथ शृंगार की प्रतिष्ठा पुराणों में मिलती है। शृंगार के साथ रति भाव का योग भी यहीं हो जाता है। साथ-ही-साथ यहीं भी कृष्ण की आध्यात्मिक लीलाओं के साथ लौकिक लीलाओं का योग भी मिल जाता है।

कृष्ण-भावना का विकास

'ऋग्वेद' में 'कृष्ण आंगिरस' नामक ऋषि का वर्णन मिलता है। 'कृष्ण आंगिरस' सोमपान करते हैं। वे सोमपान के लिए अश्विनी कुमारों को भी आमंत्रित करते हुए मिलते हैं। यहाँ 'कृष्ण आंगिरस' और विष्णु दो स्वतंत्र व्यक्ति हैं। एक संदर्भ में विष्णु आहत होते हैं। 'कृष्ण आंगिरस' विष्णु की जीवन-कामना के लिए 'अश्विनी कुमारों' का स्मरण करते हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ कृष्ण नामक एक असुर (देवता) का भी वर्णन मिलता है। इन्द्र द्वारा इनकी पराजय का भी वर्णन इस सन्दर्भ में मिलता है। इन्द्र के कृष्णासुर की गर्भवती स्त्रियों के वध का भी वर्णन यहाँ मिलता है। 'छांदोग्य उपनिषद' में कृष्ण को एक स्पष्ट व्यक्तित्व से आभूषित किया गया है। यहाँ उनका वर्णन देवकी-पुत्र के रूप में हुआ है। परन्तु आंगिरस के साथ इनका सम्बन्ध यहाँ भी है, यहाँ कृष्ण और आंगिरस, दो अलग व्यक्तियों के रूप में सम्मुख आते हैं। कृष्ण यहाँ आंगिरस के शिष्य हैं। आंगिरस उन्हें इस प्रकार की शिक्षा देते हुए मिलते हैं—

तद्वैतद् घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकी पुत्रायोक्त्वो वाचाऽपिपासा एवस बभूव सोऽन्तवेलाया मेतत्त्रयं प्रतिपद्ये ताक्षितमस्य च्युतमसि प्राणसंशितमसीति।

—देवकी पुत्र श्री कृष्ण के लिये आंगिरस घोर ऋषि ने शिक्षा दी कि जब मनुष्य का अन्तिम समय आवे तो उसे तीन वाक्यों का उच्चारण करना चाहिए—

(१) त्वं अचिन्त्यमसि—तू अनश्वर है।

(२) त्वं अच्युतमसि—तू एक रस है।

(३) त्वं प्राणसंशितमसि—तू प्राणियों का जीवन दाता है।[1]

कृष्ण के व्यक्तित्व का ऐतिहासिक स्वरूप महाभारत में पूर्णतः संस्थापित मिलता है। यहाँ कृष्ण के अवतार रूप की भी कल्पना मिलती है। भीष्म कृष्ण को अव्यक्त प्रकृति और सनातन कर्ता कहते हैं—

एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः।
परश्च सर्व भूतेभ्यः तस्मात्पूज्य तमोऽच्युतः।[2]
एतत्परमकं ब्रह्म एतत्परमकं यशः।
एतदक्षरमव्यक्तं एतद् वै शाश्वतं महः।[3]

इस सन्दर्भ में हमारा ध्यान जातक कथाओं की ओर भी जाता है। 'घट जातक' में वासुदेव कण्ह (कृष्ण) की कथा मिलती है। वासुदेव कण्ह कुवलयापीड, मुष्टिक, चाणूर और कंस का विनाश करते हैं। 'महा उमग्ग जातक' में वासुदेव कण्ह का उल्लेख मिलता है। उन्होंने काम-पराजित होकर चाण्डाल कन्या जाम्बवती को महिषी बनाया था[4]।

गोपाल कृष्ण की भावना का विकास 'हरिवंश पुराण', 'वायु पुराण' और 'भागवत पुराण' में हुआ मिलता है। इस प्रकार का विश्वास किया जाता है कि 'हरिवंश पुराण' की रचना ईसा की तीसरी शताब्दी में हुई थी। 'हरिवंश पुराण' में एक स्थल पर गोपाल कृष्ण अपने लिये 'पशुपालक' संज्ञा का प्रयोग करते हैं। इस ग्रन्थ में गोपाल कृष्ण के व्रजनिवासी होने का उल्लेख भी मिलता है। कृष्ण की गोवर्धन पूजा का प्रथम ऐतिहासिक उल्लेख भी इसी ग्रन्थ में मिलता

---

१ देखिये—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ४९३।

२ महाभारत २८।२१

३ महाभारत ११।१२

४ हिन्दी साहित्य पृ० १११।

है। गोपाल कृष्ण का सम्बन्ध आभीर जाति से स्थापित किया जाता है। कृष्ण आभीर जाति के देवता थे और राधा आभीर जाति की देवी थीं।[1]

'हरिवंश पुराण' में कृष्ण के व्यक्तित्व के दो रूप मिलते हैं—प्रथम के अन्तर्गत कृष्ण के वैभवविलास का वर्णन है। इसके अन्तर्गत उनके ऐश्वर्य पूर्ण रूप का चित्रण है। कृष्ण के व्यक्तित्व का दूसरा रूप यह है, जिसमें उनके माधुर्य रूप का वर्णन मिलता है। यहाँ कृष्ण की शृंगार लीलाओं का वर्णन है। कृष्ण और बलराम सोलह सहस्र स्त्रियों के साथ जल-क्रीड़ा करते हैं। महाभारत में कृष्ण मिथ्या वासुदेव पौंड्र राज पुरुषोत्तम और करवीर पुर के राजा शृगाल को मारकर अपने वासुदेवत्व की संस्थापना करते हैं। महाभारत में कृष्ण दस्युओं का वध करते हैं रुक्मिणी का हरण करते हैं। वे सुदर्शन राजा को मुक्त करते हैं और काशी नगरी का उद्धार करते हैं। 'हरिवंश' तथा अन्य पुराणों में भी कृष्ण के ऐश्वर्य रूप का चित्रण मिलता है। परन्तु हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के मध्यकालीन कवियों का ध्यान कृष्ण के इस व्यक्तित्व की ओर नहीं जाता है। इसके विपरीत मध्ययुगीन कृष्ण-काव्य के कवि 'हरिवंश पुराण' में कृष्ण-गोपी-लीला के शृंगारी वातावरण तथा 'परिजात-आगमन' के सन्दर्भ में उपलब्ध मान चेष्टाओं को मूल रूप में ग्रहण करते हैं।

'भागवत' में भी कृष्ण के जीवन की समग्रता मिलती है। यहाँ ऐश्वर्य और माधुर्य का संयोग मिलता है। आधुनिक अनुसन्धानों की प्रक्रिया के सन्दर्भ में भी कृष्ण-भक्ति और कृष्ण-काव्य के मूल्यांकन का प्रयास किया गया है। मथुरा में प्रथम शताब्दी ईसवी की पाषाण मूर्ति उपलब्ध हुई है। इसमें नवजात शिशु कृष्ण को सूप में लेकर वासुदेव यमुना पार कर रहे हैं। लगभग पाँचवीं शताब्दी ईसवी

---

१ सर भण्डार की यह धारणा है कि आर्य सीरिया से भारत आये थे। Vaisnavism Saivism and other Religious system. 83 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इस सन्दर्भ में कहते हैं 'राधा आभीर जाति की प्रेम देवी रही होंगी, जिनका सम्बन्ध बाल कृष्ण से रहा होगा। आरम्भ में बाल कृष्ण के साथ वासुदेव कृष्ण का एकीकरण हुआ होगा। इसीलिए आर्य ग्रन्थों में राधा का नामोल्लेख नहीं है। पीछे बालकृष्ण की प्रधानता होने पर इस बालक देवता की सारी बातें आभीरों से ले ली गई होंगी" सूरसाहित्य १६७

के उपलब्ध शिला पट्ट में कालिया दमन का दृश्य अंकित है। इसी प्रकार पूर्व बंगाल में पहाड़पुर नामक स्थान में उपलब्ध मूर्तियों में यमलार्जुन उद्धार का दृश्य अंकित है। राधा कृष्ण के युगल स्वरूप से सम्बन्धित मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं।

कृष्ण काव्य की परम्परा

काव्य में गोपाल कृष्ण की लीलाओं का प्रथम उल्लेख अश्वघोष (प्रथम शताब्दी ईसवी) रचित 'बुद्ध चरित' में मिलता है। इस सन्दर्भ की दूसरी उल्लेख पूर्ण रचना है हाल कृत 'गाहा सत्त सई' (ईसा की प्रथम शताब्दी)। इस संग्रह के शृंगार और नीति सम्बन्धित मुक्तकों में कृष्ण राधा यशोदा और गोपियों से सम्बन्धित अनेक गाथायें मिलती हैं। एक सन्दर्भ में इस प्रकार की अभिव्यक्ति मिलती है कि यशोदा सखियों से कहती है 'कृष्ण अब भी बालक है'। यशोदा के इस वचन को सुनकर ब्रज वधुएं हँस पड़ती हैं। कृष्ण और गोपियों अथवा कृष्ण और राधा के माध्यम से शृंगार भावना की अनेक गाथायें यहाँ उपलब्ध होती हैं परन्तु इनमें भक्ति भावना के प्रति आग्रह नहीं मिलता है। एक वर्णन में नृत्य करती गोपिका कृष्ण के पार्श्व में आती है और कृष्ण विचुम्बित हो उठती है और भाव की तत्परता में स्वयं कृष्ण को चुम्बित करती है—

वाच्चल्ल सलाह् णमिहेण पास परिसंठ्ठिआ णिउण गोवी।
सरिस गोविआणं चुम्बइ कवोल पडि भागर्ण कन्हम २।१४।

पाँचवीं शताब्दी के निकट दक्षिण भारत में वैष्णव भक्ति का उद्भावना मिलता है। इस उद्भावना में आड़वारों ने विशेष योग दिया है[1]। दक्षिण

---

[1] आड़वार भक्त कवि थे और इनका निवास तामिल प्रदेश था। इनकी संख्या बारह थी। इनकी रचनाओं का संग्रह प्रबन्धम्' नाम से हुआ है। इनका समय दूसरी शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक माना गया है। इन भक्तों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। (क) प्राचीन (१ पोयगे आड़वार (२) भूतत्ताड़वार (३) पेय आड़वार (४)तिरुमड़िशै आड़वार(ख) मध्यकालीन(१)शटकोप या नम्म आड़वार (२) मधुर कवि आड़वार (३) कुल शेखर आड़वार (४) पेरिय आड़वार (५) आंडाल (ग) अन्तिम (१) टोंडरडिप्पोडि आड़वार (२) तिरुप्पाण आड़वार (३) तिरुमंगै आड़वार। हिन्दी और मलयालम की कृष्ण भक्ति—पृ० २४।

कृष्ण भक्ति साहित्य में कृष्ण की लीलाओं का गान मिलता है। यहाँ नन्दिनाई नामक गोपी का वर्णन मिलता है। यह गोपी राधा के समान के व्यक्तित्व की है और यह कृष्ण की प्रिया भी है। 'वेणी संहार' नामक नाटक में राधा-कृष्ण की प्रेम लीला के सन्दर्भ मिलते हैं। केलि कुपित राधा के अनुनय में कृष्ण की चर्चा निम्नलिखित अंश में विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है—

कालिन्द्यां पुलिनेषु केलि कुपिता मुत्सृज्य रासे रसं ।
गच्छन्ति मनुगच्छतोऽश्रुकलुषां द्विषो राधिकाम् ।
तत्पादप्रतिमानिवेशित पदस्यो द्भूतरो मोद्गतेः ।
अक्षुण्णोऽनुनयः प्रसन्न दयिता दृष्टस्य पुष्णातु वः ।

इस सन्दर्भ में उल्लेख करने योग्य एक अन्य कृति प्राकृत महाकाव्य 'गउडवहो' है। इस कृति के मंगलाचरण के चार श्लोकों में कृष्ण की स्तुति की गई है। कृष्ण की वन्दना बालमीलित विषय यशोदा-पुत्र गोपियों द्वारा नवनीत-युक्त किशोर रूप में की गई है। नवीं शताब्दी की कृति 'ध्वन्यालोक' में किसी अज्ञात कवि का एक उदाहरण मिलता है जिसमें कृष्ण-राधिका की लीलाओं का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

तेषां गोप वधू विलास सुहृदां राधा रह साक्षिणा ।
क्षेमं भद्र कलिन्दराज तनयातीरे लतावेश्मनाम् ।
विच्छिन्ने स्मरतल्प कल्पनविधिच्छेदोपयोगेऽधुना ।
ते जाने जरठी भवन्ति विगलन्नीलत्विष पल्लवा ।

इस रचना के एक अन्य अंश में मधुरिपु (कृष्ण) के द्वारका-गमन के पश्चात् राधा कृष्ण के बाल स्मरण करती है। यमुना-तट की लताओं का आलिंगन करती है, उस कंठ से गान करती है। उससे प्रेरित होकर यमुना के जल चर जलपक्षि होकर कूजन कर बैठते हैं। दसवीं शताब्दी में त्रिविक्रम रचित 'नलचम्पू' नामक ग्रन्थ में कृष्ण और राधिका की क्रीड़ाओं का उल्लेख मिलता है। दसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कवीन्द्र वचन समुच्चय' का उल्लेख विद्यापति की विवेचना के सन्दर्भ में हो चुका है। इस ग्रन्थ में राधा कृष्ण से सम्बन्धित चार श्लोकों का कृष्ण काव्य के विकास के सन्दर्भ में विशेष महत्व है। बारहवीं शताब्दी में हेमचन्द्र ने प्राकृत पैंगलम्' और अपभ्रंश व्याकरण में कृष्ण और राधिका के सम्बन्धित

लोक जीवन में प्रचलित कतिपय दोहों का संकलन किया है। बारहवीं शताब्दी में शारदातनय ने 'भावप्रकाशन' नामक ग्रन्थ में 'रामाराधा' नामक नाटक की चर्चा की है।

जिन सन्दर्भों के आधार पर कृष्ण-काव्य के विकास का रेखांकन किया गया है, उनमें आड़वार भक्तों के साहित्य के अतिरिक्त अन्य में भक्ति-भावना के प्रति आग्रह नहीं मिलता है। साहित्य में भक्ति भावना का संस्पर्श स्पष्ट रूप से लग भग बारहवीं शताब्दी में मिलने लगता है। उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कृष्ण काव्य में भक्ति भावना को प्रस्तावित करने वाली प्रथम स्पष्ट कृति है लीला शुक कृत 'कृष्ण कर्णामृत'। इस कृति में भक्ति और शृ गार का अनुपम योग मिलता है। इस परम्परा की एक अन्य रचना ईश्वर पुरी कृत 'श्रीकृष्ण लीलामृत' है। जयदेव कृत 'गीत गोविन्द' की चर्चा इसी सन्दर्भ में की जाती है। इस कृति को 'गीति नाट्य' 'गीतिकाव्य' 'संगीत रूपक' और 'यात्रा काव्य' आदि विभिन्न नामों से सम्मानित किया जाता है। 'गीत गोविन्द' एक सर्गबद्ध काव्य है जिसका विभाजन 'सामोद दामोदर' 'मुग्धमधुसूदन' 'साकांक्ष पुण्डरीक' 'विलक्षण लक्ष्मी' 'सुप्रीति पीताम्बर' आदि शीर्षकों में हुआ है। 'गीत गोविन्द' के ही अनुकरण पर प्रकाशन सरस्वती का 'संगीत माधव', नामक काव्य ग्रन्थ उपलब्ध होता है। लीला शुक बिल्वमंगल ठाकुर के 'कृष्ण कर्णामृत' नामक ग्रन्थ का उल्लेख यहाँ अपेक्षित लगता है। परवर्ती कृष्ण काव्य धारा पर मुख्यतः गौड़ीय वैष्णव साहित्य पर इस रचना का विशेष प्रभाव मिलता है।

हिन्दी के 'कृष्ण भक्ति साहित्य' के मूल्यांकन में 'गीत गोविन्द' का सन्दर्भ ग्रहण किया जाता है। यह कहा जाता है कि इस काव्य में कृष्ण नायक और राधिका नायिका हैं। सखियाँ लीला सहचरी हैं। परन्तु वस्तु स्थिति ऐसी ही है इसमें सन्देह होता है। इस स्थल पर एक अन्य सत्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। जयदेव अपनी भावभूमि के एकमात्र प्रस्तावक नहीं थे। सैन राजाओं के संरक्षण में इस भावधारा का अवलम्ब ग्रहण करके काव्य रचना करने वाले काव्यकारों का एक वर्ग उपलब्ध होता है, जयदेव के अतिरिक्त इस वर्ग के प्रमुख कवियों में उमापतिधर शरण गोवर्धनाचार्य और धोयी के नाम कृष्ण-काव्य के विकास के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण हैं। 'सदुक्ति कर्णामृत' की चर्चा

एक अन्य दृष्टि से भी यहाँ आवश्यक है। इस संग्रह में शान्त, दास्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव की रसवती योजना मिलती है। कृष्ण की कुमारलीला के पद भी यहाँ उपलब्ध हो जाते हैं। 'सदुक्ति कर्णामृत' में 'गोपी सन्देश' शीर्षक से कतिपय रचनायें मिलती हैं जिनमें गोपियाँ या राधा पथिक के माध्यम से कृष्ण के पास सन्देश भेजती हैं, 'गोवर्धन पर्वत की कन्दरायें यमुना तट की रास क्रीडायें, वनस्थलियों और सहचरण की स्मृति क्या नहीं आती है ?'

> पान्थ द्वारवतीं प्रयासि यदि हे तद्देवकी नन्दनो
> वक्तव्य' स्मरमोह मंत्र विवशा गोप्योऽपि नामोज्झिता ।
> एता' केलिक दम्बभूमिरुदयत्कोपाय भूयाप्य' मिसा'
> कालिन्दीतट भूमयोऽपि तरवो नामानि विन्तास्पदम् ।

इस प्रकार जयदेव से लगभग दो शताब्दी पूर्व से ही कृष्ण-काव्य की एक शृंखलाबद्ध परम्परा मिलती है। रूप गोस्वामी ने 'पद्यावली' में वैष्णव कविताओं का जो संकलन प्रस्तुत किया है, उसमें दक्षिण, उत्कल शिपुत (शिरमुक्त) आदि अंचलों से उपलब्ध रचनायें भी संगृहीत हैं।

राधा का क्रम-विकास

वैदिक साहित्य में राधा के नाम का उल्लेख नहीं मिलता है। इस प्रकार का वक्तव्य मिलता है कि राधा आभीर जाति की देवी थीं। इस प्रकार राधा की कल्पना अनार्य देवी के रूप में की गई है और आभीरों तथा आर्यों के सम्बन्ध संस्थापन के पश्चात् ही राधा का प्रवेश आर्य संस्कृति में होता है। इस मत के विपरीत इस प्रकार की भावना भी प्रस्तावित की गई है कि सांख्य ने प्रकृति-पुरुष सम्बन्धी जिस विचार को व्यक्त किया था, उसीके आधार पर वैष्णव भक्ति के सन्दर्भ में राधा-कृष्ण-भावना का विकास हुआ है। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि पूर्ववर्ती शक्ति और शिव भावना वैष्णव-भक्ति के सन्दर्भ में राधा-कृष्ण का रूप ग्रहण कर विकसित हुई। राधा भावना के आदि रूप का सम्बन्ध शक्तिवाद से स्थापित करते हुए डा० शशि भूषण दास गुप्त लिखते हैं 'भारतवर्ष शक्तिवाद का ही देश है। सृष्टि तत्व का आलम्बन करके एक अस्पष्ट आदिदेव की कल्पना दूसरे देशों में भी देखी जाती है, और इस आदिदेवी में मातृत्व का आरोप करके

देवी कल्पना अन्यत्र भी कुछ-कुछ मिलती है। लेकिन इस विश्व प्रसूति एक विश्व शक्ति को भारत वर्ष ने अपने धर्म-जीवन में जिस प्रकार ग्रहण किया है, ऐसा संसार में दूसरी जगह नहीं दिखाई देता। श्री राधा का क्रम विकास पृ० ३ ४।

आड़वार भक्तों की रचनाओं में कृष्ण के साथ एक प्रमुख गोपी का वर्णन मिलता है। इस गोपी का नाम 'नाप्पिनाइ' है। इसके साथ-साथ तामिल नृत्य 'कुरवैकुट्' का वर्णन भी मिलता है। यह 'रास' की कोटि का ही एक नृत्य है। इन सन्दर्भों में दक्षिण भक्तों में राधाकृष्ण की युगल उपासना और रासलीला का उल्लेख मिलता है। ग्यारहवीं शताब्दी में राजा भोज ने 'सरस्वती कण्ठा भरण' में एक प्राचीन कवि के श्लोक का सन्दर्भ दिया है कनकानि काम स्वच्छे राधापयोधर मण्डले। यहाँ भी राधा का संकेत मिलता है। धनञ्जय के 'दशरूपक' में भी राधा के नाम की चर्चा मिलती है और हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र ने 'नाट्य दर्पण' में भेज्जल कवि कृत नाट्य ग्रन्थ में राधा के विप्रलम्भ-स्वरूप की चर्चा की है। जयदेव की रचनाओं में उपलब्ध 'राधा कृष्ण' स्वरूप से हमारा पूर्ण रूप से परिचय है।

वैष्णव भक्ति का सम्बन्ध भागवत से है। इस ग्रन्थ में राधा की चर्चा नहीं है। भागवत पुराण के एक अंश के आधार पर यह भी कहा जाता है कि भागवत में राधा के नाम की चर्चा की गई है—

अनया राधितो नूनं भगवान् हर हरिरीश्वरः
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतोयामनयद् रहः
भागवत पुराण १० ३० २८।

यद्यपि इस अंश में राधा का स्पष्ट परिचय नहीं मिलता है, परन्तु फिर गोस्वामी विश्वनाथ चक्रवर्ती तथा कृष्ण दास कविराज इस अंश में राधा के उल्लेख की सम्भावना स्वीकार करते हैं। भागवत पुराण के द्वितीय स्कन्ध के एक श्लोक में राधा नाम का संकेत मिलता है—

निरस्त साम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्माणि रंस्यते नमः।

इस सन्दर्भ में 'राधा' शब्द का प्रयोग विभूति के अर्थ में हुआ है। हरि वंश पुराण' में सर्वप्रथम वृन्दावन में शृंगारपूर्ण वर्णन की व्यापोजना मिलती है।

परन्तु यहां राधाकृष्ण के युगल रूप का वर्णन नहीं मिलता है। 'विष्णु पुराण' में रासलीला के वर्णन के सन्दर्भ में राधा का उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु 'ब्रह्म वैवर्त पुराण', पद्म पुराण' और 'वाराह पुराण' में राधा का उल्लेख मिलता है। 'देवी भागवत' में राधा को प्राण की देवी और दुर्गा को बुद्धि की देवी कहा गया है। इस प्रकार यहां राधा और दुर्गा में अन्तर नहीं माना गया है। तंत्रों में भी राधा का उल्लेख मिलता है। 'राधिकोपनिषद्' में राधा का वर्णन आध्यात्मिक प्रतीक के रूप में हुआ है।

साहित्य के सन्दर्भ में हमारा ध्यान बंगाल के प्रसिद्ध कवि चण्डीदास की ओर जाता है। चण्डीदास के काव्य में राधा परकीया रूप में वर्णित हैं। कृष्ण से मिलने के लिए आतुर राधा की भावनाओं का चित्रण ही इनके काव्य का मुख्य सौन्दर्य है। राधा के लिए रासेश्वरी रासवाहिनी रसिकेश्वरी, कृष्ण प्राणाधिका कृष्ण स्वरूपिणी परमानन्द रूपिणी कृष्णा और वृन्दावन विनोदिनी आदि नामों का प्रयोग इन्होंने अपने काव्य में किया है। चण्डीदास की राधा के विषय में विचार करते हुए डा० शशि भूषण दास गुप्त ने लिखा है, 'चण्डीदास की राधा एक विशुद्ध बंगाली कवि की मानसिक प्रतिमा है—बंगाली कवि के चित्त में मूर्त प्रेम प्रतिमा है। प्रेम की प्रतिमा इस राधा में हम देखते हैं कि बंगाली कवि बंगाल छोड़कर वृन्दावन नहीं चले गए—वृन्दावन की भूमि दूर से आकर क्षण भर बंगाली कवि की मनोभूमि में प्रतिष्ठित हुई है जिसके फलस्वरूप बंगाली कवि-मानस की प्रेम प्रतिमा ने अपने प्राकृत रूप के अन्दर से, दिव्य ज्योति से अप्राकृत महिमा प्राप्त की है। हमारे राधा प्रेम में प्राकृत कहीं भी अस्वीकृत नहीं हुई है, प्राकृत ही धीरे-धीरे दिव्य मूर्ति में समुभासित हुई है—राधा का क्रम विकास-पृ० ११३।

राधा कृष्ण की 'वाम भाग सम्भूता' हैं। राधा कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति मानी गई है।

राधा कृष्ण प्रणय विकृति ह्लादिनी शक्ति रस्मा
देकात्मानावपि भुवि पुरादेह भेदं गतोतो।
चैतन्याख्यं प्रकट मधुना तद्‌द्वयं चैक्यमाप्त।
राधा भाव द्युतिसुवलितं नौमि कृष्ण स्वरूपम्।

अर्थात्, 'राधाकृष्ण की प्रणय विकृति ह्लादिनी शक्ति है, इसलिए दोनों एकात्म होते भी देह भेद को प्राप्त हुए थे। अब इन दोनों ने ऐक्य लाभ किया है। राधा भाव द्युति सुवलित चैतन्याख्य उस कृष्ण स्वरूप को मैं प्रणाम करता हूँ। राधा का क्रम विकास। गौड़ीय वैष्णवों की मुख्य भावना यह है कि कृष्ण ने प्रेम रस के आस्वादन के लिए अवतार ग्रहण किया था। भूभार-हरण कृष्ण का गौण उद्देश्य था। अतः इनके यहाँ माधुर्य रस की स्वीकृति एक स्वतन्त्र रस के रूप में हुई है। 'रूप गोस्वामी' ने 'भक्ति रसामृत सिन्धु' और 'उज्ज्वल नीलमणि' नामक ग्रन्थों में माधुर्य रस की व्याख्या की है। हिन्दी वैष्णव साहित्य में 'भक्ति रस' या 'माधुर्य रस' की इस प्रकार की शास्त्रीय व्याख्या नहीं मिलती है।

चैतन्य सम्प्रदाय के 'प्रेम विलास' तथा 'भक्ति रत्नाकर' नामक ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि वृन्दावन में राधा की कृष्ण के साथ उपासना की प्रथा सोलहवीं शताब्दी के पहले प्रचलित नहीं थी। बंगाल के नित्यानन्द की पत्नी 'जाह्नवी' ने नयन भास्कर नामक व्यक्ति द्वारा राधा-उपासना-विधि की संस्थापना की। परन्तु इस प्रकार की धारणा का कोई आधार नहीं है।

गौड़ीय वैष्णवों ने राधा के परकीया स्वरूप की कल्पना की है। बंगला साहित्य में उत्पन्न सहजिया वैष्णव काव्य-धारा में राधा की कल्पना एक भिन्न रूप में मिलती है। सहजिया वैष्णव सिद्धों के प्रज्ञा-उपाय के स्थान पर राधा और कृष्ण की कल्पना करते हुए मिलते हैं। राधा कृष्ण के मिलन को वे सिद्धों के सामरस्य का पर्यायवाची मानते हैं। यहाँ राधा-कृष्ण के युगल तत्व को परम तत्व का पर्यायवाची माना गया है। प्रेम की स्थिति सहज समरस में है, यह सहज समरस ही ब्रह्माण्ड के समान है। वृन्दावन के समान इन्होंने गुप्त चन्द्रपुर की कल्पना की है। इस चन्द्रपुर में राधा कृष्ण का नित्य विहार होता है। इस भावधारा में भी राधा या गोपियों की कल्पना परकीया रूप में की गई है। परन्तु इनका परकीया प्रेम गौड़ीय वैष्णवों के परकीया प्रेम से भिन्न प्रकार का है। गौड़ीय वैष्णव में परकीया होते हुए भी राधा दिव्य गुणों से विभूषित है। परन्तु सहजिया वैष्णवों ने परकीया के शारीरिक आकर्षण तक ही अपने को सीमित रखा है। अतः इनके अनुसार परकीया का शरीर ही वृन्दावन है। वृन्दावन में

स्थान है तालबन सिर है, नासिका मदन कुंज है और शरीर रस सरोवर है। शारीरिक रति से ही वे राधिका का उत्थान मानते हैं।

वल्लभ-सम्प्रदाय से सम्बन्धित वैष्णव भक्ति में राधा भाव का विकास स्वकीया रूप में हुआ है। इस सम्प्रदाय में रासलीला के सन्दर्भ में कृष्ण परमात्मा और राधा और गोपी आत्मा के रूप में गृहीत हैं। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए डॉ० दीनदयालु गुप्त ने लिखा है कि नित्य गोलोक में रहने वाले रस रूप कृष्ण के रास की गोपिकायें भगवान की निज शक्ति हैं। एक से अनेक भगवान् की इच्छा शक्ति द्वारा अनेक प्रकार ब्रह्म से सत् रूप जगत् और चित् रूप जीव तथा आदि की उत्पत्ति हुई × × निज शक्ति राधा और कृष्ण का सम्बन्ध चन्द्र और चाँदनी का है। भगवान् की इन शक्तियों के बीच रस की निज शक्ति राधा स्वामिनी स्वरूपा है। भगवान् इन शक्तियों के बीच पूर्ण रस शक्ति स्वरूप राधा के संग में रहते हैं। अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय। ५०५ ६।

अष्टछाप के कवियों ने राधा तथा गोपियों का वर्णन 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' तथा 'भागवत पुराण' के आधार पर किया है। इस सम्प्रदाय के कवियों ने राधा को प्रकृति और कृष्ण को पुरुष-रूप में चित्रित किया है। राधा और गोपियों के प्रति उपर के पुराणों में दो प्रकार के भाव मिलते हैं। प्रथम आनन्द विधायिनी तथा सृष्टिकारिणी शक्ति रूपा और द्वितीय कान्ता भाव से ईश्वर भक्ति रस-शक्ति-मिश्रा भक्ता। अष्ट छाप के कवियों ने इन दोनों भावों का योग अपने काव्य में किया है। गौड़ीय भक्तों के परकीया भाव के विपरीत यहाँ राधा तथा गोपियों का वर्णन स्वकीया रूप में हुआ है। सूरदास ने तो राधा और कृष्ण के गन्धर्व विवाह की भी कल्पना की है—

ताको व्यास वर्णित रास
है गंधर्व विवाह चित दै सुनो विविध विलास।
कियौ प्रथम कुमारि यह व्रत धर्यो हृदय निवास।
नन्द सुत पति देहु, देवी पूजै मन की आस।

दशम स्कन्ध ११६८ १२६।

वल्लभाचार्य ने कृष्ण की दो शक्तियों की कल्पना की है। प्रथम, बहिरंग इसके अन्तर्गत माया का विशेष स्थान है। द्वितीय, शक्ति अंतरंग है। इसके

अन्तर्गत संधिनि, सवित और ह्लादिनी शक्तियाँ हैं। ह्लादिनी शक्ति ही राधा है। राधा वियोगिनि रूप में भ्रमर गीत में चित्रित की गई है। निम्बार्क सम्प्रदाय में भी राधा स्वकीया है। इस सम्प्रदाय में राधा की भक्ति माधुर्य भक्ति-समन्वित है। वैष्णव दर्शन में ब्रह्म की 'ह्लादिनी शक्ति' को ही राधा कहा गया है। परन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में इस प्रकार की भावना नहीं मिलती है। राधा वल्लभ सम्प्रदाय में राधा स्वयं आनन्द स्वरूपा है। इस सम्प्रदाय में राधा उस अनादि शक्ति का नित्य स्वरूप है जो अखिल सृष्टि में व्याप्त होकर अपनी नित्य क्रीड़ा से आनन्द की सृष्टि करती है। राधा की कल्पना 'अवांगमनगोचर' रूप में की गई है परन्तु अवांगमनगोचर होते हुए भी राधा अनुभव की परिधि में आती है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा नित्य भाव है उनका विहार नित्य है। राधा यहाँ कृष्ण की उपास्या है, इस सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ 'राधा सुधा निधि' में राधा की कल्पना निम्नलिखित पंक्तियों के अनुसार की गई है—

> मालाबाम्बुरुहैक रेणुकणिका मूर्ध्नानिधातुं नहि,
> प्रार्प्युब्रह्म शिवादयोऽप्यधिकृति मौल्येक भावाश्रया
> सापि प्रेम सुधा रसाम्बुनिधि राधापि सा वारधी,
> भूता कास्मदपि क्रमेण वल्लिमा है दैव तुभ्यं नम ॥
> राधासुधानिधि—श्लोक ७२।

प्रेम-लक्षणा भक्ति और माधुर्य भाव

मध्य युगीन वैष्णव भक्त कवियों की भक्ति विधा को 'प्रेम-लक्षणा भक्ति' अथवा 'माधुर्य भाव लक्षणा भक्ति' कहा जाता है। इस भक्ति-स्वरूप का संकेत 'भागवत पुराण' में मिलता है। आड़वार भक्तों ने भगवान् के गुणगान तथा उनकी लीला के वर्णन के लिए स्वरूप को अपनाया उसमें 'प्रेम-लक्षणा' अथवा 'मधुर भक्ति' के तत्व निहित मिलते हैं। दक्षिण में आड़वार भक्तों के सम्पर्क की भक्तिन अण्डाल ने कृष्ण के प्रति अपना प्रेम निवेदन करते हुए कहा है 'अब मैं पूर्ण यौवन को प्राप्त हो गई हूँ और स्वामी कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को अपने पति के रूप में नहीं ग्रहण कर सकती हूँ।

प्रेम लक्षणा भक्ति की पीठिका में शक्ति के रूप में स्त्री-पुरुष की भावना विद्यमान है। शक्ति सृष्टि विकास की मूल प्रेरणा है। शिव के साथ नारी की

कल्पना शक्ति-रूप में हुई, विष्णु के साथ उसी नारी की कल्पना लक्ष्मी रूप में हुई ब्रह्मा के साथ सरस्वती रूप में नारी की कल्पना हुई। राम के साथ नारी की कल्पना सीता-रूप में, और कृष्ण के साथ उसकी कल्पना राधा रूप में की गई।

प्रेम-लक्षणा माधुर्य भाव का विकास शंकराचार्य के दार्शनिक तथा बौद्धिक चिन्तन की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ लगता है। शाण्डिल्य तथा नारद ने अपने भक्ति-सूत्रों में प्रेम भक्ति का उल्लेख करते हुए कहा है कि वासना जन्य प्रेम में स्वसुख की कामना होती है, परन्तु ईश्वरोन्मुख प्रेम में इस सुख का परित्याग किया जाता है। प्रेम-लक्षणा का परिचय देते हुए नारद ने कहा है 'उस प्रेम का कोई गुण नहीं होता उसमें कामना का संसर्ग नहीं होता उसका विकास प्रति क्षण होता है उसका विच्छेद नहीं होता है। वह सूक्ष्म है। उसकी अनुभूति होती है। 'नारद भक्ति सूत्र' (१५)। मध्य युगीन वैष्णवों ने इसी भाव को ग्रहण किया है और अपनी मधुर भक्ति में वात्सल्य सख्य दास्य भाव के साथ दाम्पत्य या शृंगार भाव को भी युक्त किया है। बल्लभाचार्य माधुर्य के अन्तर्गत वात्सल्य को श्रेष्ठ मानते हैं। परन्तु बल्लभाचार्य के पश्चात् माधुर्य के अन्तर्गत कान्ता भाव का विकास मिलता है। विट्ठलनाथ कान्ता भाव के प्रति विशेष आग्रह प्रकट करते हुए मिलते हैं। विट्ठलनाथ के इस आग्रह का स्पष्ट प्रभाव अष्ट छाप के कवियों पर देखने को मिलता है। विट्ठलनाथ ने 'शृंगार रस मण्डन' नामक ग्रन्थ में कान्ता भक्ति का उल्लेख किया है। वास्तविकता यह है कि अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में बल्लभाचार्य वात्सल्य भक्ति के प्रति आकर्षित रहे परन्तु अपने जीवन के उत्तरकाल में किशोर कृष्ण की युगल लीलाओं की ओर वे आकर्षित लगते हैं। गौड़ीय वैष्णवों में मुख्यतः रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी अपनी भक्ति को दाम्पत्य भावना से विभूषित करने का प्रयास करते मिलते हैं। बल्लभाचार्य के पश्चात् हित हरिवंश प्रेममूलक भक्ति का विस्तार करते मिलते हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत हरिदास देवाचार्य अपनी विशिष्ट रचना 'महावाणी' में 'माधुर्य भक्ति' की सविस्तार व्याख्या करते हैं। स्वामी हरिदास तथा उनके शिष्य 'सखी सम्प्रदाय' का विकास माधुर्य भक्ति की भाव-धारा के अन्तर्गत करते हैं।

माधुर्य भक्ति में एक रूपता होते हुए भी इस भिन्न भिन्न सम्प्रदायों की धारणा में सूक्ष्म अन्तर मिलता है। निम्बार्क वृन्दावन की नित्य लीला में राधा

तथा गोपियों का वर्णन कान्ता-भाव के अन्तर्गत करते हैं। वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने राधा तथा गोपियों के स्वकीया-स्वरूप को स्वीकार किया है। परन्तु अपनी मधुर भावना के अन्तर्गत वे परिजन समाज तथा धर्म के बन्धनों की भी उपेक्षा कर देती हैं। इस प्रकार वे परकीया रूप धारण करती हुई लगती हैं। इसके अतिरिक्त वे 'गूढ़ रस' की भी कल्पना करते हैं। 'गूढ़ रस' से उनका तात्पर्य 'वियोग रस' से है। 'वियोग रस' के सन्दर्भ में वे पूर्वराग मान और प्रवास की कल्पना भी करते हैं। परन्तु राधावल्लभी सम्प्रदाय में विरह की कल्पना नहीं मिलती है। इसके विपरीत यहाँ नित्य लीला और नित्य मिलन की भावना अवश्य मिलती है। यहाँ परकीया भाव की कल्पना भी नहीं मिलती है। यहाँ राधा प्रेम का आलम्बन हैं। कृष्ण उनके आश्रय हैं। वे नित्य विहार में लिप्त रहकर, परस्पर सुख में योगदान देते हैं। नित्य विहार में सहचरी भाव योग देती है, जिनमें अष्ट सखियों का विशेष महत्व है। चैतन्य सम्प्रदाय में भी अष्ट सखियों की कल्पना मिलती है। वल्लभ सम्प्रदाय में अष्ट सखाओं की भावना का विकास इसी परम्परा के अनुसार हुआ लगता है। गोस्वामी हरिराय सखी भाव से अष्ट सखाओं की कल्पना करते हैं। चैतन्य सम्प्रदाय में सखियों के अतिरिक्त परिचारिका मंजरियों का वर्णन मिलता है। प्रत्येक मंजरी के लिए यूथेश्वरी संज्ञा का प्रयोग किया गया है।

वैष्णव धर्म के प्रमुख आचार्य

वैष्णव धर्म के उद्‌भव और विकास के सन्दर्भ में जिन आचार्यों का वर्णन किया जाता है उन्हें अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम दो वर्गों में विभक्त करते हैं।

[क] रामानुजाचार्य निम्बार्क विष्णु स्वामी और मध्वाचार्य।

[ख] रामानन्द गोस्वामी वल्लभाचार्य, श्री कृष्ण चैतन्य, श्री हित हरिवंश तथा श्री स्वामी हरिदास।

इन आचार्यों का समय ग्यारहवीं शताब्दी और सोलहवीं शताब्दी के मध्य पड़ता है। रामानुजाचार्य के लिए 'श्री सम्प्रदाय', मध्वाचार्य के लिए 'ब्रह्म सम्प्रदाय' विष्णु स्वामी के लिए 'रुद्र सम्प्रदाय' तथा निम्बार्क के लिए 'सनकादि सम्प्रदाय' आदि नामों का प्रयोग किया जाता है। परन्तु हिन्दी में उपलब्ध

कृष्ण भक्ति-साहित्य का साक्षात सम्बन्ध द्वितीय वर्ग से है। प्रथम वर्ग से केवल परोक्ष रूप से ही हिन्दी के कृष्ण भक्ति का साहित्य सम्बन्धित है।

माधुर्य भाव की भक्ति के अन्तर्गत विरह का वर्णन किसी न किसी रूप में प्रत्येक सम्प्रदाय में मिलता है। वल्लभाचार्य 'भवतीर्थ रस' की कल्पना करते हैं। 'भवतीर्थ रस' से उनका तात्पर्य 'संयोग रस' अथवा 'संयोग शृ गार' से है।

रामानुजाचार्य :—(सन् १०१७-११३७) इनका जन्म श्रीपरमबदूर में हुआ था। इन्हें शेष का अवतार भी कहा गया है। रामानुज श्री सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य हैं। इन्होंने शंकराचार्य के 'अद्वैत वाद' का खण्डन किया है। इनके अनुसार ब्रह्म चेतन-अचेतन, सूक्ष्म और स्थूल सब में व्याप्त है। वह पुरुषोत्तम है सगुण और सविशेष है। भक्तों पर अनुग्रह भाव से वह पाँच रूप धारण करता है, पर व्यूह, विभव अन्तर्यामिन् और अर्चावतार। इनके अनुसार भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठ है। मुक्ति भक्ति से ही सम्भव है। जीव दास है, ब्रह्म स्वामी है। इनका दर्शन 'विशिष्टाद्वैत वाद' के नाम से विख्यात है जिसके अनुसार ब्रह्म चित्, अचित् और अविनाशी हैं। चित् (जीव) अचित् (द्रव्य) ब्रह्म-निर्मित हैं, ब्रह्म के समान हैं परन्तु ब्रह्म से भिन्न हैं। ब्रह्म सृष्टि का कर्ता है, उपादान कारण भी है। प्रलय पर चित् और अचित् ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। भगवान् के प्रति आत्म समर्पण भाव के प्रति इन्होंने आग्रह प्रकट किया है। इस समर्पण भाव को 'प्रपत्ति' कहते हैं। इनकी विशिष्ट रचनायें हैं—'ब्रह्म सूत्रों का श्रीभाष्य,' 'वेदान्तसार' 'वेदार्थ सार,' और 'वेदान्त दीप'।

मध्वाचार्य —मध्वाचार्य का जन्म सन् १२१७ में हुआ था। इनकी मृत्यु १३११ में मंगलोर के निकट पश्चिमी उडीपी में हुई थी। इनके दर्शन को 'द्वैतवाद' कहा गया है, जिसके अनुसार ब्रह्म सगुण और सविशेष है। जीव अणु है और भगवान् का सेवक है। विष्णु-रूप सगुण भगवान् स्वतंत्र पदार्थ हैं भक्ति के माध्यम से ही मुक्ति सम्भव है। इनकी रचनाओं में 'ब्रह्म सूत्र भाष्य, 'गीता भाष्य' 'बृहदोपनिषद भाष्य' तथा 'भागवत तात्पर्य निर्णय' आदि प्रमुख हैं। मध्वाचार्य ने शंकराचार्य के 'मायावाद' तथा 'अद्वैत वाद' का खण्डन किया है। राधा और कृष्ण के युगल रूप की कल्पना इनके यहाँ नहीं मिलती है। ये कृष्ण के बाल-रूप की उपासना के प्रति विश्वास प्रकट करते मिलते हैं। अपने सम्प्रदाय में ये वायु के अवतार माने जाते है।

विष्णु स्वामी —इस प्रकार की धारणा मिलती है कि विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक विष्णु स्वामी शंकराचार्य के पूर्व हुए थे। परन्तु शंकराचार्य के दर्शन से मतभेद होने के कारण यह निष्कर्ष लेने में संकोच नहीं होता कि इनका समय शंकराचार्य के बाद आता है। इनके जन्म के विषय से सम्बन्धित निश्चित सामग्री हमें उपलब्ध नहीं होती। यह अनुमान किया जाता है कि ये रामानुज और निम्बार्क के पश्चात् और मध्वाचार्य के पूर्व जीवित थे। कतिपय विद्वानों ने इनका समय सन् ११९२ के आस-पास स्वीकार किया है। इनके सम्प्रदाय को रुद्र सम्प्रदाय भी कहा गया है। इनके दर्शन को 'शुद्धाद्वैत वाद' कहा गया है। कृष्ण के साथ राधा की उपासना के प्रति भी ये आग्रह प्रकट करते हैं। इनके अनुसार ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप हैं वे अपनी ह्लादिनी शक्ति के द्वारा आश्लिष्ट हैं और माया उन्हीं के अधीन रहती है। विष्णु स्वामी को वल्लभाचार्य का गुरु भी कहा गया है। 'शुद्धाद्वैतवाद' दर्शन के प्रतिपादन के लिए बादरायण-कृत 'ब्रह्मसूत्र का भाष्य' इनकी विशेष कृति है।

श्री निम्बार्काचार्य :—डॉक्टर भण्डारकर के अनुसार निम्बार्क का जन्म सन् १२६२ ई० में हुआ था। ये तैलंग प्रदेश से आकर वृन्दावनभूमि में बस गये थे। इस प्रकार की धारणा मिलती है कि जयदेव निम्बार्क की शिष्य-परम्परा में आते हैं। इनके अनुसार अवस्था भेद के अनुसार जीव ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। इस सिद्धान्त को भेदाभेद भी कहा गया है। कृष्ण परब्रह्म हैं वह दोष रहित हैं समस्त शक्तियों से उदित और कल्याण कर हैं। ब्रह्म अंशी है जीव अंश है। जीव अणु है, अल्पज्ञ है। भक्ति से ही मुक्ति सम्भव है। राधा यहाँ स्वकीया रूप में गृहीत हैं। 'ब्रह्मवैवर्त' तथा 'गर्ग संहिता' के आधार पर राधा और कृष्ण के विवाह की भी कल्पना की गई है। निम्बार्क सूर्य के अवतार भी माने जाते हैं। 'वेदान्त पारिजात सौरभ' तथा 'दशश्लोकी' इनके प्रधान ग्रन्थ हैं। इनका लिखा 'सविशेष निर्विशेष श्री कृष्ण स्तवराज' नामक ग्रन्थ भी मिलता है। इनके सम्प्रदाय को 'सनक सम्प्रदाय' या 'हंस सम्प्रदाय' भी कहते हैं।

चतु सम्प्रदाय —रामानुजाचार्य मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी और निम्बार्काचार्य द्वारा संस्थापित वैष्णव धर्म के विविध रूपों की सामूहिक अभिव्यक्ति के लिए 'चतु' सम्प्रदाय' का प्रयोग होता है। 'चतु' सम्प्रदाय' के साथ ही कुछ या

विष्णु और सनकादिक आदि चार देवताओं को सम्बद्ध किया जाता है। चतुः सम्प्रदाय के साथ इन चार देवताओं के नामों के सम्बद्ध करने का प्रथम संकेत 'पद्मपुराण' में मिलता है—

सम्प्रदाय विहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मताः
अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः।
श्री ब्रह्म रुद्र सनक वैष्णवा क्षिति पावना
चत्वारस्ते कलौ देवि सम्प्रदाय प्रवर्तकाः पद्म पुराण।

राधा वल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और अध्ययन पृष्ठ १६।

वैष्णव सम्प्रदाय के इन आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी अर्थात 'उपनिषद्,' 'गीता' और 'ब्रह्म सूत्र' पर भाष्य लिखे हैं। इस प्रकार की धारणा प्रचलित मिलती है कि भिन्न-भिन्न मान्यताओं को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करने की भावना से 'प्रस्थान त्रयी' पर भाष्य प्रस्तुत करना आवश्यक अंग के रूप में स्वीकार किया गया। इन आचार्यों के पूर्व शंकराचार्य का 'प्रस्थान त्रयी' पर भाष्य मिलता है। रामानुजा चार्य के भाष्य भी उपलब्ध होते हैं, परन्तु अन्य आचार्यों के 'प्रस्थान त्रयी' भाष्य पर नहीं मिलते हैं। निम्बार्क का केवल 'ब्रह्मसूत्र' पर 'पारिजात सौरभ' नामक भाष्य उपलब्ध होता है। इस प्रकार 'प्रस्थान त्रयी' पर भाष्य लिखने की परम्परा का निर्वाह इन समस्त आचार्यों में एक रूप में उपलब्ध नहीं होता है।

रामानन्द :—रामानन्द रामानुजाचार्य के 'श्री सम्प्रदाय' के अन्तर्गत आते हैं। इस सम्प्रदाय को 'रामोपासना सम्प्रदाय' भी कहते हैं। यद्यपि श्री सम्प्रदाय का स्पष्ट शास्त्रीय विधान नहीं मिलता परन्तु इसके प्रमुख तत्वों में विशिष्टा द्वैत सिद्धान्त अष्टाक्षर मंत्र और द्वादशाक्षर सिद्धान्त प्रमुख हैं। रामानन्द ने ध्यान के लिए लक्ष्मण और सीता से युक्त राम के स्वरूप की प्रस्तावना की है। इन्होंने वैकुण्ठ के स्थान पर साकेत को परम धाम के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार रामानन्द राम को विष्णु के अवतार रूप की कल्पना करते हैं। रामानुजाचार्य में कर्म काण्ड के प्रति आग्रह मिलता है, परन्तु रामानन्द में कर्मकाण्ड के विपरीत भक्ति-भावना की प्रधानता मिलती है। अतः इनमें सर्व साधारण के लिए भक्ति के स्वरूप का निर्धारण मिलता है।

श्री वल्लभाचार्य—श्री वल्लभाचार्य का जन्म तैलगू प्रदेश में संवत् १५३५ में हुआ था। इनके पिता विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। वल्लभाचार्य चैतन्य के समकालीन थे। वल्लभ अग्नि के अवतार माने जाते हैं। दार्शनिक दृष्टि से इनका सिद्धान्त शुद्धाद्वैत वाद का है। कृष्ण को उन्होंने ब्रह्म माना है राधा उनकी शक्ति हैं, वैकुण्ठ उनकी क्रीड़ाभूमि है। ब्रह्म माया से लिप्त नहीं होता। ब्रह्म के तीन रूप हैं पर ब्रह्म, अक्षर ब्रह्म और जगद् ब्रह्म। इन्हें आधिदैविक आध्यात्मिक और आधिभौतिक भी कहा गया है। ब्रह्म अपनी संधिनी शक्ति द्वारा सत्, संवित्‌ शक्ति द्वारा चित् और ह्लादिनी शक्ति द्वारा आनन्द का आविर्भाव करता है। वल्लभाचार्य के अनुसार जीव के तीन स्वरूप होते हैं। (१) पुष्टि जीव जो भगवान के अनुग्रह पर ही अवलम्बित हैं, नित्य लीला में प्रवेश पाते हैं। (२) मर्यादा जीव जो वेद की विधियों का अनुसरण करते हैं। (३) प्रवाह जीव जो संसार के प्रवाह में पड़े सांसारिक सुखों की प्राप्ति में ही लगे रहते हैं। जीव नित्य हैं उनकी उत्पत्ति नहीं होती है। जीव अणु है, जीवात्मा ज्ञाता है। वह अमृत उत्पन्न नहीं होता। उसका केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता है। इनके सिद्धान्तों को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

(१) भक्ति के लिए भगवान् का अनुग्रह (पोषण) अनिवार्य है।

(२) भक्ति ही मुक्ति का एकमात्र साधन है।

(३) राधा कृष्ण की आत्म-शक्ति हैं।

(४) श्रीकृष्ण का बाल-रूप ही उपास्य है। इसके साथ माधुर्य भाव से प्रेरित राधा कृष्ण का युगल रूप भी उपास्य है।

(५) भक्ति दो प्रकार की है—(१) मर्यादा भक्ति (२) पुष्टि भक्ति। साधन-सापेक्ष्य भक्ति मर्यादा भक्ति है और साधननिरपेक्ष भक्ति पुष्टि भक्ति है, जो भगवान् के अनुग्रह पर ही आधारित है। अपनी लीला के विलास के लिए भगवान् सृष्टि की रचना करता है।

(६) पुष्टि के चार स्वरूप हैं—(क) प्रवाह पुष्टि—अर्थात् संसार के मध्य ही भक्ति करना। (ख) मर्यादा पुष्टि—संसार से अनाकर्षित रहकर कृष्ण का गुणगान करना। (ग) पुष्टि-पुष्टि—कृष्ण के अनुग्रह से प्राप्त भक्ति। (घ) शुद्ध पुष्टि केवल प्रेम-अनुग्रह के आधार पर कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त करना।

वल्लभाचार्य के प्रमुख ग्रन्थ हैं—(१) पूर्व मीमांसा भाष्य, (२) उत्तर मीमांसा या ब्रह्मसूत्र भाष्य। यह 'अणुभाष्य' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैतवाद सिद्धान्त का स्वरूप विश्लेषण किया है। (३) श्रीमद्भागवत की सूक्ष्म टीका और सुबोधिनी टीका। (४) तत्व दीप निबन्ध। 'अणु भाष्य' आचार्य वल्लभाचार्य समाप्त न कर सके थे। अन्त के डेढ़ अध्याय की पूर्ति उनके पुत्र विट्ठल नाथ ने की।

श्रीकृष्ण चैतन्य —चैतन्य स्वामी के पूर्व गौड़ीय वैष्णव धर्म के स्वरूप संस्थापन का प्रयास बड़ु गोस्वामी द्वारा मिलता है। चैतन्य द्वारा इस भक्ति-धारा को विशेष प्रसार मिलता है। चैतन्य का जन्म सन् १४८२ में बंगाल में हुआ था और ईश्वरपुरी नामक वैष्णव भक्त से वे दीक्षित हुए थे।

इस प्रकार की व्याख्या मिलती है कि चैतन्य से जिस भक्ति-धारा का प्रस्फुटन होता है, वह माध्व सम्प्रदाय की भक्ति भावना पर ही अवलम्बित है। परन्तु माध्व की चिन्तन-धारा और चैतन्य की चिन्तन-धारा में अन्तर है। मध्वाचार्य के समान चैतन्य 'प्रस्थानत्रयी भाष्य'-लेखन की ओर आकर्षित नहीं प्रतीत होते। माध्व की धारणा है कि हरि ही सर्वोच्च तत्व हैं जगत् सत्य है असत् का भेद वास्तविक है। जीव हरि के अनुचर हैं। हरि-सुख की अनुभूति ही मुक्ति है। अमला भक्ति ही मुक्ति का श्रेष्ठ उपाय है। वेद का अर्थ विष्णु है। ज्ञान के साधन प्रत्यक्ष प्रमाण और अनुमान हैं।

चैतन्य भागवत को ही वेदान्त का भाष्य मानते हैं। बहुत सम्भव है इस कारण ही उनके नाम से 'प्रस्थानत्रयी' पर भाष्य नहीं मिलता है। परन्तु चैतन्य के अनुयायी के नाम से 'गोविन्द भाष्य' नामक रचना उपलब्ध होती है। चैतन्य के अनुसार भी कृष्ण के सगुण और निर्गुण दो रूप हैं। कृष्ण अद्वय तत्व, आश्रय तत्व, पराकाष्ठा लीलामय, लीला पुरुषोत्तम और माधुर्य-मण्डित हैं। मध्वाचार्य की भक्ति भावना में इस प्रकार के भाव उपलब्ध नहीं होते हैं। 'भागवत' में उपलब्ध 'रास पञ्चाध्यायी' भावना का स्वरूप माध्व में उपलब्ध नहीं होता है। चैतन्य में 'रास' एक महत्वपूर्ण अंश है। चैतन्य के अनुयायी रूप सनातन और जीव गोस्वामी भक्ति-रस का विवेचन रस-शास्त्र के अनुसार करते हैं। बंगाल में गौड़ीय वैष्णव भक्ति के स्वरूप का स्पष्ट विकास 'विद्या भूषण' के

'गोविन्द भाष्य' के पश्चात् ही हुआ लगता है। रूप और सनातन गोस्वामी-कृत 'नीलमणि' और 'हरि भक्ति रसामृत' में सिद्धान्त निरूपण के प्रयत्न दृष्टिगोचर होते हैं। चैतन्य ने माधुर्य भाव की भक्ति के प्रति आस्था प्रकट की है।

स्वामी हरिदास—हरिदासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक आशधीर माने जाते हैं। इनकी मृत्यु के पश्चात् हरिदासपुर निवासी हरिदास इस सम्प्रदाय को एक नवीन रूप देने का प्रयत्न करते हैं। हरिदास के सम्प्रदाय को 'सखी सम्प्रदाय' कहा जाता है। टट्टी संस्थान नाम से इस शाखा के एक स्वतन्त्ररूप का उल्लेख भी मिलता है। इस भक्ति धारा की मूल भावनायें इस प्रकार हैं—

(१) नित्य विहारी युगल मूर्ति का ध्यान।

(२) रसिक के रूप में सखी भाव से राधा-कृष्ण की उपासना। भागवत रसिक इस सम्प्रदाय का परिचय निम्नलिखित रूप में देते हैं—

> बीच इस मिल दोय भाम रूप पुन परिहरै।
> रसिक कहावै सोय, ज्यौं बक छोड़ै सर्करा।
> पिया कहै सब कोय देह दुख पावक मिलै।
> तमहिं नसावै सोय वस्तु मिलै भगवत रसिक।

स्वामी हरिदास-कृत 'केलिमाल' नामक ग्रन्थ उपलब्ध होता है। इसमें सिद्धान्त-सम्बन्धी पद संगृहीत हैं। इस प्रकार की भावना प्रचलित है कि हरिदास का सखी सम्प्रदाय निम्बार्क की चिन्तन-धारा पर आधारित है। परन्तु निम्बार्क सम्प्रदाय तथा हरिदासी सम्प्रदाय में तात्त्विक भेद है निम्बार्क में दर्शन की प्रधानता है और सखी सम्प्रदाय रस-भक्ति प्रधान सम्प्रदाय है।

हित हरिवंश और राधावल्लभी सम्प्रदाय—गोस्वामी हित हरिवंश राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। माधुर्य भाव की प्रेम लक्षणा भक्ति के परम स्वरूप का विकास इनकी भक्ति-पद्धति में उपलब्ध होता है। इस भक्ति-धारा का सम्बन्ध बंगाल की गौड़ीय भक्ति से नहीं है। गौड़ीय भक्ति में विप्रलम्भ एक अनिवार्य अंग माना गया है। यहाँ राधा के परकीया स्वरूप की संस्थापना मिलती है। परन्तु गोस्वामी हित हरिवंश राधा के स्वकीया स्वरूप की कल्पना करते हैं और अपनी भक्ति के सन्दर्भ में विप्रलम्भ तत्व को वे स्वीकार नहीं करते हैं। स्वकीया होते हुए भी राधा स्वतन्त्र हैं। राधा सुधानिधि' नामक ग्रन्थ में अपने मत का

प्रतिपादन करते हुए वे स्पष्ट रूप में कहते हैं कि राधा ही परम उपास्या और आराध्या हैं। कृष्ण राधा के अनुगत हैं। 'राधा' के इस स्वरूप की उपासना के लिए वे 'स्वीरासना' शब्द का प्रयोग करते हैं।

हिन्दी के कृष्ण भक्त कवि—जीवनी और रचनायें

वल्लभाचार्य सन् १४९२ में ब्रज में आए और उन्होंने गोवर्धन पर्वत पर श्री नाथजी की मूर्ति की संस्थापना की। वल्लभाचार्य का स्थायी निवास-स्थान प्रयाग के निकट अड़ैल नामक स्थान था। २८ वर्ष की आयु में उन्होंने काशी में अपना विवाह किया था। सन् १५०१ में इन्होंने श्री नाथजी की मूर्ति की संस्थापना नवीन मन्दिर में की। जगन्नाथ-यात्रा में वल्लभाचार्य और चैतन्य का मिलन हुआ था। सन् १५३० में काशी में इनका स्वर्गवास हुआ।

विट्ठलनाथ—आचार्य वल्लभ की मृत्यु के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ सम्प्रदाय के आचार्य नियुक्त हुए। इन्होंने गुजरात में पुष्टि मार्ग का प्रचार किया परन्तु उनका देहावसान अति शीघ्र हो गया। अतः इनके छोटे भाई विट्ठलनाथ सम्प्रदाय के आचार्य निर्वाचित किए गए। विट्ठलनाथ का जन्म सन् १५१५ में हुआ था। सन् १५३४ में इनका निर्वाचन पन्थ के आचार्य रूप में हुआ। विट्ठलनाथ सन् १५६६ में ब्रज आए और इन्होंने यहीं अपना निवास-स्थान बनाया। सन् १५७१ में अकबर ने गोकुल की भूमि इन्हें उपहार-रूप में दी। इनकी मृत्यु सन् १५८५ में हुई। विट्ठलनाथ ने अपने पिता के कतिपय ग्रन्थों की टीकायें लिखीं जिनमें 'अणु भाष्य' तथा 'श्री सुबोधिनी' की टीकायें विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनके स्वतन्त्र ग्रन्थों में 'विद्वन्मण्डन भक्तिनिर्णय' और 'शृङ्गार रस मण्डन' आदि प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। इन्होंने अपने सम्प्रदाय का संगठन अति व्यापक रूप में किया और इसका प्रचार अति व्यापक रूप में किया। इन्होंने श्रीनाथजी के मन्दिर में 'सेवा' की व्यवस्था की तथा सम्प्रदाय के प्रचार के सन्दर्भ में इन्होंने साहित्य और संगीत के विकास में प्रभूत योगदान दिया। इन्होंने अपने सम्प्रदाय के अन्तर्गत अष्टछाप की संस्थापना की। अष्टछाप की संस्थापना में आचार्य वल्लभ प्रवर्तित पुष्टि मार्ग को मूल अनुप्रेरणा विद्यमान है। काल-क्रम की दृष्टि से अथवा इतिहास-क्रम से अष्ट छाप के कवियों का उल्लेख इस प्रकार किया जाता है—कुंभनदास, सूरदास, परमानन्ददास, कृष्ण दास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, छीत स्वामी और गोविन्द स्वामी। इनमें प्रथम चार वल्लभाचार्य के शिष्य थे, और शेष चार विट्ठलनाथ के शिष्य थे।

गोस्वामी गोकुल नाथ :—(सन् १५५२ १६४०) गोकुल नाथ विट्ठलनाथ के चौथे पुत्र थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य की 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' तथा विट्ठल-

नाथ की 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' मौखिक रूप से भक्तों के मध्य प्रचलित थी। गोकुल नाथ ने इन वार्ताओं का सम्पादन किया था।

गोस्वामी हरिराय —(सन् १५८० १७१५ ई०), गोकुल नाथ के पश्चात् वल्लभ सम्प्रदाय में गोस्वामी हरिराय का नाम विशेष आदर के साथ लिया जाता है। 'चौरासी' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' पर इन्होंने 'भाव प्रकाश' नाम से टीकायें लिखी हैं।

कुम्भनदास —कुम्भन दास का समय अनुमान से सन् १४६८ १५८२ ई० के मध्य माना जाता है। अष्टछाप के कवियों में कुंभनदास ने सबसे पहले आचार्य वल्लभ से दीक्षा ली थी। ये गोवर्धन पर्वत के निवासी थे और जाति के क्षत्रिय थे। इस प्रकार की किंवदन्ती है कि मान सिंह के अपूर्व दान-उपहार का इन्होंने तिरस्कार कर दिया था। भक्तन को कहा सीकरी सौं काम' वाला पद इन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है। कुम्भन दास के पदों में वल्लभ सम्प्रदाय की साम्प्रदायिक भावना पूर्ण रूप में उपलब्ध हो जाती है। इनके पदों 'बाललीला' 'रास' 'दीपमालिका', 'गोवर्धन पूजा' 'बसन्त' 'धमार' आदि शीर्षकों में विभक्त हैं। लीला-सम्बन्धी पदों का विभाजन 'माखन चोरी, 'मुरली हरण स्वामिनी स्वरूप वर्णन' 'युगल स्वरूप वर्णन सुरतान्त 'खण्डिता' और विरह' आदि शीर्षकों में विभक्त हैं।

सूरदास —सूरदास के जन्म-समय और जन्म-स्थान के विषय में जो साम ग्रियों और विचार अभी तक उपलब्ध हैं उनमें एक रूपता नहीं है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अष्ट छाप और वल्लभ सम्प्रदाय' में डॉक्टर दीनदयाल गुप्त ने इस प्रकार का निर्णय किया है कि सूरदास का जन्म दिल्ली के निकट गुड़गाँव जिले के अन्तर्गत सीही नामक ग्राम में हुआ था। वार्ता साहित्य के अन्तगत सूरदास की जीवनी से सम्बन्धित वार्ताओं में 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' का विशेष महत्त्व है। यह ग्रन्थ दो रूपोंमें आज उपलब्ध है। प्रथम, मूल 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' द्वितीय गोस्वामी हरिराय कृत 'भाव प्रकाश की टीका' सहित 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता। इनमें प्रथम को अधिक प्रामाणिक माना जाता है। हरिराय ने 'भाव प्रकाशन में लोक-जीवन में प्रचलित किंवदन्तियों का भी योग किया है। अतः मूल वार्ता में सूरदास से सम्बन्धित जो सूचनायें नहीं मिलती हैं उनकी पूर्ति 'भाव प्रकाशन' से हो जाती है। 'वल्लभ सम्प्रदाय' में इस प्रकार का विश्वास मिलता है कि सूरदास वल्लभाचार्य से दस दिन छोटे थे। वल्लभाचार्य का जन्म वैशाखशुक्ल १०, सम्वत् १५३५ (सन् १४७८) को हुआ था। अतः इस धारणा के अनुसार सूरदास का जन्म वैशाख शुक्ल ५ संवत् १५३५ (सन् १४७८) में हुआ था। श्री हरिराय कृत 'भाव प्रकाश' से भी इस धारणा का समर्थन होता है। 'भाव प्रकाश चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार सूरदास अपने जन्म-स्थान सीही

से चार मील के अन्तर पर अपने कुछ शिष्यों के साथ सन्यास-जीवन व्यतीत कर रहे थे। मूल 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार अपने शिष्यों के साथ सूरदास आगरा और मथुरा के मध्य स्थित गऊघाट नामक स्थान पर सन्यास जीवन व्यतीत कर रहे थे। सूरदास और वल्लभाचार्य का मिलन गऊघाट नामक स्थान पर ही हुआ था। इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है। "सो गऊघाट ऊपर सूरदास रहते तब कितनेक दिन पाछे श्री आचार्य जी महाप्रभून आपु अड़ेल तें ब्रज कूँ पधारत हते × × × सो काहू आय के सूरदास को खबर करी जो सूरदासजी आज यहाँ श्री वल्लभाचार्यजी पधारे हैं। सो जिनने काशी में तथा दक्षिण में मायावाद खण्डन कियो है और भक्ति मार्ग स्थापन कियो है।" सूर ने आचार्य के दर्शन किये। आचार्य ने सूरदास से कहा 'सो सूर! कछु भगवत यश बरनन करो।' सूरदास ने विनय के दो पद सुनाये[1]। विनय के पद पर आचार्य ने कहा 'जो सूर ह्वै के ऐसो घिघियात काहे कों है। सो तासों कछु भगवत लीला बरनन करि।' इस पर सूर दास ने निवेदन किया 'मैं कछु भगवत लीला समुझत नाहीं हूँ। वल्लभाचार्य ने कहा 'सूर श्री जमुनाजी में स्नान करि आवो जो हम

१ (क) हरि, हौं सब पतितन को नायक।
को करि सकै बराबरि मेरी और नहीं कोउ लायक।
जो प्रभु अजामिल को दीन्हौ, सो पाटौ लिखि पाऊँ।
तौ बिस्वास होइ मन मेरो औरो पतित बुलाऊँ।
बचन याहि लै चलौ गाँठि दे, पाऊँ सुख अति भारी।
यह मारग चौगुनो चलाऊँ तौ पूरौ ब्यौपारी।
यह सुनि जहाँ तहाँ तें सिमिटैं आइ होइ इक ठौर।
अब के तो आपुन लै आयौ बेर बहुत की और।
होड़ा होड़ी मनहिं भावते किए पाप भरि पेट।
ते सब पतित पाय-तर डारौं यहै हमारी भेंट।
बहुत भरोसो जानि तुम्हारो, अघ कीन्हे भरि भाँड़ी।
लीजै बेगि निबेरि तुरतहीं, सूर पतित को टाँड़ी।
औरि दूसरो पद गायो। सो पद—
प्रभु, हौं सब पतितन को टीको।
और पतित सब दिवस चारि के हौं तौ जनमत ही को।
बधिक अजामिल गनिका तारी, और पूतना ही कौ।
मोहि छाँड़ि तुम और उधारे मिटै सूल क्यों जी को?
कोउ न समरथ अब करिबे कौं खैंचि कहत हौं लीको।
मरियत लाज सूर पतितनि मैं, मोहूँ तें को नीको।

समझाय देंगे।' सूरदास स्नान कर आए। आचार्य ने सूर को 'नाम सुनाया' और इसके पश्चात् 'समर्पन' करवाया। आचार्य ने 'दसम स्कन्ध' की अनुक्रमणिका की थी उसे सुनाया। सूर को लेकर आचार्य गोवर्धन पर श्रीनाथजी के निकट पहुँचे। वहाँ आचार्य की अनुप्रेरणा से सूरदास ने कीर्तन-स्वरूप 'अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल', 'चकई री, चलि चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग' 'ब्रज भयौ महरि के पूत जब यह बात सुनी', और सोभित कर नवनीत लिए आदि पदों की रचना की।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में इसका उल्लेख नहीं मिलता कि सूर दास के जीवन में यह घटना कब घटित हुई। विट्ठलनाथ के छठे पुत्र यदुनाथजी ने संवत् १६५८ में 'श्री वल्लभ दिग्विजय' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ के अनुसार वल्लभाचार्य अपने विवाह और तृतीय प्रदक्षिणा के पश्चात् अड़ेल से ब्रज आए और गऊघाट उतरे और उन्होंने सूरदास सारस्वत पर अनुग्रह किया। वल्लभाचार्य ने तीसरी प्रदक्षिणा संवत् १५६७ में समाप्त की थी। उनका विवाह संवत् १५६०-६१ में हुआ था। इस प्रकार सूरदास वल्लभसम्प्रदाय में सम्वत् १५६७ में दीक्षित हुए लगते हैं। उस समय सूरदास की अवस्था लगभग १२ वर्ष की थी।

सूरदास की जीवनी पर विचार करते समय विचारकों का ध्यान इस प्रकार की जिज्ञासा प्रकट करता रहा है कि सूरदास की जाति क्या थी। मूल 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सूरदास की जाति का उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु हरिराय-कृत 'भाव प्रकाश' में सूरदास के सारस्वत ब्राह्मण होने का उल्लेख मिलता है 'अब श्री आचार्यजी महाप्रभुन के सेवक सूरदासजी सारस्वत ब्राह्मण, दिल्ली के पास सीही गाँम है तहाँ रहते तिनकी वार्ता को भाव कहते हैं'। हरिराय द्वारा प्रस्तावित सूरदास की इस वार्ता पर विश्वास नहीं किया जाता है। हरिराय ने 'भाव प्रकाशन' की रचना संवत् १७५२ में की थी। इस प्रकार सूर की मृत्यु के सौ वर्षों पश्चात् की इस कृति में लोक-अनुश्रुतियों का भी आधार ग्रहण किया गया है। इस सन्दर्भ में इस प्रकार की भावना व्यक्त की गई है कि सारस्वत ब्राह्मण कोई अन्य सूरदास थे और कालक्रम से इनका व्यक्तित्व हमारे सूरदास के व्यक्तित्व में समीकृत कर लिया गया। (देखिए 'सूरदास पृ० सात' लेखक डॉ० ब्रजेश्वर

वर्मा)। परन्तु इस प्रकार की कल्पना के लिए किसी प्रकार का स्पष्ट प्रमाण नहीं उपस्थित किया गया है। सूरदास के नाम से प्रचलित 'साहित्य लहरी' का ११८ वाँ पद भी इस विवेचना के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया जाता है। उसके कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—

प्रथम ही प्रथ जागते में प्रकट अद्भुत रूप
ब्रह्मराव बिचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप
× × ×
पार पायन सुरन के सिंधु सहित अस्तुति कीन।
तासु बंश प्रसंस में भौ चन्द चारु नवीन।
× × ×
भयो सप्तो नाम सूरज चंद मंद निकाम।
× × ×
रही सूरजचन्द दृगते हीन भर बर धोक।
× × ×
परो कूप पुकार काहू सुनी ना संसार।
सातएं दिन आइ जदुपति कियो आप उधार
नाम राखे मोर सूरजदास सूर सुस्याम।
× × ×
थिर थप अथाह को है भाव भूर निकाम।
सूर है नंदनंद जू को लियो मोल गुलाम।

इसके अनुसार सूरदास चन्दबरदाई के वंशज और ब्रह्म भट्ट थे। वस्तु स्थिति यह है कि यह पद सर्वप्रथम सरदार कवि द्वारा रचित 'साहित्य लहरी' की टीका में मिलता है। और वास्तविकता यह लगती है कि सरदार कवि ने इस पद की रचना स्वयं ही की थी। सरदार कवि के पूर्व इस रचना का उल्लेख किसी सन्दर्भ में नहीं मिलता। कृष्ण-जन्म-सम्बन्धी पदों में यत्र-तत्र 'ढाढ़ी' और 'जगा' शब्दों के प्रयोग भी मिलते हैं।

मूल 'चौरासी वार्ता' में सूरदास के माता पिता का उल्लेख नहीं मिलता। 'भाव प्रकाश' के अनुसार सूरदास ने सीही ग्राम के एक निर्धन ब्राह्मण के घर

जन्म लिया था और सूरदास अपने पिता की चौथी सन्तान थे। इसके अतिरिक्त यहाँ भी अन्य विशेष उल्लेखनीय सूचना नहीं मिलती है। सूरदास के विनय के पदों से उनके जीवन के विशिष्ट सन्दर्भों का परिचय नहीं मिलता है। इन पदों में कवि अपने को 'पतितन को टीका' या 'पतितन को नायक' ही कहता है। इन पदों में एक भक्त हृदय के दैन्य भाव की अभिव्यक्ति है। इससे कवि की जाति या उसके जन्म से सम्बन्धित निर्णय नहीं लिया जा सकता है। सूरदास को दाम्पत्य जीवन का सौभाग्य सम्भवतः नहीं मिला था। लोक-जीवन में यह विश्वास प्रचलित रहा है कि सूरदास किसी रूपवती पर आकर्षित हुए थे। इसे अपराध मानकर इन्होंने अपने नेत्रों को नष्ट कर लिया था। वास्तविकता यह है कि यह घटना किसी मदनमोहन सूरदास अथवा बिल्वमंगल सूरदास के जीवन की है। परवर्ती काल में इस घटना को सूरदास के जीवन के साथ सम्बद्ध करने का प्रबल आग्रह मिलने लगता है। कवि के व्यक्तित्व के विश्लेषण में हम आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रणाली का आधार ग्रहण कर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कवि सूरदास का हृदय नारी के सम्पर्क की कोमलतम अनुभूतियों से परिष्कारित था। इनके काव्य में दाम्पत्य प्रेम और स्त्री पुरुष के सम्बन्धों के सजीव चित्र मिलते हैं। स्त्रियों के बाह्य और आन्तरिक आकर्षणों का अत्यन्त नैसर्गिक विश्लेषण सूर के काव्य में उपलब्ध है। यही कारण है कि हम सूरदास के दाम्पत्य जीवन की कल्पना अथवा नारी-आसक्ति की कल्पना के लोभ का संवरण नहीं कर पाते हैं।

'चौरासी वार्ता' में सूरदास और अकबर के मिलन का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु इस घटना की निश्चित तिथि या निश्चित संवत् का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है। यह अनुमान किया जाता है कि अकबर और सूरदास का मिलन सम्भवतः संवत् १६१२ में हुआ था (सूरदास डॉ॰ ब्रजेश्वर वर्मा पृ॰ १)। 'आईन-ए-अकबरी' और 'मुंशियात अबुल-फजल' में सूरदास की चर्चा एक गायक के रूप में हुई है। यहाँ इनके पिता का नाम रामदास ग्वालेरी गोयन्दा (गवैया) कहा गया है। परन्तु यह वक्तव्य अधिक स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। पुष्टिमार्ग के सूरदास और अकबर के दरबार के सूरदास दो स्वतन्त्र व्यक्ति थे।

'गोसाईं चरित्र' में वेणीमाधव दास ने गोस्वामी तुलसी दास और सूरदास के मिलन का उल्लेख किया है। यह घटना सम्भवतः संवत् १६१६ की है। सूर दासने तुलसी दास को अपना सूरसागर भी दिखलाया था, इसका उल्लेख गोसाइं चरित्र में मिलता है। यथा—

सोरह सै सोरह लगे कामद गिरि ढिग वास।
सुचि एकांत प्रदेस महं आए सूर सुदास।
कवि सूर दिखाएउ सागर को सुचि प्रेम कथा नट नागर को।

इस वर्णन की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। नाभा दास ने 'भक्त माल' में सूरदास का जो वर्णन किया है उससे उनकी जीवनी का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। उनके विवरण से केवल इतना ही परिचय मिलता है कि सूरदास की काव्य प्रतिभा अति उच्च कोटि की थी। इससे सूरदास के कवि-रूप का परिचय मिलता है।

सूर कवित सुन कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै।
उक्ति, चोज अनुप्रास बरन अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुक धारी।
प्रतिबिम्बित दिवि दृष्टि हृदय हरि लीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी।
बिमल बुद्धि गुण और की जो यह गुन श्रवननि धरै।
सूर कवित सुन कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै।

सूरदास अन्ध थे। परन्तु वे जन्मान्ध थे अथवा बाद को अन्धे हुए, इस का निर्णय भी सम्मानित नहीं लगता है। मूल 'चौरासी वार्ता' में सूरदास के जन्मान्ध होने का वर्णन नहीं मिलता है। परन्तु गोस्वामी हरिराय ने 'भावप्रकाशन' में सूरदास के जन्मान्ध होने का उल्लेख किया है 'सो सूरदास के जन्मत ही सों नैन नाहीं हैं, और नेत्र को आकार गढ़ेला कछु नाहीं है ऊपर भौंह मात्र है।' इस प्रकार इन्होंने सूरदास को निर्विवाद रूप से जन्मान्ध बतलाया है। सूरदास का अंधत्व निर्विवाद है परन्तु वे कब अन्धे हुए इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है।[1]

---

१ देखिए 'सूर निर्णय' पृष्ठ ६१ 'अष्ट छाप परिचय'-पृ० १२२ प्रभु-दयाल मीतल।

विद्वानों का यह भी कहना है कि वल्लभाचार्य से मिलन के समय सूरदास चक्षु हीन नहीं थे। इस निर्णय के लिए यह आधार ग्रहण किया जाता है कि सूरदास ने वल्लभाचार्य का 'दर्शन किया था। सूरदास के गोकुल और भी भाव की कि दर्शन के भी उल्लेख मिलते हैं। मृत्यु के पूर्व सूरदास ने विट्ठलनाथ के दर्शन की अभिलाषा व्यक्त की थी। परन्तु 'दर्शन' शब्द के वाच्यार्थ से हम स्पष्ट निर्णय नहीं ले सकते। 'दर्शन' एक व्यापक अर्थ-पूर्ण शब्द है। अपने आलोच्य सन्दर्भ में दर्शन को मानस-दर्शन' के रूप में ही ग्रहण करना अधिक संगत होगा।

'चौरासी वैष्णव की वार्ता' के अनुसार सूरदास की मृत्यु पारसोली ग्राम में गोस्वामी विट्ठलनाथ के सम्मुख हुई थी। हरिराय ने 'भाव प्रकाश' में भी इस घटना का वर्णन किया है—'सो तब सूरदासजी अपने मन में यह विचार करि कै परासौली आये + + + तब श्री गोसाईंजी आप जाने जो भगवत इच्छा सूरदासजी को बुलायवे की भई है। + × सो तब श्री गोसाइजी आप श्री मुख सो सगरे वैष्णव सों यह आज्ञा किए - जो पुष्टि मारग को जहाज' जात है सो जाकों कछू लैनो होय सो लेउ और यहाँ आयके सूरदास जी को देखो। इस प्रकार की स्पष्ट सूचना मिलती है कि विट्ठलनाथ के सम्पर्क में सूरदास सम्वत् १६३४ वि० तक रहे। विट्ठलनाथ की मृत्यु संवत् १६४२ में हुई। अतः सूरदास की मृत्यु संवत् १६३५ के पश्चात् और १६४२ के पूर्व ही हुई होगी। विचारकों की यह धारणा है कि सूरदास की मृत्यु संवत १६४० वि० में हुई होगी। इस प्रकार सूरदास की आयु सौ वर्ष से कुछ अधिक थी। सम्प्रदाय में प्रवेश करने के ७८ वर्ष और वल्लभाचार्य के निर्वाण के ५३ वर्ष पश्चात् (वल्लभाचार्य का निर्वाण संवत १५८७ है) सूरदास का देहावसान हुआ।

सूरदास की जीवनी से सम्बन्धित समस्त उपलब्ध सामग्रियों से जो निष्कर्ष उपलब्ध होते हैं, उन्हें इस रूप में रख सकते हैं—

[क] सूरदास और वल्लभाचार्य का मिलन गऊ घाट पर हुआ था और यह मिलन संवत् १५६१ अथवा उसके अल्प समय बाद ही हुआ होगा।

[ख] गोस्वामी विट्ठलनाथ के जीवन काल में ही सूरदास की मृत्यु हुई होगी। यह घटना संवत् १६३५ १६४१ के मध्य किसी समय घटी होगी। सूरदास के

निधन के समय विट्ठलनाथ के अतिरिक्त गुरुगुणदास कुंभन दास, गोविन्द स्वामी और रामदास उपस्थित थे।

[ख] सूरदास अन्धे थे, परन्तु वे जन्मान्ध थे, इस विश्वास का पोषण नहीं हो पाता है। सूरदास गायक और आशु कवि थे। वे आरम्भ में दास्य-रीति से भक्ति करते थे। वल्लभाचार्य के सम्पर्क से कृष्ण के बाल्य-रूप की भक्ति उनमें स्फुरित हुई। विट्ठलनाथ के सम्पर्क से वे राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति के उपासक हो गए। [ग] सूरदास ने भागवत् के द्वादश स्कन्धों पर पद-रचना की थी, जो काल क्रम से 'सूर सागर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[1]

अन्त: साक्ष्य से सूरदास की जीवनी निर्धारण में कोई सहायता नहीं मिलती और बाह्य साक्ष्यों पर ही हमें अवलम्बित रहना पड़ता है। लोक-जीवन सर्वेव से सूर के पदों के प्रति आकर्षित रहा है। इसका परिचय नीचे लिखे दोहे से मिल जाता है—

'सूर' सूर 'तुलसी' ससी उडुगन केसवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास।

तान सेन के नाम से प्रसिद्ध इस दोहे से भी सूरदास के काव्य की व्यापकता तथा उसकी लोक प्रसिद्धि का परिचय मिल जाता है—

किधौ सूर को सर लग्यो, किधौ सूर की पीर।
किधौ सूर को पद लग्यो तन मन धुनत सरीर।

सूरदास की रचनाएँ—महाकवि सूरदास निम्नलिखित काव्य-कृतियों के रचयिता माने जाते हैं —

(१) सूर सागर (२) सूरसारावली (३) साहित्य लहरी (४) भागवत भाषा (५) दशम स्कन्ध भाषा (६) सूर सागर सार (७) सूर रामायण (८) मान लीला (९) राधा रस केलि कौतुक (१०) गोवर्धन लीला (११) दान लीला, (१२) भँवर गीत (१३) नागलीला (१४) ब्याहलो, (१५) प्राण प्यारी (१६) दृष्ट कूट के पद (१७ सूर शतक (१८) सूर साठी (१९) सूर पचीसी (२०) सेवा फल (२१) सूरदास के विनय के पद (२२) हरिवंश टीका (संस्कृत) (२३) एकादशी महात्म्य नल दमयन्ती या नल दमन (२४) राम जन्म।

---

१ देखिए सूरदास पृ० ११ १३ डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा

इन कृतियों में से सभी सूर दास की है, इस कथन पर विश्वास नहीं होता है। ये रचनायें एक से अधिक सूरदास की हैं। अष्ट छाप के सूरदास के अतिरिक्त नायक सूरदास रामानन्दी सूरदास संकेत निवासी सूरदास, बनारस निवासी सूरदास और लखनऊ निवासी सूरदास (नल दमन के कवि) नामक व्यक्तियों की रचनायें उपलब्ध होती हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने इन रचना कारों के स्वतन्त्र स्वरूपों के अध्ययन के बिना ही इन्हें अष्ट छाप के सूर दास की रचनाओं के रूप में स्वीकार कर लिया है। सूरदास के नाम से प्रचलित विशिष्ट कृतियों पर ही यहाँ विचार किया जा रहा है।

सूरसागर—पदों की संख्या की दृष्टि से सूरसागर की विभिन्न प्रतियों में एक रूपता नहीं मिलती है। परन्तु इस प्रकार की धारणा विश्वास पा गई है कि सूरदास ने सवा लाख पदोंकी रचना की है। 'सूर सागर' की रचना 'भागवत के द्वादश स्कन्धों के आधार पर हुई लगती है। इसकी ओर सूरदास ने संकेत भी किया है—

> श्री मुख चारि श्लोक दए ब्रह्मा को समुझाइ।
> ब्रह्मा नारद सों कहे नारद व्यास सुनाई।
> व्यास कहे सुकदेव सौ द्वादश स्कन्ध बनाइ।
> सूरदास सोई पद भाषा करि गाइ। स्कन्ध १, पद २२५।

'सूर सागर' की उपलब्ध प्रतियों में दो रूप मिलते हैं। प्रथम रूप उन प्रतियों का है, जिनका विभाजन द्वादश स्कन्धों में हुआ है। द्वितीय रूप उन प्रतियों का है, जिनका विभाजन स्कन्धों में नहीं हुआ है। प्रथम को द्वादशस्कन्धात्मक रूप और द्वितीय को संग्रहात्मक रूप कहा जा सकता है। वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि अपने आदि या मूल रूपमें यह एक संग्रहात्मक ग्रन्थ रहा है। इसे स्कन्धों में विभाजित करने का प्रयास बहुत बाद में किया गया है। 'सूरसागर' में उपलब्ध पदों के शिल्प विधान और भाषा-रूप में एक रूपता नहीं मिलती है। इससे यह संकेत मिलता है कि सूरदास के मूल पदों के साथ अन्य कवियों के पद समय समय पर सम्मिलित होते रहे हैं, 'सूरसागर' के पदों के दो रूप मिलते हैं। एक रूप उन पदों का है जिसमें पदों का आकार लघु है। ये पद पूर्णतः मुक्तक हैं। दूसरा

रूप उन पदों का है जो आकार में बड़े हैं। इन पदों में कथा-अंश है और वे वर्णनात्मक हैं।

इस प्रकार की भी धारणा व्यक्त की गई है कि 'सूर सागर' के पद तीन आयामों में लिखे गए हैं। प्रथम आयाम के अन्तर्गत वे पद आते हैं जिनकी रचना सूरदास ने बल्लभाचार्य की शरण में आने के पूर्व की थी अर्थात् संवत् १५६७ के पूर्व रचे गए पद। इन पदों में अधिकांश पद विनय-सम्बन्धी हैं। द्वितीय आयाम के अन्तर्गत वे पद आते हैं, जिनकी रचना सूरदास ने बल्लभाचार्य के सम्पर्क में की थी। इस सन्दर्भ में वे पद आते हैं जिन्हें लीलाविषयक पद कहते हैं। (१५६७-१५८७)। तृतीय आयाम के अन्तर्गत वे पद आते हैं जिनकी रचना बल्लभाचार्य की मृत्यु के पश्चात् सूरदास ने विट्ठलनाथ के सम्पर्क में की थी।

'सूरसागर' पूर्वार्ध और उत्तरार्ध, इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। आरम्भ में कवि मंगलाचरण के पद प्रस्तुत करता है और कहता है कि निर्गुण ब्रह्म अनुभूतियों में नहीं आ सकता है। वह अगम्य है। इस कारण ही कवि सगुण लीला-पद गान कर रहा है। प्रथम स्कन्ध में कृष्ण-जन्म बधाई, नाम करण अन्नप्राशन, बाल-छवि-वर्णन, माखन चोरी गोदोहन और गोचारण आदि से सम्बन्धित पद हैं। इसके अतिरिक्त पूतना तृणावर्त और शकटासुर-वध इत्यादि से सम्बन्धित पद निर्मोलित हैं। इन पदों एवं बालकृष्ण से सम्बन्धित पदों में कृष्ण की अलौकिक लीलाओं का वर्णन किया गया है। इन समस्त पदों में यशोदा के वात्सल्य भाव के उद्घाटन की प्रेरणा विद्यमान है। प्रसंग के अनुसार भिन्न भिन्न पदों में अभिलाषा औत्सुक्य गर्व उत्साह, अमर्ष क्षोभ ग्लानि शंका चिन्ता आदि भावों के सम्यक रूप मिलते हैं। इसके बाद राधा-कृष्ण के सौन्दर्य निरूपण करने वाले पद हैं।

वात्सल्य के बाद सूरदास शृ गार के अति मधुर रूप का उद्घाटन करते हैं। दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध की मुख्य संवेदना शृ गार-मूलक है। यहाँ भी कृष्ण के शृ गार-वर्णन से सम्बन्धित पद हैं। इसके अतिरिक्त मुरली-स्तुति, राधा-कृष्ण मिलन चीर-हरण रास पञ्चाध्यायी श्री कृष्ण विवाह, गोपी-गीत जल-क्रीड़ा रास-भाव लीला और राधा-मान से सम्बन्धित पद हैं। और इन सब के पश्चात्

कृष्ण के मथुरा-गमन का वर्णन है। इसी सन्दर्भ में गोपी विरह तथा भ्रमर गीत की योजना की गई है।

प्रेम-वर्णन के अन्तर्गत पूर्वराग संयोग और वियोग भावनाओं से सम्बन्धित पद विशेष महत्व के हैं। पूर्वराग में राधा-कृष्ण की प्रेम लीलायें वर्णित हैं। सूर सागर' में विरह-वर्णन से सम्बन्धित दो विशेष स्थल हैं। (१) अक्रूर के मथुरा-आगमन पर गोपियों की उद्विग्नता और कृष्ण के मथुरा-गमन पर उनकी विरह व्यञ्जना से सम्बन्धित स्थल। (२) ऊधव के आगमन पर 'भ्रमर गीत' में गोपियों के विरह-पूर्ण-स्थल। इस प्रकार प्रवास-अवस्था का विरह वर्णन भ्रमर गीत में मिलता है। विरह की ग्यारह अवस्थाओं—अभिलाषा चिन्ता गुण-कथन स्मृति, उद्वेग, प्रलाप उन्माद व्याधि जड़ता मूर्छा और मरण से सम्बन्धित पद यहाँ स्पष्ट मिल जाते हैं। साथ ही साथ असौष्ठव मलिनता, सन्ताप पाण्डुता, कृशता, अरुचि, अधृत विकलता, तथा तन्मयता की भिन्न भिन्न स्थितियों को व्यक्त करने वाले पद भी यहाँ मिल जाते हैं।

सूरदास कुरुक्षेत्र में कृष्ण और गोपियों के मिलन की कल्पना भी करते हैं। यह सूरदास की मौलिक उद्भावना है। यह उद्भावना एक विशेष प्रयोजन से की गई है। इस प्रसंग के माध्यम से कवि सम्भवत राधा-माधव की अभिन्नता की ओर संकेत करता है।

'सूर सागर' के उत्तरार्द्ध की कथा में जरासंध के द्वारका आगमन के पद हैं, प्रद्युम्न-जन्म, बाणासुर-वध सत्यभामा विवाह भौमासुर-वध सोलह सहस्र कुमारियों का उद्धार बाण-वध उषा अनिरुद्ध विवाह, बलराम का ब्रज आगमन बलराम का विहार विलास नारद-मोह तथा जरासंध-वध आदि सन्दर्भ क्रम से नियोजित हैं।

कुरुक्षेत्र में कृष्ण, रुक्मिणी राधा तथा यशोदा के परस्पर मिलन के सन्दर्भ में देवकी के ६ पुत्रों के उद्धार की कथा भी वर्णित है। पुनः वेद कृष्ण की स्तुति करते हैं। सुभद्रा-हरण अर्जुन-सुभद्रा-विवाह, बकासुर-वध तथा भृगु-परीक्षा आदि से सम्बन्धित आख्यानों के पद भी यहाँ संकलित हैं।

सूरसारावली —'सूर सारावली' को 'सूर सागर की भूमिका कहा जाता है। इस कृति में भागवत की कथा अति संक्षेप में वर्णित है। कतिपय विचारक

इसे सूरदास की रचना नहीं मानते हैं। इन विचारकों में डॉ० व्रजेश्वर वर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेख करने योग्य है।[1] सूरसारावली में सूर सागर तथा भागवत की कथा का विवरण है। इसकी कथा स्कन्धों में विभाजित नहीं है। ब्रह्म सृष्टि का विस्तार करना चाहते हैं। प्रकृति के साथ वे फागु खेलने के लिए अवतार लेते हैं। कवि स्वयंभू मनु और शतरूपा का उल्लेख करता है। वाराह अवतार, कपिल अवतार, और सप्त द्वीप और नव खण्ड के वर्णन के बाद कवि फागु-वर्णन करता है। हरि असुरों का संहार करते हैं और देवों को राज्य देते हैं। ऋषि को फागु में चन्द्रलोक मिलता है विद्याधर, गंधर्व और अप्सरा फागु गाते हैं। कवि रामावतार की कथा के साथ वाल्मीकि-अवतार का वर्णन करता है। राम-कथा का संक्षेप प्रस्तुत कर कवि 'भागवत और 'सूरसागर' के आधार पर कथारम्भ करता है। कवि राधा की विरह-लीला का गान करता है। ग्रन्थ के अन्तिम भाग में रुक्मिणी के प्रश्न के उत्तर के रूप में ब्रज वृन्दावन राधा यशोदा तथा रास लीलाओं के वर्णन हैं। 'सूरसागर' के दो खण्ड (बम्बई प्रकाशन) के आरम्भ में यह रचना प्रकाशित है। इसमें ११०७ विषय छन्द हैं। उदाहरण—

बर बिय मेम सूर सारावलि उत्तर बर्णिय कान।
मनवांछित फल तबही पावैं मिटे सकल भंजाल।
सीखै सुनैं धरै मन राखैं लिखै परम चित लाय।
ताके संग रहत हौं निधि दिन आनन्द बनम बिहाय।
तरस संवत्सर लीला गावै पुलक करत चित लावैं।
गर्भवास बन्दी खाना मैं सूर बहुरि नहिं आवैं।

सूरसारावली।

---

१ देखिए सूरदास—डॉ० व्रजेश्वर वर्मा, डॉ० दीन दयाल गुप्त इसे सूरदास की रचना मानते हैं। अपनी मान्यता के समर्थन में वे कहते हैं 'इस ग्रन्थ के आरम्भिक वन्दना का पद कुछ पाठ भेद से वही है जो सूरसागर के आरम्भ में वन्दना के रूप में है। इस ग्रन्थ के व्यक्त विचार वल्लभ-सम्प्रदायी विचारों से साम्य रखते हैं जिनका स्पष्टीकरण स्थान-स्थान पर सूर सागर में भी हुआ है जैसे अविगत, आदि, अनन्त, अविनाशी।, अष्ट छाप और वल्लभ सम्प्रदाय-भाग १ पृष्ठ २८१।

साहित्य लहरी—साहित्य लहरी एक रीति-काव्य है, जिसकी रचना दृष्टि कूट के पदों में हुई है। इस कृति के पद कृष्ण-लीला से सम्बन्धित हैं। सूर सागर' में कुछ दृष्टि कूट के पद मिलते हैं। सरदार कवि ने 'साहित्य लहरी' पर टीका की है। इस टीका से इस प्रकार की भावना बनती है कि 'साहित्य लहरी' के पद 'सूर सागर' से ही संकलित हैं। सूर-साहित्य पर विचार करने वाले आलोचकों ने इसी प्रकार का निर्णय किया है। परन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। 'साहित्य लहरी' में जो पद मिलते हैं, वे सूरसागर के पदों से भिन्न हैं।[1] 'साहित्य लहरी' के रचना-काल का वर्णन कवि इस पद में करता है—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनंद को लिखि सुबल संवत पेख।
नंद नंदन मास, छै तें हीन त्रितिया बार—
नंदनंदन जनम तै हैं बाम सुख आगार।
त्रितिय रिच्छ, सुकर्म जोग बिचार सूर नवीन।
नंदनंदन दास हित साहित्य लहरी कीन।

अर्थात् सम्वत् १६१७ सुबल सम्वत् के बैशाख मास की प्रथम तृतीया शुक्लपक्षी बुधवार, कृत्तिका नक्षत्र, सुकर्म योग में सूरदास ने नवीन विचार के क्रम साहित्य लहरी की रचना कृष्ण भक्तों के लिए की।[2] इस कृति में अलंकार नायिका भेद, भाव भेद आदि काव्यांगों का वर्णन किया गया है।[3] उदाहरण—

राधे कियो कौन सुभाव।
पानपति बैरन बिभूषित मुख्य गुन पिउ चाव।

---

१ साहित्य लहरी—सम्पादक प्रभुदयाल मीतल साहित्य संस्थान मथुरा १९६१।

२ वही पृष्ठ २।

३ हिन्दी में सूरदास की 'साहित्य लहरी' के पूर्व रीति ग्रन्थ के रूप में कृपाराम कृत दोहा-सोरठा में रचित हित तरंगिणी' है। यह नायिका भेद से सम्बन्धित ग्रन्थ है। कृपाराम कृत हित तरंगिणी (संवत् १५९८ वि०)। सम्पादक सुधाकर पाण्डेय, विश्व भारती धनवटे चेम्बर्स नागपुर। इसके अतिरिक्त मोहनलाल मिश्र कृत 'शृंगार सागर' नामक रचना भी मिलती है (संवत् १६१६)।

मानसरवासी सुधा गृह तें न निकसन पाव ।
रजनि चर गुन जानि दधि सुत बरन रिपु हित चाव ।
रजनिचर हित मध्य सो तन सरस दीपत भाव ।
सूरदास सुजान सुकिया कपट उपमा पाव ।

साहित्य लहरी पद १११।

सूरदास ने इस पद में चतुर 'स्वकीया नायिका' और 'पूर्णोपमा अलंकार' का वर्णन किया है। (कपट उपमापूर्ण उपमा सुजान सुकीया स्वकीया)। इसी प्रकार अज्ञात यौवना नायिका और लुप्तोपमा अलंकार (२४) अनन्वय अलंकार और सुनैनी ज्ञात यौवना नायिका (११०) परिनाम अलंकार और ज्येष्ठा कनिष्ठा नायिका (७११६) रूपकातिशयोक्ति अलंकार और मुदिता नायिका और अन्योन्य अलंकार और सात्विक भावादि से पद हैं।

नल दमन —हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने प्रायः एक स्वर से कहा है कि 'नल दमन' अष्ट छाप के सूरदास की रचना है। परन्तु 'नल दमन' के रचयिता एक अन्य सूरदास हैं जो लखनऊ के निवासी थे। 'नल दमन' प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा की कृति है। इसकी भाषा अवधी है। इसके कर्ता सूरदास ने अपना परिचय इस रूप में दिया है—

सूरदास निज नाउँ बताउँ। गोवरधन दास पिता कर नाउँ।
कंबू गोत नाथिजै तासू। कलानूर पुरखन कर बासू।
तात हमार तहाँ सो आवा। पूरब दिसा कोऊ दिन छावा।
नगर लखनऊ बड़ा सो थानू। रुचिर ठौर बैकुंठ समानू।
मेरो जनम यहै ठा भयऊ। कलानूर कबहू नहिं गयऊ।

इस कृति में नल-दमयन्ती की कथा वर्णित है। यह ग्रन्थ कड़वक शैली में लिखा गया है। इसकी कथा सर्गों में विभक्त नहीं है। आरम्भ में परमात्मा की स्तुति की गई है। सम सामायिक शासक शाहजहाँ बादशाह की प्रशंसा की गई है। इसके पश्चात गुरु और कवि परिचय दिया गया है। कवि यह स्वीकार करता है कि इस ग्रन्थ की कथा महा भारत से ली गई है।

नल विधि ठाऊ बैठ मन मारे। दगह आय निकटे सँभारे।
देखि दगह नल भा यठि खरा। आदर कीन्ह सीस कर धरा।

इस रचना में ६अर्धालियों के बाद एक दोहा के विराम का क्रम मिलता है।

परमानन्ददास :— 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार परमानन्द का जन्म कन्नौज में हुआ था। 'वार्ता' से इनके माता पिता का परिचय नहीं प्राप्त होता है। 'वैष्णवन की वार्ता' से इतनी सूचना मिलती है कि मकर स्नान के सन्दर्भ में परमानन्द प्रयाग पधारे थे। और इसी सन्दर्भ में अड़ैल पहुँचकर उन्होंने वल्लभाचार्य के भी दर्शन किए। आचार्यजी ने परमानन्द को भगवत-लीला-गान करने का आग्रह किया। परमानन्द ने उस समय जिस पद का गान किया उसकी संवेदना विरहमूलक है। वह इस प्रकार है—

जिय की साध जिय ही रही री।
बहुरि गुपाल देखन नहिं पाए बिलपति कुंज अहीरी।
एक दिन सो जु सखी इहिं मारग बेचन जाति दही री।
प्रीति के लिए दान मिस मोहन मेरी बाँह गही री।
बिनु देखे छिनु जात कलप भरि बिरहा अनल दही री।
परमानन्द स्वामी बिनु दरसन नैनन नदी बही री।

अष्ट छाप, काँकरोली पृ० ७१।

इसके पश्चात् आचार्य जी ने बाललीला के पद-गान का अनुरोध किया। परमानन्द ने इस सम्बन्ध में अपनी असमर्थता व्यक्त की। इसके पश्चात् आचार्य जी ने परमानन्द को अपने मार्ग में दीक्षित किया। 'वल्लभ दिग्विजय' के अनुसार आचार्य जी ने संवत् १५७६ में जगदीश-यात्रा समाप्त की थी। इस यात्रा के अन्त में ही उन्होंने अड़ैल में परमानन्द को दीक्षित किया। परमानन्द ने वल्लभाचार्य के साथ व्रज की यात्रा की। मार्ग में अपने ग्राम में उन्होंने आचार्य का सत्कार किया और उनके सम्मान में इस पद का गान किया—

हरि तोरी लीला की सुधि आवै,
कमल नैन मन मोहिनी मूरति मन-मन चित्र बनावै।
एक बार जाहि मिलत मया करि सो कैसे बिसरावै।
मुख मुसकानि बंक अवलोकनि चाल मनोहर भावै।
कबहुँक निबिड़ तिमिर आलिंगित कबहुँक पिक सुर गावै।
कबहुँक संभ्रम क्वासि क्वासि कहि संगहीन उठि धावै।
कबहुँक नैन मूँदि अन्तरगति मनि माला पहिरावै।

परमानन्द प्रभु स्याम ध्यान करि ऐसे विरह गमावै।
हरि तेरी लीला की सुधि आवै।

अष्टछाप पृ० ७८।

'वार्ता' में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि वल्लभाचार्य इस पद से द्रवित होकर तीन दिनों तक ध्यान-मग्न रहे।

वल्लभ सम्प्रदाय में प्रचलित विश्वास के अनुसार परमानन्द आचार्य वल्लभ से १५ वर्ष छोटे थे। इस प्रकार परमानन्द का जन्म संवत् १५५० में हुआ था। परमानन्द के निधन-काल के विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं है परन्तु इस प्रकार का विश्वास मिलता है कि इनकी मृत्यु सम्वत् १६४० के लगभग हुई थी। (देखिए अष्ट छाप और वल्लभ सम्प्रदाय—प्रथम भाग पृ० २१०)। परमानन्द के पदों का संग्रह 'परमानन्द सागर'[1] के नाम से मिलता है। इन पदों का विभाजन इस प्रकार है—'मंगलाचरण' 'जन्माष्टमी की बधाई' 'नन्द महोत्सव' 'श्री राधा जू की बधाई, 'अभिसार', 'मथुरागमन', 'मथुरा प्रवेश' 'गोपिन के विरह के पद', 'भ्रमर गीत' इत्यादि। 'परमानन्द सागर' से उदाहरण स्वरूप एक पद यहाँ प्रस्तुत है—

सुनि राधा इक बात भली।
तू जिन डरै रैनि अंधियारी मेरे पाछे आउ चली।
जहाँ लै जाऊँ मदन मोहन पै मैं देखी इक कुंज थली।
सघन निकुंज कुसुमनि रचि सुन्दर आछी विरच तली।
हरि की कृपा सों मोहि भरोसो प्रेम चतुर चित करत अली।
'परमानन्द स्वामी' को मिलिबो जिम दूधै मैं मिसरी डली।

परमानन्द सागर-अभिसार पृ० १४८।४१७।

कृष्णदास अधिकारी —कृष्णदास अधिकारी गुजरात प्रदेश के निवासी थे। इनका जन्म गुजरात में राजनगर के एक चिलोतरा गाँव में हुआ था।[2] हरिराय के 'भाव

१—परमानन्द सागर-सम्पादक डॉ० गोवर्धननाथ शुक्ल भारत प्रकाशन मन्दिर अलीगढ़।

२—अष्ट छाप। कांकरोली पृ० ११७।

प्रकाश' के अनुसार इनका जन्म कुनबी पटेल-कुल में हुआ था। वार्ता के अनुसार ये शूद्र थे। 'भाव प्रकाश' से यह सूचना मिलती है कि कृष्ण दास १३ वर्ष की अवस्था में घर का परित्याग कर ब्रज में आये। उस समय वहाँ श्रीनाथ जी का नया मन्दिर निर्मित हो रहा था। 'गोवर्द्धननाथ' जी के प्राकट्य की वार्ता' के अनुसार मन्दिर का शिलान्यास संवत् १५५६ वैशाख शुक्ल ३ (अक्षय तृतीया) को हुआ। वल्लभ दिग्विजय' में भी मन्दिर के शिलान्यास और निर्माण तथा मन्दिर प्रवेश के लिए संवत् १५५६ का ही उल्लेख मिलता है। इस प्रकार कृष्ण दास अधिकारी का जन्म-संवत् १५५३ माना जा सकता है। श्रीकृष्ण दास अधिकारी की मृत्यु संवत् १६३१ १६३८ के मध्य मानी जाती है।

कृष्णदास की प्रामाणिक रचनाओं में उनके पद ही उपलब्ध होते हैं। इनके पद कीर्तन-संग्रहों में मिलते हैं जिनकी संख्या २४८ ६७६ तक मानी जाती है। डॉ० दीनदयाल गुप्त ने 'भ्रमर गीत' 'रासपञ्चाध्यायी' (११ छन्द) आदि कृतियों का उल्लेख किया है। प्रभुदयाल मीतल ने 'भ्रमरगीत, 'प्रेम तत्व निरूपण' 'भक्तमाल की टीका' वैष्णव वदन' 'प्रेम रस राशि' हिंडोरा लीला' आदि रचनाओं का उल्लेख किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'जुगल मान चरित' 'भ्रमर गीत' और 'प्रेम तत्व निरूपण आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनके पदों की भाव भूमि राधाकृष्ण की मधुर लीलायें हैं। राधा-कृष्ण की युगल रसमय लीला का गान गोपी-कृष्ण प्रेम और पूर्व राग की भावनाओं के अनेक मधुर रूप इनके पदों में उपलब्ध होते हैं। निम्नलिखित पद में प्रेम की पूर्व राग अवस्था का वर्णन किया गया है—

देखि जीऊँ माई नैन रंगीलो।
ले चलि सखी तेरे पाइ लागौं जहाँ गोवरधन छैल छबीलो।
रसमय रसिक रसिकनि मोहन रसमय बचन रसाल रसीलो।
नवरंग लाल नवल गुन सुन्दर नवरंग गोपिन नव नेह नवीलो।
नख सिख सींव सुभगता सीवा, सहज सुभाइ सुदेश सुठीलो।
कृष्ण दास प्रभु रसिक मुकुट मनि सुभग चरित रिपुदमन हठीलो।

नन्द दास :—'भक्तमाल' के अनुसार नन्ददास किसी रामपुर नामक ग्राम के निवासी थे। सम्भवतः यह ग्राम गोकुल और मथुरा के मध्य अवस्थित था।

'भक्त माल' के अनुसार नन्ददास सुकुल थे। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार ये सनौढ़िया थे। मूल गुसाईं चरित' के अनुसार ये कान्यकुब्ज थे। परन्तु अधिकांश मतों का आग्रह है कि ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। नन्ददास के माता पिता से सम्बन्धित हमें कोई सूचना नहीं मिलती है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार नन्ददास गोस्वामी तुलसीदास के छोटे भाई थे।

नन्ददास के दीक्षा गुरु गोस्वामी विट्ठलनाथ थे। नन्ददास ने विट्ठलनाथ से संवत् १६१६ वि० में दीक्षा ली थी। दीक्षा लेने के उपरान्त वे कुछ दिनों तक सूरदास के सम्पर्क में रहे। इस प्रकार का विश्वास मिलता है कि सूरदास ने 'साहित्य लहरी' की रचना नन्ददास के लिए ही की थी। नन्ददास दीक्षा लेने के पश्चात् पुन: गृहस्थी की ओर आकर्षित हुए थे। और 'दो सौ बावन वैष्णवन' की वार्ता' से यह ज्ञात होता है कि विट्ठलनाथ ने नन्ददास को संवत् १६२४ में पुन: दीक्षित किया था।

दीक्षा लेने के समय नन्ददास की आयु २९ या २६ वर्ष की मानी गई है। (अष्ट छाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० २६१)। इस दृष्टि से इनका जन्म-संवत् १५९० विक्रमी है।

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार नन्ददास की मृत्यु अकबर के सम्मुख हुई थी। अकबर की मृत्यु सं० १६६२ में हुई थी। वार्ता से इस प्रकार की सूचना मिलती है कि नन्ददास की मृत्यु गोस्वामी विट्ठलनाथ के सम्मुख हुई थी। विट्ठलनाथ की मृत्यु संवत् १६४२ में हुई, अत: नन्ददास की मृत्यु इसके कुछ पूर्व ही हुई होगी।

डॉक्टर दीन दयालु गुप्त ने नन्ददास लिखित २८ ग्रन्थों की सूची दी है। देखिए, 'अष्ट छाप और वल्लभ सम्प्रदाय' प्रथम खण्ड पृ० १२४। परन्तु इनमें निम्नलिखित ग्रन्थ ही प्रामाणिक माने गए हैं—

१ रस मंजरी	८ विरह मंजरी
२ अनेकार्थ मंजरी	९ रूप मंजरी
३ मान मंजरी	१० रुक्मिणी मंगल
४ दशम स्कन्ध	११ रास पंचाध्यायी
५. श्याम सगाई	१२ भँवर गीत

६ गोवर्धन लीला   १३ सिद्धान्त पंचाध्यायी
७ सुदामा चरित   १४ पदावली

इनमें से कतिपय रचनाओं के विषय में सन्देह प्रकट किया गया है। श्री उमाशंकर शुक्ल के अनुसार गोवर्धन लीला स्वतन्त्र रचना नहीं है। (नन्ददास भाग १ भूमिका पृ० २ २१ । 'सुदामा चरित' की प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट किया गया है। पदावली की प्रामाणिकता पर सन्देह नहीं होता, परन्तु इसमें पदों की संख्या कितनी थी इसका निर्धारण सम्भव नहीं हो सका है। श्री उमा शंकर जी ने मूल पाठ के रूप में केवल ११ पदों को स्वीकार किया है। इस प्रकार विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों के अनुसार ११ से लेकर ७०० पदों की संख्या का उल्लेख मिलता है। डॉक्टर दीनदयाल गुप्त ने विषय के अनुसार नन्ददास के ग्रन्थों का वर्गीकरण चार भागों के अन्तर्गत किया है—

१ कृष्ण लीला के प्रसंगों से सम्बन्धित—रास पंचाध्यायी भँवर गीत श्याम सगाई गोवर्द्धन लीला दशम स्कन्ध भाषा रुक्मिणी मंगल और पद।

२ कृष्ण भक्ति तथा कृष्ण चरित्र से सम्बन्धित—रूप मञ्जरी विरह मंजरी सुदामा चरित्र और पद।

३ कृष्ण भक्ति और कवि के आचार्यत्व के द्योतक ग्रन्थ अथवा रस-रीति और भाषा ग्रन्थ—मान मंजरी अनेकार्थ मंजरी और रस मंजरी।

४ कृष्ण भक्ति के प्रकीर्णक विषयों से सम्बन्धित रचना—इस वर्ग के अन्तर्गत उनके सिद्धान्तात्मक ग्रन्थ और गुरु-महिमा नाम-महिमा विनय आदि के स्फुट पद हैं—सिद्धान्त पंचाध्यायी और पद। देखिए—'अष्ट छाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ३७४। विषय की दृष्टि से यह वर्गीकरण नन्ददास के कवि-व्यक्तित्व का स्पष्ट परिचय देता है। इनमें से कतिपय प्रमुख ग्रन्थों का परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

रास पंचाध्यायी—इस कृति का विषय है श्री कृष्ण की रास-लीला। यह शृंगार-रस का काव्य है। इस ग्रन्थ में पाँच अध्याय हैं। कृष्ण को परब्रह्म और गोपियों को आत्मा रूप में ग्रहण कर नन्ददास ने इस काव्य का प्रणयन किया है। कृष्ण के वियोग में गोपिकाओं का रुदन और उनकी व्यग्रता के अंकन के माध्यम से कवि ने ब्रह्म वियोगिनी आत्माओं की भाव-दशा का अंकन किया

है। ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में शुकदेव की वन्दना और उनके सौन्दर्य का वर्णन है। इसके पश्चात् कवि वृन्दावन की प्रकृति और शरद-रजनी का वर्णन करता है। ऐसे ही आवेगपूर्ण और उल्लास जागृत करने वाले वातावरण में कृष्ण की मुरली (योग माया) प्रतिध्वनित होती है।

तब लीनी कर-कमल जोग-माया सी मुरली।
अघटित-घटना चतुर बहुरि अधरन सुर-जुरली।
जाकी धुनि तें निगम अगम प्रगटित बड़नागर।
नाद ब्रह्म की जननि मोहिनी सब सुख सागर[1]।

उस ध्वनि से गोपियाँ उन्मादित होकर कृष्ण के निकट आती हैं। कृष्ण गोपियों को नारी-धर्म का उपदेश देते हैं। अपने गृह एवं दाम्पत्य की मर्यादा में लौटने का आग्रह करते हैं। गोपियाँ कृष्ण-उपदेश नहीं मानती हैं। कृष्ण उनके साथ यमुना-कुन्जों में रास-क्रीड़ा आरम्भ करते हैं। गोपियों के अभिमान-भंग की भावना से वे अचानक दृष्टि से ओझल हो जाते हैं।

दूसरे अध्याय में गोपियाँ कृष्ण के लिए विकल हैं, और इनकी विकलता के सन्दर्भ में कवि उनका विरह-वर्णन करता है। गोपियाँ विकलता में सजीव-निर्जीव में भेद नहीं कर पातीं और लता-वृक्षों से कृष्ण के विषय में पूछती फिरती हैं।

हे कदम्ब ! हे निम्ब ! अम्ब ! क्यों रहे मौन गहि,
बट उत्तंग हे सुरंग बीर कहु तुम इत उत लहि।
असोक हे ! हरि सोक, लोक मनि पियहिं बतावहु
अहो पनस सुभ सरस मरत तिय अमिय पियावहु।
रास पंचाध्यायी द्वितीय अध्याय ६।

गोपियाँ राधा को लेकर यमुना तट पर आती हैं। तृतीय अध्याय में गोपियाँ कृष्ण की खोज करती हैं। कृष्ण के इस निर्मम व्यवहार के लिए वे उपालम्भ देती हैं और फिर गोपियाँ आत्म विस्मृति की अवस्था में आ जाती हैं—

छिन बैठति छिन उठति लोटति तिहिं रज माहीं
थोरे जल ज्यों मीन दीन आतुर अकुलाहीं।

१—रास पंचाध्यायी-सम्पादक-डा० प्रेमनारायण टण्डन—हिन्दी साहित्य भण्डार पृ० १।

सम्हत भम तें अमय करन कर कमल तिहारे,
कह धटि जैहै नाम तनक सिर धुवत हमारे।
रास पंचाध्यायी पृ० १८० १०।

चतुर्थ अध्याय में कृष्ण प्रकट होते है और इस अध्याय कवि में कृष्ण-गोपियों के पुनर्मिलन का भावपूर्ण चित्र अंकित करता है। पाँचवें अध्याय में गोपियों और कृष्ण के उन्मुक्त रास' का वर्णन है। नृत्य के उल्लासित वातावरण में मधुराग के घात-घात भाव जाग्रत होते है। कवि शब्द चित्रों के मोम से मृत्य का मूर्त विधान करता है। वर्णन में भावों के आवेग प्रस्फुटित होते प्रतीत होते है —

ताहि साँवरो कुँवर रीझि हँसि मिल भुजन भरि।
चुबन करि मुख-सदन बदन ते दैत मोल करि।
जग में जो संगीत रीति सुर नर रीझत जिहि।
सो ब्रज तिय की सहज, निगम आगम गावत तिहि।
रास पंचाध्यायी— पंचम अध्याय २४ १२।

रास' के पश्चात् जल-क्रीड़ा आरम्भ होती है। प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व गोपियाँ अपने-अपने गृह लौट जाती है।

'रास पंचाध्यायी की प्रेरणा भूमि 'श्री मद्भागवत' है। श्री मद्भागवत के दशम स्कन्ध के २६ अध्याय से ३३ अध्याय में गोपी-कृष्ण की रासलीला का वर्णन है। परन्तु इसकी रचना प्रक्रिया में कवि नन्ददास की कतिपय नवीन उद्भावनायें भी मिलती हैं। शरद राका में वृन्दावन की प्रकृति का चित्रण भागवत में नहीं मिलता है। 'रास पंचाध्यायी' में गोपिकायें और कृष्ण कामदेव पर विजय प्राप्त करते चित्रित किए गए हैं। भागवत में यह प्रसंग नहीं मिलता है। इस प्रकार इस प्रसंग के माध्यम से कवि अपने काव्य में पूर्ण रूप से अलौकिक स्वरूप का सम्पादन करता है। द्वितीय अध्याय भागवत के दशम स्कन्ध के ३१ वें अध्याय पर आधारित है। इस अंश में कवि मौलिक उद्भावनायें नहीं कर सका है। तृतीय अध्याय दशम स्कन्ध के ३१ वें अध्याय पर आधारित है। चौथा अध्याय ३२ वें अध्याय पर आधारित है। इस अंश में प्रत्येक छन्द की प्रथम पंक्ति भागवत की पंक्तियों का रूपान्तर है। अन्तिम अध्याय दशम स्कन्ध के ३३ वें अध्याय पर अवलम्बित है। वस्तुतः यह एक अन्योक्ति-मूलक रचना

है जिसमें शृ गारिकता, अप्रस्तुत है प्रस्तुत है आध्यात्मिकता। इस सत्य की ओर कवि ने संकेत भी किया है—

निरट-निरट घट में जो अन्तर्यामी आहि,
विषय विदूषित इन्द्री पकरि सकै नहिं ताहि।

दशम स्कन्ध—यह ग्रन्थ भागवत के दशम स्कन्ध के उन्तीस अध्यायों का दोहा-चौपाई-शैली में अनुवाद है।

विरह मञ्जरी—वस्तुतः यह ग्रन्थ काव्य-शास्त्र के सन्दर्भ की रचना है। परन्तु इस ग्रन्थ में अपने विषय की प्रस्तावना कवि ने कथात्मक रूप में किया है। इस प्रकार यह कृति कृष्ण-काव्य की परम्परा से खण्डित नहीं हो पाती है। संयोग-सुख की अनुभूति में वियोग की भावी सम्भावना की कल्पना व्रज बाला में जाग्रत हो जाती है और वह पूर्वत विप्रलम्भ भाव से ग्रसित हो जाती है। उसे भ्रम हो जाता है कि कृष्ण द्वारिका चले गए हैं। वह चन्द्रमा द्वारा कृष्ण के पास सन्देश भेजने की कल्पना करती है। क्षणिक वियोग की काल्पनिक अनुभूति में नायिका बारह मासों में होने वाली विरह-पीड़ा की अनुभूति कर लेती है। यह वियोग-भाव की पीठिका पर बारह मासे की परम्परा की कृति है। इस रचना में बारह मासा चैत्र से आरम्भ होता है। इस ऋतु में प्रकृति व्यापार उद्दीपन का कार्य कर रहे हैं। जेठ की तपन विरह-ताप का पोषण कर रही है। वर्षा में जल की बूँदें विरहिणी पर बाण-वर्षा के समान प्रभाव डाल रही है। भादों में मेघ विरहिणी से होड़ ले रहे हैं—

भादौं अति दुख-दैन कहियो चन्द ! गोविन्द सौं
घन अरुघन के नैन होड़न बरसत रैन दिन।

'विरह मञ्जरी' में नन्ददास ने कृष्ण के विरह के चार रूपों की कल्पना की है।

(१) प्रत्यक्ष, (२) पलकान्तर (३) वनान्तर और (४) देशान्तर। प्रथम के अन्तर्गत प्रिय के नैकट्य में ही क्षणिक विरह की भ्रम-पूर्ण अनुभूति की कल्पना की गई है। द्वितीय के अन्तर्गत पलभर के वियोग की कल्पना की गई है। कृष्ण जितनी अवधि के लिए वन में गोचारण करते हैं उतनी अवधि के वियोग को

बनान्तर वियोग कहते है। और प्रिय के विदेश-गमन पर देशान्तर विरह की अवस्था आती है।

इस सन्दर्भ की अन्य कृतियों में रस मञ्जरी' 'रूपमञ्जरी मान मंजरी' और 'अनेकार्थ मञ्जरी' नामक रचनायें आती हैं। 'विरह मञ्जरी' के समान ये रचनायें भी रीती-शास्त्र के सन्दर्भ के अन्तर्गत आती हैं। रीति-काव्य-धारा के विकास की पूर्व पीठिका के रूप में इन रचनाओं का ऐतिहासिक महत्व है।

रस मञ्जरी—इस कृति का प्रतिपाद्य नायक-नायिका भेद है। और यह भानुदत्त की 'रस मंजरी' नामक ग्रन्थ पर आधारित है। रचनाकार ने धर्म के अनुसार नायिका के तीन भेद किए हैं—(१) स्वकीया (२) परकीया (३) सामान्या। इस ग्रन्थ का परिचय नन्द दास ने इस प्रकार दिया है—

रस मंजरी अनुसार कै, नन्द सुमति अनुसार,
बरनत बनिता भेद जहँ प्रेम सार विस्तार।

मुग्धा का भेद नोवाढ़ा विश्रब्ध नवोढ़ा ज्ञात यौवना और अज्ञात यौवना, के रूप में किया गया है। मध्य और प्रौढ़ा का धीरा अधीरा, धीराधीरा भेद किया गया है। मुग्धा मध्या प्रौढ़ा के स्वतन्त्र रूप से भी-भी भेद किए गए हैं। तत्पश्चात् नायक-भेद प्रस्तुत किया गया है। नायक के चार भेद किये गये हैं—धृष्ठ, शठ दक्षिण और अनुकूल। फिर हाव भाव, हेला, रति और दूती-भेद के लक्षण बताये गए हैं।

रूप मंजरी :—इस कृति के नायक कृष्ण हैं, नायिका रूप मंजरी है। इस कृति में कवि नादमार्ग की भक्ति विधा का इस निरूपण किया गया है। कृष्ण के नाम, गुण धारण और कीर्तन का विधान इस भक्ति-विधा की प्रमुखता है। और भी कृष्ण की मुरली का निरूपण 'शब्द ब्रह्म' के रूप में यहाँ किया गया है।

मान मंजरी—प्रस्तुत कृति अमर कोष' पर आधारित है। कवि इसकी ओर संकेत भी करता है—

गूँथिन नामा नाम की अमर कोश के भाव।
मानवती के मान पर मिलें अर्थ अब आव।

इस कृति का प्रतिपाद्य है राधा का मान वर्णन। इसके अतिरिक्त यह एक पर्यायवाची शब्द कोष भी है। एक दूती मानिनी राधिका को मनाती है।

अपने वर्णन में कवि प्रमुख शब्दों के पर्यायवाची रूपों को भी मुख्य शब्द के साथ रखता चलता है। सखी मानिनी राधा को मनाने में वाणी अथवा (सरस्वती) का प्रयोग करती है। कृष्ण की आतुरता से प्रेरित होकर वह वृषभानु नृप के धाम (भवन) के लिए प्रस्थान करती है। कवि मानिनी रूप में राधिका का नख शिख वर्णन भी करता है। इस कृति में मान-वर्णन कोष-ग्रन्थ और नख-शिख के सुन्दर और समन्वित रूप मिल जाते हैं। और समग्रता की दृष्टि से यह एक अभि-व्यञ्जना प्रधान काव्य है। उदाहरण हेतु इस ग्रन्थ के कुछ अंश यहाँ उद्धृत हैं—

(मान)

अहंकार, मद, दर्प, पुनि गर्व, स्मर अभिमान।
मान राधिका कुँवरि को सबको करि सनमान।

(सखी)

वयसा, सुमुखी सखी पुनि हित सहचरी आहि।
आली कुँवरी वृषभान की चली मनावन ताहि।

(केश)

मस्तक सिरोरुह चिकुर कच कुंचित कुटिल सुढार।
कुन्तल कबरि कलाप मनु मनहिं गहैं ररार।[1]

अनेकार्थ मञ्जरी—इस कृति में कवि वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार पुष्टि व भाव की विवेचना करता है। कृष्ण जगत् के उपादान कारण और निमित्त कारण हैं। कृष्ण की नाम-महिमा वर्णन भी इस ग्रन्थ का एक पक्ष है। इस प्रकार इसमें कोष-ग्रन्थ की योजना में भक्ति-तत्व का समन्वित रूप मिलता है। कवि दोहा-शैली में एक शब्द के अनेक अर्थ देता है, और अन्त में उस शब्द को कृष्ण के नाम के साथ सम्बद्ध करता है—

मधु बसंत मधु चैत पुनि मधु मदिरा मकरन्द।
मधु जल मधु पै मधु सुधा 'मधु सूदन गोविन्द'।

सिद्धान्त पञ्चाध्यायी —इस कृति में नन्ददास ने रास पञ्चाध्यायी में वर्णित रास-क्रीड़ा की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है। रास वर्णन के

---

१ ब्रज भाषा के कृष्ण भक्ति काव्य में अभिव्यञ्जना शिल्प पृ० ४९ ५०।
२ देखिए—अष्ट छाप और वल्लभ सम्प्रदाय [illegible]

ग्रन्थ में शृंगार-वर्णन की अलौकिकता की व्याख्या यहाँ तर्क के साथ की गई है। यह ग्रन्थ ११८ छन्दों में समाप्त है। यह रोला छन्द रचित है। इस ग्रन्थ से एक अंश यहाँ उदाहरण के लिए दिया जा रहा है—

साँवरे पिय कर परस पाइ मुर्छित भई यों।
परम हंस भागवत मिलत संसारी भ्रम ज्यों।
जैसे जागत स्वप्न सुषुप्ति अवस्था में सब।
तुरिय अवस्था पाइ जाइ सब भूलि गई तब।

सिद्धान्त पञ्चाध्यायी

इस अंश में कवि 'रास' में निहित अलौकिक तत्व की ओर संकेत करता है।

पदावली— नन्द दास के पदों की संख्या लगभग ८०० मानी गई है। इनकी पदावली के मुख्य विषय इस प्रकार हैं—गुरु-स्तुति, यमुना-स्तुति लीला पद कृष्ण-जन्म बधाई पालना गोचारण, राधा-रूप-वर्णन रास बसन्त, मल्हार वर्षा तथा दीप मालिका आदि। इन पदों में राज वैभव के प्रति कवि ने विशेष आग्रह प्रकट किया है। इस कारण ही इनके विषय में 'और कवि गढ़िया नन्द दास जड़िया' की उक्ति प्रचलित है।

भँवर गीत—नन्द दास का 'भँवर गीत' सूरदास के समान भागवत पर आधारित है। नन्द दास का 'भँवर गीत' ऊधव के उपदेश से प्रारम्भ होता है—

ऊधव को उपदेश सुनो ब्रजनागरी। रूप शील लावण्य सबै गुन आगरी।
प्रेम पुजा रस रूपिनि उपजावनि सुख पुन्ज।
सुन्दर स्याम विलासिनी नव वृन्दावन कुञ्ज। सुनो ब्रजनागरी।

यह ग्रन्थ उद्धव-गोपी के सम्वाद-रूप में लिखा गया है। उद्धव निर्गुण का सन्देश देते हैं। गोपियाँ सगुण ब्रह्म पर आस्था रखती हैं। निर्गुण पर सगुण की और योग तथा ज्ञान पर प्रेम की विजय से यह काव्य समाप्त होता है। इस कृति में दर्शन की प्रधानता है परन्तु गोपियों की भावना प्रदर्शन की चेष्टा में भावुकता के नैसर्गिक स्वरूप का विधान भी यहाँ मिलता है। वियोग का चित्रण कवि रसात्मक और रसोत्पादक भाव में करता है

चतुर्भुज दास—चतुर्भुज दास कुम्भन दास के पुत्र और विट्ठलनाथ के शिष्य थे। इनके नाम से तीन ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—१ द्वादश यश (२) भक्ति

प्रताप (१) हितजू को मंगल। श्री चतुर्भुज दास के पद तीन वर्गों में विभाजित किए जाते हैं।

१ वर्षोत्सव के पद—इसके अन्तर्गत मंगला चरण तीन मालिका गोवर्धन पूजा और हिंडोला आदि शीर्षकों के पद आते हैं। (२) इनके पदों का दूसरा वर्ग लीला-सम्बन्धी पदों का है। इसके अन्तर्गत बधावनी बाल-क्रीड़ा, दान-मथन वेणु-पान स्वरूप-वर्णन युगल-रस-वर्णन गुप्तरस खंडिता और उराहन-सन्देश शीर्षक-पद आते हैं। (३) तीसरे वर्ग के अन्तर्गत प्रकीर्ण पद हैं। इसके अन्तर्गत 'भक्ति की प्रार्थना' और 'यमुना जी के पद' आते हैं।

छीत स्वामी—इनका समय संवत् १५१० १५८५ ई०, १५६० १६४२ वि० माना जाता है। इनके पदों का विभाजन इस क्रम में किया जाता है—(१) वर्षोत्सव-पद—मंगलाचरण राधाष्टमी बधाई, रास श्री क्रीड़ा बसन्त धमार, और फाग आदि शीर्षकों के पद इसके अन्तर्गत आते हैं। (२) लीला पद बधावनी कलेऊ, शृंगार क्रीड़ा छाक भोजन परस्पर सम्भाषण खंडिता आदि शीर्षकों के पद इसके अन्तर्गत आते हैं। (३) प्रकीर्ण पद—श्री महा प्रभुजी श्री गुसाइंजी और श्री गिरिराजजी आदि पद इसके अन्तर्गत आते हैं।

गोविन्द स्वामी—गोविन्द स्वामी सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका समय सन् १५०४ १५८५, ई० १५६१ १६४२ माना गया है। ये संगीतज्ञ कवि और गायक थे। इनके पदों का वर्गीकरण इस क्रम में किया जाता है। (१) वर्षोत्सव—इसके अन्तर्गत मंगलाचरण जन्माष्टमी पालना राधाष्टमी वामन जयन्ती बसन्त रास-क्रीड़ा स्नान-यात्रा रथ यात्रा और हिंडोरा आदि शीर्षकों के पद आते हैं।

(२) दूसरे वर्ग के अन्तर्गत बधावनी कलेऊ मंगला और बाल-क्रीड़ा आदि शीर्षकों के पद आते हैं।

(३) इस वर्ग में प्रकीर्णक पद हैं—इसके अन्तर्गत ये शीर्षक हैं—पुष्प-सुषमा और श्री वल्लभ कुल-आगमन।

कृष्ण भक्ति के अन्य समसामयिक सम्प्रदायों में गोस्वामी हित हरिवंश और उनके राधावल्लभी सम्प्रदाय का भी योगदान अष्टछाप के कवियों के समान विशेष महत्व का है। इस सम्प्रदाय के भक्त कवियों में हित हरिवंश दामोदर दास (सेवक जी) हरिराम व्यास का उल्लेख अपेक्षित है।

श्री हित हरिवंश—श्री हित हरिवंश का जन्म व्रज मण्डल प्रदेश में संवत् १५५९ में वैशाख शुक्ल एकादशी, सोमवार को हुआ था। इनकी मृत्यु संवत् १६०९ में हुई थी। हितहरिवंश के नाम से दो ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। प्रथम 'राधासुधानिधि' यह संस्कृत की रचना है। इसमें राधा की स्तुति की गई है। इनकी दूसरी कृति 'हित चौरासी' है। इस कृति में राधावल्लभ सम्प्रदाय की विवेचना पदों में की गई है। इस संग्रह के पद गेय हैं और राग रागिनियों में परिबद्ध हैं। इनके अतिरिक्त सत्ताईस स्फुट पदों का एक संग्रह भी मिलता है। 'यमुनाष्टक' नाम से यमुना-स्तुति से सम्बन्ध रखने वाला एक अन्य संग्रह का भी उल्लेख किया जाता है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय का मुख्य ग्रन्थ है 'हित चौरासी।' इसमें संकलित पदों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया गया है—

१—सुरतान्त समय वर्णन अर्थात् मंगला के ११ पद (२) शैय्या समय के ११ पद, (३) रास के १७ पद, (४) वन विहार के ३ पद (५) स्नान शृ गार के ४ पद; (६) राजभोग (छैया विहार) के २ पद; (७) बसन्त वर्णन के दो पद; (८) होरी-वर्णन के दो पद; (९) फूल डोल-झूलन का एक पद, (१०) मलार के चार पद और (११) संभ्रममान के तेरह पद। (देखिए—राधा वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ३०९)। इस ग्रन्थ में राधा-कृष्ण के अभेद्य और अविच्छेद्य प्रेम का निरूपण है। यहाँ राधा-कृष्ण के नित्य विहार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। राधा-कृष्ण का प्रेम और उनका नित्य विहार दाम्पत्य-कोटि का है यहाँ लौकिक शृ गार के माध्यम से अलौकिक या आध्यात्मिक धरातल की ओर संकेत किया गया है। लौकिक मान विरह की पीठिका पर निकुंज-लीला के द्वारा अलौकिक आनन्द और रसानुभूति की कल्पना इस ग्रन्थ के पदों में उपलब्ध हो जाती है—

आज निकुंज मंजु में खेलत नवल किशोर नवीन किशोरी।
अति अनुपम अनुराग परस्पर सुनि अभूत भूतल पर जोरी।
× × × ×
हरि उर मुकुर विलोकि अपनपौ विभ्रम विकल मानजुत भोरी।
चिबुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधत पिय प्रतिबिम्ब जनाय निहोरी

नेति-नेति बचनामृत सुनि-सुनि ललितादिक देखत दुरि चोरी ।
हित हरिवंश करत कर धूनत प्रणय कोप मालावलि तोरी ।
हित चौरासी पद सं० ७ ।

रतिकेलि के समय राधिका की दृष्टि कृष्ण के वक्ष-मुकुर पर पड़ती है । अपने प्रतिबिम्ब से उन्हें कृष्ण के हृदय में किसी अन्य रमणी के होने की शंका होती है । राधिका मान करती है । कृष्ण उनके चिबुक का स्पर्श करके उन्हें वास्तविकता का बोध कराते हैं । हित हरिवंश अपनी उपास्या राधा के सौन्दर्य वर्णन में उनका नख-शिख-वर्णन भी करते हैं । 'हित चौरासी' में रास-वर्णन करने वाले पद भावना और इससे भी अधिक सिद्धान्त निरूपण की दृष्टि से अष्ट छाप-कवियों के रास-वर्णन के पदों से भिन्न हैं । हित हरिवंश ने 'रास' को 'नित्य विहार' का पर्यायवाची माना है । इस प्रकार राधा-कृष्ण का नित्य विहार ही इस वर्ग के चिन्तन का मुख्य दर्शन और काव्य का प्रतिपाद्य है ।

दोउ जन भीजत अटके बातन ।
सघन कुंज के द्वारे ठाढ़े, अम्बर लपटे गातन ।
ललिता ललित रूप रस भीजी बूंद बचावत पातन ।
हित हरिवंश परस्पर प्रीतम मिलवत रतिरस घातन ।
स्फुट वाणी ।

'हित चौरासी' के ऊपर अनेक टीकायें भी मिलती हैं, जिनमें 'हित चरणीदास की टीका' (१६ वीं शती) 'गोस्वामी सुखलाल जी की टीका' 'भुगलदास की टीका' और 'प्रेमदास की टीका' प्रमुख हैं । श्री बलदेव उपाध्याय ने इनके नाम से तीन अन्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है (१) आचारस्तव (२) चतुःश्लोकी (३) राधातन्त्र (भागवत सम्प्रदाय, बलदेव उपाध्याय, पृ० ५२६) । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, 'वृन्दावन शतक', तथा 'हित सुधा सागर' नामक दो अन्य ग्रन्थों की चर्चा करते हैं ।

दामोदरदास (सेवक जी) —सेवक जी के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री नहीं मिलती है । हित हरिवंश के पश्चात् राधावल्लभ सम्प्रदाय में इनका स्थान शीर्ष पर है । इनका जन्म संवत् १५७७ और मृत्यु सम्वत् १६१० माना जाता है । ये गोंडवाना (मध्यप्रदेश) के मूल निवासी थे और वृन्दावन में बस गये थे ।

मारत हो कत प्रेमहि कार्जनि।
करत प्रेम पर नेम न बिसरत करत फिरत बिधि कुल के काजनि।
पूरन प्रेम गमत गोपिन को सब कृत तजत अकलमई प्राजनि।
तिनके प्रेम मगन मोहन भए तजि के अखिल लोक के राजनि।
× × × ×
रही रिय लुनी कंत पति ज्यों सरिता सागरहि समाजनि।
प्रेम परे निकरे न भ्रमभुज मुरलीधर बरकरति निवाजनि।

श्री ध्रुवदासजी—इनका जन्म संवत् १६१० के आसपास माना जाता है। इनका मृत्यु-संवत १७४० माना जाता है। इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं 'रसानन्द लीला' 'रहस्य मंजरी लीला'। इनके नाम से बयालीस ग्रन्थों का संग्रह 'ब्यालीस लीला' कहा जाता है। इन ग्रन्थों में नित्य विहार लीला' का वर्णन किया गया है। इसमें प्रेम-लक्षणा भक्ति का प्रतिपादन किया गया है, और इस सन्दर्भ में संयोग शृंगार के अनुपम रूप भी प्रस्तुत मिलते हैं। निकुंज-लीला और शृंगार-वर्णन से सम्बन्धित एक पद यहाँ दिया जाता है—

फूलि-फूलि रहे सब फूल फुलवारी में के।
रीझि रीझि भ्रमि आइ पाइनि में परी है।
छाकिकी नवेली अलबेली मुख धहय हो।
निकति निकुंज ते अनूप भाँति खरी है।
मल दिये भूषण लावण्य ही के बन गये।
दीठ सी लुवन सुकुमार ताहू डरी है।
हित ध्रुव मुकनि हेरत बिकाइ रहैं।
कामिनी की दुति मद हीरन हरी है।
भजन शृंगार सत लीला।

चाचाजी श्री वृन्दावन दासजी—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका जन्मकाल संवत् १७६५ दिया है। मिश्र बन्धु विनोद में इनका जन्म संवत् १७४४ माना गया है। पर अन्य सन्दर्भ के अनुसार इनका जन्म सम्वत १७६४ है। राधा वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों में आकार की दृष्टि से और विषय-वैविध्य की दृष्टि से इनकी रचनायें अति व्यापक हैं। राधावल्लभीय ग्रन्थ-सूची 'साहित्य

रत्नावली' में इनके १५८ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। इनमें 'लाड़सागर' 'ब्रज प्रेमानन्द सागर', 'युगल स्नेह पत्रिका' 'भारति पत्रिका' आदि विशेष रचनायें हैं। 'लाड़सागर एक प्रकार का संग्रह-ग्रन्थ है। इसके पद भिन्न-भिन्न समय पर लिखे गए लगते हैं। यह ग्रन्थ दस प्रकरणों में इस क्रम में विभाजित है—(१) राधा-बाल-विनोद। (२) कृष्ण-बाल विनोद। (३) कृष्ण-सगाई (४) कृष्ण-प्रति अनुमति-शिक्षा। (५) विवाह-मंगल। (६) कालिन्दी जू की मौनाचार। (७) लाल जू को महिमाओं को बरसाने आवनो—यो क्रम विनोद (८) राधा छवि सुहाग (९) अनुमति मोद प्रकाश (१०) राधा लाड़ सुहाग। (राधा वल्लभ सम्प्रदाय। सिद्धान्त और साहित्य पृ० ५२६)। राधा के रूप-चित्रण से सम्बन्धित 'लाड़सा सागर' से एक पद उदाहरण-स्वरूप यहाँ दिया जा रहा है—

पिय मन उर घर चौक कौतुक मुसुकाई कै।
गाति सुधा बर पैठनु पुनि पुनि चाह कै।
ता बिच त्रिबली रेख महा कमनी बनी।
प्रीतम मन अविलम्ब सिढ़ी मानो रची।
रचि मानों सिढ़ी सबनी सरस मोतुन हार हैं
गिरि कनक पै मन पाँति अनुपम करति मनहु बिहार हैं।

निम्बार्क सम्प्रदाय के कवि

श्री भट्ट :—श्री भट्ट निम्बार्क सम्प्रदाय के ब्रज भाषा प्रथम के कवि हैं। 'कृष्ण सनापति स्तोत्र' नामक १०० पदों की इनकी एक रचना का उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ को 'आदि वाणी' या 'युगल शतक' भी कहते हैं। इस ग्रन्थ में राधा-कृष्ण की युगल-मूर्ति की उपासना विधि का प्रतिपादन किया गया है।

हरि व्यासजी—निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत इन्होंने रसिक सम्प्रदाय के नाम से एक उपमार्ग का प्रवर्तन किया। हिन्दी में इनकी रचना 'युगल शतक' नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त 'महावाणी' नाम से भी इनकी एक रचना मिलती है। इस ग्रन्थ का विभाजन—१ सेवा, २ उत्सव, ३ सुरत, ४० सहज ५ सिद्धान्त इन रूपों में हुआ है—प्रथम में राधा-कृष्ण के अष्टयाम का वर्णन है। 'उत्सव' में नित्य विहार का चित्रण है। राधा और कृष्ण के युगल रूप

मारत हो कत प्रेमहि कामनि।
करत प्रेम पर नेम न बिसरत करत फिरत निति कुञ्ज के कामनि।
पूरन प्रम मनत बोलनि को सब कुछ तजत अमरमई भावनि।
जिनके प्रेम मगन मोहन भए तजि के अखिल लोक के रावनि।
× × × ×
यही रिप सुनी कंत पति ज्यों सरिता सागरहिं समावनि।
प्रेम परे निकरे न पदमुख मुरलीधर बरकरति निभावनि।

श्री ध्रुवदासजी—इनका जन्म संवत् १६३० के आसपास माना जाता है। इनका मृत्यु-संवत १७४० माना जाता है। इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं 'रसानन्द लीला' 'रहस्य मंजरी लीला'। इनके नाम से बयालीस ग्रन्थों का संग्रह 'ब्यालीस लीला' कहा जाता है। इन ग्रन्थों में 'नित्य विहार लीला' का वर्णन किया गया है। इसमें प्रेम-लक्षणा भक्ति का प्रतिपादन किया गया है, और इस सन्दर्भ में संयोग शृंगार के अनुपम रूप भी प्रस्तुत मिलते हैं। निकुंज-लीला और शृंगार-वर्णन से सम्बन्धित एक पद यहाँ दिया जाता है—

फूलि-फूलि रहे सब फूल फुलवारी में के।
रीझि रीझि सुमि आइ पाइनि में परी है।
लाडिली नवेली अलबेली मुख सहज हो।
निरखि निकुंज ते अनूप भाँति सरी है।
मन दिए मूपन लावन्य ही के अन सने।
दीठ सौं छुवत सुकुमार ताहू डरी है।
हित ध्रुव मुकनि हेरत बिकाइ रहे।
दामिनी की दुति अब हीरन हरी है।
भजन शृंगार सत लीला।

चाचाजी श्री वृन्दावन दासजी—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका जन्मकाल संवत् १७६१ दिया है। 'मिश्र बन्धु विनोद' में इनका जन्म संवत् १७७४ माना गया है। एक अन्य सन्दर्भ के अनुसार इनका जन्म सम्वत १७६४ है। राधा वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों में आकार की दृष्टि से और विषय-वैविध्य की दृष्टि से इनकी रचनायें अति व्यापक हैं। राधावल्लभीय ग्रन्थ-सूची 'साहित्य

रत्नावली' में इनके १६८ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। इनमें 'भावसागर' 'ब्रज प्रेमानन्द सागर', 'युगल स्नेह पत्रिका 'आरति पत्रिका' आदि विशेष रचनायें हैं। 'भावसागर' एक प्रकार का संग्रह-ग्रन्थ है। इसके पद भिन्न-भिन्न समय पर लिखे गए लगते हैं। यह ग्रन्थ दस प्रकरणों में इस क्रम में विभाजित है—(१) राधा-बाल विनोद। (२) कृष्ण-बाल-विनोद। (३) कृष्ण-सगाई (४) कृष्ण प्रति अनुमति-शिक्षा। (५) विवाह-मंगल। (६) लाडिली जू को पौलाचार। (७) लाल जू को महिमाओं को बरसाने आइबौ—श्री ब्रज विनोद (८) राधा श्रमि सुहाग, (९) अनुमति मोद प्रकाश (१०) राधा लाड सुहाग। (राधा वल्लभ सम्प्रदाय। सिद्धान्त और साहित्य पृ० ५२९)। राधा के रूप चित्रण से सम्बन्धित 'भावना सागर' से एक प० उदाहरण-स्वरूप यहाँ दिया जा रहा है—

पिय मन उर धर चोंक कौतुक सुकुमाई कै।
लागि मुक्ता सर पैठ्यु पुनि-पुनि धाइ कै।
ता दिक त्रिवली रेख महा अमनी बनी।
प्रीतम मन अविलम्ब सिढ़ी मानों रची।
रचि मानों सिढ़ी सजनी करत मोतुन हार हैं
गिरि कनक पै बग पांति अनुपम करति मनहु विहार है।

निम्बार्क सम्प्राय के कवि

श्री भट्ट :—श्री भट्ट निम्बार्क सम्प्रदाय के ब्रज भाषा प्रथम के कवि हैं। 'कृष्ण सरतापति स्तोत्र' नामक १०० पदों की इनकी एक रचना का उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ को 'आदि वाणी या 'युगल शतक' भी कहते हैं। इस ग्रन्थ में राधा-कृष्ण की 'युगल-मूर्ति' की उपासना विधि का प्रतिपादन किया गया है।

हरि व्यासजी—निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत इन्होंने रसिक सम्प्रदाय के नाम से एक उपमार्ग का प्रवर्तन किया। हिन्दी में इनकी रचना 'युगल शतक' नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त 'महावाणी' नाम से भी इनकी एक रचना मिलती है। इस ग्रन्थ का विभाजन—१ सेवा, २ उत्सव, ३ सुरत ४० सहज ५ सिद्धान्त इन रूपों में हुआ है—प्रथम में राधा-कृष्ण के अष्टयाम का वर्णन है। 'उत्सव' में नित्य विहार का चित्रण है। राधा और कृष्ण के युगल रूप

का वर्णन 'सुरत सुख' में है। सिद्धान्त में भी कृष्ण ह्लादिनी शक्ति राधा के साथ नित्य विहार में संलग्न चित्रित है।

परशुराम देव—परशुराम हरिव्यास के शिष्य थे। इनके नाम से ११ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जिनमें 'नाथ लीला' 'हरि लीला' और 'निज रूप लीला' और 'निर्वाण प्रमुख हैं।

स्वामी हरिदास सम्प्रदाय

स्वामी हरिदास—ये सखी सम्प्रदाय के संस्थापक हैं। इनका कविता काल संवत १६०० १६४४ के मध्य पड़ता है। ये कुशल गायक थे। आचार्य शुक्ल ने इनके नाम से 'हरिदास जी को ग्रन्थ' स्वामी हरिदास जी को पद' तथा 'हरिदास जी की बानी' नामक रचनाओं का उल्लेख किया है। इनकी रचनाओं में राधा-कृष्ण के नित्य विहार, नख शिख मान, दान होली रास आदि विषयों के वर्णन हैं।

विट्ठल विपुलदेव—ये हरिदासी सम्प्रदाय के अन्तर्गत विशिष्ट व्यक्ति हैं। इनकी रचनायें 'राग कल्पद्रुम में उपलब्ध होती हैं। इनके पदों के मुख्य विषय हैं—'राधा-कृष्ण का नित्य विहार 'भूला' मान' 'दान' और 'नोक-झोंक' इत्यादि।

भक्ति का स्वरूप

वैष्णव भक्ति के माध्यम से पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में समग्र भारतवर्ष में कृष्ण-काव्य का एक अति मोहक और स्निग्ध रूप विकसित हुआ। काव्य भक्ति के मनुरागपूर्ण संबंधों की भूमिका पर जीवन की रागात्मक वृत्तियों की संस्थापन भूमि बना। दक्षिण भारत के आड़वार भक्तों के तामिल-प्रबन्धम्' और हिन्दी कृष्ण-काव्य में भक्तिपूर्ण अनुभूतियों संवेगों और अभिव्यञ्जना प्रणाली में उपलब्ध एक समता इस प्रकार के चिन्तन को प्रेरणा देती है। गौड़ीय वैष्णव भक्ति में उपलब्ध मधुर भक्ति की रसपूर्ण आत्माभिव्यक्ति हिन्दी कृष्ण-काव्य की रसवती अनुभूतियों से कम भावनापूर्ण नहीं है। विद्यापति की मूल अनुचेतना शृङ्गार-मूलक थी। गौड़ीय वैष्णवों ने भक्ति की शास्त्रीय व्याख्या के विधान का प्रयत्न किया है। इन्होंने भक्तों को भी श्रेणियों में विभाजित किया है। भक्तों की शक्तियों के अनुसार भक्ति के क्षेत्र में भी इन्होंने श्रेणी

विभाजन किया है। 'रसिमे' के अनुसार इन्होंने भक्ति के भेद और उपभेदों की प्रस्तावना की है। साधन भक्ति के अनुसार इन्होंने भक्ति के 'वैधी' और रागानुगा' स्वरूपों की कल्पना की है। गौड़ीय वैष्णव रूप गोस्वामी ने 'भक्ति रसामृत सिन्धु' और 'उज्ज्वल नील मणि' नामक ग्रन्थों में भक्ति की स्थापना एक स्वतन्त्र रस के रूप में की है। 'भक्ति रस' के स्वरूप विश्लेषण की चेष्टा कृष्ण दास कविराज कृत 'चैतन्य चरितामृत' में मिलती है। इस ग्रन्थ के अनुसार कृष्ण-रति का उदय साधन भक्ति में होता है। कृष्ण भक्ति-रस के स्थायी भाव हैं मान प्रणय राग अनुराग भाव और महाभाव आदि। वंशी-स्वर विभाव उद्दीपन है। कृष्ण आलम्बन हैं। मित्र गोप और दास आलम्बन हैं। यहाँ भक्ति रस के पाँच रूपों का वर्गीकरण किया गया है। वे हैं शांत सख्य वात्सल्य और शृंगार। कृष्ण पति हैं उपपति हैं गोपिकायें नायिका मुख्यतः परकीया नायिका हैं। इन नायिकाओं के भेद हैं धीरा अधीरा धीरा धीरा उत्तम, मध्यमा और कनिष्ठा।

हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य में भक्ति रस को एक स्वतन्त्र रस के रूप में स्वीकार किया गया है परन्तु गौड़ीय वैष्णव भक्तों के अनुसार अष्ट छाप के कवि भक्ति-रस की शास्त्रीय व्याख्या नहीं करते हैं। सूरदास कृत 'साहित्य लहरी' और नन्ददास कृत 'मान मंजरी' तथा 'रूप मंजरी' आदि कृतियों में इस प्रकार के मौलिक प्रयास मिलते हैं।

वल्लभाचार्य ने पुष्टि मार्गीय भक्ति का विधान किया है। सगुण ब्रह्म की उपासना का विधान करते हुए वल्लभाचार्य ने ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप की अवहेलना नहीं की है। परन्तु निर्गुण ब्रह्म ज्ञान का विषय है, सगुण ब्रह्म अनुभूति का विषय है। उसके साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध सम्भव है। सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने इस विचार को अति आस्था के साथ ग्रहण किया है। निर्गुण उपासना की कठिनाइयों की ओर संकेत करते हुए ही सूरदास ने 'सूर सागर' के आरम्भ में इस प्रकार कहा है—

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तर्गत ही भावै।
परम स्वाद सब ही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जाने सो पावै।

रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै ।
सब बिधि अगम बिचारै ताते सूर सगुन लीला पद गावै ।
सूर सागर—प्रथम स्कन्ध ।

वल्लभाचार्य ने जिस 'पुष्टि मार्गीय भक्ति' का प्रतिपादन किया उसके लिए भगवान् का अनुग्रह अपेक्षित है । भगवान् जबतक भक्त पर प्रसन्न होकर भक्ति की पुष्टि नहीं करता, तबतक भक्त के उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती है । निम्नलिखित पद में सूरदास इसी भाव को व्यक्त करते हैं—

जापर दीनानाथ ढरैं ।
सोइ कुलीन बड़ो सुन्दर सोइ जिहि पर कृपा करैं ।
कौन विभीषण रंक निशाचर हरि हँसि छत्र दिए ।
राजा कौन बड़ो रावन तें गर्वहि गर्व गरैं ।
रंकव कौन सुदामा हू तें आप समान करैं ।
× × ×
यह गति मति जानै नहिं कोऊ किहि रस रसिक ढरैं ।
सूरदास भगवन्त भजन बिनु फिर फिर जठर जरैं ।
सूर सागर—प्रथम स्कन्ध ३५ ।

वल्लभसम्प्रदाय में नवधाभक्ति का विधान मिलता है । इस भक्ति भाव धारा का उत्स 'श्रीमद्भागवत' है जहाँ भक्ति के नव भेदों की विधा इस रूप में वर्णित मिलती है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम् ।
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ।
भागवत-सप्तम स्कन्ध ।

अर्थात श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवन अर्चन वन्दन दास्य सख्य और आत्म निवेदन नवधा भक्ति के तत्व हैं । इनमें श्रवण कीर्तन और स्मरण भगवान के नाम और लीला से सम्बन्ध रखने वाली क्रियायें हैं । पाद-सेवन अर्चन और वन्दन का सम्बन्ध भगवान् के स्वरूप से है । दास्य सख्य और आत्म निवेदन से भाव हैं । ये भाव भगवान को अर्पित किए जाते हैं । वल्लभाचार्य के अनुसार

भक्तों का साध्य है भगवान की प्रेमावस्था की प्राप्ति। इस साध्य-हेतु नवधा भक्ति साधन है। इस भाव भक्ति भावों के साथ वल्लभाचार्य ने वात्सल्य तथा मधुर भावों का भी योग किया। इस प्रकार नवधा भक्ति के अतिरिक्त वल्लभ-सम्प्रदाय में भक्ति की दसवीं विधा का भी विधान किया गया। यह विधान प्रेम लक्षणा भक्ति का है। सूरदास ने नवधा-भक्ति के साथ प्रेमलक्षणा भक्ति का भी उल्लेख किया है—

श्रवण कीर्तन स्मरण पाद रत अरचन बंदन दास।
सख्य और आत्म निवेदन, प्रेम लक्षणा जास।
सूर सारावली सूरसागर।

परमानन्द ने भी दसधा भक्ति का वर्णन इसी क्रम में किया है।

ताते दसधा भक्ति भली।
जिन जिन कीनी तिनके मनते नेकु न अमल चली।
श्रवण परीक्षत तरे राजरिषि कीर्तन कर सुक देव।
× × × ×
बलि आत्म समर्पन करि हरि राख अपने पास।
अविरल प्रेम भयो गोपिन को कहि परमानन्द दास।
परमानन्द सागर।

श्रवण :—भक्ति के इस विधान में भगवान का नाम गुण और उनकी लीला के श्रवण का विधान किया गया है। सूरदास ने भक्ति के इस विधान की ओर संकेत करते हुये कहा है—

(क) जो यह लीला सुनै सुनावै, सो हरि भक्ति पाई सुख पावै।
(ख) जो यह स्तुति सुनै-सुनावै, सूर सो आन भक्ति को पावैं।

सूर सागर नवम स्कन्ध।

'रास पञ्चाध्यायी' के उपसंहार में नन्द दास ने इसी भक्ति विधा के प्रति आस्था व्यक्त की है—

जो यह लीला चित्त दै सुनै सुनावै।
प्रेम भक्ति सो पावै अब भव के निय भाव॥

श्रवण कीर्तन सार-सार सुमिरन को है पुनि।
ग्यान सार हरि ध्यान सार, श्रुति गुथी गुनि॥

नन्द दास ग्रन्थावली—रास पञ्चाध्यायी पृ० २४।

कीर्तन —'भागवत' में कीर्तन-भक्ति का विधान मिलता है। 'निरोध लक्षण' ग्रन्थ में कीर्तन-भक्ति के महत्व का वर्णन करते हुए वल्लभाचार्य ने कहा है कि भगवान के गुणगान से भक्त में ईश्वरीय गुण आते हैं।

अष्टछाप के कवियों ने अपने पदों की रचना कीर्तन-रूप में ही की है। ये कवि गायक भी थे। अतः इनके समस्त पद विविध राग-रागिनियों के अनुसार लिखे गये हैं। कीर्तन की महिमा का वर्णन 'सूरदास' ने इन पंक्तियों में किया है—

जो सुख होत गुपालहिं गाए।
सो नहिं होत जप तप के कीने कोटिक तीरथ न्हाये।
× × + ×
बंसी बट वृन्दावन यमुना तज बैकुण्ठ को जाए।
सूरदास हरि को सुमिरन करि बहुरि न भवजल आए।

सूर सागर ३११।

स्मरण —ईश्वर के नाम, गुण लीला आदि का स्मरण करना और उसमें एकाग्र भाव से लीन रहने की क्रिया को स्मरण-भक्ति कहते हैं। स्मरण-भक्ति का सम्बन्ध मानसिक जगत् से है। अष्टछाप के समग्र कवियों ने स्मरण भक्ति की महिमा का गान किया है। सूरदास ने इस भक्ति-विधा के महत्व का वर्णन करते हुए कहा है—

हरि हरि हरि सुमिरो सब कोई हरि सुमिरत सब सुख होई।
हरि समान द्वितीय नहिं कोई, हरि चरनन राखो चित जोई॥

सूरसागर, द्वि० स्कन्ध।

स्मरण भक्ति के सन्दर्भ में परमानन्द के पदों का साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से विशेष महत्व है। इन पदों में कृष्ण की रूप-आसक्ति का अति सजल और लौकिक और स्निग्ध वर्णन है। परमानन्द के 'हरि तेरी लीला की सुधि आवै' शीर्षक पद का उल्लेख परमानन्द की जीवनी के सन्दर्भ में किया गया है। 'चौरासी वार्ता'

में भी इस पद की महिमा का वर्णन मिलता है। इस पद के प्रभाव से आचार्य वल्लभ हरि-स्मरण में तिरोहित हो उठे थे। उन्हें मूर्छा आयई थी। स्मरण अवस्था प्राय: विरह की अवस्था होती है। इस विरह की अनुभूति में भक्त योग-सुख की अनुभूति करता है।

श्रवण कीर्तन तथा स्मरण भक्ति में भगवान के नाम की ही प्रधानता मानी जाती है। भक्तों ने नाम-संकीर्तन को अपनी भक्ति-पद्धति में विशय स्थान दिया है। श्री लक्ष्मीधर कृत 'भगवन्नाम महिमा' नाम संकीर्तन के महत्त्व पर एक विशेष कृति है। कृष्ण-भक्त कवियों पर इस कवि का परोक्ष प्रभाव दृष्टि गोचर होता है। अष्टछाप के कवियों ने नाम कीर्तन की महिमा में अनेक पदों की रचना की है।

पाद सेवन —पादसेवन भक्ति के सम्बन्ध में आचार्य वल्लभ ने इस प्रकार की भावना व्यक्त की है—

> क्रियमाणो तथा लोके व्यवहार. प्रसिध्यति ।
> तथा काय समर्पणं ब्रह्मत्व तत: ।।

सिद्धान्त रहस्य।

इस सन्दर्भ के अनुसार भगवान और भक्त का सम्बन्ध सेव्य और सेवक का है। अत: भगवान् के भौतिक चरणों के रूप में अष्टछाप के कवियों ने 'श्रीनाथ' जी के चरणों की वन्दना की है। साथ ही साथ भगवान के अलौकिक चरणों की वन्दना और सेवा में भक्त अपने मानसिक जगत् में करते मिलते हैं। सूरदास के कृष्ण के चरणों की वन्दना शंकर, शारदा और शेष आदि करते हैं। उनके चरणों के पावन स्पर्श से गंगा भी पावन हुई है। सूर ऐसे कृष्ण के चरणों की वन्दना करते है जिनकी कृपा से पंगु पर्वत पार कर जाते हैं मूँग को वाणी का वरदान मिल जाता है।

> चरन कमल बन्दौं हरि राई।
> जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे को सब कछु दरसाई।
> बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै रंक चले सिर छत्र धराई।
> सूरदास स्वामी करुनामय, बार-बार बन्दौ तेहि पाई।

अष्टछाप के कवियों ने वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ के पदों की सेवा भगवान के चरणों के रूप में की है—

हम तो विट्ठल नाथ उपासी ।
सदा सेऊँ श्री वल्लभ नन्दन बादि करौं कहा कासी ।
इनके छोड़ को औरे ध्यावे सो कहिये असुरासी ।
छीत स्वामी गिरधरन श्री विट्ठल बानी निगम प्रकासी ।

छीतस्वामी पद ४२ ।
अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ५८२ ।

अर्चन —भगवान के अर्चावतार की कल्पना में इस विश्वास को विकास मिला है कि मन्दिर की मूर्ति में सगुण और भक्तजनों में भगवान विराजते हैं। इन्हें भगवान की प्रतिमूर्ति मानकर भक्त इन्हें अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु का अर्पण करता है। अर्चन की दो विधायें मानी गई हैं। (क) बाह्य या स्थूल अर्चना इसके लिये सोलह प्रकार के उपचार माने गये हैं, जिनमें आसन अर्घ्य पाद्य धूप दीप नैवेद्य और ताम्बूल आदि के विविध विधान मिलते हैं (ख) मानसिक अर्चन या समर्पण। इसमें बाह्य उपचारों की आवश्यकता नहीं पड़ती है। सूरदास ने 'सूरसागर' में अम्बरीष की कथा के सन्दर्भ में अर्चन भक्ति के विधान और उसके महत्व का निर्देश किया है। सूरदास ने एक अन्य पद में भगवान के भव्य नीराजन-अर्चन के सन्दर्भ में अर्चन भक्ति के अति प्रभावपूर्ण स्वरूप का चित्रण किया है। इन्होंने भगवान के नीराजन के जिस स्वरूप का विधान किया है, उसमें रवि शशि, नक्षत्र अग्नि नारद सनकादि प्रजापति देवता मनुष्य असुर सभी एक साथ भाग लेते हैं। अर्चनभक्ति की इतनी भव्य और जीवन-व्यापी कल्पना अन्य किसी सन्दर्भ में उपलब्ध नहीं होती।

हरि जू की आरती बनी ।
अति विचित्र रचना रची राखी परति न गिरा गनी ।
कच्छप अध आसन अनूप अति डाँडी शेष फनी ।
मही सराव सप्त सागर घृत बाती शैल घनी ।
रवि शशि ज्योति जगत परि पूरण हरत तिमिर रजनी ।
उड़त धूम उड़गन नभ अन्तर अञ्जन घटा घनी ।

नारदादि सनकादि प्रजापति सुरनर असुर जनी।
काल कर्म गुन अन्त कछु प्रभु इच्छा रचनी।
यह प्रताप दीपक, सु निरन्तर लोक सकल भजनी।
जाके उदित नचत नाना विधि गति अपनी-अपनी।
सूर दास सब प्रकट ध्यान में अति विचित्र सजनी।

सूरसागर द्वितीय स्कन्ध।

परमानन्द दास नन्ददास तथा अष्ट छाप के भक्त कवियों ने अर्चन सम्बन्धी पदों की रचना की है।

वन्दन'—भक्त भगवान् के महात्म्य को हृदय में धारण करता है, उनकी स्तुति करता है उनके सम्मुख नत मस्तक होता है। भक्ति के इस विधान को 'वन्दन-भक्ति' कहते हैं। अष्टछाप के भक्त कवियों के विनय स्तुति और प्रार्थना भाव से सम्बन्धित पदों में वन्दन भक्ति की प्रधानता मिलती है। निम्न लिखित पद में सूरदास अपनी प्रार्थना में कृष्ण की वन्दना करते हैं।

कृपा अब कीजिए बलि जाऊँ,

× × ×

तुम कृपालु करुनानिधि केसव अधम उधारन नाउँ।

× × ×

सूर पतित पावन पद अंबुज क्यों परिहर जाऊँ।

सूरसागर प्रथम स्कन्ध।

दास्य सख्य और आत्म निवेदन भाव है। इनका आत्म-समर्पण होता है। वल्लभाचार्य ने भक्ति का स्थाई भाव स्नेह अथवा प्रीति माना है। इस प्रीति की अभिव्यक्ति चार प्रकार होती है—

(क) परमेश्वर को स्वामी मानकर सख्य प्रीति करना इसे दास्य भक्ति कहते हैं।

(ख) परमात्मा को मित्र मान कर सख्य प्रीति की कल्पना की गई है। इसे सख्य प्रीति कहते हैं।

(ग) परमेश्वर को बालक पुत्र और शिशु मान कर वात्सल्य प्रीति की कल्पना की गई है। इस भक्ति को वात्सल्य-भक्ति कहा गया है।

(घ) परमेश्वर को पति मान कर माधुर्य या शृंगार प्रेम की कल्पना की गई है। इसे माधुर्य भक्ति कहा गया है। देखिये—अष्ट छाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग २ पृष्ठ ५१८।

दास्य, वात्सल्य सख्य तथा मधुर इस प्रकार की भक्ति के स्थायी भाव हैं।

दास्य भक्ति से प्रभावित भक्त अपने प्रभु को दयालु प्रभु, पिता औरगुरु के रूप में ग्रहण करता है। भक्त भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण करता है। और अपने उद्धार की प्रार्थना करता है। कृष्णाश्रय' नामक ग्रन्थ में वल्लभाचार्य दास्य भाव को भक्ति का स्वरूप विधान करते हुए आत्मदोष के प्रकाशन भगवान् के प्रति विनय, और दैन्य भाव निरूपण का विधान भी करते हैं। अष्टछाप के कवियों की रचनाओं में दास्य भक्ति से सम्बन्धित पदों में इन सब भावों का प्रकाशन भक्ति के अनिवार्य तत्व के रूप में मिलता है। सूरदास ने अनेक पदों में दैन्य भाव का प्रकाशन किया है आत्म निवेदन के भावों का प्रकाशन किया है। भगवान की शरण में आकर अपने उद्धार की कामना की है—

अब कै नाथ मोहि उधारि
मगन हौं भव अम्बुनिधि में कृपा सिन्धु मुरारि।
नीर अति गंभीर माया लोभ लहरि तरंग।
लिए जात अगाध जल में गहे ग्राह अनंग।
*   *   *   *
थक्यौ बीच बिहाल बिह्वल सुनौ करुना मूल।
स्याम भुज गहि काढ़ि लीजै सूर ब्रज के कूल।

सूरदास और परमानन्द दास के अतिरिक्त अन्य भक्त कवियों की रचनाओं में दैन्य या दास्य भाव से सम्बन्धित पद स्वल्प मात्रा में ही मिलते हैं।

सख्य भक्ति—भगवान् की उपासना भक्त सखा भाव में भी करते हैं। इस सन्दर्भ में कृष्ण की बाल लीलाओं को अंकित करने वाले पद उपलब्ध होते हैं। गोचारण के समय गोप कृष्ण के साथ क्रीड़ा करते हैं। अपनी मधुर लीलाओं में कृष्ण अपने गोप सखाओं को साथ रखते हैं। गोप सखाओं के साथ कृष्ण नृत्य करते हैं गान गाते हैं और वंशी बजाते हैं। सूरदासके एक पद में गोप सखाओं

साथ क्रीडा करते हुए कृष्ण रूठ जाते हैं। इस पर एक सखा कहता है कि क्रीड़ा में न कोई स्वामी है और न सेवक। खेल में सभी समान हैं। सबको समान रूप से खेल खेलना चाहिए—

खेलत मैं को काको गोसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा बरबस ही कत करत रिसैयाँ।
जाति पाँति हमते बड़ नाहीं न बसत तुम्हारी छैयाँ॥
अति अधिकार जनावत याते अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ।
रूठहि करै तासौं को खेलै रहे बैठि जहाँ तहाँ सब ग्वैयाँ॥
सूरदास प्रभु खेल्यौई चाहत दाँव दियो करि नन्द दुहैयाँ।

सूर सागर दशम स्कन्ध।

सख्य भाव की भक्ति का आदर्श रूप 'सुदामा चरित्र वर्णन' नामक प्रसंग में मिलता है। इस सन्दर्भ में कृष्ण का चित्रण एक आदर्श मित्र के रूप में कवि ने किया है—

हरि के देखे बलबीर,
अपने बाल सखा सुदामा मलिन बसन अरु छीन शरीर।
पौढ़े हुते प्रर्यक परम रुचि रुक्मिनी चमर डोलावत तीर।
उठि अकुलाइ अगमने लीने मिलत नैन भरि आए नीर।

सूर सागर पद ४८४६।

और— ऐसी प्रीति की बलि जाऊँ।
सिंहासन तजि चले मिलन को सुनत सुदामा नाऊ।

सूरसागर-पद ४८४८।

वात्सल्य भक्ति—वल्लभाचार्य ने वात्सल्य भाव की भक्ति को सर्वोपरि माना है। इस भक्ति-भाव में भक्त के मन की भावनायें पूर्णतः निष्काम भाव से भगवान् की ओर आकर्षित होती हैं। यहीं वात्सल्य भक्ति का विधान मिलता है। 'नारद भक्ति सूत्र' में प्रेम-स्वरूपा भक्ति की ग्यारह अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। इनमें एक वात्सल्य-आसक्ति भी है। रूप गोस्वामी ने 'श्री हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' में वात्सल्य भाव की भक्ति का निरूपण एक स्वतन्त्र रस के रूप में किया है। अष्टछाप के कवि भी वात्सल्य भाव की भक्ति से अनुप्रेरित हैं। इन

कवियों में सूरदास और परमानन्द दास की रचनाओं में वात्सल्य भाव के पद अन्य कवियों के पदों से आकार में व्यापक हैं भावना की दृष्टि से अधिक गंभीर और प्रभावपूर्ण हैं। सूरदास ने नन्द और यशोदा के वत्सल हृदय के विधान में जीवन के रागात्मक अनुभवों का अति रसपूर्ण विधान किया है। वत्सल हृदय का उद्घाटन इन सन्दर्भों में सूरदास करते हैं—प्रथम कृष्ण की बाल क्रीड़ाओं के वर्णन में, द्वितीय कृष्ण के वियोग में यशोदा विरह-वर्णन के सन्दर्भ में। माता यशोदा शिशु कृष्ण को लोरी गाकर सुलाती हैं। कृष्ण का चन्दा देखकर आनंद विह्वल हो उठती हैं। इन सन्दर्भों में मातृ हृदय की भावनायें अति प्राकृतिक रूप में सम्मुख आई हैं।—

कान्हा हौं तेरे मुख वारी।
बाल गोपाल लगी इन नैननि रोग बलाई तुम्हारी।
लट लटकनि मोहन मसि बिंदुका तिलक भाल सुखकारी।
मनहुँ कमल अलि सावक पंगति उठति मधुप छबि न्यारी।
× × × ×
सुन्दरता को पार न पावति रूप देखि महतारी।
सूर सिन्धु की बूँद भई मिलि मति अति दृष्टि हमारी।

कृष्ण मथुरा चले गए हैं। माता यशोदा का हृदय वियोग-पूरित हो उठता है। नवनीत देखकर उनका हृदय द्रवित हो उठता है। कृष्ण की बाल-लीलाओं की स्मृति से उनका मन मग्न हो उठता है—

यद्यपि मन समुझावत लोग
सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग।
निसिवासर छतियों से लाऊँ बालक लीला गाऊँ।
× × × ×
बिरमत नहीं बज्र को हृदय हरि वियोग क्यों सहिए।
सूरदास प्रभु कमल नैन बिनु कौने बिधि ब्रज रहिए।
सूरदास दशम स्कन्ध।

वात्सल्य भक्ति के अन्तर्गत परमानन्द दास ने बाल और कुमार रूपों तथा क्रीड़ाओं का वर्णन किया है। नन्ददास के लीला-सम्बन्धी पदों में वात्सल्य की सजीव अनुभावना नहीं हो पाई है। वात्सल्य के अन्तर्गत विप्रलम्भ

का वर्णन निम्नलिखित पद में हुआ है ।

गोपाल बिनु कैसे रहिबो ।
घूंघर अंग उठाइ गोद लै लाल कौन सों कहिबो ।
जो मधुपुरी बिबस कामत है सोच सूल तन बहिबो ।
'परमा नन्द स्वामी' की छवि के सरल कौन की गहिबो ।

परमानन्द सागर, पद. ८० ।

मधुर भक्ति —अष्ट छाप के कवियों का साध्य है मधुर भक्ति । भक्ति का चरम स्वरूप प्रेमभक्ति के उपादान-स्वरूप है । इन कवियों ने गोपी भाव से कृष्ण के नैकट्य की अनुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न किया है । गोपी भाव से इन्होंने संयोग और वियोग, इन दोनों प्रकार के भावों का प्रकाशन किया है । अष्टछाप के कवियों ने मधुर भक्ति के सन्दर्भ में स्वकीया-भाव का ही प्रदर्शन किया है । परकीया भाव इनकी मधुर भक्ति का आग्रह नहीं था । इस प्रकार लोक-जीवन में जो शृंगार रस है, वही भक्ति के क्षेत्र में मधुर रस है । गोपिकाओं के दो रूप इस सन्दर्भ में देखने को मिलते हैं । प्रथम कुमारी गोपियों का वर्ग है, जिनका प्रेम स्वकीया-कोटि का है । दूसरा वर्ग विवाहिता गोपिकाओं का है, जिनका प्रेम परकीया-भाव का है । परन्तु इन भक्त कवियों ने स्वकीया भाव के प्रति ही विशेष आस्था व्यक्त की है । गोपियां उद्धव के सन्देश का जो प्रत्युत्तर देती हैं, उस से सम्बन्धित पदों में स्वकीया-भाव की ही ध्वनि निकलती है ।

हम अलि गोकुल नाथ अराध्यो ।
मन क्रम बच हरि सों धर पति व्रत प्रेम जोग तप साध्यो ।
मातु पिता हित प्रीति निगम पथ तजि दुख सुख भ्रम नाख्यो ।
मन अपमान परम परगोपी सुस्मस विधि मन राख्यो ।

माधुर्य भाव की भक्ति में इस प्रकार की भावना मिलती है कि गोपियों ने कृष्ण को कौमार्य अवस्था में ही पति के रूप में वरण कर लिया था । सूरदास नन्ददास आदि ने राधा को कृष्ण की परिणीता के रूप में चित्रित किया है—

सजनी साँवर उर न समाई ।
बरसाने वृषभान स्वयन विधि पढ़ई है कन्ह माई ।
गोरी भुमरी बेनु विविध रंग सोभित ठाईं ठाईं ।

भूषण मनि मन पार नाझिले छो मन देख छुमाऊँ ।
नन्द दास लाल गिरधर की दुलहिन पर बलि जाऊ ।
नन्ददास ।

लौकिक प्रेम में पूर्वराग की अवस्था का वर्णन मिलता है। अष्टछाप के कवियों ने गोपियों की पूर्वराग भावना का आधार ग्रहण कर भक्त में अवस्थित पूर्व-राग-अवस्था की आसक्ति के स्वरूप का वर्णन किया है। किशोर कृष्ण के रूप-लावण्य पर कुमारी गोपियाँ मुग्ध हैं। और कृष्ण के सौन्दर्य के प्रति भक्त भी इसी रूप में आसक्त हैं। अष्टछाप के कवियों ने इस प्रकार की आसक्ति भावना की व्यञ्जना के लिए अति व्यापक मात्रा में पूर्व राग-सम्बन्धी पदों की रचना की है। निम्नलिखित पद में गोपी की आसक्ति-भावना चित्रण में भक्त की मनोभूमि का परिचय मिलता है:—

मन मृग बेध्यो मोहन नैन बान सों।
गूढ़ भाव की सैन अचानक तकि तान्यौ भृकुटी कमान सौं।
प्रथम नाद बल घरि निकट लै मुरली सप्तक सुर बंधान सौं।
पाछें बंक चिते मधुरे हँसि घात किए उलटे सुठान सौं।
सूर सुमार बिथा या तनु की घटत नहीं औषधी मान सौं।
ह्वै है सुख तबहीं उर अंतर आलिंगन गिरिधर सुजान सौं।
सूरसागर।

गोपी और कृष्ण के संयोग चित्रण में भक्तों ने ईश्वर के सान्निध्य और उससे अपने नैकट्य भाव का वर्णन किया है। उन्होंने गोपियों की अनुभूतियों पर अपने भावों का आरोपण किया है।

मधुर भक्ति में विरह-अवस्था एक आवश्यक स्थिति मानी गई है। वल्लभाचार्य ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए यह कहा है भक्ति के आध्यात्मिक साधन में विरह एक अनिवार्य अंग है जिससे भक्त आत्मपरिष्कार करता है। अपने विरह-वर्णनों में अष्टछाप के कवि वल्लभाचार्य के इसी सिद्धान्त से प्रभावित हैं। प्रेमभक्ति में विरह सिद्धान्त प्रतिपादन में ये भक्त कवि 'नारद भक्ति-सूत्र' से भी पर्याप्त अंश में प्रभावित ज्ञात हैं। वहाँ ग्यारह प्रकार की आसक्तियों का वर्णन है। इन आसक्तियों में 'परम विरहासक्ति' का भी वर्णन

है। प्रेम की तीव्रता विरह अवस्था में ही प्रिय के सान्निध्य के महत्व का बोध कराती है। विरह की इस महत्ता का वर्णन सूर की एक गोपी उद्धव से करती है —

ऊधौ बिरहौ प्रेम करै।
ज्यौं बिनु पुट पट गहत न रंग कौ रंग न रसै परै।
ज्यौं धर दहै बीज अंकुर गिरि तौ सत फरनि फरै।
ज्यौं घट अनल दहत तन अपनौ पुनि पय अमी भरै।
ज्यौं रन सूर सहै सर सम्मुख तौ रवि रथहूँ अरै।
सूर गुपाल प्रेम पथ चलि करि, क्यों दुख सुखनि डरै।
सूरसागर पद १७०५।

शान्ता भक्ति :—शान्ता भक्ति का परिचय देते हुए डॉ० दीन दयालु गुप्त ने कहा है कि भक्त संसार की अनित्यता का परित्याग कर वासनाओं से ऊपर उठता है और चित्त की शान्त अवस्था में परमानन्द की अनुभूति प्राप्त करता है, यही शान्त भाव है। काव्य-शास्त्र के अनुसार इसे शान्त रस कहते हैं। सत्संग उपदेश भक्ति आदि इसके उद्दीपन विभाव हैं। निर्मलता, निरहंकारिता इसके संचारी भाव हैं। रोमाञ्च, प्रकम्प-हर्ष व द्योतक चिह्न अनुभाव हैं। देखिए अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० १५०। इस रस का स्थायी भाव निर्वेद है। अष्ट छाप के कवियों की रचनाओं में वैराग्य, आत्मप्रबोध, विनय, आत्मनिवेदन आदि भाव व्यक्त मिलते हैं। इन पदों की मुख्य धारा शान्त रस की है। शान्ता-भक्ति से सम्बन्धित सूर दास का एक पद दिया जा रहा है —

नमो-नमो है कृपा निधान।
चितवत कृपा कटाक्ष तुम्हारी, मिटि गयौ तम-अज्ञान।
मोह निसा कौ लेस रह्यौ नहिं, भयौ विवेक विहान।
+ + + +
मेरे जिय अब नहीं लालसा लीला श्री भगवान।
स्रवन करौं निसवासर हित सौं सूर तुम्हारी आन।
सूर सागर, पद १०१।

'नारद भक्ति सूत्र' में भक्ति के ग्यारह भेदों का उल्लेख है। इन भेदों के आधार पर 'आसक्ति-भक्ति' का विधान मिलता है। वे इस प्रकार हैं— गुणमाहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति, स्मरणासक्ति दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति वात्सल्यासक्ति, निवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति और परम विरहासक्ति अष्टछाप के कवियों ने इस प्रकार की आसक्तियों से सम्बन्धित पदों की रचना अति व्यापक मात्रा में की है। भक्ति की विवेचना के सन्दर्भ में दिए गए भिन्न भिन्न उदाहरणों में इन भक्ति-रूपों का स्पष्टीकरण हो जाता है। पुनरावृत्ति के भय से यहाँ स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं किया जा रहा है।

कृष्ण काव्य में दर्शन

पुष्टिमार्ग के सन्दर्भ में रचित काव्य दर्शन की दृष्टि से शुद्धाद्वैत वादी'[1] है। इस सम्प्रदाय को ब्रह्मवादी या अविकृत परिणामवादी[2] भी कहा गया है।

'अणु भाष्य' में 'पुष्टि मार्गीय भक्ति' पर विचार करते हुए वल्लभाचार्य ने कहा है कि पुष्टि मार्ग की उपलब्धि भगवान् के अनुग्रह से ही सम्भव है श्रीकृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है। अपने ग्रन्थ 'सिद्धान्त मुक्तावलि' में भी वल्लभाचार्य ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसके लिए भगवान् की स्नेहपूर्वक सेवा तथा अनुकम्पा अपेक्षित है। श्री हरिराय ने भी पुष्टि मार्ग लक्षणानि नामक ग्रंथ में इस सिद्धान्त की विशद व्याख्या की है। वल्लभ सम्प्रदाय में प्रस्थान

---

१ यहाँ शुद्ध का अर्थ है माया के सम्बन्ध से रहित। माया के सम्बन्ध से रहित ब्रह्म ही जगत का कारण है, वही कार्य भी है। मायाशबलित ब्रह्म कारण और कार्य नहीं है।

माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः
कार्य कारण रूपं हि शुद्ध ब्रह्म न मायिकम्।
शुद्धाद्वैत मार्तण्ड श्री गिरधरजी।

२ अर्थात् ब्रह्म का विकार-रहित परिणाम है। दूध का परिणाम दही अविकारी है। वह फिर दूध नहीं हो सकता है। अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय भाग २ अध्याय पंचम पृ० १६३ से उद्धृत।

वल्लभाचार्य की प्रसिद्ध रचना है 'तत्वदीप निबन्ध ।' इस ग्रन्थ में इस तथ्य का निरूपण मिलता है कि ब्रह्म की इच्छा एक से अनेक होने की हुई। फलस्वरूप उस एक ब्रह्म से अगणित जीवों का प्रस्फुटन हुआ। ब्रह्म अंशी है जीव अंश है। सूरदास ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है। ब्रह्म अपने चिद् अंश से अनेक जीव-रूप में स्थित है। जीव इस संसार में अपने सत्य स्वरूप को विस्मृत कर देता है। जीव की यह विस्मृति अवस्था है। निम्नलिखित पद में सूर ने जीव के इस आत्मविस्मृत अवस्था का वर्णन किया है।

अपुनपौ आपुन ही बिसर्यो।
जैसे स्वान काँच मन्दिर में भ्रमि भ्रमि भूसि मर्यो।
ज्यों सपने में रंक भूप भयो तस्कर अरि पकर्यो।
ज्यों केहरि प्रतिबिम्ब देखि के आपुन कूप पर्यो।
जैसे गज लखि फटिक सिला में दसननि जाय अर्यो।
मर्कट मूठ छाँड़ि नहिं दीनी घर घर द्वार फिर्यो।
सूरदास नलिनी को सुवटा कहि कौने जकर्यो।
सूर सागर—द्वितीय स्कन्ध।

जीव माया के आवरण में है। जीव माया में ही अपना प्रतिबिम्ब देखता है जैसे ही जैसे स्वान काँच के मन्दिर में अपना प्रतिबिम्ब देखकर भ्रम में पड़ता है। माया का भ्रम स्वप्न में सोये हुए मनुष्य के भ्रम के समान है। वल्लभाचार्य ने जीव की दो अवस्थाओं की कल्पना की है बद्ध जीव और शुद्ध जीव। प्रथम संसार में लिप्त रहता है, द्वितीय संसार में अलिप्त रहता है—

जीव को सुख दुख तनु संग होई।
जोर बिजोर तनु संग सोई।
देह अभिमानी जीवहिं जाने।
ज्ञानी जीव अलिप्त करि माने।
सूर सागर षष्ठ स्कन्ध।

जगत् का स्वरूप —वल्लभाचार्य ने 'तत्वदीप निबन्ध तथा अणुभाष्य नामक ग्रन्थों में जगत्-सम्बन्धी विचार का प्रतिपादन किया है। इन रचनाओं

में इन्होंने स्पष्ट किया है कि जीव का प्रस्फुटन ब्रह्म के चित् अंश से, और सत् अंश से जड़ जगत् का विकास हुआ है। जगत् नामोरूपात्मक है परन्तु जग के प्रत्येक रूप में ब्रह्म का सत् अंश ही परिव्याप्त है। ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति का हेतु है। अष्ट छाप के कवियों ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के निरूपण में वल्लभ की विचार धारा का ही प्रतिपादन किया है। वल्लभाचार्य ने संसार और जगत् की अलग-अलग कल्पना की है। इनके अनुसार संसार का उपादान कारण अविद्या माया है निमित्त कारण अविद्या माया में परिबद्ध जीव है। इस प्रकार संसार असत्य है। इसके विपरीत जगत् सत्य और नित्य है।

मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया।
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि बिसराया।
तुम जाने बिन जीव उत्पत्ति प्रलय समाहिं।
शरण मोहि प्रभु राखिये चरण कमल की छाँहि।

सूर सागर, प्रथम स्कन्ध।

माया—'तत्व दीप निबन्ध' में वल्लभाचार्य ने माया के दो रूपों की कल्पना की है, प्रथम अविद्या माया, द्वितीय, विद्या माया। अविद्या माया सत्य पर आवरण डालती है और वहां भाव का आवरण कर पार्थक्य का बोध कराती है। रज्जु में सर्प की प्रतीति जिस प्रकार होती है, उसी प्रकार माया के कारण असत्य का भास होता है माया व्यामोहिका है। वह जीवन के प्रति व्यामोह उत्पन्न करती है। वल्लभाचार्य माया के पाँच भेदों का उल्लेख करते हैं— अन्तःकरण अध्यास प्राणाध्यास, इन्द्रियाध्यास, देहाध्यास, अज्ञान स्वरूपा। भक्त माया के इन विविध स्वरूपों का विनाश करता है। यह विनाश भगवान् के अनुग्रह पर अवलम्बित है। वल्लभाचार्य ने माया के दो स्वरूपों की कल्पना की है शक्ति और भ्रम। शंकराचार्य ने माया को भ्रम-स्वरूपा माना है। प्रथम कोटि की माया शक्ति-स्वरूपा है। यह माया ब्रह्म की शक्ति है ब्रह्म के अनुसार सृष्टि का प्रसार आविर्भाव और तिरोभाव करती है। अविद्या माया जीव के आनन्द का विनाश करती है। जीव संसार में भ्रमित होता है। विद्या माया उसका उद्धार करती है। शंकराचार्य ने जीव-जगत्, दोनों को भ्रमपूर्ण माना है। अविद्या के नाश से इन दोनों का नाश होता। वल्लभाचार्य के

अनुसार अविद्या के नाश के पश्चात् ही अष्ट छाप के कवियों ने अविद्या माया का ही चित्रण अति व्यापक रूप में किया है। विद्या माया का चित्रण यहाँ अल्प मात्रा में हुआ है। सूरदास ने अविद्या माया का वर्णन इस रूप में किया है—

महा मोहिनी मोहि आतमा मन करि अपहिं भ्रमावै।
ज्यों दूती पर वधू मोरि कै लै पर पुरुष रिझावै।
माया नटिनि लकुट कर लीने कोटिक नाच नचावै।
दर दर लोभ लागि लै डोलति नाना स्वाँग करावै।

सूर सागर प्रथम स्कन्ध।

परन्तु विद्या माया अविगत और अवर्णनीय है। उसकी शक्ति का परिचय सूरदास ने इस प्रकार दिया है।

गागर ते सागर करि राखै चहु दिशि नीर भरे।
पाहन बीच कमल विकसाहीं जल में अगिनि जरे।
राजा रंक रंक ते राजा लै सिर छत्र धरे।
सूर पतित तरिजाइ छनक में जो प्रभु नेकु ढरे।

सूर सागर प्रथम स्कन्ध।

इस प्रकार अष्ट छाप के कवियों ने माया के दो रूपों का वर्णन किया है एक, ब्रह्म की आदि शक्ति माया दूसरी उस माया का जो मनुष्य को परि भ्रमित करती है।

मोक्ष —भक्ति के सन्दर्भ में मोक्ष की चार अवस्थाओं की कल्पना की गई है। सालोक्य [1] सामीप्य [2] सारूप्य [3] और सायुज्य। [4] बल्लभाचार्य की यह मान्यता है कि पुष्टिभक्ति का उद्देश्य मुक्ति अवस्थाओं से ऊपर उठकर भगवान् की लोक-लीला में आनन्द लेना है। भगवान् की नित्यलीला का नैरन्तर्य संयोग और वियोग दोनों रसों से सम्भव है। मुक्ति की चार अवस्थायें केवल संयोग की हैं। अतः इन मुक्तियों की अपेक्षा विरहासक्ति के प्रति अष्टछाप के कवि आस्थावान रहे हैं। ब्रज पूर्ण पुरुषोत्तम लोक है। वहाँ पहुँचकर पूर्ण

१ भगवान् के नित्य धाम में निवास २ भगवान् की नित्य समीपता ३ भगवान् का सा रूप ४ भगवान् के विग्रह में समा जाना।

…भु की आनन्द-लीलाओं का आनन्द विरह से अनुभव करना वल्लभ सम्प्रदायी भक्त का परम लक्ष्य है।

इस प्रकार सूरदास ने सगुण कृष्ण की उपासना से मुक्ति की चार अवस्थाओं की उपलब्धि की सम्भावना का उल्लेख किया। लीला भूमि के सान्निध्य के सम्मुख बैकुण्ठ की वे उपेक्षा करते हैं। ब्रजनिवास के सम्मुख बैकुण्ठ सुख त्याज्य है—

जो सुख होत गुपालहिं गाए।
सो सुख होत न जप तप कीन्हैं कोटिक तीरथ न्हाएँ।
दिऐं लेत नहि चारि पदारथ चरन कमल चित लाएँ।
तीनि लोक तृन सम करि लेखत, नन्दनन्दन उर आएँ।
बंसीवट वृन्दावन जमुना तजि बैकुण्ठ न जावे।
सूरदास हरि को सुमिरन करि, बहुरि न भव जल आवे।

सूरसागर पद ३४९।

इस ओर संकेत किया गया है कि वल्लभाचार्य के अनुसार परमेश्वर की लीला के सामीप्य से ही मोक्ष सम्भव है। मोक्ष की जिन चार अवस्थाओं की कल्पना की गई है, उनमें संयोग-सुख की ही सम्भावना है। परन्तु उसके लीला रस की अनुभूति वियोग में ही अधिक स्थायी है। इस प्रकार विरहासक्ति में चारों प्रकार की मुक्ति सम्पन्न है। सूर की गोपियाँ इसी विरहासक्ति की ओर उद्धव का ध्यान आकर्षित करती हैं—

ऊधौ सूधे नैकु निहारो।
हम अबलनि को सिखवन आए, सुन्यौ सयान तिहारो।
निरगुन कहौ कहा कहियत है, तुम निरगुन अधिकारी।
सेवत सुलभ स्याम सुन्दर को, मुक्ति लही हम चारी।
हम सालोक्य, सरूप, सायुज्यौ, रहित समीप सदाई।
सो तजि कहत और की और तुम अलि बड़े अदाई।
× × × ×
तुम बखान करहिं उपदेसत, ज्ञान रूप हमहीं।
निसि दिन ध्यान सूर प्रभु को अलि देखत जित तितहीं।

सूरसागर, ४२१८।

रासलीला—कृष्ण-लीला के अन्तर्गत रास एक प्रधान अंग है। रास ब्रह्म की क्रीड़ा है जिसके माध्यम से उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है। रास लीला में कृष्ण परब्रह्म हैं राधा और गोपियाँ ब्रह्म से ही विकसित जीवात्मा हैं। यह रास समग्र सृष्टि में व्याप्त है। यह चिदानन्दघनविग्रह है। इस प्रकार अष्ट छाप के कवियों के सम्मुख रास का एक विशेष दार्शनिक अर्थ था। कृष्ण अप्राकृत हैं। गोपियाँ अप्राकृत हैं। इस रास के तीन रूप हैं—नित्य रास अवतरित या नैमित्तिक रास, और अनुकरणात्मक रास। अनुकरणात्मक रास के दो रूप माने गए हैं—मानसिक या भावात्मक और दैहात्मक। नित्य रास की कल्पना में भगवान् का स्वरूप विधान आनन्द प्रसारिणी शक्तियों के साथ होता है। इस सन्दर्भ के रास-स्वरूप को अनादि और अनन्त कहा गया है।

कृष्ण ने अपनी शक्तियों के साथ अवतार लेकर संसार में जो रास किया वह अवतरित रास है। भक्त अपनी भावनाओं में भगवान् के रास का जो मानसिक अनुभूति करता है वह अनुकरणात्मक रास है। भक्त जन जब स्वयं रास की भूमिका में अवतरित होते हैं तो यह अनुकरणात्मक दैहिक रास है। रास की अनुभूति केवल मधुर भक्ति से होती है।

अष्ट छाप के कवियों ने अपने रास-वर्णन में वल्लभाचार्य के रास सम्बन्धी इन्हीं आधारों को ग्रहण किया है। *सूरदास अथवा नन्ददास ने अपने पदों में* जिस रास का वर्णन किया है वह नित्य है कृष्ण नित्य हैं गोपियाँ नित्य हैं—

> नित्य धाम वृन्दावन स्याम। नित्य रूप राधा ब्रजबाम।
> नित्य रास जल नित्य विहार। नित्य मान खंडितामिसार।
> ब्रह्म रूप येई करतार। करन हरन त्रिभुवन येई सार।
> नित्य कुञ्ज-सुख नित्य हिंडोर। नित्यहिं त्रिविध समीर झकोर।
> सदा बसन्त रहत जहँ बास। सदा हर्ष जहँ नहीं उदास।
>
> सूरसागर पद० १४११।

नन्ददास ने 'रास पंचाध्यायी' में रास के इसी स्वरूप का वर्णन किया है।

कृष्ण-काव्य में गोपियों का चित्रण दो रूपों में हुआ है—एक, ईश्वर की सृष्टि व्यापिनी शक्ति के रूप में दूसरे कान्ता भाव से ईश्वर की भक्ति करने

वाली अनन्य भक्त के रूप में। राधा आदि रस शक्ति है, वे भक्ति में स्थिता हैं। कृष्ण राधा के अधिकार में रहते हैं। राधा प्रकृति हैं, कृष्ण पुरुष हैं।

मुरली कृष्ण की माया-शक्ति है। माया के दो रूपों की चर्चा ऊपर की गई है। प्रथम स्वरूप है 'भेद' या 'विद्या' का। द्वितीय स्वरूप है 'भेद' या 'अविद्या' का। मुरली भेद रूपा है इसे 'योग माया' भी कहा गया है। यह भक्त का भगवान् से साक्षात्कार करवाती है। इस प्रकार मुरली योग-माया रूपा है। सूरदास मुरली के इसी स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं—

मेरे साँवरे जब मुरली अधर धरी।
सुनि सिध-समाधि टरी।
ग्रह नखत तजत न रास।
वाहन बंधे धुनि पास।
अब पाले बचक टरे। मुनि आनन्द अमंद भरे।
सुनि धेनु धुनि थाके रहित। तृन दन्तहु नहिं गहति।

सूरसागर, पद १२४१।

कृष्ण-काव्य का भाव पक्ष

हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य में अन्तश्चेतना और अनुभूतियों के जो रूप सम्मुख आये हैं, उनमें भावनाओं के संश्लिष्ट रूप-विधान की अनुप्रेरणा विद्यमान मिलती है। कृष्ण काव्य एक साम्प्रदायिक काव्य है जिसमें वल्लभ सम्प्रदाय की भक्ति-भावना और दर्शन रागात्मक संस्पर्शों से आपूरित है। अष्टछाप के कवियों ने रस सिक्त शब्दों से भक्ति-भावना के शाश्वत स्वरूप का मूर्तविधान किया है। इस प्रकार इनकी रचनाओं में काव्य दर्शन और भक्ति का महिमा-मण्डित संगम मिलता है।

कृष्ण-भक्ति-काव्य का मुख्य विषय है श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का गान करना। सूरदास ने भागवत-कथा के माध्यम से भी कृष्ण की लीलाओं का गान किया है। इसी प्रकार की भाव-योजना समस्त कवियों की रचनाओं में मिलती है। कृष्ण के अलौकिक तथा उदात्त शारीरिक स्वरूप के उद्घाटन आध्यात्मिक अनुभूतियों के प्रकाशन, एवं भावनाओं की रसपूर्ण योजना का अपूर्व संगम इस वर्ग के काव्य की विशेष विभूति है।

सूरदास तथा अन्य कवियों के काव्य में भावनाओं के वैभवपूर्ण चित्रण के सन्दर्भ में प्रथम आकर्षित करने वाला तत्व उनका वात्सल्य वर्णन है। इस प्रकरण में सूरदास बाल मनोविज्ञान के कवि हैं। कृष्ण की बाल-लीलाओं का अति भावपूर्ण वर्णन सूरदास के काव्य की विशिष्ट गरिमा है। अपनी लीला की भिन्न भिन्न परिभूमियों में कृष्ण सहज मानव-गुण सम्पन्न लगते हैं, परन्तु उनका व्यक्तित्व धार्मिक चेतना और भावना से रहित भी नहीं है। कवि कृष्ण की बाल-छवि और बाल-लीला का वर्णन करता है। सूरदास आलम्बन रूप में कृष्ण के रूप सौन्दर्य का संश्लिष्ट विधान करते हैं। कृष्ण घुटरुवनि चलत नन्द के कनक आँगन में घुटनों के बल चल रहे हैं। मुख पर लटें फैली हैं, कृष्ण सतरंगी झगुली पहने हैं लटें मुख-कमल पर भ्रमर-पंक्तियों के समान हैं। सतरंगी झगुली इन्द्र धनुष के समान है। श्याम होठों में दूध की दन्त-पंक्तियाँ बादलों में विद्युत के समान चमकती हैं (पद १०५)। इस प्रकार आलम्बन का सम्पूर्ण बिम्बविधान इस वर्णन में हो जाता है। मणिमय कनक-आँगन में किलकारी मारते शिशु कृष्ण घुटनों के बल चल रहे हैं। मणिमय आँगन में उनका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। कृष्ण अपने प्रतिबिम्ब को ही पकड़ने के लिए दौड़ते हैं। उनकी स्वच्छ दन्तपंक्तियाँ मणिमय कनक-आँगन में प्रतिबिम्बित हैं। कृष्ण की बाल-लीलाओं से उल्लसित हो यशोदा इस सुखलाभ के लिए नन्द को बुलाती हैं। उनका वत्सल हृदय आनन्द-पूरित हो जाता है और उनके स्तनों में दूध उतर आता है (११०)। हरि अपने आँगन में गा रहे हैं बाल-सुलभ क्रीड़ा कर रहे हैं—

हरि अपने आँगन कछु गावत।
तनक-तनक चरनन सौं नाचत मनहीं मनहिं रिझावत।
बाँह उठाई काजरी-धौरी गैयनि टेरि बुलावत।
कबहुँक बाबा नन्द पुकारत कबहुँक घर में आवत।
माखन तनक आपने कर लै तनक बदन में नावत।
कबहुँ चितै प्रतिबिम्ब खम्भ में लोनी लिए खवावत।
दुरि देखत जसुमति यह लीला हरष अनन्द बढ़ावत।
सूर स्याम के बालचरित नित नितही देखत भावत।

सूरसागर, दशम-स्कन्ध।

यशोदा कृष्ण को पालने में झुला रही हैं लोरी गा रही हैं—

> पलना स्याम झुलावति जननी।
> अति अनुराग परस्पर गावति, प्रफुल्लित मगन होति नँद घरनी॥
> उमँगि-उमँगि प्रभु भुजा पसारत, हरषि जसोमति अंकम भरनी।
> सूरदास प्रभु मुदित जसोदा पूरन भई पुरातन करनी। ८४।

एक अन्य पद में इस प्रकार का वर्णन मिलता है कि यशोदा कृष्ण को पालने पर लोरी गाकर सुला रही हैं। लोरी के प्रभाव से शिशु निद्रित होने लगा है। माँ मौन हो जाती है। शिशु जाग पड़ता है। जननी पुनः लोरी गाने लगती है

> कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै।
> सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि-करि सैन बतावै॥
> इहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि जसुमति मधुरैं गावै।
> जो सुख सूर अमर-मुनि दुरलभ, सो नंद भामिनि पावै॥
>
> दशम स्कन्ध।५२।

इस प्रकार कवि ने कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं के अति जीवन-व्यापी स्वरूप का सम्यक् विधान किया है। इन वर्णनों में यशोदा के वात्सल्य की ही प्रधानता है। माता यशोदा अपने शिशु के बड़े होने की कामना करती हैं। शिशु की तुतली बोली पर उनका मन रीझ जाता है। अपनी बाल-लीला के मध्य ही कृष्ण पूतना तृणावर्त और शकटासुर आदि का वध करते हैं। इस प्रकार कृष्ण की अलौकिक लीलायें बाल-क्रीड़ा के क्रम के रूप में वर्णित हैं। कृष्ण के ये व्यापार आरोपित नहीं लगते हैं। उदाहरण स्वरूप तृणावर्त-वध के वर्णन को लें। इस अंश में वात्सल्य रस के सन्दर्भ में ही अलौकिक घटना घटती है। यशोदा अभिलाषा कर रही है कि कब मेरा शिशु 'घुटरुन' चलेगा। अभी इस प्रकार से सोच ही रही थीं कि तृणावर्त-वध की अलौकिक घटना घटती है—

> जसुमति मन अभिलाष करै।
> कब मेरो लाल घुटुरुवनि रेंगै कब धरनी पग द्वैक धरै।
>
> × × × ×

इहिं अन्तर अंधवाइ उठ्यो इक, गरजत गगन सहित घहरे।
सूरदास ब्रज लोग सुनत धुनि, जो जहँ तहँ सब अतिहिं डरे।

सूरसागर ७९।

इस प्रकार के वर्णन-सन्दर्भों में सूरदास अनिवार्य रूप से संकेत करते हैं कि कृष्ण परब्रह्म हैं। उनकी बाल-लीलाओं में उनके अलौकिक व्यक्तित्व की ओर संकेत करते हैं—

कर गहि पग अंगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले हरषि हरषि अपने रंग खेलत।
उन ब्रज बासिनि बात न जानी समुझे सूर सकट पगु पेलत।

ब्रज वासियों को कभी-कभी इस सत्य का आभास मिल भी जाता है कि कृष्ण अलौकिक हैं। परन्तु यशोदा इसकी कल्पना भी नहीं कर पाती हैं कि कृष्ण अलौकिक व्यक्ति हैं। कृष्ण की अलौकिक लीलाओं को वे आकस्मिक घटनायें मानती हैं। उन्हें अपने बालक के सामर्थ्य पर आश्चर्य होता है। परन्तु, अन्त में पुत्र की मंगल-कामना से आपूरित मन पश्चाताप करता है यदि कहीं बालक का अमंगल हो जाता तब—

जसुमति सुनि मन चकित भई।
मैं बरजति बन जात कन्हैया काँपी करे दई।
जहाँ-जहाँ तें उबर्यो मोहन, नेकु न तऊ डरात।
आपुन यहाँ तनक सौ बन में सुनो बहुत मैं बात।
मेरो कह्यो सुनो जो अबलनि कहति यशोदा खीझत।
सूर-श्याम कह्यो बन नहिं जैहौ यह कहि मन-मन रीझत।

सूरसागर दशम स्कन्ध ४१४।

कृष्ण की बाल लीलाओं के मध्य काली (नाग) दमन की घटना का उल्लेख मिलता है। इस अंश में सूरदास नाग की भयंकरता की अपेक्षा कृष्ण के नृत्य के सौन्दर्य-स्वरूप का ही चित्र विधान करते हैं। कृष्ण की रास लीला के सन्दर्भ में भाव और अनुभूतियों के जिस सौन्दर्य विधान की रचना कवि करता है उससे भिन्न विधान इस अंश की व्यञ्जनाओं का नहीं है। नाग की भयंकरता नृत्य-सौन्दर्य में ही समर्पित हो उठती है—

छन छन प्रति निरखत नव नन्दन ।
जल भीतर जुग बाम रहे मनहुँ मिल्यो नहीं तम चंदन ।
उहै काछनी कटि पीताम्बर सीस मुकुट अति सोहत ।
मानो गिरि पर मोर अनंदित, देखत ब्रज-जन मोहत ।
अंबर धरे अमर सुषमा संग कै कै भुमि लिहु ओक ।
सूर स्याम काली पर निरखत आवत हैं ब्रज ओक ।

सूरसागर, १६२ ।

अष्ट छाप के कवि कृष्ण के बाल-लीला-वर्णन के सन्दर्भ में 'दधि-लीला' और 'माखन चोरी' के पदों में कृष्ण की बाल-क्रीड़ा के अति सुमधुर, मोहक और स्निग्ध वर्णन करते हैं। कृष्ण बाल-सखाओं के साथ दधि-माखन की चोरी करते हैं। यह व्यापार उनकी बाल-लीला का प्रमुख अंग है। एक पद में इस प्रकार का वर्णन मिलता है कि क्रीड़ा करते स्याम एक ग्वालिन के घर में प्रवेश करते हैं। घर सूना है। कृष्ण माखन खाते हैं दूध गिरा देते हैं पात्र फोड़ देते हैं। इस बीच ग्वालिन आ जाती है। कृष्ण को पकड़कर यशोदा के पास उपालम्भ देती है—

स्याम गए ग्वालिन घर सूनो।
माखन खाइ डारि सब गोरस, बासन फोरि सोच हठि चूनो।

× × ×

आइ गई ग्वालिन तिहि औसर निकसत हरि धरि पायो।
देखत घर बासन सब फूटे दही दूध ढरकायो।
दोउ भुज घेरि गोद करि लीन्हे, गई महरि के आगे।
सूरदास अब बसै कौन ह्याँ, पति रहि है ब्रज त्यागे। सूरसागर।

कृष्ण माँ यशोदा से कहते हैं कि मुझ पर इस प्रकार का दोषारोपण अन्यायपूर्ण है। माखन की चोरी सखाओं ने की है, अपनी चोरी छिपाने के लिए उन्होंने मेरे (कृष्ण) मुख में माखन लगा दिया है। कृष्ण माता से प्रमाण में कहते हैं पात्र ऊँचे 'छींके' पर है। मैं अपने नन्हें कर से उसे कैसे पा सकता हूँ—

देखत तुहीं सींके पर भाजन ऊँचे धर लटकायो।
तुहीं निरखि नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो। सूरसागर।

इस प्रकार के अनेक पद सूर दास की रचनाओं में उपलब्ध हो जाते हैं। कतिपय पदों में इस प्रकार का भाव व्यक्त मिलता है कि गोपियाँ कृष्ण के रूपकी प्यासी हैं, उनके मन में यह अभिलाषा भाव करती है कि कृष्ण उनके घर माखन चोरी करने आवें जिससे वे उनके रूप-सौन्दर्य का पान कर सकें। माखन चोरी के समय गोपियाँ कृष्ण को छिप कर देखती हैं उनके दर्शन-सुख से आल्हादित हो उठती हैं। कृष्ण और गोपियों के पारस्परिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में सूरदास अनुभूतियों के विविध रूपों का विश्लेषण करते हैं और भावों के आवेग में प्रवाह पूर्ण रूपों का अंकन करते हैं। इन वर्णनों में रागात्मक वृत्तियों का चित्रण सहज रूप में हुआ है। कृष्ण के व्यवहारों से गोपियाँ खीझती भी हैं और यशोदा को उपालम्भ भी देती है। परन्तु इन उपालम्भों में प्रेम भावना ही ध्वनित मिलती है—

सुनहु महरि अपने सुत के गुन कहा कहौं किहि भाँति बनाई।
चोली फारि हार गहि तोर्‌यौ इन बातनि कहौ कौन बड़ाई॥
माखन खाइ खवायो ग्वालन जो उबर्‌यो सो दियो लुटाई।
सुनहु सूर चोरी सहि लीन्हीं अब कैसे सहि जात ढिठाई॥

सूरसागर दशम स्कन्ध पद १२१।

वस्तुतः इस अंश में गोपी के हृदय की प्रेम भावना की व्यञ्जना वर्णन का मुख्य उद्देश्य है। इस प्रकार के अनेक अंश मिलते हैं जिनमें गोपियों के उपालम्भ में उनके प्रणय सिक्त हृदय का प्रतिबिम्ब मिलता है। मार्ग चलते हुए कृष्ण गोपियों को तंग करते हैं। मन में प्रेम-अनुभूति से वे पुलकित होती हैं। उसी मन से वे उपालम्भ देती हैं।

देखो माई या बालक की बात।
बन उपबन सरिता-सर मोहै, देखत स्यामल गात।
मारग चलत अनीति करत है हठ करि माखन खात।
पीताम्बर वह सिर ते ओढ़त, अंचल दै मुसुकात।

सूरसागर दशम स्कन्ध १६६।

शृंगार की भूमिका में राधा-कृष्ण मिलन के वर्णन-स्थल विशेष मोहक हैं। कृष्ण क्रीड़ा कर रहे हैं। हाथ में भौंरा चकडोरी है। इस प्रकार क्रीड़ा करते

करते कृष्ण यमुना-तट पर पहुँचते हैं। प्रथम बार राधा-कृष्ण का परिचय होता है—

गए स्याम रवि तनया कैं तट अंग लसति चंदन की खौरी।
औचक ही देखी तहँ राधा नैन बिसाल भाल दिए रोरी॥
×　　　　×　　　　×　　　　×
संग लरिकिनी चलि इति आवति, दिन थोरी अति छबि तन गोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगोरी॥

सूरसागर दशम स्कन्ध।

कृष्ण राधिका से पूछते हैं, तुम्हें कभी ब्रज में नहीं देखा है। राधिका उत्तर देती है—

काहे को हम ब्रज तन आवति, खेलत रहत आपनी पौरी।

कृष्ण कहते हैं—

तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।

राधा और कृष्ण की प्रणय-लीलाओं का आरम्भ इस प्रकार से होता है। राधा-कृष्ण का प्रेम क्रमशः प्रेम और मधुर भाव में परिवर्तित हो जाता है। इस में प्रणय की आकुलता व्याप्त होती है। राधिका की यह स्थिति है कि बिना कृष्ण-दर्शन के पल भर रह नहीं सकती। परिवार तथा लोक-मर्यादा का बन्धन उसके लिये असहनीय है। मर्यादा के मध्य ही वह मार्ग निकालती है। गाय दुहाने के बहाने वह घर से निकलती है। कृष्ण राधिका का मन हर ले गए हैं। विरह-ताप से संतापित भावनायें आकुल हैं। सूर ने राधिका की आकुलता का वर्णन इस रूप में किया है—

उठी प्रात ही राधिका, दोहनी कर लाई।
महरि सुता सौं तब कह्यो, कहाँ चलि अतुराई।
खरिक दुहावन जाति हौं, तुम्हरी सेवकाई।
तुम ठकुरायन घर रहौ, मोहिं चेरी पाई।
×　　　　×　　　　×　　　　×
माइ भई प्यार कै प्रातहि नहिं जाई।
या कारन मैं जाति हौं अति करत चँढाई।

सूरसागर ७११।

राधा अपनी भावनाओं में ही केन्द्रित है। उसे वस्तुस्थिति का भी विस्मरण हो जाता है। वह रीते पात्र को ही बिलोती है—

रीति माट बिलोवई, चित्त कहीं कन्हाई।
उनके मन की काह कहौं, ज्यों दृष्टि समाई।
सैंया मोई वृषभ सौं मैया बिसराई। पद ७१६।

संयोग शृ गार में मुरली-वर्णन के प्रसंग में गोपियों के प्रणयी भाव का चित्रण और उनकी मार्मिक अनुभूति की व्यञ्जना कृष्ण भक्ति काव्य के भाव पक्ष का एक अन्य उल्लेखनीय अंश है। मुरली कृष्ण के 'अधर रस' का पान करती है। जिस अधरामृत-पान के लिये गोपियाँ लालायित रहती हैं, वह मुरली को सहज प्राप्त है। यह गोपियों के लिये ईर्ष्या का सन्दर्भ है। गोपियों में अनुरक्त रहते हुए भी कृष्ण मुरली के साथ अधिक सम्बन्धित रहते हैं। कृष्ण के मुरली में अनुरक्त रहने के कारण गोपियों का आनन्द बाधित रहता है। गोपियाँ मुरली को सपत्नी भाव से देखती हैं। 'मुरली हम कौं सौत भई'। वचन वक्रता के माध्यम से मुरली के कुल पर वे आरोप करती हैं। मुरली अपने वंश प्राप्त गुणों के अनुसार ही तो व्यवहार करती है। मुरली का पिता बांस-वर समग्र पृथ्वी को जल-प्लावित करता है परन्तु पपीहे को तृषित रखता है। पृथ्वी सब को जन्म देती है, फिर भी कुँवारी रहती है। इन गुणों से आपूरित मुरली गोपियों के विरह का कारण बनती है।

सुनहु सखी याके कुल धर्म।
बंसीह पिता, मातु बैंसी बन देखौ याके कर्म।
वे बरसत धरनी सम्पूरन सर सरिता अवगाह।
चातक सदा पियासे रहत हैं एक बूँद की चाह।
धरनी जनम देत सबही कौं आपुनि सदा कुँवारी।
उपजत फिर ताही में बिनसत छोहन कहु महतारी।
ता कुल में यह कन्या उपजी याके गुननि सुनाऊँ।
सूर सुनत गुन होत तुम्हारे, पै कहि के गुन पाऊँ।
सूर सागर दशम स्कन्ध पद १२५।

मुरली कृष्ण और गोपियों के मध्य व्यवधान बनती है, परन्तु गोपियाँ अपने नेत्रों के कारण विवश हैं। इनके कारण ही वे परवश हुई हैं। कृष्ण-रूप पिपासित नेत्रों को प्रताड़ना देती हैं, वे आक्रोश प्रकट करती हैं। परन्तु इस आक्रोश और प्रताड़ना में उनकी प्रणय-आकुलता, विह्वलता, और विवशता ही व्यंजित है।

स्याम रंग रंगीले नैन।
धोए छुटत नहीं यह कैसेहुँ, मिले पिघिलि ह्वै मैन।

पद २२११

इस प्रकार उनके नेत्र श्याम-रंग में रंजित हैं, कोमी के समान उनके साथ साथ ही रहते हैं।

अष्ट छाप के कवियों ने कृष्ण के गोचारण प्रसंग में क्रीड़ा-पदों का अति व्यापक रूप प्रस्तुत किया है। कृष्ण आभीर बालक हैं। अपने आभीर-सखाओं के साथ वे गोचारण करते हैं। वन-प्रान्तर में क्रीड़ा के समय परस्पर लड़ते हैं। कृष्ण आयु में सम्भवतः सबसे छोटे हैं। अन्य सखा क्रीड़ा में रत हैं। गायों के घेरने का काम कृष्ण को ही करना पड़ता है। कृष्ण यशोदा से उपालम्भ देते हैं—

मैया हौं न चरैहौं गाई।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसौं मेरे पाँय पिराई।

कृष्ण और श्रीदामा के बीच अधिक लड़ाई है। कृष्ण खेल में हार जाते हैं और रूठते हैं। अन्य सखाओं को कृष्ण का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगता। वे कहते हैं—

खेलत में को काको गोसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा बरबस ही कित करत रिसैयाँ।

× × × ×

अति अधिकार जनावत याते अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ।

कभी-कभी राधिका और कृष्ण के प्रसंग को लेकर गोप-बालक कृष्ण के साथ हास-परिहास भी करते हैं। उनके विनोद में व्यंग्य भाव स्पष्ट निहित मिलता है। एक प्रसंग में इस प्रकार के भाव का निरूपण मिलता है कि गोचारण के

समय सभी गायें बिखर गई हैं। एक सखा द्रुम पर चढ़ कर गायों को 'टेरकर' एकत्र करने का आदेश देता है,—

द्रुम चढ़ि काहे न टेरहु कान्हा गइयाँ दूरि गईं।

× × × ×

मापी जात सबन के आगे, न नृपमान भई।

'नृपमान' के द्वारा व्यंग्य का स्वर अति प्रयोजन पूर्ण है। इस प्रकार के वर्णन इस अनेक रूपों में सूरदास की रचनाओं में मिलते हैं। अन्य प्रसंगों में ग्वाल बाल कृष्ण को खेझते हैं कि नन्द तो गौर वर्ण के हैं यशोदा गौर वर्णी हैं।[1] कृष्ण इसपर कुपित होकर माता यशोदा के पास पहुँचते हैं। मा पुत्र की रोष-मुद्रा पर विह्वल हो उठती है। माता अपने यौवन की सौगन्ध खाकर कहती हैं, 'मैं तुम्हारी माता हूँ तुम मेरे पुत्र हो। कृष्ण-बलराम गोचारण के समय झगड़ते हैं। बलराम बड़े हैं परन्तु बालकों में इस छोटे-बड़े का ध्यान कहाँ रहता है—

कनक कटोरा प्रात ही दधि घृत सुमिठाई।
खेलत खात गिरावहिं, झगरत दोउ भाई।
अरस परस चुटिया गहैं, बरजत है माई।
महा ढीठ माने नहीं कछु लहुर बड़ाई।

सूर सागर। दशम स्कन्ध १६२।

राधा-कृष्ण, तथा गोपी-कृष्ण की शृंगार-लीला के वर्णन में सूरदास तथा अष्ट छाप के अन्य कवियों ने मान लीला, दान-लीला पन-घट लीला, रासलीला

१। मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसो कहत मोल को लीन्हो तू जसुमति कब जायो।
कहा करौं इहि रिसि के मारें खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता को है तेरो तात।
गोरे नन्द, जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै दै ग्वाल नचावत हँसत सबै मुसकात।
तू मोहीं को मारन सीखी दाऊहिं कबहुँ न खीझो।

सूरसागर ८३१

आदि प्रसंगों को लेकर रचनायें की हैं। गोपियां कृष्ण के रूप-माधुर्य पर विमोहित हैं, कृष्ण और गोपियों के इस आकर्षण पूर्ण को सन्दर्भ को ग्रहण कर कवि कृष्ण राधिका तथा गोपियों की क्रीड़ा का विधान करते हैं। कृष्ण के प्रणय प्रस्ताव के वर्णन के साथ-साथ कुञ्ज-विहार, यमुना-स्नान जल-केलि, पीठ-मर्दन हिंडोला रास-नृत्य आदि भावों से आपूरित पदों की संख्या मात्रा में अधिक है। गुरुजनों के मध्य बैठी राधिका के सम्मुख कृष्ण आ जाते हैं। गुरुजनों की मर्यादा की वह चिंता भी नहीं करती और संकेत से ही कृष्ण से वार्तालाप कर लेती है—

स्याम अचानक आइ गए री।
मैं बैठी गुरुजन बिच सजनी देखत ही मेरे नैन नए री।
तब इक बुद्धि करी मैं ऐसी, बेंदी सों कर परस कियौ री।
आपु हँसि रस पाय मसकि हरि अन्तर्यामी जान लियौ री।
लेकर कमल अधर परसायौ, देखि हरषि पुनि हृदय धर्यौ री।
चरन छुए दोउ नैन लगाए, मैं अपने भुज अंक भर्यौ री।

पद २४६७।

प्रेम अथवा शृंगार-वर्णन के प्रसंग में प्रथम समागम-सम्बन्धी पद मिलते हैं। इसके अतिरिक्त विपरीत रति सुरतिवर्णन और शृंगार-सज्जा-सम्बन्धी पदों में संयोग-सुख के विभिन्न भाव वर्णित मिलते हैं। उदाहरण स्वरूप एक पद में इस प्रकार का भाव-व्यक्त है कि एक गोपी स्याम के लिए प्रतीक्षाकुल है। समस्त रात्रि उसने प्रतीक्षा में व्यतीत कर दी है, कृष्ण अपने वचन का पालन नहीं करते हैं। कृष्ण प्रात समय लौटते हैं। उनके शरीर पर रति-चिह्न स्पष्ट है। गोपी कुछ कहती नहीं है केवल दर्पण उनके सम्मुख रख देती है, और व्यंग्य करती है—

क्यों मोहन दर्पन नहिं देखत।
क्यों अपनी पग-पलकनि करोवत क्यों हम तन नहिं पेखत।
क्यों उनके बैठत क्यों नाहीं कहा परी हम चूक।
पीताम्बर नहि कहाँ बैठिमी, रहे कहाँ हो मूक।

उघरि गयौ उर तें उपरौना, म.. न-बिनु मुख ग्रास ।
सूर देखि अटपटी पाग पर, यावक ५.. छवि काज ।

सूर सागर, ११०२ ।

हिन्दी-कृष्ण-भक्ति-काव्य में वियोग-शृंगार का स्वरूपविन्यास रस की सर्व उन अनुभावना पर आधारित है । सिद्धान्त निरूपण की दृष्टि से कृष्ण और राधिका तथा गोपियों के वियोग-वर्णन के माध्यम से कवि ब्रह्म और जीव के मध्य के वियोग-स्वरूप का निरूपण करते हैं । परन्तु सिद्धान्त की बौद्धिकता इनकी रचनाओं में प्रखर नहीं हो सकी है । इनकी रचनाओं में भाव पक्ष और अनुभूति की प्रधानता है । सिद्धान्त निरूपण केवल सांकेतिक रूप में विद्यमान है ।

कृष्ण भक्ति काव्य में विप्रलम्भ शृंगार की उद्भावना कृष्ण के मथुरा-गमन के आधार पर हुई है । कृष्ण अक्रूर के साथ मथुरा चले जाते हैं । उद्धव के द्वारा वे यशोदा और गोपियों तथा अन्य ब्रजवासियों के लिए सन्देश भेजते हैं । कृष्ण यशोदा के वत्सल हृदय की पीड़ा जानते हैं । यशोदा की पीड़ा से परिचित कृष्ण उनके लिए एक आश्वासनपूर्ण सन्देश भेजते हैं—

कहियो कान्ह सुनि जसुमति मैया ।
आवहिंगे दिन चारि पाँच में हम हलधर दोउ भैया ।
मुरली बेत बिषान हमारी कबहूँ अबेर सबेरो ।
मति लै जाइ चुराइ राधिका, कछुक खिलौनो मेरो ।
जा दिन तें हम तुम सों बिछुरे काहु न कह्यो कन्हैया ।
प्रात न कियो कलेऊ कबहूँ, साँझ न पय पियो पैया ।

सूर सागर ४०११ ।

माता यशोदा के हृदय को इस सन्देश से धैर्य और विश्वास मिलेगा । राधिका कुछ खिलौना चुरा न ले जाय, इस ओर संकेत करके कृष्ण यशोदा के मन में विश्वास भावना दृढ़ करते हैं । अष्ट छाप के कवियों में सूरदास परमानन्द तथा कुम्भन दासने विरह का आत्मनिष्ठ वर्णन किया है । नन्द दास के विरह वर्णन में इस आत्मनिष्ठ स्वरूप और संवेदनशीलता के दर्शन नहीं होते हैं । विरह-अनुभूति के लिए प्रेम की चार अवस्थायें स्वीकार की गई हैं—पूर्वराग मान प्रवास तथा करुणा । पूर्वराग, और मान संयोग की पीठिका में वर्णित

वियोग के माध्यम से प्रस्तावित हुए हैं। प्रवास तथा करुणा का चित्रण कृष्ण के मथुरा प्रस्थान के पश्चात् अंकित मिलता है। परन्तु वियोग का करुण-रूप नहीं स्वीकार नहीं किया गया है। यहाँ विरह की पूर्व वेदनापूर्ण स्थिति आनन्द-पूर्ण मानी गई है। आनन्द की यह अवस्था भोग से श्रेष्ठ है। सूरदास ने विरह वर्णन को मुख्यतः दो सन्दर्भों में प्रस्तावित किया है। प्रथम सन्दर्भ के अन्तर्गत गोपी परस्पर अपनी विरह-व्यञ्जना करती हैं। द्वितीय के अन्तर्गत उद्धव-गोपी संवाद अथवा भ्रमर गीत की योजना मिलती है। सूरदास ने कथा-तत्व का आधार ग्रहण किया है। परन्तु अन्य कवियों ने कथा-तत्व का आधार नहीं ग्रहण किया है। अतः इनके वर्णनों में विरह की क्रमबद्धता नहीं है। कृष्ण के वियोग में गोपियाँ अपने विरही मन की पीड़ा की परस्पर व्यञ्जना करती हैं। प्रकृति के व्यापक सौन्दर्य में गोपियों को अपनी भावनायें और मनो दशायें प्रतिबिम्बित मिलती हैं। कोकिल की ध्वनि वियोग में उद्दीपन का कार्य करती है। राधिका कोकिल को हाथ से उड़ाकर दूर भगाना चाहती है परन्तु दुर्बलता के कारण उसके हाथ के कंकन आकाश की ओर उछल जाते हैं। शशि की किरण त्रस्त करती है मलय समीर की शीतलता उसे दग्ध करती है—

कर कंकन कोकिला उड़ावति सिव सुखनाम लिए।
ससि संका निसि चाननि के मग, मदन मनाइ लिए।
सिसि-सिसि सीत समीरहि रोकत, अंचल ओट दिए।
भूम भर मलय परसि तन तलफत, मनु विष विषम पिए।

विरहिणियों के भाव-संवेग का अति प्रभावपूर्णरूप कृष्ण भक्त कवियों के विप्रलम्भ-चित्रण में उपलब्ध होता है। प्रिय वियोग में रात्रि की कालिमा नागिन के समान है। और इस कालिमा को भेद कर शशि जब नभ में आ जाता है तो विरह की पीड़ा विषाक्त हो जाती है। यह पीड़ा यामिनि के दंशन के समान लगती है।

पियाबिनु नागिनि कारी रात।
जो कबहुँ जामिनि उवति जुन्हैया, डस उलटी ह्वै जात।

दशम स्कन्ध। ३२०१।

गोपियों के नेत्र कृष्ण-दर्शन के लिए हठ करते हैं। कृष्ण के आगमन की तिथि में शकुन निकालने में वे काग उड़ाती हैं। काग उड़ाते-उड़ाते उनकी बाँहें थक जाती हैं। यही उनके जीवन का क्रम है—

अँखिया करत हैं अति आरि।
सुन्दर स्याम पाहुने के मिस मिलि न जाहु दिनि चारि।
बाँह थकी बायसहिं उड़ावत मग देखें अनुहारि।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु सकै न पंख पसारि।

सूरसागर १२४३।

विरहिणी गोपियाँ यमुना में अपनी विरह-अवस्था का प्रतिबिम्ब देखती हैं। यमुना की अवस्था का वर्णन कर उसमें अपने स्वरूप का संश्लिष्ट रूप विधान करती हैं—

देखियत कालिन्दी अति कारी।
अहो पथिक कहियो उन हरि सों भई बिरह जुर जारी।
गिरि प्रजंक तें गिरति धरनि धँसि तरंग तरफ तन भारी।
तट बारु उपचार चूर जल-पूर प्रस्वेद पनारी।
निसि दिन चकई पियजु रटति है भई मानो अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना गति सो गति भई हमारी।

गोपियों के मनोभावों और उनकी अनुभूतियों की विविधताओं के अनेक रूप विधान इन कवियों की रचनाओं में अंकित मिलते हैं। गोपियाँ अपने नील-नयनों में अंजन नहीं लगातीं अपने कुन्तल नहीं सजातीं और प्रेम-तृषा में प्रिय की स्मृति में केन्द्रित उनकी भावनायें उन्हें अति कातर बना रही हैं (३८८५)। ऋतुयें गोपियों के लिए बैरिनि हो गई हैं। भिन्न भिन्न ऋतुओं में प्रकृति-व्यापार उनके लिए उद्दीपन कार्य कर रहे हैं। मयूरी उन गिरियों पर चढ़ कर नृत्यकर वर्षा के आगमन की सूचना विरहिणियों को देती है—

निरिनि गिरर चढ़ि मोर नचायो।
विरहिनि सावधान ह्वै रहियो सखि पावस दल आयो।

प्रकृति में वर्षा की एक अवधि होती है परन्तु श्याम के प्रवास से गोपियों के नेत्र प्रतिक्षण बरसते हैं, उनके जीवन में पावस निरन्तर विद्यमान है। चन्द्रमा गोपियों को दग्ध करता है—

माई री चन्द लाग्यो दुख देन।
कहाँ वो देस कहाँ मनमोहन, कहाँ सुख की रैन।
तारे गिनत गई री सब निसि नेंक न लागे नैन।
परमानन्द प्रभु पिय बिछुरे ते पल न परत चित चैन।

परमानन्द सागर पद ५१७।

इस प्रकार के अगणित भावपूर्ण संदर्भों के दर्शन सूरदास तथा इनके समवर्ग के अधिकांश कवियों की रचनाओं में उपलब्ध हो जाते हैं। विरह-व्यथा की व्यंजना के लिए प्रभाव-साम्य मूलक अलंकार के विविध प्रयोगों से कवि विरह व्यथा के अति मूर्तिमान रूप का संश्लिष्ट विधान करते हैं। एक पद में कृष्ण की प्रीति को वधिक के कपट-व्यवहार के समान गोपियाँ स्वीकार करती हैं। कृष्ण के विरह से विदग्ध गोपियाँ विवश और दुखी हैं। उनकी अवस्था उस पक्षी के समान है जिसे वधिक पहले कपट कन चुगाता है, फिर उसके गले पर छुरी फेर कर उसका वध करता है। कृष्ण का प्रेम 'कपट-कन' है उनका वियोग 'गले की छुरी है।'—

प्रीति कर दीन्ही गर छुरी।
जैसे बधिक चुगाई कपट कन पाछे करत बुरी॥
मुरली मधुर चेंप काँपो करि मोर चन्द्र फन्दवारी।
अंक बिलोकनि लगी लोभ बस सकी न पंख पसारि।
तरफत छाँड़ि गए मधुबन को, बहुरि न कीन्ही सार।
सूरदास प्रभु संग कल्पतरु, बहुरि न बैठी डार।

सूरसागर ३१८५।

गोपियाँ इस प्रकार दीन और विवश हैं। अपनी विरह-दशा के चित्रण के लिए गोपियों ने विरह-वेदना में व्यथित अनेक उपमानों का सन्दर्भ ग्रहण किया है। पतंग, कुरंग परेवा और पपीहा—इन सब की विरह-व्यथा में गोपियों

की भावनाओं का तादात्म्य पा लेती हैं। इनमें गोपियाँ अपनी अवस्था का साम्य पा लेती हैं—

प्रीति तो मरिबोऊ न बिचारै।
निरखि पतंग ज्योति पावक ज्यौं जरत न आप सँभारै।
प्रीति कुरंग नाद मन मोहित बधिक निकट ह्वै मारै।
प्रीति परेवा सकत गगन तें गिरत न आपु सँभारै।
सावन मास पपीहा बोलत, पिय-पिय करि जु पुकारै।
सूरदास प्रभु दरसन कारन ऐसी भाँति बिचारै।
सूरसागर ३२६०।

इस अंश में गोपियों ने अपना साम्य व्यंग द्वारा प्रकट किया है। प्रीति मृत्यु-भय से प्रभावित नहीं होती। प्रीति ही पतंग को शक्ति देती है जिससे निर्भय होकर वह दीपक-ज्योति में समर्पित हो उठता। नाद-प्रेम के कारण कुरंग बधिक द्वारा मारा जाता है। प्रीति के कारण ही परेवा आकाश से पृथ्वी पर गिरता है, प्रीति की विवशता में ही पपीहा सम्पूर्ण सावन मास 'पी' 'पी' की रट करता है।

विरह-भावना के प्रकाशन में अतिशयोक्ति का संस्पर्श इन कवियों की रचनाओं में मिलता है। परन्तु इसके अन्तर्गत की चरम विवशता में गोपियों के भावों के प्रति भावुक स्वरूप का मूर्त विधान होता है। एक पद में एक गोपी चन्द्रमा के उद्दीपन-पूर्ण प्रभाव से आकुल होकर कहती है—

सखि कर धनु लै चन्दहि मार।
ऐसी भाँति दुखाद मुकुर मैं अति बल खंड-खंड करि डारि। ३३२१।

भावों के आकुल परिवेश में गोपी वीणा लेकर काम करती है। शशि में स्थित मृग वीणा के स्वर से मुग्ध हो जाता है स्थिर होकर वह गीत सुनता है इस प्रकार शशि नभ में स्थिर हो जाता है जो गोपियों में उद्दीपन जागृत करता है। अतः मन शान्त करने के इस प्रयापन से भी गोपियाँ पीड़ा प्राप्त करती हैं।

दूर करहि बीना कर धरिबो।
रथ थाक्यौ मानहुँ मृग मोहे, नाहिन होत चन्द को ढरिबो।

राधिका की पीड़ा के प्रकाशन के लिए विविध प्रकार की अभिव्यञ्जना विधाओं का प्रयोग देखने को मिलता है। पीड़ा से राधिका अपने निवास से बाहर नहीं निकलती। सौन्दर्य में उसके विभिन्न प्रतिद्वन्द्वियों के लिए यह उल्लास का अवसर है। इस व्यंग्य-पूर्ण वर्णन में कवि अप्रस्तुत प्रशंसा से राधिका और गोपियों का सौन्दर्य निरूपण करते हैं, साथ ही साथ उनके विरह विदग्ध स्वरूप का संश्लिष्ट रूप विधान भी करते हैं—

> तब ते इन सबहिन सचु पायो।
> जब तें हरि संदेस तुम्हारो सुनत वाँवरो आयो।
> फूले ब्याल दुरे ते प्रगटे, पवन पेट भरि खायो।
> खोले मृगनि चौक चरन के हुतो जु जिय बिसरायो। ४१४१।

साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत विरह में वियोगिनी की एकादश अवस्थाओं के चित्रण का विधान मिलता है। अष्ट छाप के कवियों ने विरह की अन्तिम अवस्था मरण का चित्रण नहीं किया है, कारण, प्रेमलक्षणा भक्ति में मोक्ष अथवा मरण की अपेक्षा विरह की तीव्रता को विशेष महत्व दिया गया है। अतः इस अवस्था का केवल संकेत ही मिलता है।

विरह की प्रथम अवस्था है अभिलाषा। प्रिय-दर्शन-अभिलाषा की भावना विरहिणी में आकुलता धारण करती है—

> ऐसे समय जो हरि जू आवहिं।
> निरखि निरखि यह रूप मनोहर, नैन बहुत सुख पावहिं।
> कबहुक संग जु हिलमिल बोलहिं, कबहुंक कुच भुजावहिं।
> बिछुरे प्रान रहत नहीं घट में, सो पुनि आनि जियावहिं।
> अबकै चलत आन पूरव प्रभु, सब पहिले उठि ध्यावैं।

सूरसागर, पद ४००५

गोपियाँ प्रिय मिलन की कामना करती हैं, चिन्ता करती हैं। इस अवस्था को चिन्ता की संज्ञा दी गई है—

> रैनि पपीहा बोल्यो री माई।
> नींद गई चिन्ता चित बाढ़ी, सुरति स्याम की आई।
> सावन मास देखि बरषा ऋतु, हौं आँगन उठि धाई।

गरजत गगन दामिनि दमकत तामें बीज चढ़ाई।
बिरहिन बिकल दास परमानन्द बरनि परी मुरझाई।

परमानन्द सागर।

चिन्ता के पश्चात् की स्थिति है स्मरण। इस स्थिति में विरहिणी प्रिय की स्मृति से प्रतिपल परिपूर्ण रहती है। वह काल्पनिक संयोग की भावना के वशीभूत हो जाती है। सूरदास तथा परमानन्द दास की रचनाओं में इस विरह दशा से सम्बन्धित अनेक पद उपलब्ध हो जाते हैं—

मोहन यह क्यों प्रीति बिसारी।
समुझत गुनत समुझत उर अंतर दुख लागत है भारी।
×　　　　×　　　　×
हम पर कठिन हृदय अब कियो लाल गोवरधन धारी।
परमानन्द बलबीर बिना हम मरत बिरह की मारी।

परमानन्द सागर।

मेरो मन इतनी सूल रही।
वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नन्दलाल कहीं।

सूरसागर ४०११।

प्रिय की स्मृति में वियोगिनी गोपियाँ उनके गुणों का स्मरण करती हैं। अपने साथ किए गए प्रेम-व्यवहार की चर्चा करती हैं। यह गुण-कथन की स्थिति है।

एक द्यौस कुंजनि में माई।
नाना कुसुम लै अपने कर, दिए मोहि सो सुरति न जाई।
×　　　　×　　　　×
कहँ वह प्रीति रीति मोहन की कहँ अब धौं एत निठुराई।
अब बलबीर सूर प्रभु सखि री मधुबन बसि सब रति बिसराई।

पद ४००२।

प्रिय वियोग में संयोग-सुख की स्मृतियाँ उद्दीपन-कार्य करती हैं। यह दशा उद्वेग की स्थिति है। सूरदास और परमानन्द दास ने इस अवस्था से सम्बन्धित अनेक भावपूर्ण पद लिखे हैं—

कहौं लौं मानौं अपनी चूक ।

बिनु गोपाल सखी री छतियाँ ह्वै न गईं द्वै टूक ।

हृदय जरत है दावानल ज्यों कठिन बिरह की हूक ।

पद १४१८ ।

विरह की तीव्रता में विरहिनी अपनी व्यथा का वर्णन करती है और इस सन्दर्भ में वे प्रलाप की स्थिति में पहुँच जाती है—

सखि मिलि करौ कछुक उपाउ ।

मार मारन चढ्यौ बिरहिनि, निडरि पायौ दाउ ।

हुतासन-धुज जात उन्नत चल्यौ हरि दिसि बाउ । २७०३ ।

विरह व्यथा से विरहिणी उन्माद की स्थिति में पहुँचती है—

सखि करि धनु लै चंदहिं मारि ।

तब तो पै कहुँ न छिरैहै जब बसि जुर गई तनु जारि ।

उठि हरुआइ जाइ मन्दिर चढ़ि ससि सनमुख दरपन बिस्तारि ।

ऐसी भाँति बुलाइ मुकुर में अति बल खंड-खंड करि डारि ।

सूरसागर ३९७१ ।

विरह की तीव्रता से जड़ता की स्थिति आती है ।

देखी मैं लोचन चुवत अचेत ।

मनहु कमल ससि त्रास ईस को मुक्ता गनि-गनि देत ।

कहुँ कंकन कहुँ गिरि मुद्रिका कहुँ ताटंक कहुँ नेत ।

चेतति नहीं चित्र की पुतरी समुझाई सौ चेत ।४०१२ ।

विरह में विरही शारीरिक कष्ट पाता है, वह कृश हो जाता है । यह स्थिति व्याधि की है—

निकसत ही अपुनन बिन बात ।

नैननि नींद परत नहिं सजनी पुनि-पुनि व्याकुल मन अकुलात ।

× × ×

अनुदिन नैन तपत दरसन को हरद समान देखियत गात ।

सूरदास स्वामी के बिछुरे ऐसी भई हमारी घात १०८९ ।

वियोग में मूर्छित हो जाना मूर्छावस्था है—

सोचति अति पछताति राधिका मूर्छित धरनि ढही।
सूरदास प्रभु के बिछुरे तै बिथा न जात सही।

विरह की अन्तिम अवस्था है मरण। अष्ट छाप के कवियों ने मरण अवस्था का केवल उल्लेख मात्र किया है। मरण-अवस्था का चित्रण यहाँ नहीं मिलता है—

प्रान हमारे घात होत हैं तुम्हरे भायें हाँसी।
या जीवन तें मरन भलो है, करवत लैहैं कासी।
× × ×
कै हरि हमकौ आनि मिलावहु कै लै चलिये साथे।
सूर स्याम बिनु प्रान तजत हैं दोष तुम्हारे माथे।
सूरसागर।१४७२।

भ्रमर गीत

भ्रमर गीत उपालम्भ काव्य है। इसकी मुख्य संवेदना शृंगार रस के विप्रलम्भ पक्ष से है। वस्तुतः इसकी काव्य विधा अन्योक्ति मूलक है। इसमें भ्रमर को लक्ष्य कर उद्धव और कृष्ण के प्रति गोपियाँ उपालम्भ और विरह-वेदना व्यक्त करती हैं। अष्ट छाप के कवियों ने मुख्यतः सूरदास और नन्द दास ने इस काव्य विधा की प्रेरणा भी श्रीमद् भागवत से प्राप्त की है। भागवत में उद्धव ज्ञानयोग का सन्देश नहीं देते हैं। वहाँ उद्धव भी कृष्ण का कुशल सन्देश लेकर गोकुल आते हैं। कृष्ण का सन्देश लेकर वे नन्द यशोदा तथा गोपगोपिकाओं का शोक निवारण करते हैं। परन्तु इन अष्टछाप कवियों ने इससे भिन्न प्रकार की उद्भावना की है। इनकी रचनाओं में उद्धव विशुद्ध ज्ञान मार्गी हैं। कृष्ण इन्हें गोपियों के सम्पर्क से प्रेम लक्षणा भक्ति में दीक्षित होने के लिए भेजते हैं। इस प्रकार गोपियों की प्रेम लक्षणा भक्ति की विजय होती है और उद्धव का ज्ञान पराजित होता है। भागवत के दशम स्कन्ध के ४६ वें अध्याय में उद्धव कृष्ण का सन्देश लेकर व्रज में आते हैं नन्द यशोदा को कृष्ण का सन्देश देते हैं। सैंतालीसवें अध्याय में उद्धव और गोपियों का परस्पर संवाद है। कृष्ण सन्देश से गोपियाँ विकल होती हैं। कृष्ण-लीला का स्मरण कर आत्म विभोर हो उठती हैं। इस

मध्य एक गोपी के चरण पर एक भ्रमर पुन गुनाने लगता है। इस भ्रमर के व्याज से गोपियाँ कृष्ण को उपालम्भ देती हैं। भागवत में कृष्ण आत्म निग्रह का उपदेश नहीं देते हैं। कृष्ण गोपियों को आदेश देते हैं कि वे शुद्ध मन से कृष्ण का स्मरण करें।

परन्तु सूरदास की कल्पना इससे कुछ भिन्न प्रकार की है। सूर के काव्य में कृष्ण-भावना में ब्रजवासियों के साथ सम्बन्ध है। उन्हें वंशीवट, यमुना, राधा और गोपियों तथा रास का स्मरण आता है। कृष्ण के मित्र उद्धव अद्वैत ज्ञान के प्रचारक हैं। अत कृष्ण अपने मन के भाव किस पर प्रकट करें—

संग मिलौ कहौं कासो बात।
यह तो अलख योग की बातें जामें रस बरिजात।
कहत कहा पितु मातु कौन के पुरुष नारि कहुं भ्रात।

× × ×

ये बात कहिये किहि आगे यह सुनि हरि पछिताता।
सूर दास प्रभु ब्रज की महिमा कहि किमि बरत न मात। ४०११।

उद्धव प्रेम-लक्षणा भक्ति में विश्वास नहीं करते। अतः अपने सन्देश के माध्यम से कृष्ण उन्हें ब्रज भेजते हैं। कृष्ण उद्धव के सम्मुख अपनी भावनायें प्रकट करते हैं। ब्रज की स्मृति से वे द्रवित हो उठते हैं। राधिका उनके मानस-मन्दिर की आराध्या है और उसकी स्मृति कृष्ण को आमंत्रित करती है। माता यशोदा का प्रेम उन्हें ब्रज लौटने की प्रेरणा दे रहा है। उद्धव योग शिक्षा से कृष्ण की मोह विमुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। कृष्ण गोपियों में अचल, अविनाशी रेख-रूप-गुण से परे ब्रह्म के प्रति आकर्षण स्थापित करने का आग्रह कर उद्धव को ब्रज भेजते हैं।

उद्धव कृष्ण-सन्देश लेकर ब्रज के लिये प्रस्थान करते हैं। ब्रज में पहुंचते हैं। गोपियों का हृदय आशापूर्ण हो जाता है। उद्धव के रथ को सर्व प्रथम राधिका देखती है। उन्हें विश्वास होता है कि कृष्ण आ गये हैं। यह सूचना समग्र ब्रज-अंचल में फैल जाती है। यथा,

राखेहिं सखी बतावत री ।

जैसोई रथ आगत मोको, उतही ते कोउ आवत री ।

यहि आयो अक्रूर आहि पर स्यन्दन ब्रज तन धावति री ।

वैसिये ध्वजा पताका वैसोई बार-बार सबद सुनावत री ।

कोऊ कहै स्याम कहति को एहिं ब्रज तरनी हरषावत री ।

सूर स्याम जेहि पथ धारे तेहि मारग बरसावत री । ४०७६ ।

परन्तु जब उन्हें ज्ञात होता है कि कृष्ण नहीं, अपितु, उनके मित्र आए हैं तो उनकी दशा विस्मरणीय हो जाती है । गोपियाँ स्तम्भित हो जाती हैं वे मूर्छित हो जाती हैं । इसका वर्णन सूरदास ने इस प्रकार किया है—

जबहिं कह्यौ ये स्याम नहीं ।

परी मुरछि धरनी ब्रजबाला, जो जहँ रही सुतहीं । ४०७८ ।

यशोदा भी मूर्छित हो जाती हैं । इस पर गोपियाँ अपनी मूर्छा खोती हैं । उन्हें यशोदा की चिन्ता हो जाती है । उद्धव गोपियों को कृष्ण का सन्देश सुनाते हैं ।

गोपी सुनहु हरि संदेश ।

कह्यौ पूरन ब्रह्म ध्यावहु, त्रिगुन मिथ्या भेष ।

मैं कह्यौ सो सत्य मानहु सगुन डारहु नाखि ।

×   ×   ×   ×

मातु पितु कोऊ नाहिं नारी जगत मिथ्या लाइ ।

सूर सुख दुख नाहिं जाके भजौ ताको जाइ । ४१०१ ।

गोपियाँ उद्धव के इस सन्देश से आहत होती हैं । वे स्पष्ट शब्दों में कहती हैं कि इस सन्देश में उनके लिए कोई आकर्षण नहीं है । वे कृष्ण की कथा सुनने के लिए उत्सुक हैं । वे नन्दगोप-वासी गोपाल की कथा में रुचि रखती हैं । परन्तु उद्धव अपने मत पर दृढ़ हैं । वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

यह सन्देश कह्यो है माधो करि विचार जिय साधन साधो ।

ब्रह्म निगमा गुणमन भारी सुन्न सहज में रमत मुरारी ॥४५१७ ।

परन्तु गोपियाँ इसे उद्धव का प्रलाप समझती हैं । जिन अधरों से कृष्ण ने मुरली की मधुर ध्वनि का प्रसार किया, उन्हीं अधरों से गोपाल योग सन्देश

भेजने इस पर वे विश्वास नहीं करती हैं। गोपियाँ अपने भावों को अनेक रूपों में व्यक्त करती हैं। उनके अन्तर का एक-एक तन्तु, उनकी अनुभूतियों का एक-एक स्वर उद्धव के सन्देश का प्रतिकार करता है। और इस प्रसंग में उद्धव की अज्ञानता पर वे व्यंग्य भी करती हैं। ऐसे सन्दर्भ में वे विरोध मूलक विलक्षण उक्तियों के माध्यम से अपनी प्रतिक्रिया का प्रकाशन करती हैं—

कँहू अबला कँहू दिसा दिगम्बर मष्ट करो पहिचान। ३५२१।

वे कहती हैं सुकन्या (अबला) के लिए दिगम्बर (नग्न) रूप धारण की योजना मर्यादा के प्रतिकूल है। इसका बोध भी उद्धव को नहीं है। इसी प्रकार विरोध वर्ण और अप्रस्तुत योजना के द्वारा वे वस्तुस्थिति के स्पष्टीकरण का प्रयत्न करती हैं। उनके लिए योग की प्रस्तावना करना वैसे ही है जैसे कर्ण विहीना को कर्ण-आभूषण देना, अथवा अन्धे को काजल लगाना —

बूची खुभी आँधरी काजर, नकटी पहिरे बेसरि।
मुण्डी पाटी पारै चाहै कोढ़ी लावै केसरि। ३५५०।

गोपियों को उद्धव पर सन्देह होता है। कृष्ण ने जिस अंग का विविध-वस्त्रों और आभूषणों से शृंगार किया था, उसी अंग पर भस्म चढ़ाने का आदेश देने, इस पर उन्हें विश्वास नहीं होता है। फिर भी वे योग धारण करने के लिये तत्पर हैं, यदि श्याम की उपलब्धि हो जाय। वे यह भी कहती हैं कि योग-मार्ग श्रेष्ठ है, परन्तु ज्ञान और योग के अधिकारी जनों के लिए—

हमरे कौन नाहि अधिकारी।
लै न जाहु यह योग आपनो कत तुम होत दुखारी।
यह तो वेद-उपनिषद मत है, महापुरुष व्रतधारी।
हम अहीरि अबला ब्रज-बासिनि, नाहिन परत सँभारी।

गोपियाँ तो अहीरिनि हैं। उनका काम तो दधि बेचना, माखन निकालना है। तथापि उन्होंने कृष्ण-स्नेह-नवनीत की उपलब्धि की है।

इस प्रसंग में वे कुब्जा पर भी कोप प्रकट करती हैं। कुब्जा कृष्ण की पटरानी बन बैठी है। वे उद्धव से कहती हैं वे कृष्ण और कुब्जा के युगल स्वरूप को देखना चाहती हैं। उन्हें कृष्ण की बुद्धि पर दया आ रही है। राधा के सौन्दर्य की उपेक्षा कर उन्होंने कुब्जा को सम्मान दिया है। वे व्यंग्य करती

है कि तुलसी दास राघवानन्द के शिष्य थे जो रामानन्द के सिद्धान्तों के अनुयायी तथा महाकवि थे। परन्तु राघवानन्द रामानन्द के गुरु थे। ऐसी स्थिति में 'भविष्य पुराण' की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

गोस्वामी तुलसी दास के जीवन-वृत्त का परिचय 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' से भी मिलता है। इसके संकलनकर्ता गोकुलनाथ का समय सं० १६०८ और १६९१ के मध्य माना गया है। इस ग्रन्थ में नन्ददास की एक वार्ता में गोस्वामी तुलसीदास का उल्लेख मिलता है।—'सो वे नन्ददास पूर्व रहते सो वे दोय भाई हुते। सो बड़े भाई तुलसी दास हुते सो वे नन्ददास पढ़े बहुत हुते नन्ददास तुलसीदास के छोटे भाई हुते सो विनके नाच तमासा देखन को तथा राग सुनने को शौक हुतो सो नन्ददास जी के बड़े भाई तुलसी दास हुते। सो काशीजी सूं नन्ददास जी कूं मिलने के लिए ब्रज में आए। सो मथुरा में आयके श्री यमुना जी के दर्शन करे। पाछे नन्ददासजी खबर पाइ श्री गिरिराज जी पए जहाँ तुलसी दासजी नन्द दास जी कूं मिले।[1] इस ग्रन्थ से यह ज्ञात होता है कि नन्ददास तुलसी दास के छोटे भाई थे। तुलसीदास ने ब्रज की यात्रा की थी। तुलसी के आग्रह पर कृष्ण-मूर्ति राम-मूर्ति के रूप में परिवर्तित हो गई।[2]

'मूल गोसाईं चरित' में तुलसी दास का विस्तृत जीवन-परिचय मिलता है। इसके लेखक बेनी माधव दास हैं। मूल गोसाईं चरित में गोस्वामी तुलसी दास का जन्म काल इस रूप में लिया हुआ है—

पन्द्रह सौ चउवन बिषै कालिन्दी के तीर।
सावन सुक्ला सत्तमी तुलसी धरेउ शरीर।

---

१ दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर संदेह करते हैं। इन्हीं के आधार पर डॉ० माता प्रसाद गुप्त भी इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर सन्देह करते हैं।

२ इस प्रसंग में इस प्रकार की भावना व्यक्त मिलती है कि तुलसी ने कृष्ण मूर्ति को प्रणाम करना स्वीकार नहीं किया। इस पर नन्ददास ने निवेदन किया

कहा कहौं छवि आज की भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बाण लेहु हाथ।

गोसाईं चरित में तुलसी दास की निधन तिथि इस रूप में उल्लिखित है—

संवत सोलह सै असी असी गंग के तीर।
सावन श्यामा तीज शनि तुलसी तज्यो शरीर।

और—

गोस्वामी [illegible] जिन [illegible] कार्तिक मास।
लिख्यो [illegible] जिन [illegible] जिन बेनी माधव दास।

अर्थात् १६८० में सावन श्यामा तीज शनिवार को काशी में असी गंग के तट पर गोस्वामी तुलसी दास ने शरीर त्याग किया। बेनी माधव दास ने संवत् १६८७ में चरित पाठ करने के लिए इसकी रचना की। इसके अतिरिक्त मूल गोसाईं चरित में बाबा बेनी माधव दास ने गोस्वामी तुलसी दास की जन्म तिथि और जन्मस्थान के विषय में इस प्रकार लिखा है—

(१) जन्म तुलसी उजियार दियो।
(२) तुलसी [illegible] सुखी सुचिता राजियापुर राज गुरु मुदिता।
जिनके घर [illegible] मास परे [illegible] जोग [illegible]।
[illegible] अष्टम भानु-नखत अभिजीत [illegible] शनि सुन्दर सोम समय।

अर्थात् गहरवार [illegible] पत्यौजा ग्राम वासी राजियापुर के राज गुरु की धर्म पत्नी हुलसी की [illegible] कुक्षि में १२ मास के पश्चात् १५५४ में श्रावण [illegible] शनिवार, सायंकाल राजियापुर में गोस्वामी तुलसी दास का जन्म हुआ। उनका जन्म अभिजित नक्षत्र में हुआ था। उनके जन्म-पत्र में सप्तम स्थान पर मंगल तथा अष्टम स्थान में शनि थे। इस ग्रन्थ से तुलसी दास के पिता का परिचय नहीं प्राप्त होता है। ग्रन्थकार के अनुसार गोस्वामी तुलसी दास का जन्म श्रावण शुक्ला सप्तमी को शनिवार के सायंकाल हुआ था। परन्तु विद्वानों ने इस प्रस्तावना पर आपत्ति प्रकट की है। इसके अनुसार गणना के आधार पर गोस्वामी जी के जन्म-समय पर अभिजित नक्षत्र नहीं था। ऐसी स्थिति में 'मूल गोसाईं चरित' में प्रस्तावित गोस्वामीजी की जन्म तिथि विश्वसनीय नहीं लगती है। बेनीमाधवप्रसाद ने तुलसी दास के जीवन की अन्य महत्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन इस रूप में किया है—

यज्ञोपवीत—माघ शुक्ला पंचमी शुक्रवार १५६१ वि० सं०। पन्द्रह सै इकसठ माघ सुदी। तिथि पंचमी और भृगुवार छवी। सरजू तट विप्रन यज्ञ किये, द्विज बालक कहुँ उपदेश किये।

इसके अनुसार गोस्वामी तुलसी दास का विवाह ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी गुरुवार १५८३ वि० (२४ मई १५२६) को हुआ।[1] गोस्वामी जी की पत्नी का निधन आषाढ़ कृष्ण दशमी, बुधवार वि० संवत् १५८९ को हुआ।[2] गोस्वामी जी ने 'राम चरित मानस' की समाप्ति संवत् १६३३ मार्गशीर्ष सुदी ५, मंगलवार को की थी[3]। गोस्वामी जी का निधन संवत् १६८० श्रावण कृष्ण ३, शनिवार को हुआ।[4] ऊपर जो तिथियाँ प्रस्तावित हैं उनमें से गणना के अनुसार केवल प्रथम दो तिथियाँ ही ठीक हैं। अन्य तिथियाँ गणना के प्रतिकूल पड़ती हैं। इन तिथियों के आधार पर 'मूल गोसाईं चरित' की प्रमाणिकता संदिग्ध लगती है।

'मूल गोसाईं चरित' के अनुसार गोस्वामी जी सदन्त जन्मे थे। जन्म के चौथे दिन इनकी माता का स्वर्गवास हो गया। और पिताने इनका परित्याग कर दिया। बालक तुलसी को नरहर्यानन्द का सामीप्य मिला। आठ वर्ष चार मास की आयु में तुलसी नरहर्यानंद के साथ सूकर क्षेत्र आये—

कहत कथा इतिहास बहु आए सूकर-खेत।
संगम सरजू घाघरा सन्त जनन सुख देत।

इसके पश्चात् गोस्वामीजी ने काशी में शेष सनातन के निकट पन्द्रह वर्षों तक चारों वेद, षट् शास्त्रों का अध्ययन किया—

---

१ पन्द्रह से चार सिरासि गिने। शुभ जेठ सुदी गुरु तेरसि पै।
अधिरात लगे जु फिरी भँवरी। दुलहा दुलही की परी पँवरी। पृष्ठ ८।

२ इत पन्द्रह शुक्र नवासि सरे। शुभ साढ़ बदी दसमीहु बरे।
बुध बासर धन्य सो धन्य घरी। उपवेसि सती तनु त्याग करी।

३ तेंतीस को संवत् औ मगसर। शुभ द्यौस सुराम बिवाहहि पर।
शुभ सप्त सोपान समाप्त भयो। सद् ग्रन्थ बन्यो सुखकन्द भयो।

४ संवत सोरह सै असी असी गंग के तीर।
सावन स्यामा तीज शनि तुलसी तज्यो शरीर।

'गोसाइं चरित' में तुलसी दास की निधन तिथि इस रूप में उल्लिखित है—

संवत सोरह सै असी असी गंग के तीर।
श्रावण श्यामा तीज शनि तुलसी तज्यो शरीर।

और—

सोरह सौ सत्तासि सित नवमी कार्तिक मास।
लिख्यो चरित निज पाठ हित बेनी माधव दास।

अर्थात् १६८० में श्रावण श्यामा तीज शनिवार को काशी में असी गंग के तट पर गोस्वामी तुलसी दास ने शरीर त्याग किया। बेनी माधव दास ने संवत् १६८७ में निज पाठ करने के लिए इसकी रचना की। इसके अतिरिक्त मूल 'गोसाइं चरित' में बाबा बेनी माधव दास गोस्वामी तुलसी दास की जन्म तिथि और जन्मस्थान के विषय में इस प्रकार लिखते हैं—

(१) उदए तुलसी उदघाट तिथै।
(२) पुरवी सत्र पांच सुभी सुभिता रजियापुर राज दुबे दुजिता।
तिनके घर प्रान्त मास परे बर हर्ष कै जोश हिमांसु चरे।
शुभ सप्तम अष्टम भानु-तनय अभिजीतहि ध्वनि सुन्दर सौम्य समय।

अर्थात्, उत्तर प्रदेश स्थित [illegible] ग्राम वासी रजियापुर के राज दुबे की धर्म पत्नी हुलसी की दक्षिण कुक्षि में १२ मास के पश्चात् १५५४ में श्रावण शुक्ल शनिवार, सायंकाल रजियापुर में गोस्वामी तुलसी दास का जन्म हुआ। उनका जन्म अभिजित नक्षत्र में हुआ था। उनके जन्म-पत्र में सप्तम स्थान पर मंगल तथा अष्टम स्थान में शनि थे। इस सन्दर्भ से तुलसी दास के पिता का परिचय नहीं प्राप्त होता है। ग्रन्थकार के अनुसार गोस्वामी तुलसी दास का जन्म श्रावण शुक्ला सप्तमी को शनिवार के सायंकाल हुआ था। परन्तु विचारकों ने इस प्रस्तावना पर आपत्ति प्रकट की है। इनके अनुसार गणना के आधार पर गोस्वामी जी के जन्म-समय पर अभिजित नक्षत्र नहीं था। ऐसी स्थिति में 'मूल गोसाईं चरित' में प्रस्तावित गोस्वामीजी की जन्म तिथि विश्वसनीय नहीं लगती है। बेनीमाधवदास ने तुलसी दास के जीवन की अन्य महत्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन इस क्रम में किया है—

यज्ञोपवीत—माघ शुक्ला पञ्चमी शुक्रवार १५६१ वि० सं० । पन्द्रह सै एकसठ माघ सुदी । तिथि पंचमी और भृगुवार छुदी । सरजू तट विप्रन यज्ञ किये, द्विज बालक कहुँ उपदेश दिये ।

इसके अनुसार गोस्वामी तुलसी दास का विवाह ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी गुरुवार १५८३ वि० (२४ मई १५२६) को हुआ ।[1] गोस्वामी जी की पत्नी का निधन आषाढ़ कृष्ण दशमी, बुधवार वि० संवत् १५८९ को हुआ ।[2] गोस्वामी जी ने 'राम चरित मानस' की समाप्ति संवत् १६३३ मार्गशीर्ष सुदी ५, मंगलवार को की थी[3] । गोस्वामी जी का निधन संवत् १६८०, श्रावण कृष्ण ३ शनिवार को हुआ ।[4] ऊपर जो तिथियाँ प्रस्तावित हैं, उनमें से गणना के अनुसार केवल प्रथम दो तिथियाँ ही ठीक हैं । अन्य तिथियाँ गणना के प्रतिकूल पड़ती हैं । इन तिथियों के आधार पर मूल गोसाईं चरित की प्रामाणिकता संदिग्ध लगती है ।

'मूल गोसाईं चरित' के अनुसार गोस्वामी जी सदन्त जन्मे थे । जन्म के चौथे दिन इनकी माता का स्वर्गवास हो गया । और पिता ने इनका परित्याग कर दिया । बालक तुलसी को नरहर्यानन्द का सामीप्य मिला । आठ वर्ष चार मास की आयु में तुलसी नरहर्यानन्द के साथ सूकर क्षेत्र आये—

कहत कथा इतिहास बहु आए सूकर-खेत ।
संगम सरयू घाघरा सन्त जनन सुख देत ।

इसके पश्चात् गोस्वामीजी ने काशी में शेष सनातन के निकट पन्द्रह वर्षों तक चारों वेद, छः शास्त्रों का अध्ययन किया—

---

१ पन्द्रह से पार तिरासि बिषे । शुभ जेठ सुदी गुरु तेरसि पै ।
अधिरात लगे जु फिरी भँवरी । दुलहा दुलही की परी पँवरी । पृष्ठ ८ ।

२ दस पन्द्रह मूल नवासि सरे । शुचिसाढ़ बदी दसमीहु परे ।
बुध वासर धन्य सो धन्य घरी । उपदेशि सती तनु त्याग करी ।

३ तैंतीस को संवत् औ अवसर । शुभ पौष सुराम विवाहहि पर ।
सुठि सप्त सोपान समाप्त भयो । सद् ग्रन्थ बन्यो शुभग्रन्थ भयो ।

४ संवत सोरह सै असी, असी गंग के तीर ।
श्रावन स्यामा तीज शनि तुलसी तज्यो शरीर ।

'गोसाई चरित' में तुलसी दास की निधन तिथि इस रूप में प्रस्तावित है—

संवत सोलह सै असी असी गंग के तीर।
श्रावण श्यामा तीज शनि तुलसी तज्यो शरीर।

और—

सोरहसौ सत्तासि सित नवमी कार्तिक मास।
लिख्यो पढ़ि नित पाठ हित बेनी माधव दास।

अर्थात् १६८० में श्रावण श्यामा तीज शनिवार को काशी में असी गंग के तट पर गोस्वामी तुलसी दास ने शरीर त्याग किया। बेनी माधव दास ने संवत् १६८७ में नित्य पाठ करने के लिए इसकी रचना की। इसके अतिरिक्त मूल 'गोसाई चरित' में बाबा बेनी माधव दास गोस्वामी तुलसी दास की जन्म तिथि और जन्मस्थान के विषय में इस प्रकार लिखते हैं—

(१) उपए हुलसी उत्पात हिये।
(२) मुकठी सत नाम सुधी सुगिया रजियापुर राज गुरु मुखिया।
तिनके घर द्वादश मास परे जब कर्क के जीव हिमांशु चरे।
शुध सप्तम अष्टम भानु-तनय अभिजीवित धनि सुन्दर सांझ समय।

अर्थात्, सरवार प्रदेश स्थित पत्यौजी ग्राम वासी रजियापुर के राज गुरु की धर्म पत्नी हुलसी की पवित्र कुक्षि में १२ मास के पश्चात् १५५४ में श्रावण शुक्ल शनिवार, सायंकाल रजियापुर में गोस्वामी तुलसी दास का जन्म हुआ। उनका जन्म अभिजित नक्षत्र में हुआ था। उनके जन्म-पत्र में सप्तम स्थान पर मंगल तथा अष्टम स्थान में शनि थे। इस सन्दर्भ से तुलसी दास के पिता का परिचय नहीं प्राप्त होता है। ग्रन्थकार के अनुसार गोस्वामी तुलसी दास का जन्म श्रावण शुक्ला सप्तमी को शनिवार के सायंकाल हुआ था। परन्तु विचारकों ने इस प्रस्तावना पर आपत्ति प्रकट की है। इनके अनुसार गणना के आधार पर गोस्वामी जी के जन्म-समय पर अभिजित नक्षत्र नहीं था। ऐसी स्थिति में 'मूल गोसाई चरित' में प्रस्तावित गोस्वामीजी की जन्म तिथि विश्वसनीय नहीं लगती है। बेनीमाधवदास ने तुलसी दास के जीवन की अन्य महत्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन इस क्रम में किया है—

यज्ञोपवीत—माघ शुक्ला पञ्चमी शुक्रवार १५६१ वि० सं०। पन्द्रह से एकसठ माघ सुदी। तिथि पंचमी और भृगुवार छवी। सरजू तट विप्रन यज्ञ किये, द्विज बालक कहँ उपदेश दिये।

इसके अनुसार गोस्वामी तुलसी दास का विवाह ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी गुरुवार १५८३ वि० (२४ मई १५२६) को हुआ।[1] गोस्वामी जी की पत्नी का निधन आषाढ़ कृष्ण दशमी, बुधवार वि० संवत् १५८७ को हुआ।[2] गोस्वामी जी ने 'राम चरित मानस' की समाप्ति संवत् १६३३ मार्गशीर्ष सुदी ५, मंगलवार को की थी[3]। गोस्वामी जी का निधन संवत् १६८० श्रावण कृष्ण ३ शनिवार को हुआ।[4] ऊपर जो तिथियाँ प्रस्तावित हैं उनमें से गणना के अनुसार केवल प्रथम दो तिथियाँ ही ठीक हैं। अन्य तिथियाँ गणना के प्रतिकूल पड़ती हैं। इन तिथियों के आधार पर 'मूल गोसाईं चरित' की प्रमाणिकता संदिग्ध लगती है।

'मूल गोसाईं चरित' के अनुसार गोस्वामी जी सरस्व कम्पे थे। जन्म के चौथे दिन इनकी माता का स्वर्गवास हो गया। और पिताने इनका परित्याग कर दिया। बालक तुलसी को नरहर्यानन्द का सामीप्य मिला। आठ वर्ष चार मास की आयु में तुलसी नरहर्यानंद के साथ सूकर क्षेत्र आये—

कहत कथा इतिहास बहु आए सूकर-खेत।
संगम सरयू घाघरा सन्त अमन सुख देत।

इसके पश्चात् गोस्वामीजी ने काशी में शेष सनातन के निकट पन्द्रह वर्षों तक चारों वेद, षट् शास्त्रों का अध्ययन किया—

---

१ पन्द्रह से चार तिरासि लियें। शुभ जेठ सुदी गुरु तेरसि पै।
अधिरात लगे जु फिरी भँवरी। दुलहा दुलही की परी भँवरी। पृष्ठ ८।

२ सत पन्द्रह मुक्ष नवासि सरे। शुभसाढ़ बदी दसमीहु परे।
बुध वासर धन्य सो धन्य घरी। उपदेसि सती तनु त्याग करी।

३ तेंतीस को संवत् औ मगसर। शुभ चौस सुराम विवाहिहि पर।
सुत अर्क सोपान समाप्त भयो। सद्‌ ग्रन्थ अयो शुभवन्त भयो।

४ संवत् सोरह सै असी असी गंग के तीर।
श्रावन स्यामा तीज शनि तुलसी तज्यो शरीर।

'गोसाइं चरित्र' में तुलसी दास की निधन तिथि इस रूप में प्रस्तावित है—

संवत सोलह से असी, असी गंग के तीर।
श्रावण स्यामा तीज शनि तुलसी तज्यो शरीर।

और—

सोरहसौ सत्तासि सित नवमी कातिक मास।
विरच्यौ यहि नित पाठ हित बेनी माधव दास।

अर्थात् १६८० में श्रावण स्यामा तीज शनिवार को काशी में असी गंग के तट पर गोस्वामी तुलसी दास ने शरीर त्याग किया। बेनी माधव दास ने संवत् १६८७ में नित्य पाठ करने के लिए इसकी रचना की। इसके अतिरिक्त मूल 'गोसाईं चरित' में बाबा बेनी माधव दास गोस्वामी तुलसी दास की जन्म तिथि और जन्मस्थान के विषय में इस प्रकार लिखते हैं—

(१) उदए तुलसी सरघाट हिते।

(२) तुलसी सत पाप सुधी सुखिया रजियापुर राज गुरु मुखिया।
तिनके घर द्वादस मास परे जब कर्क के जीव हिमांशु चरे।
कुज सप्तम अष्टम भानु-तनय अभिजीवित शनि सुन्दर सांझ समय।

अर्थात्, सरवार प्रदेश स्थित पत्तौजी ग्राम वासी रजियापुर के राज गुरु की धर्म पत्नी हुलसी की दक्षिण कुक्षि में १२ मास के पश्चात् १५५४ में श्रावण शुक्ल शनिवार, सायंकाल रजियापुर में गोस्वामी तुलसी दास का जन्म हुआ। उनका जन्म अभिजित नक्षत्र में हुआ था। उनके जन्म-पत्र में सप्तम स्थान पर मंगल तथा अष्टम स्थान में शनि थे। इस सन्दर्भ से तुलसी दास के पिता का परिचय नहीं प्राप्त होता है। ग्रन्थकार के अनुसार गोस्वामी तुलसी दास का जन्म श्रावण शुक्ला सप्तमी को शनिवार के सायंकाल हुआ था। परन्तु विचारकों ने इस प्रस्तावना पर आपत्ति प्रकट की है। इनके अनुसार गणना के आधार पर गोस्वामी जी के जन्म-समय पर अभिजित नक्षत्र नहीं था। ऐसी स्थिति में 'मूल गोसाईं चरित' में प्रस्तावित गोस्वामीजी की जन्म तिथि विश्वसनीय नहीं समझी है। बेनीमाधवदास ने तुलसी दास के जीवन की अन्य महत्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन इस रूप में किया है—

यज्ञोपवीत—माघ सुक्ला पञ्चमी सुक्रवार १५६१ वि० सं०। पन्द्रह से एकसठ माघ सुदी। तिथि पंचमी और भृगुवार उदी। सरजू तट विप्रन जग्य किये द्विज बालक कहँ उपदेश दिये।

इनके अनुसार गोस्वामी तुलसी दास का विवाह ज्येष्ठ सुक्ला त्रयोदशी गुरुवार १५८३ वि० (२४ मई १५२६) को हुआ।[१] गोस्वामी जी की पत्नी का निधन आषाढ़ कृष्ण दशमी, बुधवार वि० संवत् १५०७ को हुआ।[२] गोस्वामी जी ने 'राम चरित मानस' की समाप्ति संवत् १६३३ मार्गशीर्ष सुदी ५, मंगलवार को की थी[३]। गोस्वामी जी का निधन संवत् १६८०, श्रावण कृष्ण ३, शनिवार को हुआ।[४] ऊपर जो तिथियाँ प्रस्तावित हैं, उनमें से गणना के अनुसार केवल प्रथम दो तिथियाँ ही ठीक हैं। अन्य तिथियाँ गणना के प्रतिकूल पड़ती हैं। इन तिथियों के आधार पर 'मूल गोसाईं चरित' की प्रामाणिकता संदिग्ध लगती है।

'मूल गोसाईं चरित' के अनुसार गोस्वामी जी अभुक्त जन्मे थे। जन्म के चौथे दिन इनकी माता का स्वर्गवास हो गया। और पिताने इनका परित्याग कर दिया। बालक तुलसी को नरहर्यानन्द का सामीप्य मिला। आठ वर्ष चार मास की आयु में तुलसी नरहर्यानंद के साथ सूकर क्षेत्र आये—

कहत कथा इतिहास बहु आए सूकर-खेत।
संगम सरयू घाघरा सन्त जनन सुख देत।

इसके पश्चात् गोस्वामीजी ने काशी में शेष सनातन के निकट पन्द्रह वर्षों तक चारों वेद, छः शास्त्रों का अध्ययन किया—

---

१ पन्द्रह से चार तिरासि विषै। सुभ जेठ सुदी गुरु तेरसि पै।
अधिरात लगे जु फिरी भँवरी। दुलहा दुलही की परी भँवरी। पृष्ठ ८।

२ सत पन्द्रह युक्त नवासि सरे। सुभसाढ़ बदी दसमीहु परे।
बुध वासर धन्य सो धन्य घरी। उपदेसि सती तनु त्याग करी।

३ तेंतीस को संवत् औ मगसर। सुभ चौस सुराम बिवाहहिं पर।
सुठ सप्त सोपान समाप्त भयो। यह ग्रन्थ बन्यो सुयशन्य भयो।

४ संवत् सोरह सै असी असी गंग के तीर।
श्रावन स्यामा तीज शनि तुलसी तज्यो शरीर।

विचरत, विहरत मुदित मन आए काशी धाम।
परम सुह सुस्थान पर, वास कीन्ह विश्राम।

× × × ×

तहाँ हते शेष सनातन जू बपु वृद्ध वरंच सुधा मन जू।

× × × ×

तिनि रीझि भए बटु पै जबही गुरु स्वामि सों सुन्दर बात कही।

× × × ×

बटु पन्द्रह वर्ष तहाँ रहिकैं पढ़ि शास्त्र सबै मही के मही के।

'मूल गोसाईं चरित' में संकलित अनेक घटनायें स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखती हैं। इन्हीं घटनाओं के कारण इसकी प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट किया गया है। उदाहरण स्वरूप राधावल्लभ के श्री हितहरिवंश जी और गोस्वामी जी से सम्बन्धित एक विशेष सन्दर्भ का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। संवत् १६०९ वि० में गोस्वामी तुलसीदास चित्रकूट में निवास करते थे। वृन्दावन से हितहरिवंश ने अपने शिष्य प्रियादास और नवल दास को यमुनाष्टक', 'राधा सुधानिधि' और 'राधिका तंत्र महानिधि' नामक ग्रंथों के साथ गोस्वामी जी के पास भेजा। तुलसीदास से इन्होंने निकुंज प्रवेश' के आशीर्वाद की कामना की।

सुनि विनती मुनि मान एव मस्तु इति भाषेउ।
तनु तजि भए सनाथ, नित्य कुंज प्रवेश करि।

इसके अनुसार हितहरिवंश का निधन-संवत् १६०९ में हुआ। परन्तु हित हरिवंश के संवत् १६२२ तक जीवित रहने के प्रमाण मिलते हैं।

इसका उल्लेख किया गया है कि तुलसी के सम्मुख नन्ददास के आग्रह से श्रीकृष्ण की मूर्ति धनुर्धर राम के रूप में परिवर्तित हो गई। और नन्ददास तुलसी दास के छोटे भाई थे। परन्तु गोसाईं चरित में इन्हें तुलसीदास का गुरु-भाई कहा गया है—

नन्ददास कनौजिया प्रेम मढ़े जिन शेष सनातन तीर पढ़े।

नन्ददास समाख्य थे। इस प्रकार वार्तासाहित्य में उपलब्ध नन्ददास और तुलसीदास-सम्बन्धित सूचनायें 'गोसाईं चरित' की सूचनाओं से कुछ भिन्न प्रकार की हैं। इस दृष्टि से भी गोसाईं चरित की सूचनायें संदिग्ध मानी गई हैं।

'गोसाईं चरित' के अनुसार संवत् १६१६ में सूरदास गोस्वामी जी से मिलने आए थे—

सोरह सै सोरह लगे कामदगिरि ढिगवास
सुचि एकान्त प्रदेश महँ आए सूर सुदास।
पठए गोकुल नाथ जी कृष्ण रंग में बोरि।
कवि सूर दिखायेउ सागर को सुचि प्रेम कथा नटनागर की।
दिन सात रहे सत संग पगे पद कंज गहे जब जान लगे।
गहि बाँह गोसाईं प्रबोध किए, पुनि गोकुल नाथ को पत्र दिए।

इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट होता है कि संवत् १६१६ में गोकुलनाथ ने सूरदास को प्रेम-रस में रञ्जित कर तुलसीदास के पास भेजा। इस कथन की प्रामाणिकता पर इस कारण सन्देह किया जाता है संवत् १६१६ में सूरदास की आयु ७६ वर्ष की थी गोकुलनाथ की आयु आठ वर्ष की थी। और गोकुलनाथ के जन्म के पूर्व ही कृष्ण भक्ति धारा में सूरदास दीक्षित हो चुके थे। इस अल्पायु बालक की अनुप्रेरणा से सूरदास तुलसी से मिलने गए हों, यह सम्भावित नहीं लगता है।

सन्त तुलसीसाहिब हाथरसवाले कृत 'घटरामायण'[1] में तुलसी दास का

---

१ इस कृति का सर्वप्रथम प्रकाशन मुन्शी देवी प्रसाद साहब तथा राय बहादुर बागेश्वर प्रसाद 'भवन' ने १९११ ई० में प्रयाग के बेल्वेडियर प्रेस से किया। आभ्यन्तर साक्ष्य के आधार पर इसकी रचना का आरम्भ इन्होंने मंगलवार, भाद्रपद शुक्ला एकादशी संवत् १६१८ को किया—

संवत् सोलह से अट्ठारा। कही मौज पंचमिणी धारा।
भादों सुदी मंगल एकादसी। आरम्भ किया प्रथम मन भासी। पृष्ठ ४१७।

परन्तु तुलसी साहब ने (गोस्वामी तुलसी दास के रूप में) इसे गुप्त रखा, कारण काशी में इस कृति का विरोध हुआ। अतः तुलसी के रूप में पुनः जन्म धारण कर तुलसी साहब ने इसका प्रकाशन किया। इस पुस्तक में पिंड और ब्रह्माण्ड त्रिकुटीभेद पदमभेद आदि की चर्चा है। अतः इसकी मूल-भावना तुलसीदास की भक्ति भावना के विपरीत है। इसका सम्बन्ध गोस्वामी जी के पूर्व जन्म से स्थापित किया जाता है। अतः इस सन्दर्भ में इस कृति पर विचार करना उचित नहीं है।

जीवन वृत्त प्रस्तुत किया गया है। इनका समय सं० १८२० से १९०० के मध्य माना गया है। इस कृति में उन्होंने अपनी जीवनी दी है और वे अपने को तुलसीदास का प्रतिजन्मी मानते हैं। उदाहरण के लिए इस रचना की कतिपय पंक्तियाँ यहाँ दी जा रही हैं—

राजापुर जमुना के तीरा। तहँ तुलसी का भया शरीरा।
विप्र कुलेक जन्म मोहि देसा। चित्रकोट बीच दस कोसा।
संवत् पन्द्रह से नावासी। भादौं सुदी मंगल एकादसी।
भया जनम सोइ कहौं बुझाई। बाल बुद्धि सुधि बुधि बरसाई।

× × × ×

सम्वत सोला से असी नदी जमुन के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यो शरीर।

घट रामायण में तुलसीदास के पूर्व जन्म की घटनायें वर्णित हैं। इसके अतिरिक्त इस कृति में प्रस्तावित तिथियाँ भी अशुद्ध हैं तथा इसमें ऐतिहासिक व्यतिक्रम भी है। अतः इस कृति के आधार पर गोस्वामी तुलसीदास की जीवनी का निर्धारण सम्भव नहीं है।

ऊपर की पंक्तियों में उन आधारों के स्वरूप विश्लेषण का प्रयास किया गया है जिनकी सहायता से गोस्वामी तुलसीदास की जीवनी के स्वरूप निर्णय की चेष्टा की जाती है। आगे की पंक्तियों में गोस्वामी तुलसीदास की जीवनी के स्पष्ट विवेचन का प्रयास किया जा रहा है।

तुलसीदास की जन्म तिथि और संवत्—'मूल गोसाईं चरित' के रचयिता वेणीमाधव दास के अनुसार गोस्वामी तुलसीदास की जन्म तिथि संवत् पन्द्रह से चउवन श्रावण शुक्ला सप्तमी है। इसके अतिरिक्त गोस्वामी जी के जन्म के विषय में निम्नलिखित वक्तव्य मिलता है—

तिनके घर द्वादस मास परे।
जब कारक के बीच हिमांशु परे।
गुरु सप्तम अष्टम भानुतनय।
अभिजीमित धनि सुन्दर सौम्य समय।

इसके अनुसार गोस्वामी जी बारह मास तक गर्भ में रहे। इसका समर्थन गोस्वामी जी के कथन से ही हो जाता है। तुलसीदास ने विनयपत्रिका में लिखा है—

गर्भ-बास दस मास पालि पितु मात रूप हित कीन्हों ॥ १७१॥

इसके अतिरिक्त तिथियों का विस्तार क्रम भी शुद्ध नहीं है। (देखिए डॉ० माता प्रसाद गुप्त, तुलसीदास पृष्ठ ११८)। 'मानस-मयंक' में शिवलाल पाठक गोस्वामी जी का जन्म-काल-संवत् १५५४ मानते हैं।

४ ५ ५ १
मन अमर सर बामि बामिवे सर पर दीन्हें एक।
तुलसी प्रकटे रामव्रत राम जनम की टेक।

मानस मयंक—खड्गविलास प्रेस ।१९५।

इस प्रस्तावना को विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है। इस सम्बन्ध में तर्क यह दिया जाता है कि 'मानस' की रचना गोस्वामी जी ने संवत् १६३१ में आरम्भ की थी। अतः उस समय उनकी आयु सतहत्तर वर्ष की थी। गोस्वामी जी ने वाल्मीकि कृत 'रामायण'[1] उत्तर काण्ड की प्रतिलिपि संवत् १६४१ में की थी। उस समय उनकी आयु सत्तासी वर्ष की थी और 'पंचायत नामा'[2] के दीर्घ की पंक्तियाँ गोस्वामीजी ने संवत् १६६९ में लिखीं। उस समय गोस्वामी जी की आयु ११५ वर्ष की रही होगी। इन तथ्यों को सम्मुख रखते हुए डॉ० माता प्रसाद गुप्त निर्णय देते हैं, 'किन्तु इनमें से एक बात भी सम्भव नहीं जान पड़ती है। इसलिए संवत् १५५४ में कवि के जन्म की परम्परा ठीक नहीं जान पड़ती है।' परन्तु असम्भावनाओं के सम्भावित कारणों की चर्चा डॉ० गुप्त तथा इस विचारधारा के अन्य विद्वान नहीं करते हैं।

---

१ वाल्मीकि रामायण के उत्तर काण्ड की एक प्रति काशी राज संग्रहालय में सुरक्षित है। यह संवत् १६४१ की है। इस पर तुलसीदास का हस्ताक्षर भी इस प्रकार है 'तुलसी दासेन'।

२ इस प्रकार की मान्यता व्यक्त मिलती है कि टोडरमल और तुलसीदास में मित्रता थी। टोडर मल की मृत्यु के बाद उनके परिवार में सम्पत्ति के लिए संघर्ष हुआ, जिसके निवारण हेतु पंचनामा लिखा गया। इसमें दो श्लोक और एक दोहा तुलसीदास का लिखा हुआ माना जाता है'—

स्वर्गीय जगन्मोहन वर्मा ने 'राम मुक्तावली' नामक ग्रन्थ के आधार पर गोस्वामीजी का जन्म संवत् १५६० माना है। परन्तु 'राममुक्तावली' की प्रमाणिकता सन्दिग्ध है। राममुक्तावली' की पंक्ति इस प्रकार है—

पवन तनय मो सग कह्यौ पाँच बीस अरु बीस।

परन्तु शैली, विचार और छन्द-योजना के आधार पर यह गोस्वामी तुलसीदास की रचना नहीं लगती है। देखिए—माता प्रसाद गुप्त, तुलसीदास-पृष्ठ १०८। डॉ० गुप्त का यह प्रस्ताव है पाँच बीस अरु बीस' का अर्थ ४५ लेना चाहिए। इस प्रकार तुलसी का जन्म-संवत् १५४५ में हुआ माना जाना चाहिए।

पाश्चात्य विचारकों में विल्सन और तासी ने तुलसीदास के जन्मकाल का निर्धारण 'रामचरित मानस' की रचना तिथि के आधार पर किया है। इस विद्वानों की यह धारणा है कि गोस्वामीजी ने मानस का प्रणयन ३१ वर्ष की अवस्था में आरम्भ किया। इस प्रकार इनके अनुसार तुलसी का जन्म सम्वत् १६०० में हुआ। परन्तु इस मत को अस्वीकार करते हुए विद्वानों ने यह कहा है कि ३१ वर्ष की अवस्था में 'मानस' ऐसे ग्रंथ की रचना किसी भी व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं प्रतीत होता है। परन्तु इस प्रकार के सम्भावना-पूर्ण निष्कर्षों से वस्तु स्थिति का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता है। वास्तविकता यह है कि इस प्रकार के निर्णय-हेतु हमारे पास स्पष्ट प्रमाण नहीं है। कृष्णदास कविवार कृत 'गौतम-चन्द्रिका' के अनुसार तुलसी का जन्म सम्वत् १६०० में हुआ था। परन्तु गौतम चन्द्रिका' की प्रमाणिकता अभी तक स्थापित नहीं हो सकी है। इस रचना में 'संवत् सोलह से असी असी गंग के तीर' का उल्लेख मिलता है। कतिपय प्रतियों में 'असी बयस के तीर' अंकित मिलता है, इसके

[१]नामपरक नामा इस प्रकार है —

द्विवचपर नामि संज्ञके द्विवस्नापमति नाभिधाम् ॥
द्विवर्ददाति न चाभिम्पो रामो द्विवर्जैव भाषते ।१।
तुलसी जान्यो दसरथहि, धरमु न सत्य समान।
रामु तजो जेहि लागिबिनु, राम परिहरे प्रान ।२।
धर्मो वदति नावाम्र्मस्तत्वं वदति मानुषम्।
रामवदति न क्रोधो विष्णुर्वदति मामुरे. । गोस्वामी तुलसी।

अनुसार निधन के समय गोस्वामीजी की आयु ८० वर्ष की थी। इस प्रस्ताव के अनुसार गोस्वामी तुलसीदास का जन्म-सम्वत संवत १६०० ही स्वीकार करना पड़ेगा।

शिवसिंह सेंगर 'शिवसिंह सरोज' में सम्वत् १५८३ गोस्वामी तुलसीदास की जन्मतिथि मानते हैं 'यह महाराज सम्वत १५८३ के लगभग उत्पन्न हुये थे।' (शिवसिंह सरोज-पृष्ठ ४२०)। इनका प्रस्तावित सम्वत भी स्वीकार नहीं किया गया है। कारण 'मूल गोसाईं' की सूचना के सन्दर्भ में इन्होंने गोस्वामीजी का जन्म सम्वत् १५५४ माना है। इस प्रकार शिवसिंह ने स्वयं दो भिन्न भिन्न तिथियों की प्रस्तावना की है और अपनी द्वितीय प्रस्तावना के सन्दर्भ में वे 'लगभग' शब्द के प्रयोग से अपने निर्धारण को सन्देह पूर्ण बना देते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास की जन्म तिथि के प्रस्तावकों के एक वर्ग के अनुसार इनका जन्म संवत १५८९ में हुआ था। इनमें प्रमुख हैं रामगुलाम द्विवेदी (तुलसी ग्रन्थावली भाग १)। सर जार्जग्रियर्सन के अनुसार गोस्वामी तुलसीदास का जन्म भाद्रपद ११, मंगलवार सम्वत् १५८९ में हुआ था। (Indian Antiquary 1933 Page 264)। अपनी कृति 'गोस्वामी तुलसीदासजी' में शिवनन्दन सहाय संवत १५८९ की तिथि स्वीकार करते हैं। 'घटरामायण' में भी यही सम्वत् प्रस्तावित है। मिश्र बन्धु विनोद' में भी यही सम्वत् स्वीकार किया गया है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इस सम्वत् को इन शब्दों में स्वीकार किया है 'यह तिथि गणना से शुद्ध उतरती है, और किसी परम्परागत साक्ष्य का भी इससे अधिक प्राचीन उल्लेख नहीं मिलता, और इस तिथि को मानने में कोई असम्भावना भी नहीं दिखलाई पड़ती इसलिए इस तिथि को हम कवि की जन्म तिथि के रूप में ग्रहण कर सकते हैं।" तुलसीदास पृष्ठ ११० १११। इस प्रकार अधिकांश विद्वान् सम्वत् १५८९ भाद्रपद ११ मंगलवार की तिथि को ही स्वीकार करते हैं। संवत् १५५४ १५६०, सम्वत १६०० १६१० सम्वत् १५८३ की अपेक्षा संवत १५८९ की तिथि गणना से भी शुद्ध उतरती है। अतः इसे हम गोस्वामीजी की जन्म तिथि के रूप में स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार की भावना व्यक्त मिलती है कि राजापुर में 'रामचरित मानस' के अयोध्या काण्ड की एक प्रति उपलब्ध है, जो तुलसीदास लिखित कही जाती है। परन्तु इस मत के समर्थन हेतु हमारे पास प्रमाण नहीं हैं। इन विचारधाराओं के अतिरिक्त राजापुर के पक्ष में कतिपय अन्य तर्क दिए गए हैं। उदाहरण स्वरूप यह कहा जाता है कि राजापुर के उपाध्याय (सरयूपारीण) ब्राह्मणों का एक वंश है। इस वंश के लोगों का यह कथन है कि वे गोस्वामी तुलसीदास के शिष्य श्री गणपति उपाध्याय के शिष्य हैं। परन्तु इस कथन को यदि स्वीकार भी कर लिया जाय तो इससे यह सिद्ध नहीं हो पाता कि गोस्वामीजी का जन्म-स्थान राजापुर था। गोस्वामी तुलसीदास के जीवन में राजापुर का विशेष महत्व था। इस भावना से पूर्ण विचार व्यक्त किए जाते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास राजापुर के संस्थापक थे। यह इनकी साधना-भूमि थी। जनश्रुतियों के अतिरिक्त इम्पीरियल गजेटियर (Imperial Ghazetter of India Vol XXI.According to tradition the town was founded by Tulasidas the celebrated author of Ramayan) । इसके अतिरिक्त 'स्टैटिस्टिकल डिस्क्रिप्शन ऐण्ड हिस्टोरिकल एकाउंट ऑफ दी नार्थ वैस्टर्न प्राविंसेज ऑफ इण्डिया (१८७४) इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया, तथा इस प्रकार के अन्य साधनों से यही सूचना मिलती है कि राजापुर की स्थापना गोस्वामी तुलसीदास ने की थी।

राम बहोरी शुक्ल ने राजापुर में उपलब्ध दो सनदों का वर्णन किया है। ये राजापुर के उस सरयूपारीय ब्राह्मण परिवार से उपलब्ध हुये हैं, जो अपने को गोस्वामी तुलसी दास के शिष्य गणपति उपाध्याय की वंशपरम्परा में मानता है। इनमें से एक सनद पन्ना के राजा हिन्दूपति की है। दूसरी सनद फारसी लिपि में है। परन्तु इन सनदों की प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट किया गया है। इस विषय में कथनीय यह है कि इन से गोस्वामी जी के जन्मस्थान का परिचय नहीं मिलता। इनसे यही संकेत मिलता है कि अकबर के समय गोस्वामी तुलसी दास ने राजापुर की स्थापना की थी। राजापुर गोस्वामी जी का जन्मस्थान था इस प्रकार की सूचना इन से नहीं मिलती है।

ग्रियर्सन ने जनश्रुति के आधार पर तारी को तुलसी का जन्मस्थान माना है। तारी राजापुर के निकट एक छोटा सा ग्राम है। परन्तु इस मान्यता के प्रति पादन हेतु अपेक्षित प्रमाण नहीं दिये गए हैं।

फ्रौंसिस बुचानन के अनुसार गोस्वामी तुलसी दास काशी के निवासी थे। रजनीकान्त शास्त्री ने इनके मत का समर्थन करते हुए इस पर अधिक विस्तार से विचार किया है। अपने मत प्रतिपादन के लिए विद्वान विचारक तुलसीदास के काव्य से निम्नलिखित अंश उद्धृत करते हैं—

> दियो सुकुल जनम शरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि के।
> जो पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारि को॥
> यह भरत खण्ड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।
> तेरी कुमति कायर कल्प बल्ली चहति विषफल फली॥

विनय पत्रिका, १३५।

इस अंश में 'परम पद पावत पुरारि मुरारि' का अर्थ काशी किया गया है। अपनी संस्थापना के पोषण के लिए शास्त्री जी किष्किन्धा काण्ड के निम्नलिखित अंश का आधार भी ग्रहण करते हैं —

> मुक्ति जन्म महि जानि ज्ञान खानि अघ हानि कर।
> जहँ बस शंभु भवानि सो काशी सेइय कस न॥

'मोक्ष और (मेरे) जन्म की भूमि ज्ञान की खान और पापों का संहार करने वाली जो काशीपुरी है जहाँ शिव और पार्वती निवास करते हैं, उसकी सेवा अवश्य करनी चाहिए।' परन्तु तथ्य यह है कि काशी गोस्वामी जी की जन्मभूमि नहीं है। काशी में गोस्वामी जी ने विद्या-अध्ययन किया था और यहीं उन्हें मोक्ष लाभ हुआ था।[1]

गोस्वामी तुलसी का सम्बन्ध अयोध्या से भी स्थापित किया जाता है। इस सम्बन्ध-स्थापन के प्रसंग में यह भी कहा जाता है कि गोस्वामी जी का जन्म अयोध्या में हुआ था। पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय ने इस सम्बन्ध में जिन तथ्यों का

---

१ विशेष सूचना के लिए देखिए—गोस्वामी तुलसी दास व्यक्तित्व दर्शन और साहित्य—डॉ० रामदत्त भारद्वाज पृ० ११८—१४२।

संकलन किया है उन्हें वे बाह्य साक्ष्य और आभ्यन्तर साक्ष्य इन दो वर्गों में विभाजित करते हैं। प्रथम के अन्तर्गत व्रजनिधि कवि की उस रचना की प्रस्तावना करते हैं जिसमें इस प्रकार का भाव व्यक्त है कि गोस्वामी जी का जन्म अयोध्या में हुआ था —

जय जय तुलसीदास गुसाईं। सिया राम रस धाईं धाईं।

× × × ×

कोसल देस उजागिर कीन्ही। सबहिन को अमृत रस दीनी।

—व्रजनिधि ग्रन्थावली हरिरस संग्रह—पृ० २७५-७६।

कोसल देस उजागर कीनी' का अर्थ यह नहीं है कि तुलसी का जन्म अयोध्या में हुआ था। वस्तुतः इसका अर्थ हो सकता है कि 'कोसल' की कथा को गोस्वामीजी ने व्यापक रूप में प्रस्तार दिया। अन्तः साक्ष्य के अन्तर्गत पाण्डेयजी ने गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में से कतिपय अंशों के उदाहरण दिये हैं—

(i) निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥

रामचरित मानस।

(ii) भरत राम रिपुदवन लखन के चरित सरित अन्हवैया।
तुलसी तब के से अजहुँ जानिबे रघुबर नगर बसैया।

गीतावली बालकाण्ड ६।

इन अंशों से इस प्रकार की ध्वनि नहीं निकलती है कि तुलसी दास अयोध्या को अपनी जन्मभूमि मानते हैं। 'रामचरित मानस' से निम्नलिखित अंश का उदाहरण देते हुए पाण्डेयजी यह संस्थापित करने का प्रयत्न करते हैं कि रामचन्द्र के माध्यम से गोस्वामी तुलसी दास अपनी जन्मभूमि अयोध्या के प्रति सम्मान-भाव व्यक्त करते हैं।

सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा।
जद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना। बेद पुरान बिदित जगु जाना।
अवध पुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ।

वास्तविकता यह है कि रामके माध्यम से गोस्वामी जी मातृभूमि की वन्दना कर उसके प्रति आस्था भाव जाग्रत करना चाहते हैं। इस अंश से यह

अर्थ नहीं ग्रहण किया जा सकता है कि इसमें तुलसी दास अपनी जन्मभूमि अयोध्या का स्तवन करते हैं।

एक अन्य मान्यता के अनुसार गोस्वामी तुलसी दास का जन्म स्थान रामपुर माना गया है। यह रामपुर ग्राम सूकर क्षेत्र के निकट अवस्थित था। गोस्वामी जी के पूर्वज यहीं के निवासी थे, और नन्द दास का जन्म इसी स्थान पर हुआ था। नाभादास ने नन्ददास के प्रसंग में इसकी चर्चा भी की है—

लीला पद रस रीति ग्रन्थ रचना में नागर।
सरस उक्ति युत युक्ति भक्ति रस गान उजागर।
प्रचुर पयधको सुयस रामपुर ग्राम निवासी।
सकल सुकुल संवलित भक्तपद रेनु उपासी।
चन्द्र हास अग्रज सुहृद परम प्रेम पथ में पैग।
श्री नन्द दास आनन्द निधि रसिक सुप्रभुहित,
रंग मंगे।

इस प्रसंग में उपलब्ध सामग्रियों के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामपुर सोरों के अन्तर्गत एक ग्राम था। अत: इस निष्कर्ष ने सोरों सामग्री की प्रमाणिकता के सम्प्रत्यय को पुष्ट किया है, जिसकी चर्चा यहाँ की जा रही है।

सोरों सामग्री —गोस्वामी तुलसीदास का सम्बन्ध सोरों (सूकर क्षेत्र) से किसी न किसी प्रकार रहा है। और अति प्रबल शब्दों में इस विचार का प्रतिपादन किया गया है कि गोस्वामी जी सोरों के निवासी थे। सोरों उनका जन्मस्थान था। गोस्वामी जी ने रामचरित मानस में इस सूकर क्षेत्र का उल्लेख भी किया है—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहीं तसि बालपन तब अति रहेउ अचेत।

रामचरित मानस दोहा ३० ।

'सूकर खेत' की भौगोलिक स्थिति पर भी मत-मतान्तर उपस्थित किए गए हैं। गोस्वामी तुलसीदास का सम्बन्ध सोरों से अति घनिष्ट रूप में स्थापित किया जाता है। इस सन्दर्भ में तीन प्रकार के मत प्रस्तावित किए गए हैं।

(क) प्रथम वर्ग सोरों को गोस्वामी जी का जन्म-स्थान मानते हुए उसे एटा के अन्तर्गत अवस्थित मानने के पक्ष में है।

(ख) द्वितीय वर्ग भी प्रथम वर्ग के अनुसार ही सोरों को गोस्वामी जी का जन्म-स्थान तो मानता है परन्तु वह इसकी अवस्थिति अवध प्रान्त के अन्तर्गत गोंडा के अन्तर्गत मानता है।

(ग) तृतीय वर्ग सोरों को गोस्वामी जी का शिक्षा-स्थान या दीक्षा-स्थान मानता है।

एटा के अन्तर्गत अवस्थित सूकर खेत की अपेक्षा अयोध्या के निकट सरयू-घाघरा के संगम पर स्थित (गोंडा जिला में) 'सूकर खेत' को तुलसी की जन्म भूमि अथवा विद्याभूमि के रूप में ग्रहण किए जाने का भी आग्रह मिलता है। जहाँ तक मुझे विदित है गोंडा जिलान्तर्गत सोरों का सर्व प्रथम उल्लेख 'अयोध्या माहात्म्य' में हुआ है। इस ग्रन्थ के आधार पर ही यह प्रस्तावित किया गया है कि तुलसीदास के सम्बन्ध में जिस सोरो की चर्चा की जाती है वह सरयू-घाघरा के संगम पर स्थित है। 'गोसाईं चरित' से जिस 'सूकर खेत' का परिचय मिलता वह भी सरयू घाघरा के संगम पर स्थित माना गया है—

'कहत कथा इतिहास बहु आए सूकर खेत
संगम सरयू-घाघरा सत जनम सुख देत।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल श्याम सुन्दरदास इसी मत के पोषक हैं।'[१] डा०

१ एडविन ग्रीव्स ने इस प्रकार कहा है कि गोस्वामी तुलसी दास अपने गुरु के साथ सूकर क्षेत्र में निवास करते थे। प्राचीन काल में यह उकल क्षेत्र के नाम से विख्यात था और परवर्ती काल में यह सोरों के रूप में विख्यात हुआ। एफ० एस० ग्राउस ने इसकी व्युत्पत्ति सूकर ग्राम से प्रस्तावित की है। सूकर ग्राम>सूकर गाँव>सुकराँवं>सोरों —Prolougue to the Ramayan by Tuladas—Journal of Asiatic Society of Bengal VOIXLV 1876 Footnote 2 मे अपनी व्युत्पत्ति इस प्रकार देते हैं— 'पसका=पसु+का—पसु (वाराह) का+(क्षेत्र)—वाराह क्षेत्र। इन्होंने एक अन्य व्युत्पत्ति दी है—पसुक — पसका = पसु इव इति (पसु प्रकार)— कुत्सित पसु।

भगवती प्रसाद सिंह ने 'सूकर खेत' से सम्बन्धित एक नवीन प्रस्तावना की है। वे इसे सरयू और घाघरा के संगम पर स्थित हो मानते हैं। यह स्थान 'पसका' ग्राम था जिसे परवर्तीकाल में सूकर खेत के रूप में ग्रहण किया गया। परन्तु इस प्रकार की व्युत्पत्ति का कोई अर्थ नहीं है। जिस सूकर खेत का सम्बन्ध तुलसी दास से स्थापित किया जाता है वह एटा जिला के अन्तर्गत है, इस मत के समर्थन में अनेक ऐतिहासिक और पौराणिक प्रमाण दिए गए हैं। सूकर क्षेत्र का वर्णन वाराह पुराण, ब्रह्म पुराण, हरिवंश पुराण, गर्ग संहिता आदि ग्रन्थों में मिलता है। इन सभी ग्रन्थों में सूकर क्षेत्र गंगा-तटवर्ती माना गया है। इन तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष लिया गया है कि 'सूकर खेत' एटा के अन्तर्गत था।

इस विश्लेषण के सन्दर्भ में उन तथ्यों का परिचय प्रदान किया जा रहा है, जिनके आधार पर सोरों की प्रस्तावना गोस्वामी जी के जन्म-स्थान-रूप में की गई है। गोस्वामी जी से सम्बन्धित जो सामग्रियाँ उपलब्ध हुई हैं उनका विवरण इस प्रकार है—

(क) 'रामचरित मानस' के बाल काण्ड की एक प्रति की पुष्पिका। इस का लिपिकाल संवत् १६४३ माना गया है।

(ख) मानस के अरण्यकाण्ड की एक प्रति की पुष्पिका जो बापसद शुक्ल ४ संवत् १६४१ की लिखित मानी गई है।

(ग) कवि कृष्ण दास रचित 'सूकर क्षेत्र माहात्म्य भाषा' की दो प्रतियाँ, जो संवत् १६७० की मानी जाती हैं।

(घ मुरलीधर चतुर्वेदी-कृत रत्नावली की एक प्रति, जिसका रचना-काल संवत् १८२१ बताया गया है। (ङ) 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' की दो प्रतियाँ (च) दोहा रत्नावली की एक प्रति। (छ) सोरों में तुलसी दास के स्थान का अव-शेष (ज) तुलसी दास के भाई नन्द दास के उत्तराधिकारी, (झ) सोरों में स्थित नरसिंह जी का मन्दिर। (ञ) सोरों में नरसिंह चौधरी के उत्तराधिकारी। देखिए-माता प्रसाद-गुप्त-तुलसीदास पृ० ८०।

सोरों प्राप्त इन सामग्रियों की प्रमाणिकता के प्रति डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने असन्तोष-भाव प्रकट किया है। उन्होंने यह कहने का स्पष्ट प्रयास किया है कि

इन सामग्रियों से सोरों-सम्बन्धी धारण का पोषण नहीं हो पाता है। 'राम चरित मानस' के जिस बालकाण्ड का उल्लेख ऊपर किया गया है वह गोस्वामी जी के वंशधर (कथित) स्वर्गीय मुरली लाल जी शुक्ल (सोरों वासी) की प्रति कही जाती है। इस का लिपिकाल संवत् १६६१ है और यह गोस्वामी जी की हस्त लिपि की प्रतिलिपि है इसकी पुष्पिका पर डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने आक्षेप किया है।[1] डॉ० गुप्त ने इस अंश को इसलिए संदिग्ध माना है दूसरी और तीसरी पंक्ति के मध्य एक चिह्न रेखा है। इससे यह संकेत मिलता है कि पुस्तक यहीं समाप्त हो जाती है। इसके पश्चात् की पंक्ति किसी अन्य व्यक्ति ने संयुक्त की है, और फिर इसे चिह्नित करदिया है। 'राम चरित मानस' के 'बाल काण्ड' की इस प्रति को देखने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला है। अतः इस में मेरा व्यक्तिगत निर्णय सम्भव नहीं है। परन्तु डॉ० राम दत्त भारद्वाज ने सम्पूर्ण सामग्री के निरीक्षण के पश्चात् अति दृढ़ता के साथ डॉ० गुप्त के निष्कर्षों को तथ्य-रहित कहा है। उनके निष्कर्ष इस प्रकार हैं—(१) पुष्पिका की दूसरी और तीसरी पंक्ति के मध्य की जिस रेखा की चर्चा की गई है वह दो विषयों की सूचना हेतु है। (अर्थात् काण्ड की समाप्ति और प्रतिलिपि के विवरण के पार्थक्य की)। इसके अतिरिक्त डॉ० माता प्रसाद गुप्त की स्वीकृति से ही इसकी प्राचीनता प्रमाणित होती है। यदि ग्रन्थ की समाप्ति रेखा के पूर्व भी हुई है तो भी यह प्रति संवत् १६४१ (सन् १६०८) की लिखी हुई सिद्ध होती है।

(२) डॉ० गुप्त का यह निर्णय है कि 'अंतिम पंक्ति की लिखावट शेष प्रति और पुष्पिका की लिखावट से पूरा-पूरा मेल नहीं खाती। इस बालकाण्ड के समग्र पृष्ठों के निरीक्षण के पश्चात् डॉ० भारद्वाज इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सम्पूर्ण कृति एक ही लिखावट में है।

१—पुष्पिका इस प्रकार है—इति श्री राम चरित मानसे सकल कलि कलुष विध्वं से विमल । म्य सम्पादिनी नाम १ सोपान समाप्त सं० १६४१ माके १५०८ वासी मन्नदास पुत्र कृष्ण दास हेत लिषी रघुनाथ दास ने कासीपुरी में—देखिए—डॉ० माता प्रसाद गुप्त—तुलसी दास पृष्ठ ८० के सम्मुख का फ़ोटो चित्र।

(३) पुष्पिका की दूसरी पंक्ति में '१ और '४' तथा 'साके' और १५०८ के बीच स्थान रिक्त है। स्वाभाविक लेखन क्रिया के अनुसार ऐसा नहीं होना चाहिए। परन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ इसी प्रकार लिखा गया है। लेखक की यह लेखन क्रिया लगती है।

(२) 'राम चरित मानस' के अरण्य काण्ड की प्रति पर भी डॉ० गुप्त ने शंकायें प्रकट की हैं।[1] डॉ० गुप्त ने दो कारणों से शंकायें प्रकट की हैं—

(क) पुष्पिका 'इति से ५१'त तक पहले लाल स्याही से लिखी गई थी। बाद में काली स्याही फेरी गई है। 'श्री तुलसी दास से 'इति' तक की लिखावट प्रति की लिखावट से भिन्न लगती है। 'क', 'ह', १' '१, और '४' में अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

(ख) पुष्पिका के अन्त में जो संवत् दिया गया है उसमें '१६४४' अन्य अक्षरों की अपेक्षा बड़ा है। इस प्रकार की शंका उत्पन्न होती है कि पूर्व के अंकों को नष्ट करने के पश्चात् यह लिखा गया है। परन्तु इस प्रकार के निर्धारण में कल्पना और अनुमान के अतिरिक्त किसी दृढ़ आधार का अवलम्ब नहीं ग्रहण किया गया है।

'सूकर क्षेत्र माहात्म्य भाषा' संवत् १८७० की लिपि रचना है।[2] अतः इस की प्राचीनता का प्रश्न नहीं उत्पन्न होता है और इसके आधार पर किसी प्रकार का निर्णय भी सम्भव नहीं है।

परन्तु डॉ० रामदत्त भारद्वाज डॉ० गुप्त द्वारा प्रस्तावित प्रति से भी एक प्राचीन प्रति का उल्लेख करते हैं जिसकी प्रतिलिपि मुरलीधर चतुर्वेदी ने संवत् १८०६ में की थी। परन्तु विद्वान लेखक ने अपने मत की संस्थापना के लिए इस प्रति से भी प्राचीनतर प्रति होने का उल्लेख किया है। उनकी यह धारणा है कि

१ 'इति श्री रामायने सकल कलि कलुष विध्वंसने विमल वैराग्य संपादिनी षष्ठ सुपान संवादे रामवन चरित वर्ननो नाम तृतीयो सोपान आरण्य कांड समाप्त। ५१ श्री तुलसी दास गुरु की भाषा सौ उनके भ्राता सुत कृष्ण दास सोरों क्षेत्र निवासी हुते लिखितं कासिमन दास काशी मध्ये संवत १६४४ माघ शुद ४ शुक्रे रवि श २ संवत् १८७० मिति कार्तिक बदी ११ एकादशी बुध वासरे लिखितम् शिवसहाय कायस्थ सोरों मध्ये।

मुरलीधर की प्रति किसी प्राचीनतर प्रति पर आधारित है। परन्तु उस प्राचीनतर प्रति के अस्तित्व का सप्रमाण प्रतिपादन लेखक नहीं कर सके हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त की संस्थापनाओं के खण्डन के प्रति ही अधिक आग्रहशील हैं। अतः कभी-कभी वे तथ्य के संस्थापना की अपेक्षा प्रतिक्रियापूर्ण हो उठे हैं।[1]

सोरों से उपलब्ध चौथी सामग्री है 'रत्नावली'। इसके लेखक मुरलीधर चतुर्वेदी हैं। इसकी पुष्पिका में इसकी रचना तिथि संवत् १८६४ लिखित है।[2] इसमें मुरलीधर कृत तीन छप्पय उपलब्ध होते हैं। ये तीन छप्पय 'सूकर क्षेत्र माहात्म्य' में भी उपलब्ध हो जाते हैं। प्रस्तुत कृति बहुत प्राचीन नहीं है। इसकी रचना शैली अति आधुनिक है अतः आलोच्य सन्दर्भ में इसकी उपयोगिता का कोई महत्व नहीं है।

'दोहा रत्नावली' गोस्वामी जी की पत्नी रत्नावली की रचना मानी गई है। गोस्वामीजी के जीवन-स्वरूप के स्पष्टीकरण की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण रचना है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इसकी एक प्रति का उल्लेख किया है। यह प्रभु दयाल शर्मा के 'रत्नावली संस्मरण' में संलग्न है। इसमें ८० दोहे हैं। डॉ० गुप्त इसकी प्रमाणिकता पर इस कारण सन्देह प्रकट करते हैं कि इसकी कोई प्राचीन हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं हुई है। डॉ० माताप्रसाद ने इसकी दो प्रतियों का उपयोग किया है। डॉ० दीनदयालु गुप्त भी इसकी दो प्रतियों की चर्चा करते हैं और इसकी प्रमाणिकता पर विश्वास प्रकट करते हैं। 'रत्नावली के दोहा संग्रहों में से एक में १११ दोहे हैं और दूसरे में २०१ दोहे हैं। इन्होंने तुलसी दास के जीवन पर नया प्रकाश डाला है।[3] मैंने दोबारा सोरों जाकर इन ग्रन्थों का अवलोकन किया है। मुझे ग्रन्थ प्रमाणिक जान पड़ते हैं।[4] इन दोहों से गोस्वामी तुलसी दास के विषय में निम्नलिखित सूचनायें मिलती है—

बैठ बारही कर गह्यो बोरहिं पमन कराम।
सत्ताइस जागत करी नाथ रतन असहाय।

१, देखिए गोस्वामी तुलसी दास—व्यक्तित्व, दर्शन और साहित्य, २१०।

२ इति श्री रत्नावली संपूरणम् लिखितम् श्री मुरलीधर चतुर्वेदी शिष्येन राम वल्लभ मिश्रेन सोरों मध्ये संवत् १८४६॥ ३ हिन्दुस्तानी ११४० ४ हिन्दुस्तानी जनवरी ११४१

सागर कर रस ससि रतन संवत् भो दुख दाय।
प्रिय वियोग जननी मरन करन न भूल्यो जाय।

अर्थात् बारह वर्ष की आयु में रत्नावली के साथ गोस्वामीजी का विवाह हुआ सोलह वर्ष की आयु में द्विरागमन तथा सत्ताइस वर्ष की अवस्था में तुलसी ने रत्नावली का त्याग किया। और इसी समय रत्नावली की माता का स्वर्गवास भी हुआ। यह घटना संवत् १६२७ की है। सागर ६ कर २, रस ६ और ससि १, अर्थात् सम्वत् १६२७। डॉ० माताप्रसाद ने इसके पाठान्तर की ओर संकेत करते हुए निम्नलिखित पाठ स्वीकार किया है—

सागर प रस ससी रतन संवत भो दुखदाइ।
पिय वियोग जननी मरन करन न भूल्यो जाइ।

इसके अनुसार सागर ४ प ० आकाश और सम्पूर्ण का अर्थ हुआ १६०४। इस प्रकार द्विरागमन और रत्नावली-त्याग के मध्य पन्द्रह वर्षों का अन्तर पड़ता है। इन पन्द्रह वर्षों के मध्य की घटनाओं का कोई परिचय सोरों-सामग्री से नहीं मिलता है। इस तथ्य की ओर डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने संकेत किया है। डॉ० गुप्त ने गोस्वामी जी की कृतियों (अन्तःसाक्ष्य) के आधार पर इस काल-अवधि की विशिष्ट घटनाओं की ओर संकेत किया है। डॉ० गुप्त के इस संदर्भ के निष्कर्षों की ओर उनके आलोचकों ने ध्यान नहीं दिया है। डॉ० गुप्त का यह निष्कर्ष है कि इन पन्द्रह वर्षों में गोस्वामी ने चार ग्रन्थों का प्रणयन किया है। 'रामलला नहछू' 'जानकी मंगल' 'रामाज्ञाप्रश्न' और 'वैराग्य संदीपनी'। इनमें से 'वैराग्य संदीपनी' की प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट करते हुए डॉ० गुप्त ने इसका प्रयोग मैं निष्कर्ष में नहीं किया है।

'रामाज्ञाप्रश्न' की रचना गोस्वामी जी ने संवत् १६२७ के पूर्व काशी में की। सोरों सामग्री में इस काशी-यात्रा का कोई वर्णन नहीं मिलता है। 'मानस' की रचना के पूर्व गोस्वामी जी ने चित्रकूट-यात्रा की थी। इस का भी संकेत सोरों-सामग्री में नहीं मिलता है।[1]

सोरों के योग मारगा मुहल्ले में एक मुसलमान ब्राह्मण मुजफ्फरी का नाम है। इस प्रकार की धारणा व्याप्त दिखती है कि इसके स्थान पर पहले

१ तुलसीदास—पृ० १४

गोस्वामी जी का मकान था। यह घर इस समय एक कसाई के अधिकार में है। इस सम्बन्ध में एक जनश्रुति मिलती है —

तुलसी घर मरघट्ट में यस कटिया के पास।
अपनी करनी आप संत तू क्यों होय उदास।

इसका आधार ग्रहण कर डॉ॰ रामदत्त भारद्वाज और रामनरेश त्रिपाठी की यह धारणा है कि बुढ़ू मढ़ी का मकान गोस्वामी जी का ही मकान था।

डॉ॰ माता प्रसाद गुप्त इन सम्भावनाओं को अस्वीकार करते हैं। सम्भावनाओं के आधार पर निश्चित निर्णय लिया भी सम्भव नहीं है। परन्तु इधर हिन्दी के अधिकांश विद्वान इस मत के पक्ष में है कि तुलसी दास का जन्म-स्थान सोरो था। गोस्वामी जी की ससुराल सोरों के पास ही गंगा पार थी। उसके ध्वंसावशेष भी वर्तमान मिलते हैं। सोरों के पक्ष में इस तथ्य को भी एक प्रबल प्रमाण के रूप में ग्रहण किया जाता है।

सोरों में गोस्वामी तुलसीदास के गुरु नरसिंह जी का मन्दिर है। इस आधार पर भी सोरों का समर्थन गोस्वामी जी की जन्मभूमि के रूप में किया जाता है। परन्तु यह मन्दिर नरसिंह जी का ही है इसका समर्थन नहीं हो पाता। डॉ॰ माता प्रसाद गुप्त का यह कथन है कि नरसिंह जी का मन्दिर न तो तुलसी के गुरु नरसिंह जी का है न उनके वर्तमान उत्तराधिकारी पण्डित रंगनाथ जी के उत्तराधिकारी हैं। ऐसी अवस्था में इस तथ्य को हम सोरों के पक्ष में प्रबल आधार के रूप में ग्रहण नहीं कर सकते। इस प्रकार तुलसी दास के जन्म स्थान के रूप में राजापुर और सोरों इन दो स्थान की प्रस्तावना की गई है। परन्तु अभी तक जिन सामग्रियों के आधार पर हम विश्लेषण करते आए हैं, उनमें कोई ऐसा तथ्य उपलब्ध नहीं हो सका है जिसके आधार पर हम निश्चित प्रकार का निर्णय ले सकें। गोस्वामी तुलसीदास ने 'मानस' की रचना जिस भाषा में की है वह अवधी है विशेषकर राजापुर क्षेत्र की। बहुत सम्भव है यह तुलसी की मातृभाषा रही हो। यदि यह प्रमाणित हो सका तो राजापुर को गोस्वामी जी का जन्मस्थान मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अन्तस्साक्ष्य के आधार पर गोस्वामी जी का जीवन वृत्त

इस प्रकार का विश्वास प्रचार पा चुका है कि तुलसी की माता का नाम हुलसी था। गोस्वामी जी ने इस सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं है परन्तु उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र संकेत मिल जाते हैं जिनके आधार पर हम कुछ निर्णय देने के लिए आग्रहशील होते हैं। 'मानस' के बालकाण्ड में एक स्थल पर गोस्वामी जी ने इस प्रकार लिखा है—

रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी
तुलसी दास हित हिये हुलसी सी।

अब्दुर्रहीम खानखाना के एक दोहे में भी इसका उल्लेख मिलता है कि गोस्वामी जी की माता का नाम हुलसी था—

'सुरतिय नरतिय नागतिय, सब चाहति अस होय।
गोद लिये हुलसी फिरैं, तुलसी सो सुत होय।

गोस्वामी जी के पिता का नाम अज्ञात है परन्तु अधिकांश आलोचक इनके पिता का नाम आत्माराम दूबे मानते हैं।

गोस्वामी जी का वास्तविक नाम क्या था इस विषय पर भी आलोचकों के मत में एक रूपता नहीं मिलती है। कतिपय विचारकों की यह धारणा है कि तुलसीदास का वास्तविक नाम रामबोला था। अपनी रचनाओं में गोस्वामी जी ने अपने लिए 'तुलसीदास' का प्रयोग किया है, परन्तु 'कवितावली', 'विनय पत्रिका', और 'दोहावली' में उन्होंने यत्र-तत्र अपने लिए 'रामबोला' नाम का भी प्रयोग किया है।

(क) राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम।
काम यहै नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हौं।
विनय पत्रिका, पद ७६।

(ख) साहेब सुजान, जिन्ह स्वानहू को पच्छ कियो
रामबोला नामु हौं गुलामु राम साहि को।
कवितावली, पद १००, उत्तर कांड।

इससे यह संकेत मिलता है कि 'तुलसी दास' के अतिरिक्त इनका एक अन्य नाम रामबोला भी था।

इसी प्रकार गोस्वामीजी की जाति से सम्बन्धित जिज्ञासा की जाती है। गोस्वामीजी ब्राह्मण थे परन्तु वे सरयू पारी थे अथवा कान्यकुब्ज इसका निर्णय अभी तक नहीं हो सका है। कतिपय आलोचक उन्हें 'दुबे' मानते हैं, और कतिपय उन्हें शुक्ल मानते हैं। तुलसी ने लिखा है—

मेरे जाति पाँति न चहौं, काहू की जाति पाँति।
मेरे कोउ काम को न हौं, काहू के काम को।

तथा

'धूत कहौ अवधूत कहौ, रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ।

इन पंक्तियों का आधार ग्रहण कर कतिपय आलोचकों ने यह निर्णय लिया है कि गोस्वामी तुलसीदास ब्राह्मणवंश के नहीं थे। परन्तु तुलसी दास का जीवन व्यक्तिगत संघर्षों और सामाजिक संघर्षों के अभाव के मध्य विकसित हुआ। गोस्वामी जी ने इस प्रकार की अभिव्यक्ति जीवन के ऐसे ही किसी संघर्ष पूर्ण क्षण में ही की होगी। इसके अतिरिक्त इन पंक्तियों के माध्यम से कवि ने जाति और वर्ण-भेद भावना से ऊपर उठकर सामाजिक उन्नयन का भी सन्देश दिया है।

गोस्वामीजी का प्रारम्भिक जीवन अति संघर्षपूर्ण रहा है। इसका उल्लेख कवि ने अनेक स्थलों पर किया है—

बारेते ललात बिललात द्वार द्वार दीन
जानत हौ चार फल चार ही चनक को।

कवि को माता पिता का स्नेह और ममत्व भी नहीं मिल सका था। दरिद्र कुल में जन्म होने के कारण माता पिता पुत्रोत्सव भी सम्भवतः नहीं मना सके थे—

जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुन।
भयो परिताप पाप जननी जनक को।

जन्म के अल्प काल पश्चात् ही गोस्वामी जी के माता पिता का स्वर्गवास हो गया—

समय १५५५ अंकित है। इस पर कवि का हस्ताक्षर भी है और यह कवि की हस्त लिखित प्रति कही जाती है। परन्तु इस कृति में कवि ने स्वयं इसकी रचना-तिथि का उल्लेख इस रूप में किया है :—

१ २ ६ १
सगुन सत्य ससि नयन गन अवधि अधिकनयबान।
होई सुफल सुभ जासु जस प्रीति प्रतीति प्रमान।

इसके अनुसार यह ग्रन्थ संवत् १६२१ में लिखा गया था।

पार्वती मंगल —कवि ने इस कृति की रचना तिथि का संकेत नहीं किया है। परन्तु कवि के जीवन-काल की एक प्रति (संवत् १६६२ की) उपलब्ध हुई है। अतः यह रचना सं० १६३२ के पूर्व की है। डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने 'जानकी मंगल' की कथा का विश्लेषण 'रामाज्ञा प्रश्न' और 'राम चरित मानस' की कथाओं के सन्दर्भ में करने के पश्चात् इस प्रकार का निर्णय किया है कि यह कृति 'रामाज्ञाप्रश्न' और 'मानस' की रचना तिथियों के मध्य की रचना है। (देखिए, तुलसी दास पृ० २२९)। इस रचना के भी दो पाठ-भेद मिलते हैं। प्रथम, नागरी प्रचारिणी सभा की प्रति और दूसरी, डॉ० भवानी शंकर याज्ञिक की प्रति। परन्तु दोनों प्रतियों में समता नहीं है। परन्तु सभा की प्रति 'मानस' के अधिक निकट है। अतः डॉ० गुप्त इसे ही अधिक प्रामाणिक मानते हैं।

रामचरित मानस —'रामचरित मानस' में गोस्वामी जी ने इसकी रचना तिथि का उल्लेख इस प्रकार किया है—

संवत सोरह से एकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा। अवध पुरी यह चरित प्रकासा।
जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं।

अर्थात्, चैत्रशुक्ल नवमी मंगल, संवत् १६३१ में गोस्वामीजी ने 'रामचरित मानस' का प्रणयन आरम्भ किया। वेणीमाधव दास के अनुसार गोस्वामी तुलसीदास ने 'मानस' की समाप्ति संवत् १६३३ में की। मानस की सबसे प्राचीन प्रति अयोध्या की है। इस में केवल 'बालकाण्ड' है। इसमें सं० १६६१ (प्रतिलिपि तिथि) अंकित है। अन्य महत्वपूर्ण प्रतियों में सं० १७०६ १७२१ १७६२ की

प्रतियाँ हैं। ये काशी में हैं। इनके अतिरिक्त मानसकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं। परन्तु इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। अतः उनपर विचार करना अपेक्षित नहीं है। मानस' की विवेचना तुलसी दास के 'काव्य-पक्ष' के अन्तर्गत की गई है।

पार्वती मंगल —प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय है शिव-पार्वती विवाह। इसकी कथा 'कुमारसंभव' पर आधारित लगती है। इसकी रचना कवि ने सं० १६६३ वि० (सन् १६०६) फाल्गुन मंगल शुक्ल पंचमी गुरुवार को की थी।

गीतावली—इस कृति की रचना तिथि के सम्बन्ध में अन्तःसाक्ष्य से कोई सहायता नहीं मिलती है। 'मूल गोसाई' चरित' के अनुसार डॉ० श्यामसुन्दर दास ने इस प्रकार का निर्णय किया है कि कवितावली' का कथा भाग और सीता-वट विषयक कवित्त सं १६२८ और १६३१ के मध्य लिखा गया है। शेष अंश की रचना संवत् १६६६ में हुई। गीतावली' की प्रतियों के दो पाठ मिलते हैं। एक पाठ 'पदावली रामायण' नाम से उपलब्ध होता है। दूसरा पाठ 'गीतावली' नाम से उपलब्ध है। पदावली रामायण' की एक ही प्रति उपलब्ध है। यह प्रति अति प्राचीन है। संवत् १६६६ की 'विनय पत्रिका' की एक प्रति के साथ इसकी प्रति संलग्न मिलती है। अतः इसका रचना-समय सं० १६६६ माना जा सकता है। 'पदावली रामायण' की यह प्रति खण्डित है। केवल सुन्दर काण्ड' और उत्तरकाण्ड' ही पूर्ण रूप में उपलब्ध हैं। परन्तु 'पदावली रामायण' और 'गीतावली' के पाठों के तुलनात्मक अध्ययन से यह संकेत मिलता है कि पदावली रामायण 'गीतावली' से पूर्व की रचना है।

'गीतावली' में राम-कथा पदों में लिखित है। ये पद किसी क्रम से नहीं रखे गए हैं। यह सात काण्डों में विभक्त है, और इसमें पदों की संख्या ३२८ है।

१ बालकाण्ड (१०८पद) २ अयोध्याकांड (८९पद) ३ अरण्यकांड (१७पद) ४ किष्किन्धाकांड (२पद) ५ सुन्दरकाण्ड (५१पद) ६ लंकाकांड (२३ पद) ७ उत्तरकांड (३८ पद)। बालकांड में राम के बालचरित का वर्णन है। इसमें राम के रूप-सौन्दर्य और शील-सौन्दर्य-वर्णन के प्रति कवि विशेष रूप से आकर्षित है। गीतावली के अयोध्याकाण्ड' में 'मानस' के अयोध्या कांड का-सा विस्तार नहीं

है। वस्तुतः इस में कथा और वस्तु-नियोजन की ओर कवि की दृष्टि नहीं है।

इस काण्ड के अनेक गीत 'सूरसागर' में उपलब्ध गीतों के समान भाव के हैं। माता कौशल्या के वियोगपूर्ण वात्सल्य वर्णन के गीत यशोदा के वियोगपूर्ण वात्सल्य भाव-पूर्ण पदों के समान ही हैं—

राघौ एक बार फिरि आवौ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने बहुरो बन धावौ।
जे पय प्याइ पोखि कर पंकज बार-बार चुचुकारे।
क्यों जीवहिं मेरे राम लाडिले! ते अब निपट बिसारे।
भरत सौगुनी सार करत हैं अति प्रिय जानि तिहारे।
तदपि दिनहिं दिन होत झाँवरे मनहु कमल हिम मारे।
सुनहु पथिक जो राम मिलहिं बन कहियो मातु सँदेसो।
तुलसी मोहि और सबहिन तें इनको बड़ो अँदेसो।

'मानस' के अरण्य काण्ड में वसन्त वन अनुसूया-प्रसंग विराध-वध सूर्पणखा प्रसंग खर दूषण-वध आदि प्रसंगों का समावेश किया गया है। परन्तु 'गीतावली' के अरण्य कांड में इन प्रसंगों की ओर कवि तनिक भी आकर्षित नहीं है शीघ-व्यापी प्रसंग यहाँ भी नियोजित हैं। दशरथ मरण और करुण रस के अनेक सन्दर्भ इस कांड में उपलब्ध होते हैं।

किष्किन्धा कांड में केवल दो पद हैं। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से सुन्दरकांड का इस ग्रन्थ में विशेष महत्व है। विभीषण इस कांड में राम की शरण में आते हैं। सीता का वियोग-वर्णन, राम की पूछ-ताछ, अशोक-वाटिका-विध्वंस तथा लंका-दहन इस कांड के अन्य महत्वपूर्ण अंग हैं। लंका कांड में अंगद-रावण सम्वाद, लक्ष्मण-शक्ति आदि का वर्णन है। इसमें करुण-रस की ही प्रधानता है। लक्ष्मण शक्ति के बाद ही राम की विजय का वर्णन है। अन्त में माता कौशल्या की आतुर अभिलाषा-वर्णन से यह कांड समाप्त होता है—

बैठी सगुन मनावति माता।
कब ऐहैं मेरे बाल कुसल घर कहहु काग फुरि बाता।
दूध भात की दोनी दैहौं सोने चोंच मढ़ैहौं।
जब सिय सहित बिलोकि नयन भरि राम लखन उर लैहौं।

प्रतियाँ हैं। ये काशी में हैं। इनके अतिरिक्त मानसकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं। परन्तु इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। अतः उनपर विचार करना अपेक्षित नहीं है। मानस' की विवेचना तुलसी दास के काव्य-पदा' के अन्तर्गत की गई है।

पार्वती मगल —प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय है शिव-पार्वती विवाह। इसकी कथा 'कुमारसंभव' पर आधारित लगती है। इसकी रचना कवि ने सं० १६४३ वि० (सन् १५८६) फाल्गुन मंगल शुक्ल पंचमी गुरुवार को की थी।

गीतावली—इस कृति की रचना तिथि के सम्बन्ध में अन्तःसाक्ष्य से कोई सहायता नहीं मिलती है। 'मूल गोसाईं चरित' के अनुसार डॉ० श्यामसुन्दर दास ने इस प्रकार का निर्णय किया है कि कवितावली' का कथा भाग और सीता-वट विषयक कवित्त सं० १६२८ और १६३१ के मध्य लिखा गया है। शेष अंश की रचना संवत् १६६९ में हुई। गीतावली' की प्रतियों के दो पाठ मिलते हैं। एक पाठ 'पदावली रामायण' नाम से उपलब्ध होता है। दूसरा पाठ 'गीतावली' नाम से उपलब्ध है। 'पदावली रामायण' की एक ही प्रति उपलब्ध है। यह प्रति अति प्राचीन है। संवत् १६६६ की विनय पत्रिका' की एक प्रति के साथ इसकी प्रति संलग्न मिलती है। अतः इसका रचना-समय सं० १६६६ माना जा सकता है। 'पदावली रामायण' की यह प्रति खण्डित है। केवल 'सुन्दर काण्ड' और उत्तरकाण्ड' ही पूर्ण रूप में उपलब्ध हैं। परन्तु 'पदावली रामायण' और 'गीतावली' के पाठों के तुलनात्मक अध्ययन से यह संकेत मिलता है कि पदावली रामायण' 'गीतावली' से पूर्व की रचना है।

'गीतावली' में राम-कथा पदों में लिखित है। ये पद किसी क्रम से नहीं रचे गए हैं। यह सात काण्डों में विभक्त है और इसमें पदों की संख्या ३२८ है।

१ बालकाण्ड (१०८पद) २ अयोध्याकांड (८९पद) ३ अरण्यकांड (१७पद) ४ किष्किन्धाकांड (२पद) ५ सुन्दरकाण्ड (५१पद) ६ लंकाकांड (२३ पद), ७ उत्तरकांड (३८ पद)। बालकांड में राम के बालचरित का वर्णन है। इसमें राम के रूप-सौन्दर्य और शील-सौन्दर्य-वर्णन के प्रति कवि विशेष रूप से आकर्षित है। गीतावली के अयोध्याकाण्ड' में 'मानस' के अयोध्या कांड का-सा विस्तार नहीं

है। वस्तुतः इस में कथा और वस्तु नियोजन की ओर कवि की दृष्टि नहीं है।

इस काण्ड के अनेक गीत 'सूरसागर' में उपलब्ध गीतों के समान भाव के हैं। माता कौशल्या के वियोगपूर्ण वात्सल्य वर्णन के गीत यशोदा के वियोगपूर्ण वात्सल्य भाव-पूर्ण पदों के समान ही हैं—

राघौ एक बार फिरि आवौ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने बहुरो बन आवौ।
जे पय प्याइ पोखि कर पंकज बार-बार चुचुकारे।
क्यों जीवहिं मेरे राम लाडले! ते अब निपट बिसारे।
भरत सौ गुनी सार करत हैं, अति प्रिय जानि तिहारे।
तदपि दिनहिं दिन होत झाँवरे मनहु कमल हिम मारे।
सुनहु पथिक जो राम मिलहिं बन कहियो मातु सँदेसो।
तुलसी मोहिं और सबहिन तें इनको बड़ो अँदेसो।

'मानस' के अरण्य काण्ड में जयन्त-छल अनुसूया-प्रसंग विराध-वध शूर्पणखा प्रसंग, खर दूषण-वध आदि प्रसंगों का समावेश किया गया है। परन्तु 'गीतावली' के अरण्य कांड में इन प्रसंगों की ओर कवि तनिक भी आकर्षित नहीं है गीध-शबरी प्रसंग यहाँ भी नियोजित हैं। दशरथ मरण और करुण रस के अनेक सन्दर्भ इस कांड में उपलब्ध होते हैं।

किष्किन्धा कांड में केवल दो पद हैं। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से सुन्दरकांड का इस ग्रन्थ में विशेष महत्व है। विभीषण इस कांड में राम की शरण में आते हैं। सीता का वियोग-वर्णन राम की युद्ध-सज्जा, अशोक-वाटिका-विध्वंस तथा लंका-दहन इस कांड के अन्य महत्वपूर्ण अंश हैं। लंका कांड में अंगद-रावण सम्वाद, लक्ष्मण-शक्ति आदि का वर्णन है। इसमें करुण-रस की ही प्रधानता है। लक्ष्मण शक्ति के बाद ही राम की विजय का वर्णन है। अन्त में माता कौशल्या की आतुर अभिलाषा-वर्णन से यह कांड समाप्त होता है—

बैठी सगुन मनावति माता।
कब ऐहैं मेरे बाल कुसल घर कहहु काग फुरि बाता।
दूध भात की दोनी दैहौं सोने चोंच मढ़ैहौं।
जब सिय सहित बिलोकि नयन भरि राम लखन उर लैहौं।

उत्तर काण्ड की कथा 'वाल्मीकि रामायण' पर आधारित है। राम का राज्याभिषेक सीता-वनवास तथा लव-कुश-जन्म इसके प्रमुख अंग हैं। राम की शोभा और उनका सौन्दर्य-वर्णन भी यहाँ उपलब्ध हैं। राम का हिंडोला वर्णन इसी प्रसंग के अन्तर्गत आता है। यह कृति ब्रजभाषा में है और यत्र-तत्र यह कृष्ण काव्य से प्रभावित भी लगती है।

कृष्ण गीतावली :—कृष्ण गीतावली के रचना-काल का परिचय ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हो पाता है। डॉ० श्याम सुन्दर दास ने 'मूल गोसाईं चरित' के आधार पर यह कहा है कि 'कृष्ण गीतावली' की रचना 'गीतावली' के साथ संवत् १६१६ से १६२८ के मध्य में हुई है। रामनरेश त्रिपाठी इस ग्रन्थ की रचना-तिथि पर विचार करते हुए कहते हैं 'मेरा अनुमान है कि इसकी रचना संवत् १६२८ और १६३० के बीच में हुई होगी। उन दिनों वे प्रायः काशी में रहते थे। और वल्लभ कुल के गोसाईयों के सम्पर्क में रहते थे। सम्भवतः उनको प्रसन्न करने के लिए यह 'गीतावली उन्हीं के अनुरोध से लिखी गई। (तुलसी दास और उनकी कविता पृ० ४०१)। परन्तु इस प्रकार के अनुमान का आधार क्या है इसका संकेत नहीं किया गया है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त का यह विश्वास है कि इस कृति के तिथि निर्धारण इसके विषय निर्वाह और शैली के आधार पर ही सम्भव है। इन दृष्टियों से विचार करते हुए इन्होंने इसका रचना काल सम्वत् १६१८ के लगभग माना है।

इस रचना में केवल ६१ पद हैं जो कृष्ण चरित से सम्बन्ध रखते हैं। इस कृति में कृष्ण की बाल-लीला गोपी-उपालम्भ, ऊखल-बन्धन इन्द्र-कोप मथुरा-गमन, गोपी विरह, भ्रमर-गीत आदि विषयों से सम्बन्धित पद हैं। यह रचना सूरसागर ' से प्रभावित लगती है।

विनय पत्रिका —'गीतावली' के समान विनय पत्रिका' के भी दो पाठ उसकी प्रतियों में प्राप्त होते हैं, प्रथम पाठ 'रामगीतावली' के नाम से और द्वितीय 'विनय पत्रिका' के नाम से। 'रामगीतावली' की केवल एक ही प्रति उपलब्ध है। यह कवि के जीवन-काल संवत् १६६६ वि० की है। यह प्रति खण्डित है। इसके अन्तिम पृष्ठ पर पद संख्या १७६ है। रामनरेश त्रिपाठी इसका रचना काल संवत् १६४२ मानते हैं। परन्तु इस कृति की रचना तिथि का स्पष्ट परिचय

नहीं मिलता है। विनय पत्रिका' में पदों की संख्या २७९ है। परन्तु इसकी भिन्न-भिन्न प्रतियों में पदों की संख्या भिन्न भिन्न है। 'गोसाईं चरित में 'विनय पत्रिका' का रचना-काल सं० १६६९ माना गया है। इस प्रकार कालक्रम के अनुसार यह राम चरित मानस' के पश्चात् की कृति है। 'गोसाईं चरित' में इस प्रकार की भावना व्यक्त मिलती है कि कलियुग से पीड़ित होकर गोस्वामीजी ने पीड़ा-मुक्ति की भावना से इस ग्रन्थ का प्रणयन किया था।

कतिपय विचारकों की यह भावना है कि 'विनय पत्रिका' एक संग्रह ग्रन्थ है। अपनी इस धारणा के लिए वे निम्नलिखित कारण देते हैं— (क) इसमें रचना-काल का निर्देश नहीं है।

(ख) इसमें पदों के नियोजन में कोई क्रम नहीं है। और इस प्रकार इन पदों में विचारों की शृ खला नहीं है।

यह ग्रन्थ गीति-काव्य की शैली में रचित है। इसके प्रणयन में संगीत का आधार ग्रहण किया गया है और इसमें विभिन्न राग-रागिनियों का प्रयोग किया गया है, उदाहरण स्वरूप, केदारा गौड़ी, बिलावल रामकली बसंत ललित आदि रागों के पद द्रष्टव्य हैं।

'विनय पत्रिका' में कवि अपने आराध्य से प्रार्थना और आत्म निवेदन करता है। अतः इसमें किसी घटना का वर्णन नहीं है और न इसमें प्रबन्धात्मकता है। इसका प्रमुख रस शान्त है। दास्य और विनय भाव भक्ति के स्वरूप के अनुपम उदाहरण भी 'विनय पत्रिका' के पदों में उपलब्ध हो जाते हैं। इसके पदों का वर्गीकरण डॉ० रामकुमार वर्मा ने प्रस्तुत रूप में किया है—

१ प्रार्थना या स्तुति (गणेश से राम तक)।

(अ) गुण वर्णन (१) कथाओं द्वारा (२) रूपकों द्वारा।

(आ) रूप वर्णन—अलंकारों द्वारा।

२ स्थानों का वर्णन

[अ] चित्रकूट [आ] काशी।

३ मन के प्रति उपदेश ४ संसार की असारता, ५. ज्ञान-वैराग्य वर्णन, ६ आत्म चरित चित्रण (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ४१६)।

बरवै रामायण —'बरवै रामायण' के भी दो पाठ उपलब्ध होते हैं। एक

पाठ वह है जो मुद्रित प्रतियों में उपलब्ध है। दूसरा पाठ सं० १७१७ की एक हस्तलिखित प्रति में उपलब्ध होता है। मुद्रित प्रति के प्रथम बयालिस बरवे और अन्तिम ग्यारह बरवे द्वितीय पाठ में उपलब्ध नहीं होते। इस प्रकार इस कृति के पाठ-निर्धारण की आवश्यकता है।

बेनी माधव दास ने इसका रचना-काल संवत् १६६९ दिया है। राम नरेश त्रिपाठी इसे संवत् १६१० से १६४० की रचना मानते हैं। परन्तु इस सन्दर्भ में यह कहा गया है कि 'बरवै रामायण' की रचना रहीम के बरवे के आधार हुई है—

कवि रहीम बरवै रचे पठेय मुनिवर पास।
लखि तेइ सुन्दर छन्द मैं रचना किए प्रकास।

रहीम का जन्म संवत् १६११ में हुआ था। अतः रामनरेश त्रिपाठी की प्रस्तावना ग्रहण करने योग्य नहीं है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त इसका रचना-काल संवत् १६६९ के लगभग मानते हैं। और यह प्रस्तावना उचित भी लगती है। इस ग्रन्थ में निम्नलिखित क्रम से सात काण्ड है—

बाल काण्ड, अयोध्या काण्ड, अरण्य काण्ड किष्किन्धा काण्ड सुन्दर काण्ड लंका कांड और उत्तर कांड। कवि का वर्ण्य विषय है रामकथा। परन्तु यह कथा अति संकेतिक है। इसका छन्द बरवै है। जिसमें १२, ७ के विराम से १९ मात्रायें हैं। बरवे एक संकलन ग्रन्थ है। कवि की मृत्यु के पश्चात् इसे संकलित किये जाने का प्रयास किया गया होगा इस प्रकार का संकेत मिलता है। उदाहरण :—

मरत कहत सब सब सुमिरहु राम।
तुलसी अब नहीं जपत समुझि परनाम।
जनम जनम जहँ जहँ तनु तुलसीहि देहु।
तहँ तहँ राम निबाहब नाम सनेहु।

दोहावली —गोस्वामीजी के अधिकांश ग्रन्थों के समान दोहावली के रचना काल का स्पष्ट निर्धारण नहीं हो पाता है। डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने दोहावली के कतिपय दोहों का आधार ग्रहण करते हुए इसके रचना-काल की ओर संकेत किया है—

स्वजन घटइ पुनि हम घन्ह घटइ सकल बल देह।
इते घटे घटि है कहा जो न घटै हरि नेह।
नीच नीच है बाढ़ जो, राम रजायसु पाइ।
तौ तुलसी तेरो भलो न तु अनभलो अघाइ।

दोहा ५६३, ५६५।

इस प्रकार ये कवि की जरा जर्जर अवस्था की रचनायें हैं। फलतः ये दोहे सं० १६२६ से १६७६ के मध्य ही रचे प्रतीत होते हैं। डॉ० श्याम सुन्दर दास ने 'मूल गोसाईं चरित' के आधार पर यह निर्णय किया था कि इस ग्रन्थ का संग्रह कवि ने संवत् १६४० में किया (गोस्वामी तुलसी दास) पृ० ६२) परन्तु यह सम्भव नहीं लगता है। दोहावली की अनेक प्रतियाँ मिलती हैं जिनकी छंद संख्या में समता नहीं है। एक प्रति में २७१ दोहे हैं तो एक अन्य प्रति में ४७८ दोहे हैं। वस्तुतः यह एक संकलन ग्रंथ है। इसमें 'रामाज्ञा प्रश्न' और 'मानस' के अनेक दोहे भी संकलित मिलते हैं। इसमें भक्ति, नीति वैराग्य तथा आत्मचरित विषयक दोहे मिलते हैं।

कवितावली —'गोसाइं चरित' में 'कवितावली' का उल्लेख नहीं मिलता है परन्तु बेनी माधव दास ने इस ग्रन्थ में यह संकेत किया है कि गोस्वामी जी ने कुछ कवितों की रचना भी की है—

सीता वट तर तीन दिन बसि कुछ कवित बनाया।
बंदि सोहावन विन्ध्य नृप पहुँचे काशी धाम।

इससे यह संकेत मिलता है कि सीता वट के नीचे गोस्वामी जी ने इन कवितों को रचा। इस प्रकार ये कवित्त १६२८ १६३१ वि० के मध्य लिखे गए। बेनी माधव दास के अनुसार ये कवित्त गीतावली के बाद और 'मानस' के पूर्व लिखे गए हैं। कवितावली में 'मीन की सनीचरी' की चर्चा है। इस 'सनीचरी' का समय १६६९ १६७१ माना गया है। इस प्रकार यह एक संग्रह ग्रंथ प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में 'रुद्रबीसी' तथा महामारी के उल्लेख भी मिलते हैं। इनका समय क्रमशः १६६५ १६७६ और १६७३-१६८० के मध्य पड़ता है। इस प्रकार 'कवितावली' गोस्वामी जी की अन्तिम अवस्था की रचना प्रतीत होती है।

बाहुक कवितावली की अधिकांश प्रतियों में एक संलग्न उपग्रन्थ या परिशिष्ट की भाँति मिलता है। स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में इसकी प्रति की अनुपस्थिति में एक समस्या उत्पन्न हो गई है। दूसरी बात यह है कि कवितावली के उत्तर काण्ड के अनेक अंश 'बाहुक' में भी उपलब्ध हो जाते हैं। इस कारण भी इसे स्वतंत्र ग्रन्थ मानने में संकोच होता है।

कवितावली में ३२५ छंद हैं जो सात काण्डों में विभक्त है, बालकाण्ड (२२ छन्द) अयोध्या कांड (२८ छन्द) अरण्य काण्ड (१ छन्द) किष्किन्धा कांड (१ छन्द), सुन्दर काण्ड (३२ छन्द) लंका काण्ड (५८ छन्द) उत्तर कांड (१८३ छन्द)। इसके बाल कांड के प्रथम सात सवैयों में राम के बाल-रूप का वर्णन है। इसके पश्चात् सीता स्वयंवर अहिल्या उद्धार, धनुष-भंग आदि घटनायें वर्णित है।

अयोध्या काण्ड में केवट और ग्राम वधू की भावनाओं का चित्रण है। अरण्यकाण्ड में एक ही छन्द है। इसमें रामचन्द्र के हेम मृग के पीछे भागने का वर्णन है। सुन्दर कांड में भयानक और रौद्ररसों से परिपूर्ण जीवन्त वर्णन उपलब्ध होते हैं। लंका-दहन का वर्णन इसी काण्ड में में किया गया है। लंका काण्ड में मन्दोदरी रावण को उपदेश देती है। अंगद भी रावण को उपदेश देता है और इसके पश्चात् युद्ध का वर्णन है। वीर, रौद्र और भयानक रसों का यहाँ सुन्दर परिपाक मिलता है। उत्तर काण्ड में कवि ज्ञान और भक्ति की महिमा का वर्णन करता है। गोस्वामी जी की जीवनी के अनेक पक्षों का स्पष्टीकरण उत्तरकांड के अनेक पदों से हो जाता है। कवि अपनी बाल्यावस्था और अपनी दरिद्रता का वर्णन भी करते हैं छन्द १६६ और १६७ में वे अपनी बाहु पीड़ा का भी उल्लेख करते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें शिव, पार्वती काशी प्रयाग आदि से सम्बन्धित पद भी मिल जाते हैं। १७० में छन्द में काशी का वर्णन है १७१ १७६ छन्द में महामारी का वर्णन मिलता है और १७७ छंद में मीन की शनीचरी का वर्णन मिलता है। इसमें सवैया कवित्त छप्पय और झूलना छन्दों के प्रयोग किए गए हैं। उदाहरण—

वर दंत की पंगति कुंद कली अधराधर-पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच, जगै छवि मोतिन माल अमोलन की।

ऽपरारि छटें लटकें मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करैं 'तुलसी', बलि जाऊँ लला इन बोलन की।

कवितावली बालकाण्ड ५।

वैराग्य संदीपनी —इस ग्रन्थ की रचना तिथि के विषय में निश्चित प्रमाण नहीं मिलते हैं। 'चरित' के अनुसार इसकी रचना संवत् १६६९ में हुई। श्याम सुन्दर दास तथा पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल इसे संवत १६४० की रचना मानते हैं।

वैराग्य संदीपनी' गोस्वामी जी की आरम्भिक रचना है। सम्भवतः काल-क्रम से यह 'रामचरित मानस' के पूर्व की कृति है। विषय निर्वाह और शैली, इन दोनों ही दृष्टियों से वह अप्रौढ़ कृति है। अतः डॉ० गुप्त के अनुसार हम इसे संवत १६१४ की रचना मान सकते हैं।

इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य वैराग्य भावना है, इसका उल्लेख कवि ने इस प्रकार किया है—

तुलसी बेद पुरान मत, पूरन शास्त्र बिचार।
यह बिराग संदीपिनी अखिल ज्ञान को सार।

इस रचना में दोहा सोरठा और चौपाई छन्दों के प्रयोग हुए हैं।

उदाहरण —कंचन काँचहिं सम गनै, कामिनि काठ पखान।
तुलसी ऐसे सन्त जन पृथ्वी ब्रह्म समान।
कंचन को मृतिका करि मानत। कामिनि काष्ठ सिला पहिचानत।
तुलसी भूलि गयो रस एहा। ते जन प्रगट राम की देहा।

वैराग्य सं० २७२८।

परवर्ती राम साहित्य

केशव दास—केशव दास रीति काव्यधारा के कवि और आचार्य हैं। परन्तु अपनी विशिष्ट कृति रामचन्द्रिका' के कारण इनकी परिगणना रामकाव्य धारा के कवियों के अन्तर्गत की जाती है। 'रामचन्द्रिका' का प्रतिपाद्य 'राम चरित' है। परन्तु इनके इस काव्य की मुख्य अनुभावना भक्तिमूलक नहीं है।

अतः गोस्वामी तुलसी दास की भावना के सन्दर्भ में केशव दास के इस काव्य का मूल्यांकन उचित नहीं है।

केशव दास ने रामचन्द्रिका में अपना परिचय इस रूप में दिया है—

सनाढ्य जाति है जगसिद्ध शुद्ध स्वभाव।
कृष्णदत्त प्रसिद्ध है महि मिश्र मंडित राव।
गनेश सो सुत पाइयो बुधि काशिनाथ अगाध।
अशेष शास्त्र विचारि के जिन पाइयो मत साध।

सुगीत छन्द।

उपज्यो तेहि कुल मन्द मति शठ कवि केशव दास
रामचन्द्र की चन्द्रिका भाषा करी प्रकाश।

रामचन्द्रिका, पृ० ७।

इसके अनुसार केशव दास सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके पितामह का नाम श्री कृष्णदत्त और पिता का नाम काशी नाथ था। केशव दास का जन्म संवत् १६१२ में हुआ था। ये ओरछा नरेश के दरबारी कवि थे। केशवदास गोस्वामी तुलसी दास के समकालीन थे। बेनीमाधव दास ने 'मूल गोसाईं चरित' में केशव दास के विषय में इस प्रकार लिखा है—

कवि केशव दास बड़े रसिया। घनस्याम सुकुल नभ के बसिया।
कवि जानु के दरसन हेतु गए। रहि बाहिर सूचन भेजि दिए।
सुनि कै जु गुसाइ कही इतनी। कवि प्राकृत केशव आवन दो।
फिरिगे भट केशव सो सुनि कै। निज तुच्छता आपुइ तै गुन कै।
जब सेवक टेरेउ ते कहि कै। हौं भेंटि हौं काल्हि विनय गहि कै।

× + + × ×

रचि राम सुचन्द्रिका रातिहि में। जुरे केशवजू आसिवाटिहि में।
सतसंग जमी रस रंग मची। दोउ प्राकृत दिव्य विभूति पची।
मिटि केशव को संकोच गयो। उर भीतर प्रीति को रीति रयो।

मूल गोसाइं चरित।

इस अंश से यह संकेत मिलता है कि केशव दास ने प्रतिक्रिया-भावना में आकर 'राम चन्द्रिका' की रचना की। गोस्वामी तुलसी दास ने उन्हें प्राकृत

कवि कहा। गोस्वामी जी के इस कथन से प्रेरित होकर ही उन्होंने 'रामचन्द्रिका' की रचना भाषा में की। परन्तु इस ग्रन्थ के अनुसार वाल्मीकि से अनुप्रेरित होकर केशव दास इस ग्रन्थ के प्रणयन की ओर आकर्षित हुये थे।

वाल्मीकि मुनि स्वप्न में दीन्हों दरसन चारु।
केशव तिन सों यों कह्यो क्यों पाऊं सुख सारु॥

वाल्मीकि - नगस्वरूपिणी छन्द—भलो बुरो न तू गुनै। वृथा कथा कहै सुनै।
न रामदेव गाइ है। न देव लोक पाइ है।

दोहा—मुनिपति यह उपदेश दै जब ही भयो अदृष्ट।
केशव दास तहीं करयो रामचन्द्र जू इष्ट।

बेणीमाधव दास ने गोस्वामी तुलसीदास और केशव दास के सम्मिलन का उल्लेख जिस रूप में किया है वह कितना प्रामाणिक है, इस पर हम स्पष्ट निर्णय नहीं दे सकते।

'मूल गोसाईं चरित' के अनुसार केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' की रचना संवत १६४३ में की। परन्तु केशवदास के अनुसार इस ग्रन्थ का प्रणयन कार्तिक शुक्ल सं० १६५८ में हुआ। केशव की 'रामचन्द्रिका' वाल्मीकीय रामायण पर आधारित है। इसके अतिरिक्त 'प्रसन्नराघव' और 'हनुमन्नाटक' के भी प्रभाव इस ग्रन्थ पर मिलते हैं। यह ग्रन्थ ३९ प्रकाशों में विभक्त है। वाल्मीकि के राम महामानव हैं, गोस्वामी तुलसी दास के राम पर ब्रह्म हैं। परन्तु केशव के इस काव्य में राम के व्यक्तित्व के इन दो रूपों में से किसी एक का भी प्रतिस्थापन नहीं मिलता है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में राम-जन्म का वर्णन नहीं किया गया है। दशरथ के कुल-परिचय के पश्चात् विश्वामित्र के आगमन का वर्णन है। ताड़का और सुबाहु की कथा का संक्षिप्त उल्लेख है। पुनः सीता स्वयंवर का विस्तृत वर्णन है। इस प्रकार ग्रन्थ में घटनाओं के वर्णन में संतुलन नहीं है। 'रामचन्द्रिका' में संवाद शैली का अति सफल प्रयोग मिलता है। रामचन्द्रिका में केशव अपने आचार्यत्व संस्थापन के प्रति ही अधिक आग्रहशील हैं। छन्दों और अलंकारों के विविध रूप इस ग्रन्थ में उपलब्ध हो जाते हैं। उदाहरण—

भौंहैं सुर चाप चारु प्रमुदित पयोधर
भूषण जराय ज्योति तड़ित रलाई है।

दूरि करी मुख सुख सुखमा ससी की नैन
अमल कमल दल दलित निकाई है ॥
केसव दास प्रबल करेनुका गमन हर ।
मुकुत सुहंसक सबद सुख दाई है ।
अम्बर बलित मति मोहै नील कंठ जू की ।
कालिका सी बरषा हरषि हिय आई है ।

इस अंश में कवि ने कालिका के अप्रस्तुत विधान के माध्यम से वर्षा का र्णन किया है ।

केसव वस्तुतः रीति धारा के कवि हैं । अतः इनके काव्य पर रीति काव्य के न्तर्गत विवेचना की गई है ।

अग्रदास—ये नाभादास के गुरु थे । इनकी प्रमुख रचना 'कुंडलियाँ मायण' है । यह 'हितोपदेश उपाख्यान बावनी' के नाम से भी प्रसिद्ध है । ये ोस्वामी तुलसी दास के समकालीन थे ।

इनका आविर्भाव काल संवत् १६७५ माना जाता है ।

नाभा दास—नाभादास अग्रदास के शिष्य थे । ये रामानन्द सम्प्रदाय के रस्त थे । इन्होंने अष्टयाम' नामक ग्रन्थ की रचना की थी । परन्तु इनकी प्रसिद्धि भक्त माल' के कारण ही है । वस्तुतः 'भक्त माल' का रचना-काल सं० १६८० माना गया है । मध्य युगीन वैष्णव भक्ति के स्वरूप अध्ययन के लिए यह ग्रन्थ एक अनिवार्य साधन है । नाभादास ने इस ग्रन्थ में अपने पूर्ववर्ती और समकालीन दो सौ सन्तों का परिचय तीन सौ सोलह छप्पयों में दिया है ।

सेनापति—सेनापति वस्तुतः रीति-धारा के कवि हैं । इनका जन्म संवत् १६४६ में हुआ था । इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है 'कवित्त रत्नाकर' जिसकी रचना इन्होंने संवत् १७०६ में की । कवित्त रत्नाकर में पाँच तरंगें हैं जो इस प्रकार हैं—

प्रथम—श्लेष वर्णन ।
द्वितीय—शृङ्गार वर्णन ।
तृतीय—ऋतु वर्णन ।
चतुर्थ—रामायण वर्णन ।
पञ्चम—राम रसायण वर्णन ।

चतुर्थ और पञ्चम तरंगों में राम-कथा और रामभक्ति सम्बन्धी मुक्तक ग्रन्थ संकलित हैं।

राम-कथा का संकलन इन्होंने वाल्मीकि रामायण से किया है। भक्ति सिद्धान्त के अनुसार प्रियादास गोस्वामी तुलसीदास के निकट पड़ते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास के पश्चात् राम-काव्य-परम्परा का स्पष्ट स्वरूप विकास देखने को नहीं मिलता है। यत्र-तत्र कतिपय रचनायें उपलब्ध हो जाती हैं परन्तु इनकी मूल्य भावना गोस्वामी तुलसीदास के समान भक्ति-मूलक नहीं लगती है। अन्य रचनाकारों में महाराज पृथ्वीराज का उल्लेख इतिहास ग्रन्थों में मिलता है। इनकी विशिष्ट कृति, 'दसरावउत' की चर्चा की जाती है। यह राम-भक्ति से सम्बन्धित रचना है। इसमें राम-स्तुति-सम्बन्धित १० दोहे हैं। इस ग्रन्थ की रचना-तिथि ज्ञात नहीं है। परन्तु इस प्रकार के संकेत मिलते हैं कि इस ग्रन्थ का प्रणयन संवत् १६२७ के लगभग हुआ था।

प्राणचन्द चौहान की कृति 'रामायण महानाटक' इसी परम्परा के अन्तर्गत स्वीकार की गई है। इसकी रचना सं० १६६७ में हुई। इसमें राम-कथा संवाद शैली में प्रस्तुत की गई है। माधवदास चारण कृत 'गुन रामरासो' में रामचरित्र उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ की रचना संवत् १६७५ में हुई थी। सं० १६८१ में उन्होंने 'अध्यात्म रामायण' की रचना की। यह 'संस्कृत अध्यात्म रामायण' पर अवलम्बित है।

हृदय राम पंजाबी ने संवत् १६८० में 'हनुमन्नाटक' की रचना की। यह संस्कृत 'हनुमन्नाटक' पर आधारित है। यह कवित्त-सवैया में लिखी गई कृति है। नरहरिदास चारण ने 'अवतार चरित' नामक ग्रन्थ की रचना लगभग १५०० छन्दों में की। इस ग्रन्थ में राम के विभिन्न अवतारों का वर्णन है। इस ग्रन्थ की रचना तिथि के विषय में हम कुछ ज्ञात नहीं है। परन्तु कवि की मृत्यु सं० १७११ ई० में हुई। अतः इसकी रचना इसी संवत् के कुछ पूर्व ही हुई होगी।

अन्य कृतिकारों में बालकृष्ण नायक बाल अली की चर्चा की जाती है। इनकी कृति है 'ध्यान मञ्जरी' जिसकी रचना कवि ने संवत् १७२६ में की थी। इस में मधुरभक्ति के रूप में राम-सीता का सौन्दर्य वर्णित है। इनकी दूसरी रचना है नेहप्रकाशिका, जिसकी रचना कवि ने सं० १७४१ में की थी। इस

ग्रन्थ में सीता का वर्णन कवि ने राम की आह्लादिनी शक्ति के रूप में किया है। अष्टयाम के सन्दर्भ में कवि ने नव-दम्पति के विलास-वर्णन के अतिरिक्त सीता के नखशिख का वर्णन भी किया है।

रामप्रियाशरण ने संवत् १७६० में 'सीतायन' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें सीता की बाल-क्रीड़ायें विविध रूपों में वर्णित हैं। इस विचार का विकसित रूप प्रेम सखी कृत सीता राम नखशिख' नामक ग्रन्थ में उपलब्ध हो जाता है। इस ग्रन्थ में कवि ने सीता के 'नख शिख वर्णन' के अतिरिक्त सीता की विविध क्रीड़ाओं का वर्णन भी किया है।

महाराज विश्वनाथ सिंह:—इनका समय १७२० ई० माना जाता है। 'आनन्द रघुनन्दन नाटक' 'संगीत रघुनन्दन' तथा 'आनन्द रामायण' इस धारा की इनकी विशिष्ट कृतियाँ हैं। आनन्द रघुनन्दन' हिन्दी का प्रथम नाटक माना जाता है।

इस प्रकार कालक्रम से राम काव्य की मूल भावना में परिवर्तन मिलने लगता है। भक्ति-भावना के स्थान पर शृङ्गार-भावना के समावेश के कारण राम साहित्य के मूल स्वर में परिवर्तन होता है।

दर्शन और भक्ति

गोस्वामी तुलसीदास राम भक्ति-धारा के प्रतिनिधि कवि हैं। इनके काव्य में दर्शन और भक्ति का समन्वित स्वरूप मुखरित हुआ है। 'रामचरित मानस' के आरम्भिक वक्तव्य में गोस्वामी जी ने अपनी दार्शनिक दृष्टि की ओर संकेत किया है—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा
भाषानिबन्ध मति मञ्जुल मातनोति। मानस ७।

तात्पर्य यह है कि गोस्वामी जी ने 'पुराण निगम' आगम' आदि साधनों से भी अपने दर्शन की भूमिका निर्मित की है। गोस्वामी जी के दार्शनिक चिंतन में विविध चिन्त-विचारों का समन्वित रूप मिलता है। अतः भक्ति और दर्शन के

सन्दर्भ में गोस्वामी जी समन्वयवादी थे। इन्होंने वैदिक संहिताओं से प्रभाव ग्रहण किया है। इनके काव्य में 'निगम' का प्रयोग वैदिक साहित्य के अर्थ में किया गया है जैसे दर्शन के अनुसार—वेद और उपनिषद्, इन दो भागों में विभक्त किया गया है। वैदिक साहित्य में भक्ति के जिस स्वरूप के दर्शन होते हैं उसमें तीन तत्त्व के प्रति आग्रह व्यक्त मिलता है—स्तुति प्रार्थना और उपासना। 'नारद भक्ति सूत्र में जिन ग्यारह आसक्तियों का वर्णन मिलता है उनमें गुण माहात्म्यासक्ति पूजासक्ति रूपासक्ति, दास्यासक्ति, तन्मयासक्ति तथा सख्यासक्ति के संके वैदिक मंत्रों में भी मिल जाते हैं। गोस्वामीजी ने इन भावनाओं को ग्रहण किया है। इनकी अनेक पंक्तियों में वैदिक मंत्रों की छाया मिलती है। परन्तु गोस्वाम जी का प्रतिपाद्य है रामभक्ति, और राम-अवतार-लीला-गान इनका मुख्य हेतु है

गोस्वामीजी के प्रतिपाद्य हैं राम जो पर ब्रह्म हैं। इनका ब्रह्म निरूप उपनिषदों से प्रभावित है। उपनिषद् का प्रतिपाद्य ब्रह्म है। वहाँ ब्रह्म को सच्चिद नन्द स्वरूप कहा गया है। वह निर्गुण और सगुण है वह अनिर्वचनीय है अत 'नेति नेति' से उसका प्रतिपादन किया गया है। औपनिषदिक दर्शन के इ भावों को गोस्वामी जी ने ग्रहण किया है। उपनिषदों के कतिपय मन्त्र अपने मू रूप में गोस्वामीजी की अनेक पंक्तियों में उपलब्ध भी हो जाते हैं यथा—

अपाणि पादो जवनो ग्रहीता पश्यत्य चक्षु स शृणोत्य कर्ण ।

तुलसी—बिनु पद चलै, सुनै बिनु काना।

तन बिनु परस नयन बिनु देखा।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नाम रूपे विहाय। तथा विद्वान्नाम रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्। मु० उ० ३।८

गोस्वामी तुलसीदास—

सरिता जल जलनिधि महुँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई।

देखिए तुलसी दर्शन मीमांसा, १४०

तुलसीदास ने निर्गुण राम की सगुण लीला का गान किया है। राम ब्रह्म हैं परम पुरुष हैं। प्रकृति उनकी शक्ति है, सीता प्रकृति स्वरूपा है गोस्वामी जी ने 'मानस' में राम की वन्दना के साथ सीता का स्तवन भी इ रूप में किया है—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्।

राम परमार्थ रूप हैं, अलख और अनादि हैं, वे अकथ अगोचर हैं, अविगत और अनिर्वचनीय हैं, वे ज्ञानातीत और कल्पना से परे हैं। वे अन्तर्यामी व्यापक और विभु हैं। ब्रह्म राम के दो स्वरूप हैं—अगुण और सगुण। भक्त हेतु अगम या निराकार राम साकार रूप धारण करते हैं—

अगुनहि सगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।

मानस-कथा की वर्णनात्मकता के सन्दर्भ में गोस्वामी जी ने श्रोता और वक्ता की विधा का प्रयोग किया है। बालकाण्ड के आरम्भ में भरद्वाज याज्ञवल्क्य से प्रश्न करते हैं—

राम कवन प्रभु पूछउँ तोही। कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोही।
एक राम अवधेस कुमारा। तिन्ह कर चरित बिदित संसारा।
नारि बिरहँ दुखु लहेउ अपारा। भयउ रोषु रन रावनु मारा।
प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्य धाम सर्बग्य तुम्ह, कहहु बिबेकु बिचारि। मानस ४९ ।

याज्ञवल्क्य इस प्रश्न का उत्तर 'सती मोह प्रसंग' के माध्यम से देते हैं। कुम्भज ऋषि के आश्रम से अपने धाम की ओर जाते समय शंकर राम को सीता के वियोग में पीड़ित देखते हैं। सती के मन में शंका जाग्रत होती है—

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद।

शंकर सती की शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि जिस निर्गुण राम की कीर्ति का वर्णन निगम-आगम पुराण 'नेति' कह कर करते हैं वे ही माया पति हैं रघुकुल में उन्होंने ही नर-रूप में अवतार लिया है।

परन्तु सती के मन की शंका सन्तुष्ट नहीं होती है। वे राम की परीक्षा लेती हैं। राम सती के सम्मुख अपनी लीला प्रकट करते हैं। इस घटना के वर्णन द्वारा गोस्वामी जी राम के ब्रह्मत्व के स्वरूप का उद्घाटन करते हैं।

मही दीन्ह कौतुक मग जाता। आगे रामु सहित श्री भ्राता।
फिरि चितवा पाछे प्रभु देखा। सहित बन्धु सिय सुन्दर वेषा।

× × ×

देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका।
बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिधि बेष देखे सब देवा। बाल० ५४।

इस प्रकार सती की शंका-समाधान के द्वारा गोस्वामी जी हमारी शंका का भी समाधान करते हैं। गोस्वामी जी ने राम के सगुण रूप का ही गान किया है परन्तु अपने वर्णन के माध्यम से राम के परम ब्रह्मत्व की ओर किसी न किसी रूप में वे संकेत करते हैं। इस प्रकार के अनेक सन्दर्भ 'राम चरित मानस' में उपलब्ध होते हैं जिनमें गोस्वामी जी राम के निर्गुण स्वरूप का परिचय देते चलते हैं। उदाहरण स्वरूप, शिव और पार्वती के विवाह के पश्चात् एक सन्दर्भ में पार्वती राम के ब्रह्मत्व के प्रति शंका प्रकट करती हैं—

तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग आराती।
राम सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई।
जौ नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरहँ मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि। बाल० १०८।

पार्वती की शंका का उत्तर देते हुए शंकर कहते हैं, राम निराकार भी हैं और साकार भी। राम के निर्गुण और सगुण स्वरूप में कोई तात्विक अन्तर नहीं है, केवल भेद का अन्तर है। शाश्वत अग्नि अव्यक्त है, वही प्रकट होने पर व्यक्त हो जाती है परन्तु दोनों एक रूप हैं। जल और उपल में तात्विक भेद नहीं है। इसी प्रकार निर्गुण और सगुण निराकार और साकार अव्यक्त और व्यक्त अन्तर्यामी और बहिर्यामी गुणातीत और गुणामय ब्रह्म में अन्तर नहीं है। राम गुणातीत हैं, वे अखण्ड अव्यक्त और अविच्छिन्न हैं। वे कर्म वचन और मन से अगोचर और मानसोत्तीत हैं। निर्गुण अखण्ड अनन्त और अनादि राम कौशल्या के सम्मुख सगुण रूप में प्रकट होते हैं।

कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करौं अनन्ता।
माया गुण ज्ञानातीत अमाना वेद पुरान भनन्ता।

करुणा सुख सागर सब गुण आगर जेहि गावहिं श्रुति सन्ता ।
सो मम हित लागी जन अनुरागी भयउ प्रकट श्रीकन्ता ।
बाल० १९२ ।

इस प्रकार गोस्वामी जी स्थल-स्थल पर संकेत करते हैं कि जिस राम का गुणगान वे कर रहे हैं वे मुक्त निर्गुण ब्रह्म ही हैं । बाल काण्ड के एक विशेष वर्णन की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है । कौशल्या बालक राम को पालने में सुलाकर पूजा-उपासना के पश्चात् नैवेद्य चढ़ाकर भोजन-गृह में प्रवेश करती हैं । वहाँ वे बालक राम को भोजन करते देखती हैं । पुन वे पालने के निकट आती हैं वहाँ बालक को निद्रित पाती हैं—

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा । मति भ्रम मोरि कि आन बिसेषा ।
देखि राम जननी अकुलानी । प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी ।
देखरावा मातहिं निज अद्भुत रूप अखण्ड ।
रोम रोम प्रति लागे कोटि-कोटि ब्रह्मांड । बाल० २०१ ।

माता कौशल्या अगणित रवि शशि चतुरानन गिरि सरिता, सिन्धु, महि और कानन के दर्शन करती हैं और विकल होकर वे विनय करती हैं—

बार-बार कौशल्या बिनय करइ कर जोरि ।
अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि । बाल० २०२ ।

गोस्वामी तुलसी दास ने राम को परस्पर विरोधी गुणों से विभूषित किया है । श्रुतियों में ब्रह्म के परस्पर विरोधी गुणों का वर्णन मिलता है । 'गीता' और 'महिम्नस्तोत्र' में भी ब्रह्म के परस्पर विरोधी गुणों का वर्णन किया गया है । वहाँ ब्रह्म को 'सर्वदास' और 'सर्वदासी' कहा गया है । वह मायी है और माया रहित है योगी है, और योगगम्य भी है—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।
अविभक्तम् च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूत भर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च । गीता, १३ १६ ।

गोस्वामी जी के राम में भी परस्पर विरोधी गुण हैं—

बिनु पद चलइ सुनई बिनु काना ।
कर बिनु करम करइ बिधि नाना ॥

आनन रहित सकल रस भोगी।
बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा।
ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥ बाल० ११८।

राम अनाम हैं फिर भी उनके अनेक नाम हैं। वे निर्गुण हैं और निर्गुण-जा भी हैं। वे साधक हैं और साध्य भी हैं। वे कुलिश से भी कठोर हैं, और सुम से भी कोमल हैं—

कुलिसहु चाहि कठोर, अति कोमल कुसुमहु चाहि।
चित्त खगेस राम कर समुझि परइ कहु काहि। उत्तर० १९ (क)।

राम प्रत्येक कल्प में अवतार धारण करके अपनी लीला का विस्तार करते । उनके अवतार-धारण करने के अनेक कारण हैं। जब-जब धर्म की हानि होती संसार में जब-जब अकल्याणकारी शक्तियों की वृद्धि होती है तब-तब राम नुष्य रूप धारण कर युग-जीवन का निर्माण करते हैं—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।
तब-तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।
बाल० २२७।

रामचरित मानस' में गोस्वामी जी ने राम के अवतार-धारण करने के अन्य कारणों का भी उल्लेख किया है। भगवान् ने मनु-शतरूपा को वरदान दिया था। महर्षि नारद ने भगवान को शाप दिया था। जय विजय और प्रतापभानु को शाप-मुक्त करने हेतु भी भगवान् ने अवतार धारण किया था। इस प्रकार राम के अवतार-धारण के अनेक कारण हैं।

तुलसी का दर्शन आगम-सम्मत् माना गया है। इसमें पंचरात्र[1] आगम

---

१ पंच रात्र आगम के अनुसार ब्रह्म सर्व व्याप्त पूर्ण और नित्य है। प्राकृत गुणों से स्पर्शित न होने के कारण वह निर्गुण है। उसका सम्बन्ध अप्राकृतिक गुणों से स्थापित होने के कारण वह सगुण है। ज्ञान शक्ति, ऐश्वर्य बल वीर और तेज उसकी शक्तियाँ हैं। उसकी शक्ति का नाम प्रकृति है वह सृष्टा पालक और संहारक है। जीव विष्णु का अंश है। ये मान्यतायें गोस्वामी जी की रचनाओं में उपलब्ध हैं। यहाँ पर व्यूह विभव अर्चा और अन्तर्यामी के अनुसार ईश्वर की पाँच अवस्थाओं की कल्पना की गई। गोस्वामी जी ने इन मान्यताओं के स्वीकार किया है।

अद्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद रामानन्दसम्प्रदाय और सांख्ययोग के दर्शन से गोस्वामी जी प्रभावित हैं।

गोस्वामी जी के दर्शन को केवलाद्वैतवाद कहा गया है। इस दर्शन के अनुसार ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है। वह परमार्थतत्व है। उसकी परम शक्ति माया है। माया प्रकृति है। जीव ईश्वर के अंश हैं और नित्य हैं। ज्ञान से मोक्ष मिलता है। तुलसी ने इन तत्वों को स्वीकार किया है, परन्तु शंकराचार्य की मान्यताओं को गोस्वामी जी ने पूर्णतः स्वीकार नहीं किया है। शंकराचार्य ने ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को ही स्वीकार किया है। परन्तु गोस्वामी जी उसके निर्गुण और सगुण दोनों रूपों को स्वीकार करते हैं। शंकराचार्य विश्व को असत्य मानते हैं गोस्वामी जी विश्व को सत्य मानते हैं। शंकराचार्य की यह मान्यता है कि अविद्या के कारण ब्रह्म और जीव में पार्थक्य का बोध है। गोस्वामी जी भी ब्रह्म और जीव के पार्थक्य को स्वीकार करते हैं। ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध शरीर-शरीरी का है। भक्ति और उपासना से मोक्ष की उपलब्धि होती है।

राम की माया

ब्रह्म ने रूपात्मक जगत् का निर्माण माया के द्वारा किया है। माया ईश्वर से अपृथक है, वह त्रिगुणात्मिका और अनिर्वचनीय है। गोस्वामी जी के अनुसार माया ब्रह्म राम की शक्ति है। राम माया-पति हैं। माया राम की व्यक्त और अव्यक्त शक्ति है। राम के निराकार और साकार रूपों के अनुसार सीता (माया) के भी अव्यक्त और व्यक्त दो रूप हैं। राम के अवतार धारण करने के साथ माया भी अवतार धारण करती है। राम की शक्ति माया के दो रूप हैं—विद्या और अविद्या। विद्या माया द्वारा राम सृष्टि की रचना करते हैं। विद्या माया के रूप में सीता जगज्जननी हैं। वे क्लेशहारिणी और सर्वश्रेयस्करी हैं—

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा।
यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः। बाल० श्लो० ६।

सांख्यदर्शन में प्रतिपादित प्रकृति-पुरुष के सिद्धान्त का स्पष्ट प्रभाव गोस्वामी जी की चिन्तन धारा पर पड़ा है। सांख्य ने प्रकृति को अचेतन माना है। परन्तु गोस्वामी जी ने सांख्य के विपरीत प्रकृति को चेतन भी माना है। प्रकृति ही राम की विद्या माया है—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ।

परन्तु अविद्या माया मिथ्या में सत्य और सत्य में मिथ्या का बोध कराती
। राम की अविद्या माया से कौशल्या भ्रमित होती है । सती के मन में इस
विद्या माया के कारण ही भ्रम उत्पन्न होता है । यथा

तब संकर देखेउ धरि ध्याना । सतीं जो कीन्ह चरित सबु जाना ।
बहुरि राम मायहि सिरु नावा । प्रेरि सतिहि जेहिं झूँठ कहावा । बाल ५६,

राम की माया नारद को भ्रमित करती है[1] । सीता की छाया या अविद्या
ाया के माध्यम से ही राम रावण-वध का उपक्रम करते हैं । रावण अविद्या
ाया का ही हरण करता है[2] ।

धनुष-भंग के अवसर पर आये हुए राजा और रावण इत्यादि सीता के अविद्या
प पर ही विमुग्ध हैं । परन्तु राम और सीता का सम्बन्ध अभिन्न है, शब्द और अर्थ
था जल और तरंग में अभिन्नता है । इसी प्रकार राम और सीता अभिन्न हैं ।

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न ।
बन्दउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न । बाल० १८ ।

गोस्वामी जी ने राम में त्रिदेवों की कल्पना की है । राम जगत् के कर्ता
र्ता और संहर्ता हैं । कर्ता रूप में वे ब्रह्मा हैं भर्ता-रूप में विष्णु हैं और संहर्ता
रूप में रुद्र हैं । राम और परम विष्णु में अन्तर नहीं है । गोस्वामी जी ने शिव
स्तवन भी किया है । राम के समान शिव भी ज्ञानगिरातीत हैं । भवानी
उनकी माया हैं । पुराणों के अनुसार राम विष्णु हैं और विष्णु शिव हैं । 'विनय
पत्रिका' में इस प्रकार की भावना का स्पष्ट अनुमोदन किया गया है । 'मानस' में
गोस्वामी जी ने शिव और विष्णु के अभिन्नत्व का प्रतिपादन किया गया है—

---

१ जब हरि माया दूरि निवारी । नहिं तहँ रमा न राजकुमारी ।
तब मुनि अति सभीत हरि चरना । गहे पाहि प्रनतारति हरना । बाल,१३८ ।

२ सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला । मैं कछु करबि ललित नर लीला ।
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा । जौ लगि करौं निसाचर नासा ।
निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता । तैसइ सील रूप सुबिनीता । अरण्य २४ ।

वैराग्य रूप में वर्णित है। ज्ञान की शक्ति भक्ति है जिसकी उत्पत्ति वैराग्य से होती है—

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरे सरीर। राम० अयो १२१।

गोस्वामीजी ने नवधा भक्ति का भी प्रतिपादन किया है। 'नवधा भक्ति' का स्वरूप-विश्लेषण पिछले पृष्ठों में किया गया है। नवधा भक्ति का यह स्वरूप भागवत प्रतिपादित है। 'शिवपुराण' 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' तथा 'आदिपुराण' आदि ग्रन्थों में 'भागवत पुराण' की नवधा-भक्ति का अनुकरण किया गया है। रामानन्द, वल्लभाचार्य तथा स्वगोस्वामी आदि की भक्ति-विधा के निरूपण में 'भागवत पुराण' ही मूल प्रेरणा है। इस विधा को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जाता है।

(क) श्रवण कीर्तन स्मरण।

(ख) पादसेवन, अर्चन वंदन।

(ग) दास्य सख्य आत्मनिवेदन।

गोस्वामीजी ने राम के नाम रूप और गुण-श्रवण का उपक्रम किया है। राम कथा के श्रवण-फल का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है राम कथा समस्त अभिलाषाओं की पूर्ति करती है राम-कथा कलिमल-नाशक और भक्तिदायक है। भगवान् के नाम के गान के प्रति आग्रह करते हुए गोस्वामी जी कीर्तन विधान करते हैं। नवधा भक्ति का तृतीय लक्षण स्मरण है। नाम-स्मरण का विधान गोस्वामीजी ने अनेक रूपों में किया है। गोस्वामी जी ने पाद-सेवन की महिमा का वर्णन भी किया है—

सब कर माँगहि एकु फलु राम चरन रति होउ।
तिन्ह के मन मंदिर बसहु सिय रघुनन्दन दोउ।

नवधा भक्ति का पाँचवाँ अंग अर्चन है। यह प्रतिमा-पूजन का समर्थक है। 'मानस' में कौशल्या राम की पूजा करती हैं। राम शिव की पूजा करते हैं। गोस्वामीजी ने 'विनय पत्रिका' में 'अर्चा विग्रह' का वर्णन किया है। नवधा भक्ति का छठा अंग वंदन है। गोस्वामीजी ने 'मानस' के प्रत्येक काण्ड में मंगल श्लोकों का विधान किया है, जिनमें सरस्वती, गणेश और राम की वन्दना की गई है।

भगवान् स्वामी है। और भक्त सेवक है। इस प्रकार की भावना दास्य भाव की भक्ति की प्रमुखता है।

अस अभिमान जाइ जनि मोरें। मैं सेवक रघुपति पति मोरें।

नवधा भक्ति का आठवाँ अंग सख्य भाव है। गोस्वामी जी ने भक्त और भगवान् के मध्य जिन सम्बन्धों की कल्पना की है उनमें सख्य भाव भी है। 'राम चरित मानस' में राम ने सुग्रीव के सम्मुख प्रतिज्ञा की—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब विधि घटब काज मैं तोरें।

इस अंग में सख्य भाव को भक्ति का आदर्श रूप व्यञ्जित हो जाता है। 'विनय पत्रिका' में गोस्वामी जी ने सखा भावना से आपूरित होकर राम को उपालम्भ दिया है और यत्र-तत्र अति कटु शब्दों का प्रयोग करने में भी गोस्वामी जी ने संकोच नहीं किया है—

परम पुनीत संत कोमल चित तिनहिं तुमहिं बनि आई।
तौ कत बिप्र ब्याध गनिकहि तारेहु कछु रही सगाई।
विनय पत्रिका, १११।२।

नवधा भक्ति की अन्तिम विधा आत्म निवेदन है। इसके अन्तर्गत भक्त भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण आत्मनिवेदन और शरणागति या प्रपत्ति करता है। गोस्वामीजी और उनके पात्रों में शरणागति की भावना की प्रधानता मिलती है। 'विनय पत्रिका' में गोस्वामीजी ने आत्मनिवेदन और आत्मसमर्पण की भावना से आपूरित पदों की रचना की है—

ताहि तें आयो सरन सबेरें।
तुम सम ईस कृपालु परम हित पुनि न पाइहौं हेरें।
यह जिय जानि रहौं सब तजि रघुबीर भरोसे तेरें।
तुलसिदास यह विपति बागुरो तुमहिं सों बनै निबेरे। वि० १८७।

परन्तु गोस्वामीजी ने नवधा भक्ति के जिस स्वरूप को ग्रहण किया है, वह 'भागवत पुराण' पर आधारित नहीं है। गोस्वामीजी का विधान 'अध्यात्म रामायण' की नवधा भक्ति पर आधारित है। मानस' में राम शबरी को नवधा भक्ति का उपदेश देते हैं—

वैराग्य रूप में वर्णित है। ज्ञान की प्राप्ति भक्ति है जिसकी उपलब्धि वैराग्य से होती है—

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरे सरीर। राम० अयो० १२१।

गोस्वामीजी ने नवधा भक्ति का भी प्रतिपादन किया है। नवधा भक्ति' का स्वरूप विश्लेषण पिछले पृष्ठों में किया गया है। नवधा भक्ति का यह स्वरूप भागवत प्रतिपादित है। शिवपुराण' 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' तथा 'अग्निपुराण' आदि ग्रन्थों में 'भागवत पुराण' की नवधा-भक्ति का अनुकरण किया गया है। रामानन्द, वल्लभाचार्य तथा रूपगोस्वामी आदि की भक्ति-विधा के निरूपण में 'भागवत पुराण' ही मूल प्रेरणा है। इस विधा को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जाता है।

(क) श्रवण कीर्तन स्मरण।

(ख) पादसेवन, अर्चन वंदन।

(ग) दास्य सख्य आत्मनिवेदन।

गोस्वामीजी ने राम के नाम रूप और गुण-श्रवण का उपक्रम किया है। राम कथा के श्रवण-फल का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है राम कथा समस्त अभिलाषाओं की पूर्ति करती है राम-कथा कलिमल-नाशक और भक्तिदायक है। भगवान् के नाम के नाम के प्रति आग्रह करते हुए गोस्वामी जी कीर्तन विधान करते हैं। नवधा भक्ति का तृतीय लक्षण स्मरण है। नाम-स्मरण का विधान गोस्वामीजी ने अनेक रूपों में किया है। गोस्वामी जी ने पाद-सेवन की महिमा का वर्णन भी किया है—

सब कर माँगहिं एकु फलु राम चरन रति होउ।
तिन्ह के मन मंदिर बसहु सिय रघुनन्दन दोउ।

नवधा भक्ति का पाँचवाँ अंग अर्चन है। यह प्रतिमा-पूजन का समानार्थक है। 'मानस' में कौसल्या राम की पूजा करती हैं। राम शिव की पूजा करते हैं। गोस्वामीजी ने 'विनय पत्रिका' में 'अर्चा विग्रह' का वर्णन किया है। नवधा भक्ति का छठा अंग वंदन है। गोस्वामीजी ने 'मानस' के प्रत्येक काण्ड में मंगल श्लोकों का विधान किया है, जिसमें सरस्वती, गणेश और राम की वन्दना की गई है।

भगवान् स्वामी है। और भक्त सेवक है। इस प्रकार की भावना दास्य भाव की भक्ति की प्रमुखता है।

अस अभिमान जाइ जनि भोरें। मैं सेवक रघुपति पति मोरें।

नवधा भक्ति का आठवाँ अंग सख्य भाव है। गोस्वामी जी ने भक्त और भगवान् के मध्य जिन सम्बन्धों की कल्पना की है उनमें सख्य भाव भी है। 'राम चरित मानस' में राम ने सुग्रीव के सम्मुख प्रतिज्ञा की—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें।

इस अंश में सख्य भाव को भक्ति का आदर्श रूप व्यक्त हो जाता है। 'विनय पत्रिका' में गोस्वामी जी ने सखा भावना से आपूरित होकर राम को उपालम्भ दिया है और मन-तन कटु शब्दों का *प्रयोग करने में भी* गोस्वामी जी ने संकोच नहीं किया है—

परम पुनीत संत कोमल चित तिनहिं तुमहिं बनि आई।
तौ कत बिप्र ब्याध गनिकहि तारेहु कछु रही सगाई।
विनय पत्रिका, ११।२।

नवधा भक्ति की अन्तिम विधा आत्म निवेदन है। इसके अन्तर्गत भक्त भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण, आत्मनिवेदन और शरणागति का प्रदर्शन करता है। गोस्वामीजी और उनके पात्रों में शरणागति की भावना की प्रधानता मिलती है। 'विनय पत्रिका' में गोस्वामीजी ने आत्मनिवेदन और आत्मसमर्पण की भावना से आपूरित पदों की रचना की है—

ताहि तें आयो सरन सबेरें।
तुम सम दीन कृपालु परम हित पुनि न पाइहौं हेरें।
यह जिय जानि रहौं सब तजि रघुबीर भरोसे तेरें।
तुलसिदास यह बिपति बापुरो तुम्हहि सो बनै निबेरे। वि० १८७।

परन्तु गोस्वामीजी ने नवधा भक्ति के जिस स्वरूप को ग्रहण किया है, वह 'भागवत पुराण' पर आधारित नहीं है। गोस्वामीजी का विधान 'अध्यात्म रामायण' की नवधा भक्ति पर आधारित है। 'मानस' में राम शबरी को नवधा भक्ति का उपदेश देते हैं—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मनु माहीं।
प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।
गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान।
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा।
छठ दम सील बिरति बहुकरमा। निरत निरन्तर सज्जन धरमा।
सातवें सम मोहिमय जग देखा। मोतें संत अधिक कर लेखा।
आठव जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ पर दोषा।
नवम सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना।
अरण्य ३५ ३६।

इस प्रकार गोस्वामी जी द्वारा प्रतिपादित नवधा भक्ति का उपक्रम इस प्रकार है —सन्तो का साहचर्य, राम-कथा में प्रेम गुरु-पद-सेवा राम-गुण-गान राम जप भजन श्रेष्ठ कार्यों में रति जगको राममय देखना संतोष-लाभ परदोष निरीक्षण की ओर से विमुख रहना, और छल-हीन भाव से भगवान् पर विश्वास कर सम भाव से जीवनयापन करना।

नारायण तीर्थ ने शांडिल्य कृत भक्ति सूत्रों की व्याख्या की है। एक विशिष्ट सन्दर्भ में इन्होंने कहा है कि निर्गुण भक्ति का पर्यवसान 'सोऽहम्' में होता है। कश्यप के अनुसार सगुण भक्ति का पर्यवसान 'दासोऽहम्' में होता है। शांडिल्य ने भक्ति के सगुण (भेद विषयक) और निर्गुण (अभेद विषय) भेदों में समन्वय स्थापित किया है। अपनी भक्ति-भावना में गोस्वामी जी शांडिल्य के निकट हैं। गोस्वामी जी ने निर्गुण भक्ति को अभेद भक्ति और सगुण भक्ति को भेद भक्ति कहा है। गोस्वामी जी ने भक्ति को साध्य रूपा और साधन रूपा के अनुसार दो दृष्टियों से देखा है। साध्य रूपा भक्ति के दो प्रकार माने गए हैं—कृपासाध्य और साधनसाध्य। प्रथम के अन्तर्गत भक्त कोई प्रयास नहीं करता इसमें भगवान् की कृपा ही साधन है। द्वितीय के अन्तर्गत भक्त साधना करता है। गोस्वामी जी ने अपनी भक्ति में इन दोनों किया है।

जेहि आचरन भजो म सो ।
तुलसिदास रघुनाथ कृपा ।

भक्ति की प्राप्ति राम-कृपा से ही होती है राम-कृपा से ज्ञान उपलब्ध होता है, ज्ञान से प्रतीति होती है, और प्रतीति से प्रीति होती है, प्रीति से भक्ति दृढ़ होती है—

राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ रामप्रभुताई।
जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।

राम-कृपा प्राप्ति के लिए सीता की कृपा, गुरु-कृपा और शंकर-कृपा अपेक्षित है।

भक्ति के लिए रागानुगा या अविहित साधन अपेक्षित है। इस में भक्त भगवान् के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। रामचरित मानस में वैधी भक्ति के साथ-साथ रागानुगाभक्ति के वर्णन भी मिलते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा।
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बर डोरी।
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदय बसइ धनु जैसें। 'मानस'।

भक्ति और ज्ञान के पारस्परिक सम्बन्धों के निरूपण के सन्दर्भ में गोस्वामीजी ने भक्ति के प्रति ही विशेष रूप से आग्रह भाव व्यक्त किया है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि भक्ति को गोस्वामीजी ने ज्ञान से श्रेष्ठ कहा है। इसके विपरीत गोस्वामी जी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि ज्ञान से प्रतीति प्रतीति से प्रीति और प्रीति से भक्ति उत्पन्न होती है। परन्तु ज्ञान का मार्ग कठिन है। धर्म से विरति, विरति से योग योग से ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष उपलब्ध होता है। अतः इस मार्ग की अपेक्षा भक्ति-मार्ग सरल है। इसके अतिरिक्त ज्ञान पुल्लिंग है। माया स्त्रीलिंग है। अतः ज्ञान मायावशवर्ती हो सकता है। भक्ति और माया दोनों ही स्त्रीलिंग हैं अतः भक्ति माया-वशवर्तिनी नहीं हो सकती है। इस हेतु भी ज्ञान की अपेक्षा गोस्वामी जी भक्ति की प्रधानता का प्रतिपादन करते हैं। परन्तु दोनों में अन्तर नहीं है। यथा

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।

मानस ७ ११५ ७

नाम भक्ति

गोस्वामी तुलसीदास ने राम के नाम-गुण-गान को अतिश्रेष्ठ कहा है। अपनी कृतियों में इन्होंने राम-नाम-महिमा का प्रतिपादन किया है। 'मानस' 'कवितावली और 'विनय पत्रिका' में इन्होंने राम नाम-महिमा की विशेषताओं का वर्णन किया है। राम की महिमा इतनी प्रबल है कि उसका गुणगान राम स्वयं नहीं कर सकते—

कहौं कहा लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई।
बाल० २६।

राम का सगुण रूप नाम के आधीन है। नाम के अभाव में रूप की कोई कल्पना नहीं बन पाती। नाम के उच्चारण से रूप का साक्षात्कार होता है। यथा

देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना।
रूप बिसेष नाम बिनु जाने। करतल गत न परहिं पहिचाने।
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषे। बाल० २१।

राम का नाम नामी राम से भी श्रेष्ठ है। नाम और नामी में भेद नहीं है। गोस्वामी जी की यह धारणा है कि नाम राम के निर्गुण और सगुण इन दोनों रूपों से श्रेष्ठ है। साधक योग-समाधि में 'नाम-स्मरण' द्वारा ब्रह्मसुख का अनुभव करता है—

साधक नामु जपहिं लय लाएँ।
होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥ बाल० ।२२।१ २।

नाम निरूपण से निर्गुण ब्रह्म बोधगम्य और सुगम हो जाता है अतः नाम का प्रभाव निर्गुण राम से भी श्रेष्ठ है—

निरगुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार।
कहउँ नामु बड़ राम तें निज बिचार अनुसार। बाल० २३।

राम ने लोक कल्याण की भावना से अवतार धारण किया था। परन्तु नर रूप में उनका लोक-मंगल-व्यापार अति सीमित है। राम की अपेक्षा 'नाम' की उपलब्धियाँ अति व्यापक हैं—

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी।
× × ×

भंजेउ राम आपु भव चापू। भव भय भंजन नाम प्रतापू।

× × ×

राम सुकंठ विभीषन दोऊ। राखे सरन जान सब कोऊ॥

बाल० २३ २४।

इस प्रकार रामनाम ब्रह्म राम से भी बड़ा है। निर्गुण मार्गीय अपने घट के भीतर नाम-स्मरण से ब्रह्म की अनुभूति करते हैं और 'नाम' के माध्यम से सगुण मार्गी भक्त राम के साकार रूप की उपासना करते हैं—

हिये निर्गुन नयननि सगुन रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम। दो ७।

काव्य पक्ष

गोस्वामीजी ने अपने काव्य में राम का गुण-गान किया है। उनके काव्य के प्रतिपाद्य हैं भक्ति और दर्शन परन्तु उनकी कविता में श्रेष्ठ काव्य के सम्पूर्ण तत्त्व विद्यमान हैं। काव्यतत्त्व उनकी भक्ति भावना और दर्शन के अनुगामी हैं। अतः हम उनके काव्य और दर्शन में विभाजन रेखा नहीं खींच सकते हैं। 'मानस' के आरम्भिक श्लोक में ही कवि ने काव्य के सर्वयुगीन और सर्वकालीन लक्षणों का निरूपण इस रूप में किया है—

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि।
मंगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ।

काव्य के लिए शब्द रस और मंगल भावना अनिवार्य तत्व हैं। काव्य का मुख्य उद्देश्य उसमें निहित शिवतत्व है। जिस काव्य में जीवन के प्रति श्रद्धा और विश्वास की भावना निहित रहती है वही गरिमा से मण्डित होता है। गोस्वामी जी की भक्ति और उनके दर्शन का मर्म मंगल-विधान है। अतः उनका काव्य उनकी भक्ति और दर्शन का पूरक या पर्यायवाची है। 'मानस' में काव्य के शिवत्व के प्रति कवि ने अनेक स्थलों पर आग्रह और विश्वास भाव-व्यक्त किया है।—

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।
१ १४ ५।

गोस्वामी जी को राम की कथा इसलिए भी प्रिय है कि उसकी शक्ति [illegible] करने की क्षमता उसमें है काव्य का

नाम भक्ति

गोस्वामी तुलसीदास ने राम के नाम-गुण-गान को अतिश्रेष्ठ कहा है। अपनी कृतियों में इन्होंने राम-नाम-महिमा का प्रतिपादन किया है। 'मानस' कवितावली' और विनय पत्रिका' में इन्होंने राम नाम-महिमा की विशेषताओं का वर्णन किया है। राम की महिमा इतनी प्रबल है कि उसका गुणगान राम स्वयं नहीं कर सकते—

कहौं कहां लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई।
बाल० २६।

राम का सगुण रूप नाम के आधीन है। नाम के अभाव में रूप की कोई कल्पना नहीं बन पाती। नाम के उच्चारण से रूप का साक्षात्कार होता है। यथा

देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना।
रूप बिसेष नाम बिनु जाने। करतल गत न परहिं पहिचाने।
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें। बाल० २१।

राम का नाम नामी राम से भी श्रेष्ठ है। नाम और नामी में भेद नहीं है। गोस्वामी जी की यह धारणा है कि नाम राम के निर्गुण और सगुण इन दोनो रूपों से श्रेष्ठ है। साधक योग-समाधि में 'नाम-स्मरण' द्वारा ब्रह्मसुख का अनुभव करता है—

साधक नामु जपहिं लय लाएँ।
होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥ बाल० ।२२।१ २।

नाम निरूपण से निर्गुण ब्रह्म बोधगम्य और सुगम हो जाता है अतः नाम का प्रभाव निर्गुण राम से भी श्रेष्ठ है—

निरगुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार।
कहउँ नामु बड़ राम तें निज बिचार अनुसार। बाल० २३।

राम ने लोक कल्याण की भावना से अवतार धारण किया था। परन्तु नर रूप में उनका लोक-मंगल-व्यापार अति सीमित है। राम की अपेक्षा 'नाम' की उपलब्धियाँ अति व्यापक हैं—

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी।
× × ×

भंजेउ राम आपु भव चापू। भव भय भंजन नाम प्रतापू।

× × ×

राम सुकंठ बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सब कोऊ॥

बाल० २३, २४।

इस प्रकार रामनाम ब्रह्म राम से भी बड़ा है। निर्गुण मार्गीय अपने घट के भीतर नाम-स्मरण से ब्रह्म की अनुभूति करते हैं और 'नाम' के माध्यम से सगुण मार्गी भक्त राम के साकार रूप की उपासना करते हैं—

हिये निर्गुण नयननि सगुण रसना नाम सुनाम।
मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम। दो ७।

काव्य पक्ष

गोस्वामीजी ने अपने काव्य में राम का गुण-गान किया है। उनके काव्य के प्रतिपाद्य हैं भक्ति और दर्शन परन्तु उनकी कविता में श्रेष्ठ काव्य के सम्पूर्ण तत्त्व विद्यमान हैं। काव्यतत्त्व उनकी भक्ति भावना और दर्शन के अनुगामी हैं। अतः हम उनके काव्य और दर्शन में विभाजन रेखा नहीं खींच सकते हैं। 'मानस' के आरम्भिक श्लोक में ही कवि ने काव्य के सर्वगुणीन और सर्वकालीन लक्षणों का निरूपण इस रूप में किया है—

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मंगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ।

और अर्थ के माध्यम से अंकित होता है। गोस्वामी जी ने शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध की व्यञ्जना के लिए उन्हें भक्ति और दर्शन के अति उदात्त तत्वों के समकक्ष का माना है—रवि और उसकी किरणें भिन्न प्रतीत होते हुए भी अभिन्न हैं, जल और वीचि भिन्न प्रतीत होते हुए भी अभिन्न है राम और सीता अभिन्न हैं वैसे ही शब्द और अर्थ अभिन्न हैं—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न। २१ १ १८

भारतीय कवियों के सम्मुख काव्य प्रयोजन के विविध सन्दर्भ रहे हैं जिनमें यश, अर्थ, कान्तासंमति उपदेश तथा चतुर्वर्ग प्राप्ति प्रमुख हैं। गोस्वामी जी ने इन सब का समीकरण 'स्वांत सुख' के अन्तर्गत कर लिया है—

स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति।
बालकाण्ड श्लोक ७।

परन्तु कवि के 'स्वान्त सुख' की भावना में 'विश्वसुख' की भावना अनिवार्य रूप में निहित है।

गोस्वामी जी राम-वृत्त को ही काव्य का प्रतिपाद्य मानते हैं। इस सन्दर्भ में कवि ने यह स्पष्ट कहा है कि साधारण प्रतिभा वाले कवि की वाणी यदि राम-गुणगान से परिपूर्ण है तो वह कवि प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त कर लेता है, इसके विपरीत राम-गुण-गान से शून्य श्रेष्ठ कवियों की वाणी सम्मान-वंचिता रह जाती है—

(अ) सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। राम नाम जस अंकित जानी।
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही।
(आ) भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ।
बाल० १०।

गोस्वामी जी ने कविता के प्रतिपाद्य विषय के लिये केवल 'राम गुण गान' को ही अभीष्ट विषय माना है। इस प्रतिपादन पर यह शंका उठाई गई है कि काव्य के लिए क्या अन्य कोई विषय या प्रतिपाद्य नहीं हो सकता है। वस्तुतः इस प्रकार की शंका व्यक्त करने वाले आलोचक इस सत्य की अवहेलना कर जाते हैं कि उनका काव्य भक्तिमीय दर्शन का काव्य है। इसके अतिरिक्त उनके राम विश्व के पर्यायवाची है।

गोस्वामी जी भक्तिरस के कवि हैं। इनका काव्य भक्ति-भावना से आपूरित है। भक्तिरस काव्यशास्त्र में वर्णित नव रसों से श्रेष्ठ है—

नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा।
सुकृती साधु नाम गुन गाना। ते बिचित्र जल बिहग समाना।
संत सभा चहुँ दिसि अँवराई। श्रद्धा रितु बसंत सम गाई।
भगति निरूपन बिबिध बिधाना। हरिपद रति रस बेद बखाना।

१ ३७ ५ ७ ।

मानस मान सरोवर है, काव्य के नव रस इसके जलचर हैं। संत-सभा अमराई है यम, नम और नियम फूल हैं, ज्ञान फल है और भक्ति रस उसका रस है। भक्ति रस का अनुपम प्रतिपादन 'विनय पत्रिका' का प्रतिपाद्य है। गोस्वामी की प्रसिद्ध कृति 'मुक्ताफल' है। इस ग्रन्थ में भक्तिरस का व्यापक विश्लेषण किया गया है—'व्यासादिभिर्वर्णितस्य विष्णोर्विष्णु भक्तानां वा चरितस्य नव रसात्मकस्य श्रवणादिना जनितश्चमत्कारो भक्ति रस — मुक्ता पृष्ठ १६७। अर्थात्, व्यास आदि ने विष्णु या विष्णु-भक्तों के नव रसात्मक चरित्र का वर्णन किया है उसके श्रवण से जो आनन्द होता है, वह भक्ति रस है। गोस्वामी जी के सम्मुख भक्ति रस का यही आदर्श था। 'मानस' के सात सोपान भक्ति रस के मार्ग हैं। इस प्रसंग पर विचार करते हुए हमारा ध्यान मधुसूदन सरस्वती कृत 'भक्ति रसायन' की ओर आकर्षित होता है। इन्होंने सोलह रसों[1] की कल्पना की है इनमें से शुद्ध भक्ति रस केवल तीन हैं—विशुद्ध भक्ति रस वात्सल्यभक्ति रस और प्रेमानुभक्ति रस। गोस्वामी जी के काव्य में शुद्ध भक्ति रस के चार रूप उपलब्ध होते हैं—विशुद्ध भक्तिरस, शांत भक्तिरस, प्रेमानु भक्तिरस और वात्सल्य भक्ति रस। प्रथम के अन्तर्गत भगवान् के महात्म्य से भगवान् के प्रति सात्त्विक रति भावना जाग्रत होती है। इसमें भगवान् की महिमा के श्रवण, कीर्तन और स्मरण का विधान होता है। शांत भक्ति के अन्तर्गत वेद-उपनिषद् के श्रवण तीर्थ-सेवा और दर्शन आदि का विधान रहता है। प्रेमानु भक्ति में सेव्य-सेवक

---

१ शृंगार युद्ध वीर, रौद्रभयानक, प्रीतिभयानक, वात्सल्यरस प्रेमानु, विशुद्ध भक्ति रस, हास्य अद्भुत युद्धवीर, करुण, बीभत्स, दयावीर धर्म वीर और शान्त।

भाव की भक्ति का विधान रहता है। गोस्वामी जी की भक्ति सेव्य और सेवक भाव की है। प्रेयान् भक्ति के तीन रूप हैं दास्य सख्य और दास्य-सख्योभयात्मक। गोस्वामी जी की भक्ति-विधा में सख्यभाव की भक्ति के प्रति विशेष आग्रह नहीं मिलता है। उनके काव्य में दास्य प्रेयान् रस की ही अवतारणा हुई है। दास्य सख्योभयात्मक भाव की भक्ति की व्यञ्जना गोस्वामी जी के काव्य में मिलती है। भरत लक्ष्मण, सुग्रीव और विभीषण आदि की भक्ति इसी कोटि की है।

गोस्वामी जी के काव्य में भक्ति रस का चौथा रस वात्सल्य भक्तिरस है। इसके वर्णन 'गीतावली' 'कवितावली' और 'मानस' में होते हैं। राम के संयोग और वियोग के अवसरों पर कवि कौशल्या के वात्सल्य का अति मार्मिक वर्णन करते हैं। गोस्वामी जी की भक्ति में वात्सल्य सम्बन्धी आश्रय दो वर्गों में विभाजित किए जाते हैं। प्रथम माननीय और द्वितीय भक्तजन। प्रथम के अन्तर्गत भगवान् की बाल-क्रीड़ाओं के वर्णन हैं—

कबहूँ ससि माँगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाइ के नाचत मातु सबै मन मोद भरैं।
कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि के, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन-मंदिर में बिहरैं।

कवितावली बालकाण्ड ४।

दूसरे वर्ग में काकभुशुंडि प्रतिनिधि रूप में आते हैं। ये राम के बालरूप को अपना आराध्य मानकर भक्ति करते हैं—

जब जब राम मनुज तनु धरहीं। भगत हेतु लीला बहु करहीं।
तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। बालचरित बिलोकि हरषाऊँ।
जन्म महोत्सव देखउँ जाई। बरष पाँच तहँ रहौं लोभाई।
इष्टदेव मम बालक रामा। सोभा बपुष कोटि सत कामा।

× × +

लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं तहँ तहँ संग उड़ाउँ।
जूठन परइ अजिर महँ सो उठाइ करि खाउँ। उत्तर० ७५।१

शोध की नवीन प्रक्रियाओं के अन्तर्गत एक नवीन सत्य का उद्घाटन किया गया है। गोस्वामी जी को मधुर रस का कवि भी कहा गया है। इस सन्दर्भ में

निवेदन यह है कि गोस्वामी तुलसी दास का उद्देश्य शृंगार निरूपण नहीं है। कतिपय शोधकर्त्ताओं की यह मान्यता है कि गोस्वामी जी के काव्य में 'रसिक साधना धारा भी प्रवाहित हुई है।'[१] इस प्रकार का निर्णय गीतावली के कतिपय पदों और विनयपत्रिका की साखी के आधार पर लिया गया है। 'गीतावली' के एक पद में 'केलिगृह' का वर्णन है। इस पद के आधार पर ही डॉ॰ भगवती प्रसाद सिंह ने इस प्रकार का निर्णय किया है।

> बैठे लखित एकान्त राम सोने।
> टीझिये ललित उर्मिला परसपर लखत सुलोचन कोने।
> सुखमा सागर सिंगार सार करि कनक रचे है तिहि सोने।
> रूपप्रेम-परमिति न परत कहि बिथकि रही मति मौने।
> सोभा सील सनेह सोहावने समउ केलि गृह गौने।
> देखि तियन के नयन सुफल भए, तुलसी दास हू के होने।
>
> गीतावली।

गोस्वामीजी मर्यादावादी कवि हैं। इस पद का सम्बन्ध उर्मिला और लक्ष्मण से है। इस अंश से भी अधिक शृंगारपूर्ण अंश 'कवितावली' में उपलब्ध होते हैं। परन्तु हम उन्हें मधुर रस के अन्तर्गत नहीं रख सकते। विद्वान विचारक ने गोस्वामीजी की रचनाओं में सखी भाव का भी निर्धारण किया है। अपने मत की संस्थापना के लिए वन-यात्रा के प्रसंग में एक रमणी की प्रेमाकुल भावना के वर्णन का प्रसंग ग्रहण कर आलोचक ने इस प्रकार का निष्कर्ष किया है।

> सखिन्हि सुमित्र भई, प्रेम मगन भई।
> सुरति बिसरि गई अपनी ओही।
> तुलसी रही है ठाढ़ी पाहन गढ़ी काढ़ी।
> न जाने कहाँ ते आई कौन की कोही।

स्वामिनी सीता उसे अपनी कृपा-दृष्टि देती है और उसे हृदय से लगाती है—

> सनेह सिथिल सुनि बचन सकल सिय
> चितई अधिक हित सहित ओही।

१ डॉ॰ भगवती प्रसाद सिंह—राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय।

तुलसी मन्यहुँ प्रभु कृपा की मूरति फिरि
हेरि कै हरषि हिये लियो है पोही।

अपनी विवेचना में डॉ० सिंह 'मानस' में आए हुए तापस प्रसंग की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए कहते हैं 'मानस में उनका आराध्य के प्रति आत्मनिवेदन दास्य भाव का था और गीतावली में उनकी आत्मविभोरता एवं आत्मसमर्पण शृंगार भावना से प्रेरित है। प्रथम में इस अवसर पर वे इष्टदेव के चरणों पर गिरे थे किन्तु अपने दूसरे रूप में वे स्वामिनी के हृदय से लगे। रसिक सिद्धान्त के अनुसार सखियों का सीधा सम्बन्ध आराध्य देव (राम) से नहीं होता वे सीता की अंशोद्भावा हैं। अतएव स्वयं को उन्हें (सीता को) समर्पित करके ही तत्सुख की अधिकारिणी होती हैं। तापस का सीता द्वारा आलिंगन संभवतः इसी तथ्य का स्मरण कराता है।

अन्तर्साक्ष्य के आधार पर भी गोस्वामी जी को रसिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। इस सम्प्रदाय में गोस्वामी जी के 'मानस' का विशेष सम्मान है। परन्तु गोस्वामी जी ने मानस में जिस मर्यादा पुरुषोत्तम राम के व्यक्तित्व का विन्यास किया है रसिक सम्प्रदाय में उसके विपरीत राम का शृंगारिक वर्णन मिलता है। रसिक सम्प्रदाय और गोस्वामी जी—ये दोनों ही वैधीभक्ति के प्रति आग्रहशील हैं। दोनों में रामचरित का वर्णन है। परन्तु दोनों में तात्विक अन्तर है। इस अन्तर की अवहेलना करके किसी प्रकार का निर्णय उपयोगी नहीं होगा। गोस्वामी जी ने तत्सुखी भाव से अपने को सीता मानकर राम के साथ रमण-अभिलाषा व्यक्त नहीं की है। गोस्वामी जी में तत्सुख भाव की व्यञ्जना नहीं मिलती है। गोस्वामी जी ने सीता को जगदम्बा और राम को जगत् पिता के रूप में अंकित किया है। अतः रसिक भावना के सम्पादन की सम्भावना उनके काव्य में नहीं है।

पिछले पृष्ठों में जो विवेचनायें और विश्लेषण प्रस्तुत हैं उनके आधार पर सम्भवतः यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गोस्वामी तुलसी दास भक्त और दार्शनिक थे। अतः साहित्य-तत्त्व उनमें अति गौण और नगण्य रूप में ही विद्यमान है। परन्तु वस्तुस्थिति इस प्रकार की नहीं है। गोस्वामी जी की रचनाओं में

---

१ राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय—पृ० १०९ १ ७।

काव्य-तत्वों का अति उत्कर्षोत्तम रूप देखने को मिलता है। भक्ति तत्व और साहित्य तत्व से समन्वित उनकी रचनायें चेतना के उन उच्च शिखरों से आलोक की किरणें प्रसारित करती हैं। साहित्यिक दृष्टि से उनकी कृतियों में 'रामचरित मानस' विश्व साहित्य की एक विशिष्ट उपलब्धि है। गोस्वामी जी ने प्राचीन संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया था। अतः गोस्वामी जी ने श्रेष्ठ काव्य के सम्पूर्ण लक्षणों से इस कृति को विभूषित किया है। 'मानस' के आरम्भ के मंगलाचरण में कविने इसे प्रमाणित किया है। इस की प्रबन्धात्मकता में कवि के भावों के सरल एवं संवेदनात्मक स्वरूप का स्फुरण हुआ है। कवि के भाव-लोक में जीवन की समग्रता का जो प्रतिबिम्ब निर्मित हुआ उसके मूर्तिकरण के लिए भाषा रस, छन्द और अलंकारों का समुचित प्रयोग यह प्रमाणित करता है कि गोस्वामी जी का कवि उनके भक्त रूप के समान ही उदात्त, चेतनापूर्ण और गौरवमय था। श्रेष्ठ कवि वही है जिसने अपनी संस्कृति के प्राचीन प्रकाश-स्तम्भों की अवतारणा अपने काव्य में युगीन परिस्थितियों के आधार पर की है। 'मानस' में कवि के प्रयास इसी रूप की आधारशिला पर संचरणशील हैं। इस कथन का पोषण मंगलाचरण के छन्द से हो जाता है—

नाना पुराणनिगमागम सम्मतंयद्
रामायणेनिगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा।
भाषा निबन्धमतिमंजुल मातनोति।—

नाना पुराण निगमागम' हमारी संस्कृति और चेतना की विशिष्ट रूप सम्पियाँ है। कवि ने 'स्वान्त सुखाय' को विश्वकल्याण का पर्यायवाची माना है इस सत्य का उद्घाटन कवि के एक अन्य कथन से भी हो जाता है—

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहिगिरि गजसिर सोह न तैसी।
नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई।
तैसेहिं सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं।

मानस बाल काण्ड ११।

'मानस' में एक ओर कवि ने काव्यशास्त्रीय उपादानों का प्रयोग किया है, सरी ओर कवि ने प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों के कथा विधान और काव्य ान का अवलम्ब भी ग्रहण किया है। मानस' एक प्रबन्ध काव्य के साथ ही अपभ्रंश-परम्परा का चरित और कथा-काव्य भी है। इस ओर पिछले में संकेत किया गया है। गोस्वामी जी ने अपभ्रंश काव्य-रूप वर्णित क शैली में ही इस कृति की रचना की है। अपभ्रंश कवियों के अनुरूप ामी जी ने पूर्व कवि-प्रशंसा की है और आत्म-लघुता का प्रकाशन किया कवि यद्यपि आचार, अर्थ अलंकार, छन्द नियोजन, प्रबन्ध-कौशल तथा य के गुण-दोषों से परिचित हैं परन्तु शिष्टाचार का परिचय देते हुए प्रति अपनी अज्ञानता का ही उल्लेख करते हैं। गोस्वामी जी के युग में ा के प्रति कवियों की संश्लिष्ट दृष्टि कैसी रही, इसका ज्ञान नहीं हो पाता परन्तु इस प्रकार के संकेत मिलते हैं कि उनके युग में संस्कृत साहित्य की विधि और अभिव्यञ्जना प्रधानता के प्रति आग्रह बढ़ रहा था। गोस्वामी ने इस कृत्रिमता से अलग रहने और काव्य के नैसर्गिक विधान के प्रति आग्रह-ल रहने को ही श्रेयस्कर माना है। इस प्रकार गोस्वामी जी के काव्य में -संग्रह, अनुभूतियों और काव्य-कला के समन्वित रूप उपलब्ध हो जाते हैं। वामी जी के अनुसार कविता विश्वमंगल की धात्री है। उनके राम विश्व ल के पर्याय हैं—

भनित बिचित्र सुकबि कृत जोऊ।
राम नाम बिनु सोह न सोऊ।

गोस्वामी जी के 'मानस' को कतिपय आचार्यों ने पुराण और महापुराण भी हा है। यदि हम इनकी इस मान्यता को स्वीकार कर लेते हैं तो हमें 'मानस' ो काव्य के सन्दर्भ से अलग करना होगा। वस्तुतः इस धारणा का निर्माण ोस्वामी जी की 'नानापुराण निगमागम सम्मतम्' के आधार पर ही हुआ लगता । परन्तु गोस्वामी जी की भावभूमि इन स्रोतों से समर्पित है इस प्रकार ा संकेत गोस्वामी जी ने स्वयं किया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने हिन्दी साहित्य का अतीत नामक ग्रन्थ में इस धारणा का खण्डन किया है परन्तु की वाणी की कटुता हमें प्रभावित नहीं कर पाती। सम्भवतः अपनी अधि-

व्यक्ति के माध्यम से शिव जी इस सत्य का समर्थन करते हैं कि सत्य सदैव कटु होता है।'

यह कहा गया है कि गोस्वामी जी ने 'मानस' में पुराण शैली का अनुसरण कर संवाद-शैली का माध्यम ग्रहण किया है। वस्तुतः यह शैली श्रोता और वक्ता की है, जिसकी चर्चा आदि काल की विवेचना के अन्तर्गत की जा चुकी है। श्रोता और वक्ता की निम्नलिखित परम्परा मानस में उपलब्ध होती है। वक्ता—याज्ञवल्क्य, काकभुशुंडि और शिव श्रोता—भरद्वाज, गरुड़ और पार्वती। इनके अतिरिक्त श्रोता और वक्ता की एक चौथी परम्परा भी मानी जाती है जिसमें वक्ता स्वयं गोस्वामीजी हैं और श्रोता उनके पाठक हैं।

संवाद शैली की यह विधा अपभ्रंश में पूर्णतः विकसित हुई। हिन्दी की आदिकालीन कृतियों में श्रोता और वक्ता की इस परम्परा का मूल स्रोत अपभ्रंश काव्य ही है। मेरी यह धारणा है कि गोस्वामीजी ने पौराणिक और अपभ्रंश की शैलियों के समन्वित रूपों को ग्रहण किया है। परन्तु विचारकों की यह निश्चयात्मक धारणा है कि मानस की संवाद-शैली और कथा विधा पौराणिक शैली की है। इनके अनुसार श्रोता-वक्ता के प्रश्नोत्तरों के रूप में कथा कहने की शैली प्रायः पुराणों और पौराणिक शैली के महाकाव्यों में ही उपलब्ध होती है। रामायण की कथा सर्वप्रथम नारद ने महर्षि वाल्मीकि को सुनाई, वाल्मीकि ने लव-कुश को सुनाई, लव-कुश ने अश्वमेध के अवसर पर इस कथा का गान अयोध्यावासियों के सम्मुख किया। मानस में श्रोता-वक्ता की विधा इस परम्परा के अनुसार ही चलती है।

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा।
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। राम भगति अधिकारी चीन्हा।
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा।

---

१ 'जिनकी मति नाना पुराण निगमागम संमतम् को सामने रखकर यह कहती है कि यह पुराण है उनके लिए संस्कृत व्याकरण (लघु कौमुदी का ही सही) अभ्यास अपेक्षित है। इससे अधिक नहीं तो हिन्दी कोश में पुराण के पंच लक्षणों को ही देख समझ लेना चाहिए।' हिन्दी साहित्य का अतीत पृ० २४०।

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तस बालपन तब अति रहेउं अचेत।
मानस, बाल काण्ड, ३० । (क)

मानस का महाकाव्यत्व

ऊपर यह संकेत किया गया है कि 'रामचरित मानस' पुराण नहीं है। पुराण की एक निश्चित परिभाषा प्रस्तुत की गई है। इस परिभाषा के अनुसार मानस पुराण नहीं है।[1] 'मानस' अपभ्रंश के चरित-काव्य-परम्परा की रचना है जो धर्म और कथा के लक्षणों से परिपूर्ण है। गोस्वामीजी ने अपने इस काव्य को 'चरित' 'गाथा' और कथा कहा है। आचार्य भामह, विश्वनाथ और दंडी आदि ने महाकाव्य की जो परिभाषायें दी हैं उनके अनुसार 'मानस महाकाव्य नहीं है। भारतीय महाकाव्य की परम्परा में 'रामायण' और महाभारत' के पश्चात् अश्वघोष के 'बुद्ध चरित' की ओर हम आकर्षित होते हैं। 'रामायण' और 'महाभारत' में राम और रावण तथा कौरव और पाण्डवों के संघर्षों का सम्बन्ध मन की वृत्तियों से स्थापित किया जाता है जिसमें राम श्रेष्ठ मनोभावों के प्रतीक और रावण निकृष्ट मनोभावों के प्रतीक रूप में ग्रहण किए जाते हैं; परन्तु यह आग्रह अधिक न्यायसंगत नहीं लगता है। इस दृष्टि से अश्वघोष के 'बुद्ध चरित' की ओर हम आकर्षित होते हैं। यहाँ गौतम स्पष्ट से संघर्षरत हैं। वस्तुतः यहाँ मनुष्य की आत्मा अपनी वासनाओं से संघर्षरत चित्रित की गई है। भाव पक्ष की सूक्ष्मता के साथ इस कृति की शैली भी सूक्ष्म है।

इसके पश्चात् कवि कालिदास के 'रघुवंश' की ओर हम आकर्षित होते हैं। शिल्प की दृष्टि से और कथा-प्रस्ताव की दृष्टि से यह काव्य अपने पूर्व के महाकाव्यों से भिन्न प्रकार का है। और यहाँ कथा के मत्स्यात्मक स्वरूप के दर्शन हो

---

१ पुराणों के मान्य लक्षण ये हैं—सर्ग प्रति सर्ग ऋषियों और देवताओं का वंश-वर्णन मन्वन्तरों का वर्णन राजवंशों का वर्णन। यहाँ ज्ञान-कोष और धर्म की बातें भी रहती हैं। मानस में सर्ग प्रतिसर्ग मन्वन्तर आदि के वर्णन नहीं हैं इसमें काव्य के नायक का वंश-वर्णन भी नहीं है। इन दृष्टियों के अनुसार मानस' पुराण नहीं है। देखिए —हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास पृ० ४८४ ४८६।

जाते हैं। इस कृति में कवि शैलीगत अलंकरण की ओर ही अधिक आग्रहशील है। शिल्पविधि की दृष्टि से यह एक विशिष्ट परम्परा का संस्थापन करती है। इस प्रकार परवर्ती महाकाव्यों ने 'रघुवंश' की शिल्पयोजना और भावात्मक अनुभावों को अपना अपना आधार-स्तम्भ बनाया। इस संक्षिप्त संकेत से हमारा तात्पर्य यह है कि 'बुद्ध चरित' 'रघुवंश' और 'शिशुपाल वध' के माध्यम से शिल्प प्रधान या रीति प्रधान महाकाव्यों की विशिष्ट शैली का विकास हुआ। यह परम्परा अपने रूप में विकसित होती रही है और इस प्रकार के महाकाव्यों के प्रणयन की परम्परा सम्मुख आई, जिसमें कथा, व्याकरण और अलंकार इन तीनों विधाओं के नियोजन का प्रयास किया गया। इस वर्ग की एक विशिष्ट कृति है 'रावण वध'। इसके रचयिता हैं भट्टि।

इस परम्परा के विपरीत एक नवीन परम्परा का प्रस्फुटन हुआ जिसका पूर्ण विकसित रूप प्राकृत और अपभ्रंश महाकाव्यों में पल्लवित हुआ। इसकी पर्वी आदिकाव्य और प्रेमाख्यानक काव्य के सन्दर्भ में आ गई है। इस परम्परा की प्रतिनिधि रचनायें हैं 'पउम चरिउ' 'सेतुबन्ध', गौडवध' एवं 'कुमार पाल चरित'। मेरी अपनी निश्चित मान्यता है कि शिल्प की दृष्टि से गोस्वामी जी का रामचरित मानस' इस द्वितीय परम्परा की रचना है। पुष्पदन्त के 'पउम चरिउ' के प्रारम्भ में देव-स्तुति खल-निन्दा सज्जन प्रशंसा आदि के वर्णन उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त पुष्पदन्त ने कवि-कर्म में अपनी असमर्थता का भी प्रकाशन किया है। पूर्व कवियों की प्रशंसा और उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन सम्बन्धी छन्द यहाँ भी उपलब्ध हैं। गोस्वामीजी की प्रबन्ध कल्पना में ये तत्व उपलब्ध हो जाते हैं। रामचरित मानस' के रचना-तंत्र पर प्राकृत और अपभ्रंश महाकाव्यों के रचना तन्त्र के यथेष्ट प्रभाव उपलब्ध होते हैं। इन प्रभावों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है—

(क) लोक जीवन का स्पर्श—लोक-जीवन के स्पर्श की भावना से ही गोस्वामी जी ने मानस' की रचना लोक भाषा में की है। मानस' के प्रणयन के समय गोस्वामीजी के सम्मुख भाषा का प्रश्न था। संस्कृत के माध्यम से अपने काव्य में प्रस्तावित लोक-मंगल का प्रसार वे लोक जीवन में नहीं कर सकते इस तथ्य से वे परिचित थे। भाषा की यह समस्या स्वयम्भू के सम्मुख भी

विद्यापति के सम्मुख थी और गोस्वामीजी के सम्मुख भी थी। स्वयंभू ने देसी (लोक भाषा) भाषा में 'पउम चरिउ' की रचना की—

देसी भासा उभय-तडुज्जल।
कवि दुक्कर घण सद्द सिलायल।

विद्यापति ने भी इसी भावना को ग्रहण करते हुए 'देसिल बयना' में अपनी रचना की। गोस्वामीजी काव्य के लोक धर्मी स्वरूप के अनुसार भाषा के लोक धर्मी स्वरूप को स्वीकार करते हैं। इस भावना से अनुप्रेरित होकर ही गोस्वामीजी ने कहा है— 'का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँच'। और

'भाषा बद्ध करब मैं सोई। मोरें मन प्रबोध जेहिं होई।

मानस बाल० ३१।

(ख) धार्मिक और पौराणिक तत्वों के समावेश के साथ रोमांचक तत्वों की परिकल्पना तथा अलौकिक और अति मानवीय तत्वों के प्रति आग्रह।

(ग) मंगलाचरण तथा वस्तु निर्देश के साथ आत्म विनय सज्जन प्रशंसा दुर्जन निन्दा तथा पूर्ववर्ती कवियों का अभिनन्दन।

(घ) प्रमुख रूप से शृंगार, वीर एवं शांत इन्हीं तीन रसों का विनियोग और काव्य का पर्यवसान शान्तरस में होना (ङ) पूर्वभव-वर्णन एवं अवान्तर कथाओं का संयोजन (च) श्रोता और वक्ता के रूप में कथा प्रस्तुत करने की विधा। (छ) संस्कृत महाकाव्यों की सर्ग बद्धता के स्थान पर आश्वासों सन्धियों एवं काण्डों में कथानक का विभाजन। गोस्वामीजी ने अपने महाकाव्य को 'चरित' संज्ञा से विभूषित किया है। अलौकिक और अतिमानवीय तत्वों के रूप में 'राम चरित मानस' में अहिल्या उद्धार की कथा धर्नुभंग प्रसंग, नल-नील द्वारा समुद्र में पाषाण-संतरण आदि घटनायें वर्णित हैं।

इस प्रकार 'रामचरित मानस' में अपभ्रंश महाकाव्यों अथवा चरित काव्यों की समस्त प्रबन्ध-रूढ़ियाँ उपलब्ध हो जाती हैं।

महाकाव्य की आधुनिकतम मान्यताओं के अनुसार श्रेष्ठ महाकाव्य के हेतु सुसंघटित कथानक उदात्त चरित्रांकन गम्भीर रस व्यंजना महान् उद्देश्य और गरिमामयी उदात्त शैली अथवा व्यापक अलंकृति अपेक्षित गुण हैं। 'मानस' की कथा उत्पाद्य नहीं अपितु प्रख्यात है। कवि ने इसकी कथा भावना का संकलन संस्कृत

महाकाव्यों पुराणों और नाटकों के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यों में भी किया है। भामह की परिभाषा के अनुसार मानस का कथानक सर्गाश्रित है और दण्डी के अनुसार इसकी कथा इतिहास-उद्भव है। इसके कथानक का विभाजन बाल अयोध्या अरण्य, किष्किन्धा सुन्दर लंका एवं उत्तर काण्डों में हुआ है। इनके लिए कवि ने 'सप्त सुभग सोपान' (बाल० ३६ १) संज्ञा का प्रयोग किया है। बाल काण्ड कलेवर की दृष्टि से विस्तृत है। 'मानस की कथा नाटकीय अन्वितियों से परिपूर्ण है। इसका मुख्य कार्य है रावण-वध और राम का राज्याभिषेक।

महाकाव्य की आत्मा रस है। 'मानस में सब रसों की परिव्याप्ति उपलब्ध हो जाती है। इसका अंगी रस शान्त है सीता की शृंगार भावना, भरत की करुणा और इस प्रकार की समस्त विशिष्ट घटनाओं का सम्पायन शान्त रस में होता है। भक्ति के सन्दर्भ में जो भक्ति रस है वही गोस्वामीजी के काव्यात्मक अनुभवों में शान्त रस के रूप में व्यक्त हुआ है।

'मानस' की चरित्र-योजना अति व्यापक है। राम के नरत्व पर नारायण के व्यक्तित्व के आरोपण से राम के चारित्रिक व्यापार की क्रिया-भूमि अति व्यापक हो गई है। उनके चरित्र का एक पक्ष नरत्व की भूमि का संस्पर्श करता है और दूसरा नारायणत्व का। जनक की वाटिका में सीता-दर्शन के पश्चात् राम के मन में रति-मूलक अनुराग भावना जागृत होती है। सीता के नूपुरों की ध्वनि उनमें उद्दीपन भाव जागृत करती है और राम अपनी भावनाओं का प्रकाशन लक्ष्मण के सम्मुख करते हैं—

तात जनक तनया यह सोई। धनुष जग्य जेहि कारन होई।
पूजन गौरि सखीं लै आई। करत प्रकासु फिरइ फुलवाई।
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा।
सो सबु कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता।
मानस २३१ १ ४।

अरण्य काण्ड में राम सीता का शृंगार करते हैं। फिर सीताहरण की वेदना से वे व्याकुल भी हो उठते हैं। इस प्रकार राम लौकिक संवेदनशीलता की मनोवैज्ञानिक परिभूमियों में विचरण करते हैं। 'मानस में रावण प्रतिनायक है। रावण का व्यक्तित्व भी अति प्रबल और आवेग पूर्ण है। वह असत् वर्ग का नाम है, और उसका

असत्‌तत्व इतना युग व्यापी हो उठता है कि उसके विपरीत राम को सत्-तत्व के रूप में अवतार ग्रहण करना पड़ता है। रावण के व्यक्तित्व का परिचय गोस्वामी जी ने निम्नलिखित पंक्तियों में दिया है—

> चलत दसानन डोलति अवनी। गर्जत गर्भ स्रवहिं सुर रमनी।
> रावन आवत सुनेहु सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा।
> बाल० ११०।

गोस्वामी जी ने एकपक्षीय चित्रण नहीं किया है। जीवन में सत्-तत्व के समान ही असत् तत्व भी शक्तिशाली होते हैं। सद्‌वृत्तियाँ कुवृत्तियों को सरलता से पराजित नहीं कर पाती है। राम और रावण के चरित्र निर्माण में गोस्वामी जी ने इस मनोवैज्ञानिकता का संरक्षण सम्पूर्ण रूप से किया है।

'मानस' का उद्देश्य लोक-मंगल की भावना है इस का उल्लेख कवि ने 'मानस' के मंगलाचरण में ही कर दिया है। 'उत्तरकाण्ड' में रामराज्य की परिकल्पना में भी गोस्वामी जी ने परोक्ष रूप से अपने इस काव्य के महत् उद्देश्य का ही प्रकाशन किया है—

> दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि व्यापा।
> चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं।
> नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना।
> मानस उत्तरकाण्ड २१।१६।

गोस्वामी जी लोक-मंगल की साधना अवस्था और सत्यात्मक सौन्दर्य के कवि हैं। राम जीवन में संघर्ष कर विजय प्राप्त करते हैं और फिर अपने राम राज्य का सृजन करते हैं। इस प्रकार जीवन की महती साधना ही 'मानस' का उद्देश्य है।

गोस्वामी जी के काव्य में युग—सापेक्षता

गोस्वामी तुलसीदास का काव्य विशेषतः राम चरित मानस' युग सापेक्ष काव्य है। उत्तर काण्ड का उत्तरार्ध मानस का उपसंहार है। इस उपसंहार में गोस्वामी जी की सामाजिक मान्यताओं का परिचय हमें मिलता है। कलियुग वर्णन के प्रसंग में कवि अपने युग का नग्न चित्र प्रस्तुत करते हैं। राम राज्य की कल्पना में कवि ने एक सम्पूर्ण संश्लिष्ट और गरिमापूर्ण समाज की परिकल्पना

की है। गोस्वामी जी की सामाजिक नैतिक और धार्मिक मान्यताओं में उनके विघटित युग के प्रति प्रतिक्रियात्मक स्वर अभिव्यक्त हैं। इस सत्य का अध्ययन भक्ति काल के सामाजिक और राजनैतिक विश्लेषण के अन्तर्गत किया गया है। (देखिए इस इतिहास का द्वितीय खण्ड—परिशिष्ट संख्या दो)।

कला

गोस्वामी तुलसी के काव्य में अभिव्यञ्जना-प्रणाली का अति सचेतन रूप उपलब्ध होता है। अभिव्यंजना प्रणाली की दृष्टि से भी गोस्वामीजी अपने काव्य में शिल्पविधि की विशिष्ट विधा के सौन्दर्यपूर्ण और चेतनशील आदर्श प्रस्तुत करते हैं। गोस्वामीजी के काव्य विशेषकर मानस में भिन्न-भिन्न रसों की अभिव्यक्ति दर्शनीय है। श्रृंगार के संयोग और वियोग पक्षों की अवधारणा 'मानस की वर्णनात्मकता में सौन्दर्यशीलता की धूप-छांह-धाराओं का स्वस्थ विधान करती है। गोस्वामी जी जीवन के यथार्थ सन्दर्भों के अनुकूल राम को नायक के रूप में प्रस्तावित कर उन्हें आश्रयत्व प्रदान करते हैं। सीता को नायिका-रूप में अंकित कर उन्हें आलम्बनत्व प्रदान करते हैं। श्रृंगार के प्रसंग तुलसी-काव्य में अति सीमित हैं, परन्तु अपनी सीमित परिधि में भी ये प्रसंग अनुभूति और प्रभाव की दृष्टि से गौरवपूर्ण हैं। जब हम श्रृंगार की चर्चा करते हैं, तो सर्वप्रथम हमारा ध्यान 'मानस के उस प्रसंग पर जाता है जिसमें सीता के नूपुरों की ध्वनि से राम रोमांचित हो उठते हैं—

कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्हीं। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्हीं॥
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा। सिय मुख ससि भए नयन चकोरा।
भए बिलोचन चारु अचंचल। मनहु सकुचि निमि तजे दिगंचल॥
देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचनु न आवा। बाल० २१०।

नूपुरों की ध्वनि उद्दीपन विभाव है नेत्रों की अपलक स्थिति अनुभाव है। इस प्रकार गोस्वामी जी इस अंश में पूर्वानुराग की अवस्था का चित्रण करते हैं। श्रृंगार के प्रसंगों में अभिलाषा स्मृति, औत्सुक्य जड़ता एवं चपलता आदि भावों की नियोजना इस प्रकार के सन्दर्भों में विशेष रूप से दर्शनीय है।

विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत स्थायी भाव रति के कलात्मक नियोजन के अनेक सन्दर्भ गोस्वामीजी के काव्य में उपलब्ध हो जाते हैं। इस अवसर पर हमारा ध्यान अरण्यकाण्ड के उस अंश की ओर अनायास ही आकर्षित हो जाता है जिसमें सीता के वियोग में रामचन्द्र विलाप करते हुए अंकित किये गये हैं —

> हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी।
> खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना॥
> कुन्दकली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहि भामिनी।
>
> × × × ×
>
> सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू।
>
> मानस अरण्य काण्ड ३०।

इस अंश में तथा इस प्रकार के अन्य सन्दर्भों में स्मृति उन्माद, आवेग एवं जड़ता आदि संचारी भावों का गुम्फन स्थायी भाव के साथ भावनाओं के उत्कर्ष में योग-दान देता है। इसी प्रकार आश्रय के उद्वेग दैन्य विषाद और उन्माद आदि अवस्थाओं का चित्रण इनके काव्य में नैसर्गिक रूप में उपलब्ध हो जाता है।

गोस्वामी जी भावनाओं के कुशल शिल्पी हैं। परिस्थितियों के विशिष्ट सन्दर्भों में पात्रों के मनोगत अमूर्त भावों के लिये कवि जीवन सापेक्ष प्रस्तुतों का प्रयोग कर साधारणीकरण की महती चेष्टा के आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इस प्रसंग पर विचार करते हुए हमारा ध्यान धनुष भंग-प्रसंग की ओर अनायास ही आकर्षित हो उठता है। सीता पिता के प्रण का स्मरण करती हैं और राम की ओर देखती हैं। राम धनुष-भंग कर सकेंगे इस प्रकार के अनिश्चित भाव से वे आपूरित हो उठती हैं। शिव-धनुष सीता के जीवन का सबसे बड़ा प्रतिबन्ध है। पिता के प्रण से वे क्षुब्ध हो उठती हैं उनका हृदय एक विशेष प्रकार के आत्म-मंथन से भर जाता है। वे अपनी व्यथा वाणी में व्यक्त नहीं कर पातीं उनके सम्मुख मर्यादा का बन्धन है। कवि ने सीता की मन स्थिति का अंकन इस प्रकार किया है—

गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी।
लोचन जलु रह लोचन कोना। जैसें परम कृपन कर सोना।
सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी। धरि धीरजु प्रतीति उर आनी।
प्रभु तन चितइ प्रेम तन ठाना। कृपानिधान राम सब जाना।
मानस० बाल०, २५९।

गोस्वामी जी मर्यादा के कवि हैं। उनके काव्य में रति-वर्णन भी अति संयमित और मर्यादित है, परन्तु उनके संयम और मर्यादा में भी एक स्निग्धता मिलती है। 'जानकी मंगल' और 'कवितावली' में रति के आकर्षणपूर्ण वर्णन के अनेक सन्दर्भ उपलब्ध हो जाते हैं। राम और सीता के दाम्पत्य स्नेह की उद्भावना कवि उनके जीवन के विविध परिपार्श्वों के सन्दर्भ में करते हैं। इन अंशों में कवि पात्रों की अन्तःप्रकृति का पर्यवेक्षण भी करते हैं—

जल को गए लक्खन हैं लरिका परिखौ पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े।
तुलसी रघुबीर प्रिया स्रम जानि कै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलक्यो तनु बारि बिलोचन बाढ़े।
कविता अयोध्या० १२।

'रामचरित मानस' के अन्तर्गत करुण रस के कतिपय विशिष्ट सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। कैकयी राजा दशरथ से वरदान माँगती है। इस अवसर पर दशरथ की करुणा का मूर्तरूप कवि स्तम्भ स्वरभंग और वैवर्ण्य आदि सात्विक अनुभावों के द्वारा अंकित करते हैं। दशरथ की अवस्था अति दयनीय हो उठती है—

जाइ दीख रघुबंसमनि नरपति निपट कुसाजु।
सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि मनहुँ बृद्ध गजराजु।
मानस अयोध्या० ३९।

राम के निर्वासन के समाचार से कौशल्या के मातृ-हृदय को आघात लगता है। उसमें शोक और मोह का संचार होता है। मानस में लंका काण्ड में लक्ष्मण मूर्छा के प्रसंग में कवि ने राम की मर्मान्तक पीड़ा की उद्भावना की है-

अर्ध राति गइ कपि नहिं आयउ। राम उठाइ अनुज उर लायउ।
सकइ न दुखित देखि मोहि काऊ। बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥

× × × ×

विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत स्थायी भाव रति के भावात्मक नियोजन के अनेक सन्दर्भ गोस्वामीजी के काव्य में उपलब्ध हो जाते हैं। इस अवसर पर हमारा ध्यान अरण्यकाण्ड के उस अंश की ओर अनायास ही आकर्षित हो जाता है जिसमें सीता के वियोग में रामचन्द्र विलाप करते हुए अंकित किये गये हैं —

> हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी । तुम्ह देखी सीता मृगनैनी ।
> खंजन सुक कपोत मृग मीना । मधुप निकर कोकिला प्रबीना ॥
> कुन्दकली दाड़िम दामिनी । कमल सरद ससि अहि भामिनी ।
>
> × × × ×
>
> सुनु जानकी तोहि बिनु आजू । हरषे सकल पाइ जनु राजू ।
>
> मानस अरण्य काण्ड २० ।

इस अंश म तथा इस प्रकार के अन्य सन्दर्भों में स्मृति उन्माद, आवेग एवं जड़ता आदि संचारी भावों का गुम्फन स्थायी भाव के साथ भावनाओं के उत्कर्ष में योग-दान देता है। इसी प्रकार आश्रय के उद्वेग दैन्य विषाद और उन्माद आदि अवस्थाओं का चित्रण इनके काव्य में नैसर्गिक रूप में उपलब्ध हो जाता है।

गोस्वामी जी भावनाओं के कुशल शिल्पी हैं। परिस्थितियों के विशिष्ट सन्दर्भों में पात्रों के मनोगत अमूर्त भावों के लिये कवि जीवन सापेक्ष प्रस्तुतों का प्रयोग कर साधारणीकरण की महती चेष्टा के आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इस प्रसंग पर विचार करते हुए हमारा ध्यान धनुष-भंग-प्रसंग की ओर अनायास ही आकर्षित हो उठता है। सीता पिता के प्रण का स्मरण करती है और राम की ओर देखती हैं। राम धनुष-भंग कर सकेंगे इस प्रकार के अनिश्चित भाव से वे आपूरित हो उठती हैं। शिव-धनुष सीता के जीवन का सबसे बड़ा प्रतिबन्ध है। पिता के प्रण स वे क्षुब्ध हो उठती हैं उनका हृदय एक विशेष प्रकार के आत्म-दैन्य ग भर जाता है। वे अपनी व्यथा वाणी में व्यक्त नहीं कर सकतीं उनके सम्मुख मर्यादा का बन्धन है। कवि न सीता की मन स्थिति का अंकन इस प्रकार किया है—

गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी।
लोचन जल रह लोचन कोना। जैसें परम कृपन कर सोना।
सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी। धरि धीरज प्रतीति उर आनी।
प्रभु तन चितइ प्रेम तन ठाना। कृपा निधान राम सब जाना।
मानस० बाल०, २५९।

गोस्वामी जी मर्यादा के कवि हैं। उनके काव्य में रति-वर्णन भी अति संयमित और मर्यादित है परन्तु उनके संयम और मर्यादा में भी एक स्निग्धता मिलती है। 'जानकी मंगल' और 'कवितावली' में रति के आकर्षणपूर्ण वर्णन के अनेक सन्दर्भ उपलब्ध हो जाते हैं। राम और सीता के दाम्पत्य स्नेह की उद्भावना कवि उनके जीवन के विविध परिपार्श्वों के सन्दर्भ में करते हैं। इन अंशों में कवि पात्रों की अन्तःप्रकृति का पर्यवेक्षण भी करते हैं—

जल को गए लक्खन हैं लरिका परिखौ पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पाँव पखारिहौं भूभुरि डाढ़े।
तुलसी रघुबीर प्रिया स्रम जानि कै बैठि बिलम्ब लौं कंटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यो पुलक्यो तनु बारि बिलोचन बाढ़े।
कविता अयोध्या० १२।

रामचरित मानस' के अन्तर्गत करुण रस के कतिपय विशिष्ट सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। कैकयी राजा दशरथ से वरदान माँगती है। इस अवसर पर दशरथ की करुणा का मूर्तरूप कवि स्तम्भ, स्वरभंग और वैवर्ण्य आदि सात्विक अनुभावों के द्वारा अंकित करते हैं। दशरथ की अवस्था अति दयनीय हो उठती है—

आइ दीख रघुबंसमनि नरपति निपट कुसाजु।
सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि मनहुँ बृद्ध गजराजु।
मानस, अयोध्या० १९।

राम के निर्वासन के समाचार से कौशल्या के मातृ-हृदय को आघात लगता है। उसमें प्रकम्प और अश्रु का संचार होता है। मानस में लंका काण्ड में लक्ष्मण-मूर्छा के प्रसंग में कवि ने राम की मर्मान्तक पीड़ा की उद्भावना की है-

अर्धराति गइ कपि नहिं आयउ। राम उठाय अनुज उर लायउ।
सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥

× × × ×

जौं जनतेउँ बन बन्धु बिछोहू । पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू ।

मानस लंका : ६१ ।

'गीतावली' में राम वियोग में कौशल्या की व्यथा का वर्णन लक्ष्मण की मूर्छा पर राम विलाप का वर्णन और सीता निर्वासन का वर्णन विशेष रूप से चर्चा के योग्य है ।

भारतीय आचार्यों ने काव्य में रस त्रयी की कल्पना की है । इसके अन्तर्गत तीन रसों का समावेश किया गया है—शृंगार वीर और शान्त । 'मानस' का अंगी रस शान्त है जिसकी स्पष्ट प्रतीति भक्ति-मूलक प्रसंगों में होती है । मानस की स्तुतियों में मुख्य रूप से उत्तर काण्ड में इसका नियोजन मिलता है ।

रौद्ररस के नियोजन 'मानस' के 'बाल काण्ड' और अयोध्या काण्ड में उपलब्ध होते हैं । वीर रस के संचारी भाव हैं मति धृति गर्व तथा उग्रता । इस रस का नियोजन लंकाकाण्ड में हुआ है परन्तु बालकाण्ड में लक्ष्मण-परशुराम-संवाद किष्किंधा काण्ड में बालि-वध प्रसंग और अयोध्या-काण्ड में भरत के ससैन्य-आगमन के सन्दर्भों में इस रस का नियोजन मिलता है । अद्भुत रस में रोमांच स्तम्भ स्वेद आदि अनुभावों के नियोजन मिलते हैं । पार्वती राम के ब्रह्मत्व की परीक्षा लेती है । धनुष-भंग के समय परशुराम राम की परीक्षा लेते हैं । इन प्रकरणों में अद्भुत रस के स्वरूप विन्यास के अति सफल प्रयास उपलब्ध होते हैं ।

हास्य के अनेक प्रकरण कवि की रचनाओं मिलते हैं । नारद-मोह प्रकरण में शिव विवाह के वर्णन प्रसंग में वन यात्रा के सन्दर्भ में राम-केवट-वार्ता के प्रकरण में और परशुराम-लक्ष्मण संवाद के प्रकरण में हास्य के अति चेतन प्रवाही वर्णन उपलब्ध होते हैं। इन प्रसंगों में हास्य के साथ व्यंग्य अनिवार्य रूप से नियोजित मिलता है । हास्य का एक प्रकरण 'कवितावली' में उपलब्ध होता है—

विन्ध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे ।
गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनि बृन्द सुखारे ।

छुवैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू करुना कर कानन को पगु धारे।

कवितावली।

तपस्वी अपनी जीवन-संगिनी बिना वन में दुखी रहे। एकान्त जीवन की नीरसता को सरस बनाने की भावना से अहिल्या उद्धार की कथा से परिचित मुनि शिला-खण्ड के साथ बैठे हैं राम के पावन चरण-स्पर्श से शिलायें नारियों में परिवर्तित हो जायेंगी। इस सम्भावित लाभ से वे पुलकित हैं।

भयानक रस का स्थायी भाव भय है। इसमें कंप स्वेद वैवर्ण्य, रोमांच एवं स्वरभंगादि अनुभाव होते हैं। त्रास, चिन्ता, शंका जुगुप्सा इसके संचारी भाव हैं। 'मानस' के बालकाण्ड में शिव विवाह प्रसंग में इस रस का नियोजन मिलता है। 'अयोध्याकाण्ड' में कैकेयी-कोप तथा 'लंका काण्ड' के अनेक प्रसंगों में इस रस का प्रस्तार मिलता है —

कंपत दीख दसानन बैसें। साहित प्रान कज्जल गिरि जैसें।
भुजा बिटप सिरि शृंग समाना। रोमावली लता जनु नाना।
मुख नासिका नयन अरु काना। गिरि कंदरा खोह अनुमाना।

मानस लंकाकाण्ड, १६।

अंगद ने रावण का साक्षात्कार इसी रूप में किया। इस प्रकार भयानक रस की व्यञ्जना विशिष्ट प्रसंगों के अन्तर्गत हुई है। बीभत्स का स्थायी भाव जुगुप्सा है। 'मानस में इस रस की परिव्याप्ति लंका काण्ड में ही प्रमुख रूप में हुई है—

नाना भाँति पिसाच पिसाची। मार काटि धुनि बोलहिं नाची।
बिष्टा पूय रुधिर कच हाड़ा। बरसहिं कबहुँ उपल बहु छारा।
बरषि धूरि कीन्हेसि अँधियारा। सूझ न आपन हाथ पसारा।

मानस लंका ५१ २ ३ ४।

इस सन्दर्भ में राक्षस आलम्बन हैं तथा मानस आश्रय है। रुधिर कच हाड़ इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं। घृणा और जुगुप्सा स्थायी भाव है।

गोस्वामीजी के काव्य में वात्सल्य का वर्णन अति परिमित मात्रा में हुआ है। तुलसी-काव्य में दशरथ और कौशल्या के सन्दर्भ में ही इस रस का प्रस्थापन

मिलता है। राम वन गमन के समय माता कौशल्या के वत्सल हृदय की अमित भावनायें राशि राशि बिखर पड़ती हैं। इस रस का नियोजन 'मानस' के दो काण्डों में ही प्राप्त होता है प्रथम बालकाण्ड में और द्वितीय अयोध्या काण्ड में। उत्तर काण्ड में एक स्थल पर इस रस का नियोजन मिलता है। वात्सल्य के संयोग और वियोग इन दोनों पक्षों के प्रस्तावन कवि के काव्य में उपलब्ध होते हैं। 'गीतावली' से वात्सल्य के विप्रलम्भ से सम्बन्धित एक अंश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

जननी निरखति बान धनुहियाँ।
बार-बार उर नैननि लावति प्रभुजू की ललित पनहियाँ।
कबहुँ प्रथम ज्यों जाइ जगावति कहि प्रिय बचन सवारे।
उठहु तात बलि मातु बदन पर अनुज सखा सब द्वारे।
कबहुँ कहति यों बड़ी बार भइ जाहु भूप पहँ भैया।
बंधु बोलि जेंइय जो भावै गई निछावर मैया।
कबहुँ समुझि बन गमन राम को रहि चकि चित्र लिखी सी।
तुलसी दास वह समय कहे तें लागति प्रीति सिखी सी।

गीतावली अयोध्या ५२।

इस अंश का भाव-सौन्दर्य अति स्निग्धपूर्ण है। पुत्र-वियोग में पुत्र की वस्तुओं से मा कौशल्या की वात्सल्य भावनायें उद्दीप्त होती हैं और वे 'उन्माद' की स्थिति में पहुँच जाती हैं।

अलंकार

गोस्वामीजी के काव्य में अलंकार के अति विराट स्वरूप और उनसे सम्बन्धित विभिन्न चेतना भूमियों के स्वरूप-संस्थान के दर्शन होते हैं। कवि के काव्य में अलंकार भावों की आवेगपूर्ण धारा के नैसर्गिक प्रवाह के साथ ही प्रस्फुटित होते हुए लगते हैं। शब्दालंकार के अन्तर्गत अनुप्रास यमक पुनरुक्तवदा भास, वीप्सा श्लेष वक्रोक्ति आदि के सफल प्रयोग दर्शनीय हैं। अर्थालंकार के कतिपय उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

सवैया —भुजदंड सर कोदंड फेरत रुधिर कन तन अति बने।
जनु रायमुनीं तमाल पर बैठी बिपुल सुख आपने॥
मानस लंका०, छन्द २१

इस अंश में वर्ण-साम्य के आधार पर तमाल, रक्त बिन्दुओं और वीर बहूटियों के अप्रस्तुत विधान से राम के सौन्दर्य निरूपण का जो बिम्बविधान होता है वह बड़ा मोहक है।

रूपक—रूपक अलंकार के अन्तर्गत निरंग रूपक परम्परित रूपक और सांग रूपक तुलसी दास की अभिव्यंजना प्रणाली में विशेष रूप से प्रयुक्त हुए हैं।

निरंग रूपक—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा।
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँधि बर डोरी।
मानस, सुन्दर० ४८ ४, ५।

परम्परित रूपक—

बड़ मुनि मुनि रघुबीर कृपाला।
संकर मानस राज मराला। अरण्य ८१।

सांग रूपक—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट।
मानस : सुन्दर० दोहा ३०।

दृष्टांत—

मसकहि होहि न रायमत बिधि हरिहर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरन छीरसिन्धु बिनसाइ।
मानस अयो०, दो २३१।

छन्द योजना—'मानस' के प्रत्येक काण्ड का आरम्भ श्लोक से हुआ है। परन्तु 'मानस' की रचना कड़वक शैली में हुई है। कड़वकों के अन्तर्गत नियोजित अर्धालियों के संख्या-क्रम में एकरूपता नहीं है। इसी प्रकार छंदों की मात्रा के क्रम में भी एकरसता नहीं मिलती है। उदाहरण स्वरूप त्रिभंगी छन्द में यत्र-तत्र ३२ मात्राओं के स्थान पर २८ व ३० मात्राओं का

प्रयोग मिलता है। संस्कृत छन्दों के अन्तर्गत कवि ने अनुष्टुप, शार्दूल-विक्रीड़ित वसंततिलका इन्द्रवज्रा, मालिनी और स्रग्धरा आदि छन्दों का प्रयोग किया है। परन्तु मानस में चौपाई दोहा एवं सोरठा आदि छन्दों के ही प्रयोग व्यापक रूप में हुये हैं। कड़वकों में चौपाई के पश्चात् दोहा सोरठा और छन्द का पदाक्रम नियोजित है। सामान्यतः ५,६,७ अर्धालियों के पश्चात् दोहा या सोरठा के रखने का नियोजन है किन्तु ऐसे भी सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं जहाँ कड़वकों में १६ १९ और १७ अर्धालियों का विधान मिलता है। 'मानस' में दोहा सोरठा हरिगीतिका त्रिभंगी चौपैया तोमर आदि छन्दों के प्रयोग हुये हैं।

शब्द शक्तियाँ—काव्य के संदर्भ में गोस्वामी जी ने शब्द और अर्थ की अभिन्नता पर विश्वास प्रकट किया है।

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।

परन्तु कवि ने अभिधा लक्षणा एवं व्यंजना इन तीनों शब्दशक्तियों का प्रयोग किया है। शब्द शक्तियों से इनके काव्य में अभिव्यक्ति की प्रेषणीयता की सम्भावना अति व्यापक हुई है।

गुण एवं रीति

(क) माधुर्य गुण—शृंगार, करुण एवं शान्त रसों के सन्दर्भों में कवि ने माधुर्य गुण का प्रयोग किया है। 'मानस' में 'वाटिका प्रसंग' में राम-वनगमन के सन्दर्भ में सीता वियोग तथा लक्ष्मण-शक्ति के प्रसंगों में माधुर्य गुण का प्रयोग मिलता है—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदयँ गुनि।
मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही।
बाल० २३०।

ओजगुण—इसका सम्बन्ध आचार्यों ने उत्तेजना या दीप्ति से माना है। इस गुण का विन्यास वीर बीभत्स और रौद्र रसों में मिलता है। 'मानस' में बालकाण्ड से धनुभंग के प्रसंग का निम्नलिखित अंश विशेष रूप से दर्शनीय है। यह अंश शिव-धनुष भंग के सन्दर्भ में प्रस्तुत है।

भरे भुवन घोर कठोर रव रवि बाजि तजि मारगु चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल-कूरुम कलमले।
सुर असुर मुनि कर कान्ह दीन्हें सकल बिकल बिचारहीं।
कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं।
मानस बाल०, २६१।

प्रसाद गुण—गोस्वामी तुलसीदास के काव्य में प्रसाद गुण के प्रौढ़तम स्थल उपलब्ध होते हैं—

एक बार जननीं अन्हवाए। करि सिंगार पलनाँ पौढ़ाए।
निज कुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना।
करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा। आपु गई जहँ पाक बनावा।
बाल० २०१ १ २ ३।

गोस्वामी तुलसीदास के काव्य में रीति और वृत्तियाँ ओज माधुर्य और प्रसाद, इन तीन गुणों के प्रस्तार में सहायक है। गौड़ीय रीति का विन्यास 'मानस' में शिव विवाह धनुभंग आदि सन्दर्भों में हुआ है। लंका काण्ड के अन्तर्गत वीर, बीभत्स आदि रसों में यह वृत्ति संभरित है।

गोस्वामीजी के काव्य मुख्यत 'मानस' में शृङ्गार करुण एवं शांत रसों में इस रीति का नियोजन मिलता है। पांचाली रीति का विन्यास प्रसाद गुण के साथ देखने को मिलता है।

इस प्रकार गोस्वामी जी की कृतियों में काव्य-कला की सम्पूर्णता विद्यमान है। 'तुलसी सतसई' में गोस्वामी जी ने अलंकार, रीति गुण और दोष के काव्य उपयोगी पक्षों की चर्चा की है।

अलंकार धुनि रीति गुन भूषन दूषन प्रीति।
भारिजात बरनन बिबिध तुलसी बिमल बिनीत।
तु० स० ४,४७।

कोम अलंकृत सन्धि मति मैत्री बरन बिचार।
दुरन भरन सुनि भनित बल कबिहि अरथ निरधार। १० ८०।
भरन दुरन अम्यय अमल सहित बिलम्ब बिचार। १ ८०।
यह तुलसी मति अनुहरित दोहा सरस अपार १०, ८८।

इस प्रकार गोस्वामी जी ने स्पष्ट कहा है कि कवि को कोश, अलंकार सन्धि प्रवाह, अर्थ आदि पर अधिकार प्राप्त करना चाहिए, जिससे विभक्तियों और भाषा-क्रम के कारण काव्य के अर्थ का उचित निर्धारण हो सके। प्रसन्न अर्थात अलंकार, रस तथा प्रसाद गुण का जिससे सम्यक नियमन हो सके और हरण अर्थात अश्लीलता आदि का परित्याग सम्भव हो सके।

गोस्वामी तुलसीदास की भाषा

गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी कृतियों में ब्रजभाषा और अवधी का प्रयोग किया है। 'गीतावली कवितावली' 'दोहावली और विनय पत्रिका' की भाषा ब्रज है। 'मानस' की भाषा अवधी है। कतिपय आलोचकों ने इसे बैसवाड़ी भी कहा है मानस' की भाषा लोक बोली के विपरीत साहित्यिक अवधी है। परन्तु 'रामलला नहछू' 'पार्वती मंगल' और 'जानकी मंगल' की भाषा लोक-जीवन के अधिक निकट की भाषा है। मानस' में शब्द भण्डार की व्यापकता पर हम मुग्ध होते हैं। राजस्थानी, बुन्देली, भोजपुरी आदि भाषाओं के शब्द समूहों के अतिरिक्त अरबी और फारसी भाषाओं के शब्दों की एक व्यापक संख्या इनकी कृतियों में विशेषकर मानस में, उपलब्ध है। विदेशी शब्द मूल भाषा की प्रकृति में समाविष्ट हो गए हैं। गोस्वामी जी द्वारा प्रयुक्त शब्दों को स्थूलता की दृष्टि से इस प्रकार में विभाजित कर सकते हैं—

तत्सम—ब्रह्म् पय बद तेऽपि इदं मत्त कलेवर गिरि श्रुति इत्यादि।

अर्धतत्सम—अस्थम्, नुम परतीत परमात बिसाम, मरजाद इत्यादि।

अरबी-फारसी—साहिब, गनी जमात बाज मुसाम, मसीत विरमानी जहान साज परवाह, गुमार पीक पहीता, रैयत आदि।

तद्भव शब्द गोस्वामी जी के काव्य की ही नहीं अपितु प्रत्येक आधुनिक आर्य भाषा की मूल सम्पत्ति हैं। अत: उनकी सूची यहाँ नहीं दी जा रही है।

देशज—अबाट, धुक धुकी धुधुकारे इत्यादि।

'रामचरित मानस' में भाषा पात्रों के अनुकूल स्वरूप धारण करती चलती है। इस कृति की भाषा की दूसरी विशेषता यह है कि यह भावानुगामिनी है जिसके माध्यम से अभिव्यंजना का स्वाभाविक विधान सम्भव हो सका है। इसकी भाषा की तृतीय विशेषता है इसकी रसगुणसम्पन्नता। इस प्रकार यहाँ भाषा

-गुण-संश्लिष्ट-शब्द-योजना से विभूषित है जिसमें सानुप्रासिक सौन्दर्य और न-संगीत की अन्विति मिलती है।

रचना शैली—गोस्वामी तुलसीदास ने अपने काव्य में ५ रचना द्धतियों का प्रयोग किया है—१ छप्पय पद्धति। २ गीत पद्धति—'गीतावली' र 'विनय पत्रिका' इस पद्धति की रचनायें हैं। ३ कवित्त-सवैया-पद्धति—'कवितावली' की रचना इसी विधा में है। ४ दोहा-पद्धति—मानस में दोहा सत्ता रूप में प्रयुक्त है। परन्तु 'दोहावली' शुद्ध दोहा-पद्धति की रचना है। ५ रामचरित मानस' की रचना प्रबन्ध-पद्धति में है, जिसमें कवि ने चौपाई-दोहे का प्रयोग किया है। ६ तुलसी-सतसई के कतिपय दोहों में कूट शैली का प्रयोग मिलता है। उदाहरण —

भजहु तरनि अरि आदि कहँ तुलसी वारमज अन्त ३,१४। तरनि-अरि रनि के अरि के आदि अर्थात राहु का 'रा', वारमज अन्त, अर्थात 'काम' का =म ? सम्पूर्ण का अर्थ हुआ राम।



इस प्रकार गोस्वामी जी ने स्पष्ट कहा है कि कवि को को' ध्वनि प्रवाह, अर्थ आदि पर अधिकार प्राप्त करना चाहिए, जिस और भाषा-क्रम के कारण काव्य के अर्थ का उचित निर्धारण भरण अर्थात अलंकार, रस तथा प्रसाद गुण का जिससे सम्यक निमा और हरण अर्थात अश्लीलता आदि का परित्याग सम्भव हो सके

गोस्वामी तुलसीदास की भाषा

गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी कृतियों में व्रजभाषा और अवधी का किया है। 'गीतावली कवितावली' 'दोहावली' और विनय पत्रिक भाषा व्रज है। 'मानस' की भाषा अवधी है। कतिपय आलोचकों ने इसे बैस भी कहा है 'मानस' की भाषा लोक बोली के विपरीत साहित्यिक अवधी है। प 'रामलला नहछू' 'पार्वती मंगल' और जानकी मंगल' की भाषा लोक-बोल के अधिक निकट की भाषा है। 'मानस' में शब्द भण्डार की व्यापकता पर हम मुग्ध होते हैं। राजस्थानी, बुन्देली भोजपुरी आदि भाषाओं के शब्द समूहों के अतिरिक्त अरबी और फारसी भाषाओं के शब्दों की एक व्यापक संख्या इनकी कृतियों में विशेषकर मानस में उपलब्ध है। विदेशी शब्द मूल भाषा की प्रकृति में समाविष्ट हो गए हैं। गोस्वामी जी द्वारा प्रयुक्त शब्दों को स्थूलता की दृष्टि से इस प्रकार में विभाजित कर सकते हैं—

तत्सम—ब्रह्म, पश्य बद तेऽपि हरं, मदन कमेश्वर गिरि वृत्ति इत्यादि।

अर्धतत्सम—अपबस, पदुम पछीत परमारथ बिस्राम मरजाद इत्यादि।

अरबी-फारसी—साहिब, गनी जमात बाज गुलाम, मसीत गिरमानी जहान दाग, परवाह, सुमार पील पलीता, रैयत आदि।

तद्भव शब्द गोस्वामी जी के काव्य की ही नहीं अपितु प्रत्येक आधुनिक आर्य भाषा की मूल सम्पत्ति है। अतः उनकी सूची यहाँ नहीं दी जा रही है।

देशज—ठवाद, भुकभुकी चुचुकारे इत्यादि।

रामचरित मानस' में भाषा पात्रों के अनुकूल स्वरूप धारण करती चलती है। इस कृति की भाषा की दूसरी विशेषता यह है कि यह भावानुगामिनी है जिसके माध्यम से अभिव्यंजना का स्वाभाविक विधान सम्भव हो सका है। इस की भाषा की तृतीय विशेषता है इसकी रसगुणसम्पन्नता। इस प्रकार यहाँ भाषा

रस-गुण-ध्वनि-अलंकार-योजना से विभूषित है जिसमें सानुप्रासिक सौन्दर्य और शब्द-संगीत की अन्विति मिलती है।

रचना शैली—गोस्वामी तुलसीदास ने अपने काव्य में छः रचना पद्धतियों का प्रयोग किया है—१ छप्पय पद्धति। २ गीत पद्धति—'गीतावली' और 'विनय पत्रिका' इस पद्धति की रचनायें हैं। ३ कवित्त-सवैया-पद्धति—'कवितावली' की रचना इसी विधा में है। ४ दोहा-पद्धति—मानस में दोहा घत्ता के रूप में प्रयुक्त है। परन्तु 'दोहावली' शुद्ध दोहा-पद्धति की रचना है। ५ 'रामचरित मानस' की रचना प्रबन्ध-पद्धति में है, जिसमें कवि ने चौपाई-दोहे का प्रयोग किया है। ६ तुलसी-सतसई के कतिपय दोहों में कूट शैली का प्रयोग मिलता है। उदाहरण —

भयहु तरनि अरि आदि कहुँ तुलसी आलय-अन्त १,१४। तरनि अरि तरनि के अरि के आदि अर्थात राहु का 'रा', आलय अन्त, अर्थात 'धाम' का अन्त्यम ? सम्पूर्ण का अर्थ हुआ राम।

